PANCHA TANTRA

BY

VISHNU SARMA

WITH A COMMENTARY

BY

Pandit Jwala Prasad Misra

HEAD PANDIT KAMASHWAR

SANSKRIT PATHASHALA

MORADABAD

AND

MAHOPADESHAK BHARAT DHARMA

MAHAMANDALA

Printed and Published

BY

KHEMRAJ SHRI KRISHNADAS

SHRI VENKATESHWAR STEAM

PRESS

BOMBAY.

1910

All rights reserved

॥ श्रीः ॥

पंचतन्त्रम् ।

श्रीविष्णुशर्मसंकलितम् ।

मुरादाबादवास्तव्यकामेश्वरसंस्कृतपाठशालाप्रधाना-
ध्यापकसनातनधर्ममहोपदेशक-
पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रविरचितनीतिसर्वस्वताम-

भाषाटीकासहितम् ।

तदेव

मुम्बय्यां
क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना
स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

संवत् १९६६, शके १८३१.

इसका रजिस्टरी हक यन्त्रालयाध्यक्षने
स्वाधीन रक्खा है

भूमिका ।

भारतवर्ष जिस प्रकार अनेक विद्याओका भंडार है इसी प्रकार यहांकी नीतिप्रणाली भी अद्वितीय है, ससारमे रहकर जो नीतिशास्त्रसे वंचित हुआ है मानो उसने बहुत कुछ नहीं जाना और एक प्रकारसे मानो संसारमे उसका आगमन निरर्थक ही है, हमारे इस देशके पूर्वज महानुभाव दिव्यस्वभाव त्रिकालज्ञ महायागी आचार्योंने जन्मग्रहण करके अपने अनन्त ज्ञानकी महिमासे इस जगत्को अनन्त अनादि जानकर अपने अप्रतिहत योगबलसे ब्रह्म और ब्रह्मविषयक सम्पूर्ण तन्त्र निरूपण करादेये है, तबसे लेकर इस पृथ्वीपर कितनेही राजाओका आविर्भाव और तिरोभाव, तथा वसुंधरापर कितनी बार विप्लव और विपर्यय हुआ है तथा जनसमूहका कितनीवार परिवर्तन हुआ है किन्तु उन महर्षियोके योगबलसे निर्मित वह सकल ग्रन्थ ध्रुवकी समान प्रकाशमान होरहेहैं, उनके इन ज्ञानपूर्ण रत्नोके कारण आजतक यह भारतभूमि जगत्में रत्नभंडार नामसे विख्यात है उन्ही अमूल्य रत्नोमेसे यह नीतिमय ग्रन्थ "पंचतंत्र" एक अनुपम रत्न है, इसके निर्माण करनेवाले महापंडित विष्णुशर्मा है यह अति प्राचीन कालके महापंडित है । इन्होने अति प्राचीन समयके महर्षि मनु, बृहस्पति, शुक्र, वाल्मीकि, पराशर, व्यास, चाणक्य प्रभृति महात्माओके बहुत काल पश्चात् जन्मग्रहण किया है, मधुमक्षिका जिस प्रकार अनेक पुष्पोंसे रस ग्रहणकर अपूर्व मधुकी रचना करती है, विष्णुशर्मानेभी इसी प्रकार अपने पूर्ववर्ती पंडितोके शास्त्रसे सार ग्रहण करके पंचतन्त्रको निर्माण किया है, इसके उपदेश सबही अवस्थामे मनुष्यमात्रको उपयोगी है, क्या योगी, क्या भोगी सबहीको यह समान उपकारक है । इससे योगी योगसिद्धि, भोगी पवित्र भोगशक्ति, रोगी रोगशान्ति, शोकार्त शोकशान्तिको प्राप्त होता है । राजा, प्रजा, गृहस्थ, संन्यासी, पंडित, मूर्ख, धनी, निर्धन, बालक, वृद्ध, युवा, आतुर सबकोही यह स्नेहमयी माताकी समान सुखदायक है ।

राजनीति एकबडा शास्त्र है सबको परिश्रमसेभी कठिनतासे आ सकता है इन महात्मा विष्णुशर्माने इसको इस चतुराईसे निर्माण किया है कि, छोटीसे छोटी बुद्धिके मनुष्य भी सरलतासे इसके आशयको समझ सके है, सम्पूर्ण नीति कथाओमे लाकर इस प्रकारसे वर्णनकी है कि, जिससे पढनेवालेकी बुद्धि चमत्कृत होजाती है ।

कालक्रमसे इस ग्रन्थका सौरभ जब देश विदेशमें विकीर्ण हुआ तब परदेश के अनेक गुणग्राही इस देशमें आकर इस अपूर्व मधुको ग्रहण करने लगे, क्रमसे यह और इनका दूसरा ग्रन्थ हितोपदेश पृथ्वीके नानादेशोंमें अनेक भाषा और अनेक आकारसे प्रचलित हुए (१) इसकी नीतिगर्भित कथायें असभ्य जातियोंमें भी अनेक नामसे प्रचलित हुई हैं।

ऐशिया, यूरूप, अमेरिकाआदि सम्पूर्ण देशोंके सम्पूर्ण धर्मावलम्बी लोक सिद्धवाक्यके समान इसके उपदेशोंमें श्रद्धा और भक्ति करते हैं।

पंचतंत्रके कर्ता किस समय किस स्थानमें प्रादुर्भूत हुए, विष्णुशर्मा उनका प्राकृत नाम है कि नहीं, यह सम्पूर्ण ऐतिहासिक वृत्तान्त स्पष्टरूपसे जाननेका कोई उपाय नहीं, कारण कि, भारतवर्षके प्राचीन आचार्योंने कहीं अपने ग्रन्थोंमें अपना लौकिक परिचय नहीं दिया है, वह किस समय, किस देश, किस कुल, किस अवस्थामें प्रादुर्भूत हुए थे, क्या आकृति थी इत्यादि आधुनिक ऐतिहासिक परिचय कुछ भी नहीं जाना जाता और उन्हे आत्मपरिचय देने-की आवश्यकता भी क्या थी। वे सम्पूर्णरूपसे अपनेको भुलाकर तन्मय भाव-से ज्ञानचिन्तामें मग्न थे। वह महायोगी सिद्धिलाभ करके ही आत्माको चरितार्थ ज्ञानमय करतेथे। ग्रन्थमें ग्रन्थकारका नाम धाम आदि परिचय देनेमें उनकी इच्छा ही नहीं होतीथी; रामायण, महाभारत, हरिवंशादि ग्रन्थोंमें भी अपरिमित प्रभाशाली उन ऋषियोंने अपना नाम धामका उल्लेख नहीं किया है, वाल्मीकि व्यास यह प्रकृत नाम नहीं हैं किन्तु वल्मीकसे प्राप्त होनेसे वाल्मि-कि और वेद विभागकरनेसे वेदव्यास 'व्यास' नाम हुआहै। इन महर्षियोंके निर्माणकिये ज्ञानकाण्डकी अट्टासे स्तम्बपर्यन्त व्याप्त होनेवाली विशालता देख-कर तथा उनमें एक एककी आकृतिका ध्यान करके सन्मुख एक एक महानु-भावकी विशाल मूर्ति आविर्भूत होती है। यद्यपि उन्होंने अपना लौकिक परिचय नहीं दियाहै परन्तु जो मनुष्योंका यथार्थ परिचय है वह उस अलौ-किक ज्ञानका परिचय प्रदान करगये हैं, वे जीवलोकके कल्याण करनेको यह अमूल्य ज्ञानधन संचय करगये हैं, इसकारण उनका आत्मपरिचय तो चन्द्र सूर्यकी स्थितिपर्यंत है महावीर कर्णने कहाहै-

---

(१) हिब्रु, लाटिन, ग्रीक, सायारिझ, इटेलिक, जर्मनी, फ्रेंच, स्पेनिश, अरबी, पारसी, तुरुष्क, चीन, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, प्रभृति पृथ्वीकी प्राचीन व आधुनिक जितनी भाषा हैं सबमें गद्य और पद्यमें पंचतंत्र और हितोपदेशका अनुवाद है।

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तन्तु पौरुषम्॥

अर्थात् चाहे सूत हूं चाहे सूतपुत्र हू जो कोईभी मै हू इससे क्या ? कुलमे जन्म दैवाधीन है परन्तु पुरुषार्थ तो मेरे आधीन है (वेणीसंहार) अर्थात् पुरुषार्थ ही हमारा परिचय है। इसकारण पञ्चतंत्रके कर्ताका नाम धाम वंशका परिचय न पानेसे मनुष्यजातिकी कोई हानि नहीं, उनका यह पञ्चतंत्रही अनन्त काल पर्यंत जीव लोकका महाउपकार साधनकर उनके मनुष्यत्वका परिचय प्रदान करता रहैगा (१)

पञ्चतंत्र और हितोपदेश यह दो ग्रन्थ विष्णुशर्माके रचित हैं यह प्रसिद्ध है। जिसमे यह पञ्चतन्त्र पहला और हितोपदेश इसका सार लेकर पीछे निर्माण किया गया है, दोनो ग्रन्थोमें एकही वस्तु कथन की है इसमें विस्तार और हितोपदेशमे संक्षेप है। इसमे पांचतंत्र और हितोपदेशमे चार तन्त्र है, कहीं कहीं हितोपदेशमें पचतत्रके सिवाय अन्य स्थानोंसे भी सग्रह किया है यथा—

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहस्सन्धिरेव च।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते॥ १॥

अर्थात् मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि यह पचतत्र तथा अन्य ग्रथोसे लाकर लिखते है। मंगलाचरणमे विष्णुशर्माने मनु, वृहस्पति, शुक्र, पराशर, व्यास, चाणक्यादि नीतिशास्त्र करनेवालोको नमस्कार किया है इससे चाणक्यके पश्चात्ही विष्णुशर्मा हुए है इसमे तो कोई सन्देह नहीं है, कारण कि, नीतिशास्त्रके कर्ता जगत्पूज्य हुए है और ब्रह्मासे यह शास्त्र प्रादुर्भूत हुआ है, महाभारत राजधर्मके ५९ अध्यायमे लिखा है—देवताओकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीने लक्षश्लोकमे नीतिशास्त्र निर्माण किया, शिवजीने संक्षेप कर दशसहस्र अध्याय किये और विशालाक्ष शिवका नाम है इस कारण वह शास्त्र विशालाक्ष नामसे प्रसिद्ध हुआ, इन्द्रने शिवजीसे पढ़ पाच सहस्र आध्यायमे संक्षेप कर अपने नामके अनुसार उसका नाम बाहुदन्तिक रक्खा। फिर वृहस्पतिने तीन सहस्र अध्यायोमे संक्षेप कर उसका नाम बार्हस्पत्य प्रसिद्ध किया। शुक्राचार्यने उसे एक सहस्र अध्यायोमे संक्षिप्त कर उसका नाम औशनस रक्खा। गरुडपुराणमे देखा जाता है कि, चाणक्यने वृहस्पतिप्रणीत नीतिशास्त्रका सग्रह कर उससे

---

१ पञ्चतत्रमे बहुतसी कथा महिलारोप्य नगरका परिचय देकर लिखी है, यद्यपि इसका नाम इस समय क्या है सो विदित नही होता परन्तु सूक्ष्मविचारसे विदित होता है कि, कदाचित् यही दक्षिण देशमे विष्णुशर्माके रहनेका स्थान हो।

श्लोक संगृहीत किये इसकारण नीतिशास्त्र ग्रन्थके श्लोक और चाणक्यके श्लोक प्रायः एकरूप है । दंडिप्रणीत दशकुमारचरितके विश्रुतचरित्रमें लिखा है कि, विष्णु गुप्त अर्थात् चाणक्यने मौर्यवंशीय महाराज चन्द्रगुप्तके लिये पूर्वप्रचलित नीतिशास्त्रको संक्षिप्त करके छः सहस्र श्लोकोंमें निबद्ध किया, शास्त्रके पारगामी महापंडित विष्णुशर्माको जगत्का प्राचीन रत्नसंग्रहकर्ता पुरुष कहना उचित है, यह सत्य है कि, इन्होंने यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ बार्ह-स्पत्य, महाभारत, आदिग्रन्थोंसे संग्रह किया है, परन्तु इन्होंने यह रत्न अपूर्व आख्यायिकारूप सूत्रमें इस प्रकार गूंथे है कि, उनकी असाधारण बहुदर्शिता, अद्भुत सारग्राहिता, तथा विचित्र रचना कौशलकी सबही मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते है, उनका रचित गद्य इतना सरल, मनोहर और शुद्ध है कि उसके देख-नेसेही बोध होता है कि, इसप्रकारका अन्य कोई ग्रन्थ सरलता मधुरतासे पूर्ण संस्कृतसाहित्यमें नहीं है उनकी चमत्कारिणी गद्यरचना संस्कृतकी गद्यरचनाका आदर्श स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं कि, इन्होंने प्राचीन सामग्रीसे अपनी बुद्धिके बलसे एक अपूर्व नूतन पदार्थकी सृष्टि की है ।

पञ्चतन्त्रकी कथाओंका मूलतंत्र निरूपण करना बड़ा कठिन है, जैसी कहानी भारतवासी अपने छोटे बालकोंको सुनाया करते हैं और जो बहुत काल-तक क्रमसे कण्ठमेंही चलीआती थीं, वैसीही कथाओंको शिक्षासहित महापं-डित विष्णुशर्माने लिखा है। पञ्चतन्त्रकी कहावत हमारे देशकी शिक्षाका प्रथम सोपान है, तथा मनुष्य जातिका बाल्यावस्थाके निमित्त एक सरल मधुर और कोमल पदार्थ है, तथा जगत्का प्रथम सत्व भारतकी अतिपुरातन श्लाघनीय सम्पत्ति है यह अवश्यही सबको स्वीकार है ।

महाभारत हमारे देशकी अतिपुरातन सम्पत्ति है, प्रायः महाभारतकी रच-नाको साढेचार सहस्र वर्षसे अधिक व्यतीत होचुकेहैं, इसमें सन्देह नहीं कि, इस ग्रन्थमें मनुष्यजातिके अतिपुरातन चित्र खैंचकर सम्पूर्ण नीति और धर्मके आख्यान बड़ी चमत्कारतासे वर्णन किये हैं, अनेक स्थलोंमें पंचतन्त्रकी रीतिके समान धर्मादिविषय निरूपण किये हैं, बहुत क्या पञ्चतन्त्र और हितोपदेशकी कई कथा महाभारतसे लेकर लिखीगई हैं, जैसे व्याध-कपोत आदि इससे विदित होता है कि, कोई २ कथा भारतसे पहले भी विद्यमान थी और अधिक खोज करनेसे यहभी जाना जाता है कि, सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थोंमें भी कहीं कहीं ऐसी कथा लिखी हैं, विष्णुशर्माने कोई पुरानी लिखित कथा और कोई पुरुष परंपरासे प्राप्त प्राचीन कथा संग्रह करके मनोहर लिपिसूत्रमें ग्रथित किया है, इनकी कहावत किस देशमें किस आकार और रूपमें वर्तमान है

इसका विस्तार विद्वान् कोलब्रुक साहबने अपने टीका किये पंचतंत्रकी भूमिकामें लिखा है यहाँ अप्रासंगिक जानकर वह वार्ता लिखना उचित नहीं है।

इसप्रकार सर्व देशप्रचलित और विख्यात इस ग्रन्थका भाषान्तर होकर समस्त भूमंडलमे प्रकाशित होरहा है, परन्तु आजतकभी हिन्दी भाषाके भण्डारमे इसका नाम अंकित नहीं हुआ था, हां! हितोपदेशके ऊपर कई भाषाटीका छपचुकी है जिनमे एक हितोपदेशकी भाषाटीका अपने शिष्यद्वारा निजअनुमतिसे कराय भलीप्रकार शुद्धकर कल्याणमें सम्वत् १९५० मे मुद्रित कर चुके है, परन्तु कितनीही आवश्यकीय वार्ताओसे युक्त भूमिका, परिशिष्ट, आशय, उपदेशके मर्मसहित अत्युत्तम भाषामे पंडित बलदेवप्रसादमिश्रने अनुवाद किया है वह मुद्रित (१) होनेपर देखनेही योग्य होगा और कथा टिप्पणीके सिवाय उसमे यहभी दिखलाया है कि, हितोपदेशमे कौन श्लोक किस ग्रंथका है जिससे अनुवादकके परिश्रमका पूर्ण परिचय लक्षित होता है।

इस समय संस्कृतका उतना प्रचार नहीं है कि, जैसा पूर्व समयमें था और हमारे आचार विचार नीति रीति धर्मादिके ग्रंथ प्रायः सब संस्कृतमें ही विद्यमान है अब कालक्रमसे प्रायः वृत्तिकी आशासे ब्राह्मणादि वर्ण विदेशीय भाषाओमें यहांतक रुचि रखते है कि, बहुधा विदेशीय भाषाको सीखकर अपना कर्म धर्म भी विदेशीय रीति नीतिके अनुसार बदल डालना चाहते हैं, अपने शास्त्रका मर्म कुछ जानते नहीं है केवल विदेशीय टीके वा हांमे हां मिलानेवाले वा पक्षपातियोकी गप्पसेही अपनेको धर्म रीति नीतिका तत्त्वज्ञाता मानकर शास्त्रोंपर मीमांसा करने लगे हैं, कोई बालविवाहसेही देशका बिगाड़ समझकर ४८ वर्षका पुरुष २० वर्षकी कन्यासे विवाह करनेसे ही देशका उद्धार बल विद्याकी उन्नति समझते हैं, कोई शास्त्रके मर्मको बिना समझे यहांतक अधीर होगये हैं कि, जब किसी प्रकार बल नहीं चला तो अपना नामभी रिफार्मरोंमे होजाय इस कारण विदेशीय रीतिपर आरूढ हो ईश्वरके आगे चिल्ली पुकार कर मनकी उमंग निकालते हैं, अभी मुरादाबादसे भी विवाहविचारमें एक पुस्तक ऐसीही विचित्र लीलाकी प्रकाशित होचुकी है। कोई आगमें घी फूकनेसे ही देश भरकी वायु शुद्ध करनेका साहस करके कुण्डोमें प्रतिदिन आधी छटांक वा छटांकभर घी फूककर देशको सुगंधित कररहे हैं, कोई विधवाविवाह नियोग करना धर्म शास्त्रके अनुसार कहकर अपनेको विधवाऋणसे उऋण मान देशका मुख उज्ज्वल कररहे है, कोई एक एक स्त्रीके ग्यारह पतिकी आज्ञा देकर वेदार्थके

---

१ इस (सं० १९६६) समय इसकी द्वितीयावृत्तिभी छपके बिकरही है।

लोट फेर करनेसेही देशका भला और अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, कोई चारों-वर्णोंका खान पान एक करके भारतभूमिके सुपुत्र कहलानेकी उत्कट इच्छा करते हैं, कोई फारसी अंग्रेजी पढकर ही समस्त वेदवेदांगका तत्त्व निरूपणकर देशका भला करनेके साहसी होरहे हैं, इत्यादि जहां देखो जहां सुनो देशसुधार जातिसुधार देशोन्नतिकी पुकार जल वायुकी शुद्धिका विचारही श्रवणगोचर होता है अब इसके फलकी ओर दृष्टि की जाती है तो सर्वथा परिणाम उलटा दृष्टि आता है, मनमें और वचनमें और कार्यमें और है, विदेशियोंकी रीतिपर लेखनी चलीजाती है, खण्डन मण्डनमें पत्र रंग दिये जाते हैं, फल क्या है, कालपडते जाते है, महामारीसे देश उजड़े जाते हैं, लोग अल्पायु निर्धन हुए जाते है, जल, वायु बिगड़े जाते है इसी वर्षको विचार लीजिये कि (१९५३, १९५४) वर्षके इस अकालने देशभरमें डामाडोल मचादिया है, असंख्य भारतवासी भूखे मर गये, देशभर 'दीयताम्' की पुकारसे गूंजउठा है, कितनेही शहर भूंखोंने लूटे, कितनीही आत्महत्या हुई, कितनेही बिके, कितनेही अयोग्य कृत्यमें प्रवृत्त हुए, कितनेही पशुओंकी भांति घासपत्तेतक खागये, चौगुने पचगुने मोल अन्न होगया, लक्षों रुपया सर्कारने भी व्यय किया, सनातनधर्माव-लम्बी महात्माओंने सदावर्त जारी किये, दूसरे यूरपदेशोंसे भी लक्षों चन्दा आया, परन्तु महाभूखसे आरत भारतके लिये वह क्या कुछ होसकता है, हमको भूंखोंकी जो दशा दृष्टिगोचर हुई कि, जो भूंखके मारे प्राण छोडनाही चाहते हैं, जो जंगलमें वृक्षोंके नीचे मरणोन्मुख पडे है, उनके पास कितने जल और अन्न लेकर पहुंचे है, और हो भी क्या जिसके पास स्वयं नहीं वह दूसरेको क्या देगा, श्रावण भादों दोनों महीने साफ उतरगये अग्निमें घृत चढ़ानेपर भी इन्द्रदेवने जल न दिया, इधर तो यह अन्नकष्ट उधर रोगकष्ट भी देखिये भारतवासी बहुत दिनोंसे विषूचिकासे परिचित हैं, प्रतिवर्ष प्रायः सर्व नगरोंमे हैजेका प्रादुर्भाव होता है, चौवीस घण्टेकी लड़ाईमें बहुधा मनुष्य इस्से हारकर कालकवलित होते हैं, परन्तु बहुत दिनोंके परिचित होनेसे इसके नामसेही कम्पित नहीं होते थे, परन्तु इस समय जिस आकरमें (प्लेग) महामारी (ग्रन्थि विसर्प) बम्बईसे प्रगट हुई है उसे सुनकर ही बडे २ धीरजवाले थर्रागये हैं, सहस्रों मनुष्य अचानक इसके उपस्थित होनेमें कालकवलित हुए है, ज्वर और ग्रन्थि निकलते ही मनुष्यका प्राण पयान कर जाता है, घरके घर खाली होगये हैं, लक्षों मनुष्य देशान्तरोंको भाग गये हैं, बीमारी भी बम्बईसे आगे चलकर पूना आदि देशोंमें फैल गई है अब भागकर भी कहाँ जाँय, एक ओर 'दीयताम्' और एक ओर 'त्रायस्व' (रक्षाकरो) की ध्वनि फैल रही है। महा-

मारीके रोकनेके निमित्त बड़े २ उच्च श्रेणोके नवीन रीति नीतिवालोंके महा-घोर प्रयत्न भी निष्फल हो रहे है। महामारीसम्बन्धी नियमावली बनचुकी है रोगी होते ही घरवालोंसे पृथक् कर शहरसे दूर चिकित्सालयमे रक्खा जाय, रोगीके मरनेपर झोपडा फूकनेकी आज्ञा है, मकानमें मरे तो दोदो इंच मट्टी खुदवा कर फैक दो, उसकी खाट कपडे जला दो, मकानका द्वार झुलस दो, प्रेतहारी दशदिनतक नगरमें न आवे, इत्यादि प्रबन्धोकी धूमसे भारतवासी तीसरा संकट भोग रहे है, अब कहाँ भागै, रेलपर कठिन जांच होती है, अनेक प्रकारसे स्त्री पुरुषोकी मनमानी परीक्षा करते है, पुलिसकी बनपडी है, कई हत्या भी इस विषयमे हो चुकी है, सदेह होतेही लोग शिफाखाने भेजे जाते है, वहाँ उनका रामही रक्षक है, आगे महामारी न बैठे इस कारण शह-रोमे सफाई कराई जाती है सब कच्चे पक्के मकान चूनेसे पुताये जाते है, किसीने सत्य कहा है बारह वर्षमे घरके दिन भी फिरते है, हमने स्वय देखाहै कि, जिन निकृष्ट जनोके कच्चे मकानोमे वा बाजारकी दूकानोंके भीतर मट्टीका भी पोता नही लगाथा, वहाँ सरकारी आज्ञासे मट्टीकी चांदनी हो रही है, अन्न कष्ट रोग कष्ट, द्रव्य कष्ट, राज्य दंड, आदि कई कष्ट, एकसाथ उपस्थित हो रहे है बडे २ देशउद्धारक मौन हैं, हम पूछते है यह क्या हुआ, यह कैसी उन्नति हो रही है, यह वायुमे मलिनता कहाँकी आगई, पहले ऐसा सफाईका प्रबन्ध नही था, नई ऐसी रीति नीति नहीं थी, जिस कारणसे आप देशका सुधार कहते है वह बात नहीं थी. परन्तु तथापि राजा प्रजा आनन्दसे रहतेथे, अन्न धनका रोगका ऐसा कष्ट किसीसमय नहीं पडाथा, पुराने इतिहास ही इसके साक्षी है, तब क्या था, तब यही वार्ता थी कि, भारतवर्षकी चिकित्सा भारत-वर्षके नियामक धर्मग्रंथोके अनुसारही होतीथी, जप, तप, संयम, पूजा, पाठ, सत्य, स्तुति, प्रार्थना, हवन, अन्तर्बाह्य शुद्धि, सरलता, निष्कपटता, आस्तिकता शास्त्रोकी सत् व्याख्या, निष्पक्षता आदि मनुष्यमात्र अवलम्बन कियेथे, इससे देशभर मंगलयुक्त रहता था, जबसे संस्कृत विद्याकी न्यूनता और कृत्यमे अलसता प्राप्तहुई तभीसे देशमें नये २ रोगादि कष्ट उपस्थित होनेलगे है, लोग अपनी रीति नीति भूले जाते हैं, इस कारण बहुतसे दूरदर्शी विद्वानोंने यह भार अपने ऊपर लियाहै कि, पुरातन ग्रथोंका जहाँतक हो यथार्थ अनुवाद करके पक्षपातरहित अर्थ कियाजाय जिससे प्राचीन समयके व्यवहार दर्पण-वत् महाशयोके सन्मुख उपस्थित होजॉय, मानना या न मानना यह पाठकोंके आधीन है, यही विचारकर हमने भी वाल्मीकिरामायण, शिवपुराण, श्रीमद्भाग-वत, हरिवंशादि कितनेही ग्रन्थोंका देशभाषामे यथार्थ अनुवाद कियाहै और

कितनेही ग्रंथोंका अनुवाद कियाजाताहै कि, जिससे विज्ञ महाशय अपने धर्म कर्मको यथार्थ जान उसमें प्रवृत्त होकर उभय लोकमें सुख प्राप्तकरें, जिसप्रकार धर्मादि करना मनुष्य मात्रका कार्य है, इसीप्रकार लोकनिर्वाह और बुद्धिकी अधिकाईके निमित्त नीतिका जाननाभी मनुष्य मात्रको उचित है, इसीकारण सब प्रकारके गुणोंसे युक्त विद्यार्थियोंको परम उपकारक इस "पंचतंत्र" ग्रथका भाषामे अनुवाद कियाहै, ऐसा कौन है कि इसकी कथामें जिसे रुचि न हो, यह ग्रंथ सर्कारी परीक्षाओंमें भी नियुक्त है और अंग्रेजोके साथ जो संस्कृत पढाई जाती है उसके साथभी इसका कोई न कोई अंश अवश्य रहता है, इसकारण संस्कृतके विद्यार्थियोंकोभी उपयोगी हो, इस निमित्त संस्कृतके शब्दोंके अनुसारही इसका भावार्थ किया है, कहीं कुछ न्यूनाधिक नही कियाहै और जहाँ कहीं अर्थ खोलनेके लिये कुछ विशेष लिखा है वहां कोष्ट करदिया है और संस्कृतमें जहां वाक्य समाप्त होकर ऐसी । रेखा कर वहां भाषामें भी ऐसीही। रेखा कर दीहै, जिससे विद्यार्थियोंको शब्दार्थ जाननेमें कठिनता न पडे, हाँ अन्वयानुसार अर्थ करनेके कारण श्लोकमें अधिकतर कर्तासे अर्थका करना प्रारम्भ किया है यदि ऐसा न करते तो श्लोकार्थ रुचिकर सरस न होता श्लोकका अन्वय कर पाठक उसीके अनुसार अर्थ पासकेंगे ।

इस ग्रन्थमें नीतिकी उत्कृष्टता सबका सार लेकर वर्णन की है इसकारण इस टीकेका नामभी "नीतिसर्वस्व" रक्खा है ।

इसप्रकार यह ग्रन्थ पूर्णकर जगद्विख्यात परमप्रवीण सनातनधर्म निरत सद्ग्रन्थप्रचारक परमउपकारक गुणिजनरंजक परमोदार "श्रीवेंकटेश्वर" यंत्रालयाध्यक्ष सेठजी श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदासजी महाशयको सम्पूर्ण स्वत्वके सहित समर्पण करदियाहै जो कि, अपनी परम उदारतासे हमको सब प्रकार सन्तुष्ट कररहेहैं ।

हिन्दी भाषाके परम रसिक हमारे परम अनुग्राहक द्विजवंशदिवाकर दानशील पंडित हरसहाय पाठक तथा कुमार बनारसी दासजी एम. ए. बाबू उदित नारायण लाल वर्मा प्लीडर गाजीपुर तथा पंडित हरिहर प्रसाद पाठक मेनेजर "सत्यसिंधु", लाला शालिग्रामजी वैश्य, सेठ कुन्दन लाल आदि विज्ञ जनभी धन्य वादके योग्य हैं जो हिन्दी भाषाके प्रचारमें सदा रत रहते हैं ।

पाठक महाशयोंसे प्रार्थना है कि, यथाशक्ति टीका करनेमें कोई त्रुटि नहीं की है तथापि यदि कहीं भूल चूक पावै तो उसे क्षमा करें कारण कि, सर्वज्ञ परमेश्वरहीहैं ।

विदेशीय महाशयोने जो हमारे ग्रन्थोको देख प्रशसापत्र भेजे है उनको हम अन्तःकरणसे धन्यवाद देते हैं।

और अबकी बार फिर भी भलीभाति संशोधन कर उत्तम व्यवस्थासे छपकर तैयार हुआ है, आशा है कि, नीतिप्रिय महाशय इसे ग्रहणकर स्वयं अमूल्य लाभ उठावेंगे और ग्रन्थकार टीकाकार एवं प्रकाशकको सफल मनोरथ करैंगे।

पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र,
दीनदार पुरा-मुरादाबाद.

अथ पञ्चतन्त्रकी कथासूची ।

विषय.	पृष्ठ.
कथामुख	१
मित्रभेद प्रथम तन्त्र ।	६
१ वानरोके यूथकी कथा...	१३
२ शृगाल और भेरीकी कथा	३५
३ दन्तिलकी कथा	४६
४ देवशर्मा परिव्राजकादिकी कथा ...	५९
५ विष्णुरूपकौलिककी कथा	८०
६ काकी और कनक सूत्रकी कथा...	९३
७ बक और कर्टककी कथा	९४
८ भासुरक सिहकी कथा	१०१
९ मत्कुण मन्दविसर्पिणीकी कथा ...	११५
१० चण्डरव शृगालकी कथा	११९
११ मदोत्कट सिंहकी कथा	१३०
१२ टिट्टिभ और समुद्रकी कथा	१४२
१३ दुर्बुद्धिकूर्मकी कथा ...	१४४
१४ अनागत विधाता आदि तीन मच्छोकी कथा....	१४७
१५ चटकी काष्ठकूटकी कथा	१५२
१६ वज्रदंष्ट्र सिंहकी कथा...	१६७
१७ सूचीमुख वानरकी कथा	१७८
१८ चटक दम्पतीकी कथा	१८०
१९ धर्मबुद्धि पापबुद्धिकी कथा	१८३
२० मूर्ख बक और नोलेकी कथा	१८९
२१ जीर्णधन वणिक् पुत्रकी कथा	१९१
२२ मूर्ख वानर और राजाकी कथा ...	१९५
मित्रसम्प्राप्ति द्वितीय तंत्र ।	२०२
चित्रग्रीव उपाख्यान ...	२०३
हिरण्यक लघुपतनक संवाद	२१३

विषय	पृष्ठ.
१ हिरण्यक वृत्तान्तकी कथा	२२७
२ तिल बेचने वालीकी कथा	२३२
३ पुलिन्दकी कथा	२३४
४ सागरदत्त वणिककी कथा	२४७
५ सोमलिककी कथा	२५८
६ वृषभके पीछे फिरनेवाले शृगालकी कथा	२५४
काकोलूकीय तृतीय तन्त्र ।	२८८
काक उलूक वृत्तान्त	२८८
१ चतुर्दन्त हाथीकी कथा	३१०
२ शशकपिंजलकी कथा	३१६
३ ब्राह्मण और बकरेकी कथा	३२६
४ सर्प और चैंटियोंकी कथा	३२९
५ हरिदत्त ब्राह्मणकी कथा	३३६
६ पद्मवनके हंसोंकी कथा	३३८
७ व्याधकी कथा	३४१
८ वृद्ध वणिक्की कथा	३४९
९ चोर और राक्षसकी कथा	३५२
१० वल्मीक और उदरके सर्पकी कथा	३५५
११ रथकार और उसकी स्त्रीकी कथा	३५८
१२ मूषिकाकी कथा	३६४
१३ स्वर्णष्ठीवीकी कथा	३७१
१४ खर नखर सिंहकी कथा	३७४
१५ मन्दविष सर्पकी कथा	३८३
१६ घृतान्ध ब्राह्मणकी कथा	३८६
लब्धप्रणाश चतुर्थ तंत्र ।	३८७
१ जलस्थित वानरकी कथा	३९७
२ गगदत्त मण्डूककी कथा	४०६
३ करालकेशर सिंहकी कथा	४१५
४ कुम्भकारकी कथा	४२२
५ सिंह और गीदड़की कथा	४२४

विषय.	पृष्ठ.
६ ब्राह्मणीकी कथा	४२८
७ नन्दराजाकी कथा	४३२
८ शुद्ध पट रजककी कथा	४३४
९ हालिककी स्त्रीकी कथा	४३८
१० घंटाबन्ध ऊंटकी कथा	४४३
११ चतुरक शृगालकी कथा	४४७
१२ चित्रांग सारमेयकी कथा	४५२
अपरीक्षित कारक पंचम तंत्र।	**४५५**
१ मणिभद्रनाम सेठकी कथा	४५५
२ ब्राह्मणी और नौलेकी कथा	४६३
३ मस्तकपर चक्र भ्रमण करनेवालेकी कथा	४६५
४ सिंह बनाने वाले ब्राह्मणोंकी कथा	४७३
५ मूर्ख पण्डितोंकी कथा	४७५
६ शतबुद्धि आदि मत्स्योंकी कथा	४८०
७ गर्दभ और शृगालकी कथा	४८३
८ मन्थर कौलिककी कथा	४८७
९ सोमशर्माके पिताकी कथा	४९२
१० चन्द्रराजाकी कथा	४९४
११ राक्षस और राजकन्याकी कथा	५०४
१२ अन्धे कुबडे और तीनस्तनवाली राजकन्याकी कथा	५०८
१३ चण्डकर्मा राक्षस और ब्राह्मणकी कथा	५०९
१४ भारण्डपक्षीकी कथा	५१५
१५ कैंकडे और ब्राह्मणकी कथा	५१७

इति कथासूची समाप्ता।

॥ श्रीः ॥

अथ पंचतन्त्रम् ।

भाषाटीकासहितम् ।

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः ।
सिद्धानद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च १॥

मया ज्वालाप्रसादेन नमस्कृत्य गजाननम् ।
क्रियते पञ्चतंत्रस्य भाषाटीका मनोरमा ॥

दोहा—शंभु शिवा रघुपति सिया, बन्दौं पवनकुमार ।
कृपा करहु जन जान मोहिं, गुणागार सुखसार ॥

ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय, विष्णु, वरुण, यम, अग्नि, इन्द्र, कुबेर, चन्द्र, सूर्य्य, सरस्वती, सागर, चारोंयुग, पर्वत, वायु, पृथ्वी, वासुकि आदि सर्प, कपिलादि सिद्ध, नदी, अश्विनीकुमार, लक्ष्मी, दिति (कश्यपपत्नी), अदितिके पुत्र (देवता), चण्डिकाआदि मातायें, वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्व), तीर्थ (पुण्यक्षेत्र काशी आदि), यज्ञ (दर्श पौर्णमासादि), गण (प्रमथादि), वसु (आठ देव), मुनि (व्यसादि), ग्रह (सूर्यादि), नित्य (हमारी) रक्षा करैं । स्रग्धरा छन्द है ॥ १ ॥

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥२॥

स्वायम्भू मनु, बृहस्पति, शुक्र, सपुत्र (व्याससहित) पराशर, पण्डित चाणक्य और नीतिशास्त्रके बनानेवालोंके निमित्त नमस्कार है ॥ २ ॥

सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार विष्णुशर्माने इस जगत्में सम्पूर्ण अर्थशास्त्रका सार देखकर पंचतंत्रोंमे यह मनोहर शास्त्र निर्माण किया है ॥ ३ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तत्र सकलार्थिकल्पद्रुमः प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगलः सकलकलापारंगतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव । तस्य त्रयः पुत्राः परमदुर्मेधसो बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेतिनामानो बभूवुः । अथ राजा तान् शास्त्रविमुखान् आलोक्य सचिवान् आहूय प्रोवाच—"भो ! ज्ञातमेतद्भवाद्भिः यन्ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च । तत् एतान् पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्यमावहति । अथवा साध्विदमुच्यते—

सो ऐसा सुना है कि, दक्षिणके देशमें एक महिलारोप्यनाम नगरहै । वहां सम्पूर्ण याचकोंके (मनोरथ पूर्ण करनेको) कल्पवृक्ष, बडे बडे निर्जित राजाओंकी मुकुटमणियोंकी किरणोंके समूहसे पूजित चरणयुगल, सम्पूर्ण कलाओंका पारगामी, अमरशक्ति नाम राजा था, उसके तीन पुत्र अतिदुर्बुद्धि--बहुशक्ति, उग्रशक्ति, अनन्तशक्ति नामवाले थे । तब राजा उनको शास्त्रसे विमुख देखकर मन्त्रियोंको बुलाकर बोला--"क्या यह आपको विदित है कि, जो यह मेरे पुत्र शास्त्रसे विमुख विवेक रहित हैं । सो इनको देखकर मुझको यह बडा राज्य सुख नहीं देता है । अथवा किसीने यह अच्छा कहा है कि—

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम् ।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥ ४ ॥

न हुए, होकर मरगये और मूर्ख इन (तीन प्रकारके) पुत्रोंमे नहुए और होकर मरगये भले हैं, कारण कि, वे दोनों थोडे दुःखके निमित्त है, मूर्ख तो जन्मपर्यन्त जलाता है ॥ ४ ॥

वरं गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनं
वरं जातप्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।

वरं वन्ध्या भार्य्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाविद्वान्रूपद्रविणगुणयुक्तोपि तनयः ॥ ५ ॥

गर्भका स्राव होजाना अच्छा है, ऋतुमें स्त्रीके निकट न जाना अच्छा है, उत्पन्न होतेही मरजाना अच्छा है, वा कन्याही होनी अच्छी है, भार्याका वन्ध्या-होनाभी भला, वा गर्भमें रहनाही भला है, परन्तु अपण्डित रूप-द्रव्यसम्पन्नभी पुत्र अच्छा नहीं है ॥ ५ ॥

किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ॥ ६ ॥

उस गौसे क्या किया जाय, जो न जनती है, न दूध देती है, उस पुत्रसे क्या है, जो न विद्वान् है न भक्तिमान् है ॥ ६ ॥

वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य ।
येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥

इस जगत्में पुत्रका मरण अच्छा है, परन्तु कुलोत्पन्न पुत्रका मूर्ख होना भला नहीं, जिससे विद्वानोंके बीचमें मनुष्य जारोत्पन्नकी समान लज्जित होताहै ॥ ७ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमा यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥ ८ ॥

गुणिजनोंकी गणनाके आरम्भमें जिसकी रेखा भूलसेभी नहीं गिरती है, यदि उसीसे उसकी माता पुत्रवती है, तो कहो वन्ध्या कैसी होती है ? ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम् । अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति । ततो यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथा अनुष्ठीयताम्" इति । तत्रैकः प्रोवाच-"देव ! द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते, ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि । एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते । ततः प्रतिबोधनं भवति" । अथ तन्मध्यतः सुमतिर्नाम सचिवः प्राह-"अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः । प्रभूतकालज्ञेयानि शब्द-

शास्त्राणि । तत्संक्षेपमात्रं शास्त्रं किञ्चिदेतेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यतामिति । उक्तञ्च यतः—

सो जैसे इनकी बुद्धिमें प्रकाश हो वैसा कोई उपाय कियाजावे । यहां मेरी दीहुई आजीविकाको भोगते हुए पांचसौ पंडित है । सो जैसे मेरे मनोरथ सिद्ध हो, वैसा अनुष्ठान करो"। उनमें एक बोला—"देव ! बारह वर्षमें व्याकरण पढा-जाता है, फिर धर्मशास्त्र मनुआदिके, अर्थशास्त्र चाणक्यादि, कामशास्त्र वात्स्या-यनादि, इसके उपरान्त फिर धर्म, अर्थ, कामशास्त्र जाने जाते है, तब ज्ञान होताहै"। तब उनमेंसे सुमति नाम मन्त्री बोला—"यह जीवन विषय अनित्य है, बहुत शब्दशास्त्र बहुत दिनोंमें पढेजाते हैं, सो कोई संक्षेपमात्र शास्त्र इनके ज्ञानके निमित्त विचार करो, कहा भी है—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः ।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।

शब्दशास्त्रका पार नहीं है, अवस्था थोडी और विघ्न बहुत है, इस कारण सारको ग्रहण करे, असारको त्याग दे, जैसे हंस जलमेंसे दूध निकाल लेते हैं. उपजाति वृत्त है ॥ ९ ॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारङ्गमश्छात्रसंसदि लब्धकीर्त्तिः तस्मै समर्पयतु एतान् । स नूनं द्राक् प्रबुद्धान् करिष्यति" इति । स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—"भो भगवन् ! मदनुग्रहार्थमेतान् अर्थशास्त्रं प्रति द्राग्यथा अनन्यसदृशान् विदधासि तथा कुरु। तदा अहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि" । अथविष्णुशर्मा तं राजानमूचे—"देव ! श्रूयतां मे तथ्यवचनम्।नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि।पुनरेतांस्तव पुत्रान् मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान् न करोमि ततः स्वनामत्यागं करोमि। किं बहुना, श्रूयतां ममैष सिंहनादः नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि । ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयाजनं किन्तु त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं सरस्वतीविनोदं करि-

ष्यामि । तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः । यदि अहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान् नयशास्त्रं प्रति अनन्यसदृशान् न करिष्यामि ततो नार्हति देवो देवमार्गं सन्दर्शयितुम्" । अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्यासंभव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितः तस्मै सादरं तान् कुमारान् समर्प्य परां निर्वृतिमाजगाम । विष्णुशर्म्मणापि तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काकोलूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्च तन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तानि अधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः । ततः प्रभृति एतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम् । किं बहुना ।

सो यहा एक विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मण सब शास्त्रका पारगामी विद्यार्थियोंमें प्राप्त यशवाला है, उसके निमित्त इन पुत्रोको समर्पण करदो वह अवश्य शीघ्र इनको ज्ञानवान् करदेगा" । वह राजा यह वचन सुन विष्णुशर्माको बुलाकर बोला—"भगवन् ! मुझपर कृपाकर इन मेरे पुत्रोंको अर्थशास्त्रमें शीघ्रही असाधारण जैसे वनै तैसे करो । तो मै तुमको सौ सख्याक सम्पत् दूगा" । तब विष्णुशर्मा उस राजासे कहने लगा—"देव ! मेरा सत्य वचन सुनो, मैं सम्पत्से विद्याविक्रय नहीं करताहू, परन्तु इन तुम्हारे पुत्रोंको यदि छः महीनेमे नीतिशास्त्रका ज्ञाता न करू तो अपना नाम त्यागनकरू । बहुत कहनेसे क्याहै मेरा यह सिंहवद्गर्जन सुनो धनकी इच्छामे मैं नहीं कहताहूं । मुझ अस्सी वर्षके सब इन्द्रियोंके भोग्यसे निस्पृह हुएको अर्थसे कुछ प्रयोजन नहीं है, परन्तु तुम्हारी प्रार्थना सिद्धिके निमित्त सरस्वती विनोद करूगा । सो आजका दिन लिखिये जो मैं छः महीनेमें तुम्हारे पुत्रोको विद्यामें असाधारण (जिसके बराबर कोई नहो) न करू तो जगदीश्वर मुझको देवमार्ग (स्वर्ग) न दिखावै" । तब यह राजा इस ब्राह्मणकी असम्भाव्य (असम्भावसी) प्रतिज्ञाको सुनकर, मन्त्रियों सहित प्रसन्न हो, विस्मयको प्राप्त हुआ । उसके निमित्त आदरसे उन कुमारोंको समर्पणकर, अत्यन्त सतोषको प्राप्त हुआ । विष्णुशर्मानेभी उनको ले उनके निमित्त मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश, अपरीक्षितकारक इन पाच

तन्त्रोंको निर्माणकर उन राजकुमारोंको पढाये । वेभी उनको पढकर छः महीनेमें जैसा कहाथा वैसेहुए । उस दिनसे यह पंचतन्त्र नामक नीतिशास्त्र बालकोंके ज्ञानके निमित्त पृथ्वीमें विख्यात हुआहै बहुत क्या–

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च ।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥ १० ॥

कथामुखमेतत् ।

जो इस नीतिशास्त्रको पढता और सुनताहै, वह कभी इन्द्रसेभी पराभवको प्राप्त नहीं होताहै ॥ १० ॥

इति पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतायां पञ्चतंत्रभाषाटीकायां कथामुखं समाप्तम् ।

अथ मित्रभेदोनाम प्रथमं तंत्रम् ।

अथातः प्रारभ्यते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम् । यस्यायमादिमः श्लोकः–

इसके अनन्तर मित्रभेद नामवाला प्रथम तन्त्रका प्रारम्भ करते हैं । जिसकी आदिमें यह श्लोकहै–

वर्द्धमानो महान्स्नेहः सिंहगोवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

सिंह और बैलका वनमे बढाहुआ महास्नेह चुगुल लालची जम्बुक (गीदड) ने विनाशकर दिया ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते–अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तत्र धर्मोपार्जितभूरिविभवो वर्द्धमानको नाम वणिक्पुत्रो बभूव । तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना । "यत्प्रभूतेऽपि वित्ते अर्थोपायाश्चिन्तनीयाः कर्त्तव्याश्चेति । यत उक्तञ्च–

सो यह सुनाजाता है कि, दक्षिण देशमें महिलारोप्यनाम एक नगर है वहां धर्मसे महाधन उपार्जन कर्ता वर्द्धमान नामक वणिक् पुत्र था । उसको एक समय

रात्रीमे खाटमें लेटेहुए चिन्ता उत्पन्न हुई; कि "बहुत धन उत्पन्न होनेपरभी धनप्राप्तिका उपाय चिन्ता करना चाहिये कहाभी है-

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्ध्यति ।
यत्नेन मतिमाँस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥ २ ॥

ऐसी कोई वस्तु नही जो अर्थसे सिद्ध न होती हो इस कारण बुद्धिमान् यत्नसे अर्थका उपार्जन करै ॥ २ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ ३ ॥

जिसके धन है उसके मित्र हैं, जिसके धन है उसीके बधु हैं, जिसके धन है लोकमे वही पुरुष है, जिसके धन है वही पडित है ॥ ३ ॥

न सा विद्या न तद्दानं न तच्छिल्पं न सा कला ।
न तत्स्थैर्य्यं हि धनिनां याचकैर्यन्न गीयते ॥ ४ ॥

न वह विद्याहै, न वह दान है, न वह कारीगरी है, न वह कला है, न वह धनियोंकी स्थिरता है, जिसको याचक न गाते हो ॥ ४ ॥

इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते ।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥

इस लोकमें धनियोंके गैरभी स्वजन होजाते हैं, दरिद्रोंके कटुम्बी भी सदा दुर्जन होजाते हैं ॥ ५ ॥

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।
प्रवर्त्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ ६ ॥

धनके बढनेसे और इधर उधर इकट्ठे होनेसे सब क्रिया प्रवृत्त होती हैं, जैसे पर्वतोसे नदिया (निकल कर सब कार्य पूर्ण करती हैं) ॥ ६ ॥

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

अपूज्यभी (धनसे) पूजित होता है, अगम्यके निकटभी जाया जाता है, अनमस्कारी पुरुषभी वन्दन योग्य होता है, यह प्रभाव धनकाही है ॥ ७ ॥

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्य्याण्यखिलान्यपि ।
एतस्मात्कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥

भोजन करनेसे जैसे सब इन्द्रिय (समर्थ होती हैं) इसीप्रकार सम्पूर्ण कार्य धनसे (होते हैं), इस कारणसे धन सबका साधन कहा जाता है ॥ ८ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
त्यक्त्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥

धनकी इच्छासे यह प्राणी श्मशानकोभी सेवन करता है, निर्धन अपने उत्पन्न करनेवालेको भी छोडकर दूर जाता है ॥ ९ ॥

गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।
अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥ १० ॥

वृद्ध पुरुषोमेभी जिनके धन हैं वे तरुण हैं, जो धनसे हीन हैं, वे युवा अवस्थामें ही वृद्ध होते हैं ॥ १० ॥

स चार्थः पुरुषाणां षड्भिरुपायैर्भवति भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा । सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येन अतिरस्कृतोऽर्थलाभः स्यात् । उक्तञ्च यतः—

वह धन पुरुषोंको छः उपायोंसे मिलता है, भिक्षा, राजसेवा, खेतीका कार्य, विद्याउपार्जन, लेनदेन वा वणिक्कर्मसे । इन सबमें वाणिज्यसे सर्वसम्मत लाभ होता है ।

कृता भिक्षाऽनेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो
कृषिः क्लिष्टा विद्या गुरुविनयवृत्त्यातिविषमा ।
कुसीदाद्दारिद्र्यं परकरगतग्रन्थिशमना-
न्न मन्ये वाणिज्यात्किमपि परमं वर्त्तनमिह ॥ ११ ॥

अनेक पुरुषोने भिक्षा की है, राजाभी योग्य वृति नहीं देता है, खेती क्लेशदायिनी है, विद्या गुरुकी विनयवृत्तिसे अति विषम है, व्याजसे भी दरिद्र होता है, कारण कि, दूसरेके[१] हाथमें आनेसे ग्रन्थिशमन हो जाय, वाणिज्यसे अधिक कोईभी जीवनोपाय नहीं मानताहूं । शिखरिणी छन्द है ॥ ११ ॥

उपायानाञ्च सर्वेषामुपायः पण्यसंग्रहः ।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥ १२ ॥

---

१ कोई धरोहर मारले ।

सम्पूर्ण उपायोंमें बेचने योग्य द्रव्यका संग्रहही एक उत्तम है और संशयात्मक हैं ॥ १२ ॥

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय स्यात्तद्यथा गान्धिकव्यवहारो, निक्षेपप्रवेशो, गोष्ठिककर्म, परिचितग्राहकागमो, मिथ्याक्रयकथनं, कूटतुलामानं, देशान्तराद्भांडानयनञ्चेति । उक्तञ्च-

वह वाणिज्य सातप्रकारका धनके निमित्त होता है, गन्धद्रव्यका व्यवसाय, निक्षेप प्रवेश अर्थात् रुपयेका अपने यहा जमा करना उसे व्याज देना, गोसम्बन्धीकर्म, पहचाने हुए ग्राहकोंका आना (कारण कि, जानाहुआ ग्राहक दुरुक्ती नहीं करता है), वस्तुका मिथ्या मोल कहना (थोडे मूल्यमें खरीद कर अधिक मोल बताना), कमती तोलना, देशान्तरोंसे बरतन द्रव्यादिका लाना, कहा है कि-

पण्यानां गान्धिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः ।
यत्रैकेन च यत्क्रीतं तच्छतेन प्रदीयते ॥ १३ ॥

बेचने योग्य द्रव्योंमे सुगन्धि द्रव्यका व्यापार श्रेष्ठ है और दूसरे सुवर्णादिसे क्याहै; जो कि, एकसे मोल लेकर सौको बेचा जाता है ॥ १३ ॥

निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम् ।
निक्षेपी म्रियते तुभ्यं प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥ १४ ॥

धरोहर घरमे आनेसे सेठ अपने देवताकी स्तुति करता है कि, यदि यह धरोहरवाला मर जाय, तो मै तुझको अभिमत वस्तुसे पूजन करूंगा ॥ १४ ॥

गोष्ठिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा मयाद्य लब्धा किमन्येन ॥ १५ ॥

गोष्ठीकर्ममें नियुक्त हुआ श्रेष्ठी प्रसन्न मनहो विचारता है, मैंने धनसे पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्ति की और क्या चाहिये ॥ १५ ॥

परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्यासौ ।
हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥

पहचाने ग्राहकको आता हुआ देखकर उत्कंठासे यह उसके धनसे ऐसे प्रसन्न होताहै; जैसे पुत्र उत्पन्न होनेसे ॥ १६ ॥

अन्यच्च-
औरभी-

पूर्णापूर्णे माने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम् ।
मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम् ॥१७॥

पूराकमती तोलकर नित्य पहचाने जनका वंचन करना, मिथ्या मोल कहना यह किरातोंकी प्रकृति है ॥ १७ ॥

अन्यच्च-
औरभी-

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥ १८ ॥"

भाण्डके बेचनेमें चतुर दुगुने तिगुने धनको दूरदेशमें जानेवाले मनुष्य उद्यमसे प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥"

इत्येवं सम्प्रधार्य्य मथुरागामीनि भाण्डानि आदाय शुभायां तिथौ गुरुजनानुज्ञातः सुरथाधिरूढः प्रस्थितः । तस्य च मंगलवृषभौ सञ्जीवकनन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोढारौ स्थितौ ॥ तयोरेकः सञ्जीवकाभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्णः सन् पङ्कपूरमासाद्य कलितचरणो युगभंगं विधाय निषसाद । अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्द्धमानः परं विषादमगमत् । तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयः त्रिरात्रं प्रयाणभंगमकरोत् । अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम्-"भोः श्रेष्ठिन् ! किमेवं वृषभस्य कृते सिंहव्याघ्रसमाकुले बह्वपायेऽस्मिन् वने समस्तसार्थः त्वया सन्देहे नियोजितः । उक्तञ्च-

इस प्रकार मनमें विचार, मथुराके जानेवाले भाण्डोंको लेकर, शुभ तिथिमें गुरुजनोंकी आज्ञालेकर, रथपर चढकर चला, उसके दो मंगलवृषभ संजीवक, नन्दक, नामवाले घरमें उत्पन्न हुये भारवाहक थे; उनमें एक संजीवक नामवाला बैल यमुनाके अनूप देशमें प्राप्त होकर, महादलदलमें फँसनेके कारण लंगडी टांग होकर जुआ गिराय स्थित हुआ । उसकी यह दशा देखकर वर्द्धमान परम विषादको प्राप्त हुआ और उसके निमित्त प्रेमसे आर्द्रहृदय होकर तीन रात्रितक

गमन न किया । तब उसको दुःखी देख सार्थियोंने कहा—"भो सेठ ! क्यो इस बैलके निमित्त सिंह व्याघ्रसे युक्त अनेक विपत्तिवाले इस वनमें सम्पूर्ण सार्थियोंको तुमने सन्देहमें नियुक्त किया है, कहाहै कि—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥ १९ ॥"

बुद्धिमान् थोडेके निमित्त बहुतका नाश न करै, यह पडिताई है कि, थोडेहीसे बहुतकी रक्षा करे ॥ १९ ॥"

अथासौ तदवधार्य्य सञ्जीवकस्य रक्षापुरुषान् निरूप्य अशेषसार्थं नीत्वा प्रस्थितः । अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा सञ्जीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वा अन्येद्युस्तं सार्थवाहं मिथ्याहुः—"स्वामिन् । मृतोऽसौ सञ्जीवकोऽस्माभिस्तु सार्थवाहस्याभीष्ट इति मत्वा वह्निना संस्कृतः" इति तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्य और्ध्वदेहिकक्रियाः वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार । सञ्जीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैः आप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे ॥ तत्र मरकतसदृशानि बालतृणाग्राणि भक्षयन् कतिपयैरहोभिर्हरवृषभ इव पीनः ककुद्मान् बलवांश्च संवृत्तः प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि शृंगाभ्यां विदारयन् गर्जमानः आस्ते । साधु चेदमुच्यते—

तब यह वैश्य इस बातको विचारकर, सञ्जीवकके निमित्त रक्षापुरुषोंको निरूपण कर और सब सार्थियोको लेकर चला । तब रक्षक पुरुषभी अनेक कष्टयुक्त उस वनको देख सजीवकको छोड उसके पीछे जाकर दूसरे दिन सार्थवाहसे मिथ्या कहने लगे—"हे स्वामिन् ! वह सजीवक मरगया, हमने आप (सार्थवाह) का प्यारा जानकर अग्निसे सस्कार किया"। यह सुनकर सार्थवाह कृतज्ञता और प्रेमसे आर्द्रहृदय होकर उसकी और्ध्वदेहिक क्रिया वृषोत्सर्गादि सब करता भया । (इधर) सजीवकभी आयु शेष रहनेके कारण यमुनाजलसे मिली अत्यन्त शीतल वायुद्वारा तृप्तशरीरसे किसी प्रकार उठकर यमुनाके किनारे प्राप्त

हुआ, वहां मरकतमणिकी समान छोटे तृणके अग्रभाग भक्षण करता हुआ कुछ दिनोंमें शिवजीके वृषभके समान स्थूल ककुद्वाला बलवान् हुआ प्रतिदिन वल्मीकके शिखरके अग्रभागोंको शृंगोंसे विदीर्ण करता गर्जता रहा । कहाभी सत्य है कि–

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति । जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥ २० ॥

अप्रतिपालित वस्तु दैवसे रक्षित हुई स्थित रहती है, भली प्रकार रक्षित हुई वस्तुभी दैवसे अरक्षितहो नष्ट होजातीहै, अनाथभी वनमे त्यागन किया जीताहै यत्न करनेपरभी घरमें नहीं जीताहै, वंशस्थ वृत्त ॥ २० ॥

अथ कदाचित् पिंगलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतःपिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः सञ्जीवकस्य गम्भीरतरारावं दूरादेव अशृणोत् । तच्छ्रुत्वा अतीव व्याकुलहृदयः ससाध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेन अवस्थितः । चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्–सिंहः सिंहानुयायिनः काकरवाः किंवृत्ता इति । अथ तस्य करटकदमनकनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रिपुत्रौ भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनौ आस्ताम् । तौ च परस्परं मन्त्रयतः। तत्र दमनकोऽब्रवीत्–"भद्र करटक ! अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य्य स्थितः स किं निमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्त्य व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थितः"। करटक आह–"भद्र ! किमावयोरनेन व्यापारेण। उक्तञ्च यतः–

एक समय पिंगलक नाम सिंह सम्पूर्ण मृगोंसे युक्त प्याससे व्याकुल जल पीनेके निमित्त यमुनाके किनारे प्राप्त हुआ, संजीवकका अधिक गम्भीर शब्द दूरसे सुनता भया । वह सुन अत्यन्त व्याकुल हृदय होकर भयके आकारको छिपाकर वटवृक्षके नीचे चतुर्मण्डलावस्थान (जिसके चारों ओर मृग बैठे हों) से बैठा । चतुर्मण्डलावस्थान इसको कहतेहैं, कि सिंह, सिंहानुयायी, काकरव (काककेसे शब्द करनेवाले), किंवृत्त (क्यों उपस्थित हुआ है, इस वृत्तान्तके जाननेवाले) बैठे ।

तब उसके करटक, दमनक नामवाले दो शृगाल मन्त्रीके पुत्र अधिकारसे भ्रष्ट सदा अनुयायी थे । वह दोनो परस्पर सम्मति करने लगे, उसमे दमनक बोला— "भद्र करटक!यह तो हमारा स्वामी पिंगलक जल पीनेको यमुनाकच्छमें प्राप्त हो स्थित हुआ था।क्या कारण है कि,प्याससे व्याकुल होकरभी लौटकर अपनी सेनाकी मण्डल रचनाको विधानकर दुर्मनस्कतासे तिरस्कृत हुआ इस वट वृक्षके नीचे बैठा है?"करटक बोला—"भद्र ! हमारा इस व्यापारसे क्या लाभ है,कहा भी है—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्त्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः ॥ २१ ॥"

जो मनुष्य अनधिकारियेमे अधिकार करनेकी इच्छा करता है वही नाश होता है, जैसे कीलको उखाडकर वानर ॥ २१ ॥ "

दमनक-आह-"कथमेतत" ? । सोऽब्रवीत्—

दमनक बोला "यह कैसी कथा है' ?? वह बोला—

कथा १.

कस्मिंश्चित नगराभ्यासे केनापि वणिक्पुत्रेण तरुषण्ड-मध्ये देवतायतनं कर्त्तुमारब्धम् । तत्र च ये कर्म्मकराः स्थपत्यादयः ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति । अथ कदाचित् तत्रानुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमत आगतम् । तत्र एकस्य कस्यचित् शिल्पिनोऽर्द्धस्फाटितोऽञ्जनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति एतस्मिन् अन्तरे ते वानराः तरुशिखरप्रासादशृङ्गदारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः । एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युः चापल्यात् तस्मिन्नर्द्धस्फाटितस्तम्भे उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावत् उत्पाटयितुमारेभे तावत तस्य स्तम्भमध्यगतवृषणस्य स्वस्थानात् चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम् । अतोऽहंब्रवीमि "अव्यापारेषु" इति । आवयोः भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव, तत् किमनेन व्यापारेण"। दमनक आह—"तत् किं भवान् आहारार्थी केवलमेव। तन्न युक्तम् । उक्तं च—

किस एक नगरके समीप किसी वैश्यपुत्रने वृक्षमण्डलीके मध्यमें देवस्थान बनाना प्रारंभ किया, उसमें जो कर्मचारी थे शिल्पी आदि वे दुपहरके समय भोजनके निमित्त नगरमें जातेथे । एक समय अपनी जातिके अनुक्रमसे प्राप्त वानरयूथ इधर उधर घूमता हुआ आया, वहां किसी एक कारीगरका आधा चीरा हुआ अञ्जनवृक्षका काष्ठस्तम्भ बीचमें खैरकी खूंटी अडाया हुआ था, इसी समय वे वानर वृक्षोंके शिखर प्रासाद श्रृंग तथा काष्ठके चारों ओर क्रीडा करना प्रारम्भ करते हुए एक उनमेंसे निकटमृत्युवाला चंचलतासे उस आधे फाडे हुए स्तम्भपर बैठकर हाथसे उस खूंटीको पकड ज्योंही उखाडने लगा कि त्योंही उसके स्तम्भके छिद्रमें लटके हुए वृषणो (अंडकोष) की अपने स्थानसे कीलीके उखडनेसे जो दशा हुई है सो पहलेही निवेदन कर दी है । इससे मैं कहता हूं "अनधिकारमे" इत्यादि । हम दोनोंका खानेसे बचा भोजन स्थित है ही, फिर इस व्यापारसे क्या है" । दमनकने कहा—"तो क्या आप केवल आहारमात्रकी इच्छा करते हो ? सो युक्त नहीं है, कहा है कि—

सुहृदामुपकारकारणाद्द्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ २२॥

मित्रोंका उपकार करनेसे,शत्रुओंका अपकार करनेसे बुद्धिमान् राजाका आश्रय करते हैं, केवल पेट कौन नहीं भरता है ॥ २२ ॥

किञ्च—

कारण कि,

यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु ।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ? ॥ २३ ॥

जिसके जीनेसे बहुतसे पुरुष जियें, सोई जीता है और पक्षी क्या चोंचसे अपना उदरपूर्ण नहीं करते हैं ? ॥ २३ ॥

तथाच—

औरभी—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यैर्विज्ञानशौर्यविभवार्य्यगुणैः समेतम् । तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः काकोऽपि जीवति चिरञ्च बलिं च भुंक्ते ॥ २४ ॥

जो क्षणमात्र भी मनुष्योंसे प्रतिष्ठित होकर जीता है, विज्ञान, शूरता, ऐश्वर्यके गुणोंसे सहित जो जीवित है, उसके जाननेवाले उसीका नाम जीवित कहते हैं, यो तो कौआभी बहुत कालतक जीता और बलि खाता है ॥ २४ ॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे दीने दयां न कुरुते न च मर्त्यवर्गे। किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके काको ऽपि जीवति चिरञ्च बलिं च भुंक्ते ॥ २५ ॥

जो न अपने, न दूसरोंमें, न बन्धुवर्गमें, न दीनोंमें, न मनुष्योंमे दया करता है, मनुष्यलोकमें उसके जीनेका क्या फल है, योंतो कौआभी चिरकालतक जीता और बलि खाता है ॥ २५ ॥

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ २६ ॥

कुनदी जल्दी भर जाती है, मूषककी अंजली शीघ्र भरजाती है, कापुरुष शीघ्र सतुष्ट हो जातेहैं, यह स्वल्प वस्तुसे ही सन्तुष्ट हो जाते है ॥ २६ ॥

किञ्च-

कारण कि-

किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा ॥ २७ ॥

माताके यौवन हरनेवाले उस पुरुषके जन्मसे क्या है, जो अपने वंशमे ध्वजाके अग्रभागकी समान नहीं स्थित होता है ॥ २७ ॥

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ २८ ॥

बदलते हुए संसारमें कौन नहीं मरा और कौन नहीं उत्पन्न हुआ, वही जन्म लेनेवाला गिना जाता है, जो अधिक लक्ष्मीसे स्फुरायमानहो ॥ २८ ॥

किञ्च-

और भी-

जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम्।
यत्सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥ २९ ॥

नदीके किनारे उत्पन्न हुए उस तृणका भी जन्म सफल है, जो जलमें डूबनेसे घबडाये हुए मनुष्योका अवलम्बन होता है ॥ २९ ॥

तथाच-

और देखो-

स्तिमितोन्नतसञ्चारा जनसन्तापहारिणः ।
जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ॥ ३० ॥

ऊँचे नीचे संचरण करनेवाले जनके सन्ताप हरनेवाले मेघकी समान कोई सज्जन विरलेही होते है ॥ ३० ॥

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ ३१ ॥

विद्वान् लोग उसके जन्मसे माताकी अधिक भारता स्मरण करते है कि,उसने इसको किस प्रकार धारण किया है, जो बडे पुरुषोंको भी भारी होता है ॥ ३१॥

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लंघ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥ ३२ ॥"

शक्ति न प्रगट करनेवाला समर्थभी जनोंसे तिरस्कृत होजाता है,काठके भीतर रहनेवाली अग्निको सब कोई उलंघन करता है, न जलती हुई को ॥ ३२ ॥

करटक आह-

करटक बोला-

"आवां तावदप्रधानौ तत्किमावयोरनेन व्यापारेण । उक्तञ्च-

"हम तो यहां अप्रधानहैं,सो हमे इस वार्तासे क्या प्रयोजनहै । कहा भी है-

अपृष्टोऽत्राप्रधानो यो ब्रूते राज्ञः पुरः कुधीः ।
न केवलमसंमानं लभते च विडम्बनम् ॥ ३३ ॥

विना पूछे जो अप्रधान कुबुद्धि इस संसारमें राजाके आगे बोलता है, वह केवल असम्मानकोही प्राप्त नहीं होता किन्तु अवमानताकोभी प्राप्त होता है ॥३३॥

तथाच-

और भी-

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।
स्थायीभवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा ॥ ३४ ॥"

वचन वहां कहना चाहिये, जहां कुछ कहनेका फल हो जैसे कि,सफेद वस्त्रपर रग अत्यत स्थायी होता है ॥ ३४ ॥"

दमनक आह-"मा मा एवं वद।

दमनक बोला-"ऐसे मत कहो।

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम्।
प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥ ३५ ॥

यदि राजाको सेवनकरे तो अप्रधानभी प्रधान होजाता है और सेवासे वर्जित हो तो प्रधानभी अप्रधान होजाता है ॥ ३५ ॥

यत उक्तञ्च-

कारण कहाभी है-

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥ ३६ ॥

राजा निकटकेही मनुष्यको भजतेहैं, चाहे वह विद्याहीन, अकुलीन, सस्कारहीन हो, प्रायः राजा,स्त्री और वेल जो निकट होताहै उसीको वेष्टन करते हैं ३६

तथाच-

और भी-

कोपप्रसादवस्तूनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः।
आरोहन्ति शनैः पश्चाद्धुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥

जो सेवक क्रोध और प्रसन्नताके विषयको खोजते रहतेहै, वे-क्रमसे विरक्त राजाकोभी प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम्।
सेवावृत्तिविदाञ्चैव नाश्रयः पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥

विद्यायुक्त, कारीगर और विक्रमसे सम्पन्न, सेवावृत्तिके जाननेवाले महाशयोंको राजाके विना अन्य आश्रय नहीं है ॥ ३८ ॥

य जात्यादिमहोत्साहान्नरेन्द्रान्नोपयान्ति च ।
तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥ ३९ ॥

जो अपनी जाती आदिके महा अभिमानसे राजाके समीप नही जातेहैं, उनको मरण पर्यन्त भिक्षाका प्रायश्चित्त कहाहै ॥ ३९ ॥

ये च प्राहुर्दुरात्मानो दुराराध्या महीभुजः ।
प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥ ४० ॥

और जो दुरात्मा कहते हैं कि राजा दुराराध्य (कठिनतासे सेवने योग्य) हैं, उन्होंने अपनी प्रमाद, आलस्य और जडता प्रगट की है ॥ ४० ॥

सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्टोपायैर्वशीकृतान् ।
राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥

सर्प, व्याघ्र, गज, सिंहोंकोभी उपायोंसे वशीभूत देखा है, अप्रमादी बुद्धिमानोंको राजाका वशमें करना क्या बड़ी बात है ? ॥ ४१ ॥

राजानमेव संश्रित्य विद्वान्याति परां गतिम् ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥ ४२ ॥

राजाकेही आश्रयसे विद्वान् परमगति (उन्नति) को प्राप्त होता है, मलयाचलके विना अन्यत्र चन्दन नहीं ऊगता है ॥ ४२ ॥

धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ ॥ ४३ ॥"

श्वेत छत्र, मनोहर घोडे, मत्त मातङ्ग यह सदा राजाकी प्रसन्नतासे होते हैं ॥ ४३ ॥"

करटक आह-

करटक बोला-

"अथ भवान् किं कर्त्तुमनाः ?" । सोऽब्रवीत्-"अद्य अस्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो भीतपरिवारश्च वर्त्तते । तत एनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावानामेकतमेन संविधास्ये "। करटक आह-"कथं वेत्ति भवान् यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ?" सोऽब्रवीत-"ज्ञेयं किमत्र । यत उक्तञ्च-

"फिर आपकी क्या करनेकी इच्छा है?" वह बोला–"आज हमारा स्वामी पिंगलक डरेकुटुम्बसहित भीत स्थितहै सो इसके निकट जाय डरके कारणको जान सन्धि (मेल) विग्रह (युद्ध) यान (शत्रुके प्रतियात्रा) आसन (समयका देखना) सश्रय (बलवानसे अभियुक्त होनेके कारण सबलका आश्रय) इनमेसे एकका आश्रय करूगा।" करटक बोला–"आप कैसे जानते हैं कि, स्वामी भयभीत है?" वह बोला–"इस जाननेमें क्या है,कहा है–

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः॥ ४४॥

कहे अर्थको पशुभी ग्रहण करलेते हैं, हाथी, घोडे प्रेरितहुए (भार) वहन करते हैं, पण्डितजन विनकही बातकोभी ग्रहण करतेहैं, क्योंकि पराई चेष्टाके ज्ञान होनेके फलवाली बुद्धियां होतीहैं॥ ४४॥

तथाच मनुः–
जैसाही मनुजीने कहाहै–

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ ४५॥

आकार (अवयव विषाद प्रसादको प्राप्त) से सकेतसे, गमन, क्रिया, भाषण, नेत्र और मुखके विकारसे, मनके अन्तरकी बात जानी जाती है॥ ४५॥

तदद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशीकृत्य च निजां साचिव्यपदवीं समासादयिष्यामि"। करटक आह–"अनभिज्ञो भवान् सेवाधर्मस्य। तत्कथमेनं वशीकरिष्यसि?"। सोऽब्रवीत्–"कथमहं सेवानभिज्ञः। मया हि तातोत्सङ्गे क्रीडता अभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठतां यच्छुतं सेवाधर्मस्य सारभूतं हृदि स्थापितं श्रूयतां तच्चेदम्–

सो इस भयसे व्याकुल हुएको प्राप्त होकर अपनी बुद्धिसे निर्भय कर इसको वशीभूत कर अपनी मन्त्रिपदवीको प्राप्त हूगा"। करटक बोला–"आप सेवाधर्मसे अनभिज्ञ हो तो इसे किस प्रकारसे वशीभूत करोगे"?। वह बोला–"मैं किस प्रकारमें सेवासे अनभिज्ञ हूं,मैंने पिताकी गोदीमे खेलते हुए अभ्यागत साधुओंकी

नीतिशास्त्र पढते हुए जो सुना है, वह सेवाधर्मका सारभूत हृदयमें स्थापन कर-लिया है उसे सुनो–

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥

विक्रमी, विद्वान् और सेवक सुवर्णके पुष्पवाली पृथ्वीको खोज करतेहैं (प्राप्त करते हैं) ॥ ४६ ॥

सा सेवा या प्रभुहिता ग्राह्या वाक्यविशेषतः ।
आश्रयेत्पार्थिवं विद्वांस्तद्द्वारेणैव नान्यथा ॥ ४७ ॥

वही सेवा है, जो प्रभुका हित करनेवाली है, वह प्रभुके वाक्यसे ग्रहणकरी जाती है, विद्वान् पुरुष उस (वाक्य) द्वारसे राजाका आश्रय करे और उपाय नहीं है ॥ ४७ ॥

यो न वेत्ति गुणान्यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात्फलं किंचित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥

जो जिसके गुण न जाने, विद्वान् उसकी सेवा न करै, कारण कि, उससे कुछ फल नहीं होता, जैसे उषर भूमिके जोतनेसे ॥ ४८ ॥

द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः ।
भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥

धन और प्रकृतिसे हीन पुरुषभी सेवनीय गुणोंसे युक्त हो तो सेवा करनी चाहिये, उससे आजीवन और कालान्तरसे फलकी प्राप्तिभी होसकती है ॥४९॥

अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन्परिगतः क्षुधा ।
न त्वेवानात्मसम्पन्नाद्वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५० ॥

ठूंठकी समान स्थित हुआ सूखता हुआ महाभूंखसे स्थित रहना (अच्छा) है परन्तु चतुर पुरुष ज्ञानशून्य प्रभुसे वृत्तिप्राप्त होनेकी इच्छ न करै ॥ ५० ॥

सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परुषाक्षरम् ।
आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥ ५१ ॥

सेवक कृपण स्वामीको कठिन अक्षरोंसे निन्दा करताहै, परन्तु वह अपनी निन्दा क्यों नहीं करता; वह जो सेव्य और असेव्यको नहीं जानता है, (कारण कि यह कृपण है वा नहीं पहले ही वह विचार कर स्वामीकी सेवा करै)५१॥

यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधार्त्ता यान्ति सेवकाः।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥

जिसको प्राप्त होकर क्षुधासे व्याकुल सवक विश्रामको प्राप्त नहीं होते हैं, वह सदा पुष्प फलयुक्तभी राजा आकके वृक्षकी समान त्यागने योग्य है ॥ ५२ ॥

राजमातरि देव्यां च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्त्तेत राजवत् ॥ ५३ ॥

राजमाता, पटरानी, कुमार, मुख्यमंत्री, पुरोहित और द्वारपाल इनसे राजाकी समान वर्ताव करै ॥ ५३ ॥

जीवेति प्रब्रु   प्रोक्तः कृत्याकृत्यविचक्षणः।
करोति निर्विकल्पं   : स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५४ ॥

कृत्य अकृत्यका जाननेवाला पुकारनेसे जीव ऐसा कहै और विना विचारे आज्ञा सम्पादन करे वह राजाका प्रिय होताहै ॥ ५४ ॥

प्रभुप्रसादजं वित्तं सुप्राप्तं यो निवेदयेत्।
वस्त्राद्यञ्च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५५ ॥

जो प्रभुकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुए द्रव्यसे सन्तोष प्रकाश करे और उनके वस्त्र आदि अपने अंगमे धारण करे वह राजाका प्रिय होताहै ॥ ५५ ॥

अन्तःपुरचरैः सार्द्धं यो न मन्त्रं समाचरेत्।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५६ ॥

अन्तःपुरमें रहनेवालोंके साथ जो सलाह नहीं करता है, न राजाकी कलत्रोंसे वात करताहै, वह राजप्रिय होताहै ॥ ५६ ॥

द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलोपमाम्।
पश्येद्दारान्वृथाकारान्स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५७ ॥

जुएको यमदूतकी समान, सुराको विषकी समान, स्त्रियोंको कुत्सित आकारवाली देखता है, वह राजप्रिय होता है ॥ ५७ ॥

युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात्सदा पृष्ठानुगः पुरे।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५८ ॥

जो युद्धकालमे आगे चले, पुरमे पीछे २ चले, महलमें प्रभुके द्वारे स्थित रहे वह राजाका प्रिय होता है ॥ ५८ ॥

सम्मतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।
कृच्छ्रेष्वपि न मर्य्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५९ ॥

मैं प्रभुका नित्य सम्मत हूं, ऐसे विचार कर जो कठिनतामें भी मर्यादाका आक्रमण नहीं करता है वह राजाका प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥

जो राजाके द्वेषियोंसे नित्य द्रोह करता है, प्रियजनोंका नित्य प्रिय करता है, वह राजाका प्रिय होता ॥ ६० ॥

प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाह विरुद्धं प्रभुणा च यः ।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥

जो प्रभुके कहनेपर विरुद्ध उत्तर नहीं देता है समीपमें उच्च स्वरसे नहीं हँसताहै, वह राजप्रिय होता है ॥ ६१ ॥

यो रणं शरणं तद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।
प्रवासं स्वपुरावासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥

जो भयरहित हो, युद्धको गृहवत् मानता है, परदेशको अपने नगरकी समान मानता है, वह राजवल्लभ होता है ॥ ६२ ॥

न कुर्य्यान्नरनाथस्य योषिद्भिः सह सङ्गतिम् ।
न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥"

राजाकी स्त्रियोंके साथ संगती न करे, तथा उनकी निन्दा और विवाद न करे, वह राजाका प्रिय होताहै ॥ ६३ ॥"

करटक आह-"अथ भवान् तत्र गत्वा किं तावत् प्रथमं वक्ष्यति तत् तावदुच्यताम्?"

करटक बोला-"तो तुम प्रथम वहां जाकर क्या कहोगे, वह तो कहो?"

दमनक आह-

दमनक बोला-

"उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद्बीजाद्बीजमिवापरम् ॥ ६४ ॥

"कहनेसे वाक्य उत्तरोत्तर प्रवृत्त हो जाता है, जैसे सुवृष्टिके गुणसे बीजसे बीज होताहै ॥ ६४ ॥

अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसन्दर्शनजाञ्च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिगुणप्रयुक्तां पुरःस्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ६५

अपायसे प्राप्त होनेवाली विपत्ति, उपायके करनेसे सिद्धि बुद्धिमान् नीतिके गुणसे प्रयुक्त की हुई आगे स्फुरायमान होते हुएकी समान वर्णन करतेहैं ॥६५॥

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि मूकवत्।
हृदि वाचि तथान्येषां वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः ॥ ६६ ॥

किन्हींके वचन बोलनेमे तोतेकी समान मधुर और मनमे कपट, कोई हृदयमें मूकवत् अर्थात् वाक्य तो सुननेमें कठोर और हृदय कपटशून्य, दूसरे पुरुषोंके सुवचन हृदय और वचन दोनोंसेही सारताको प्रगट करते हैं ॥ ६६ ॥

न च अहमप्राप्तकालं वक्ष्ये। आकर्णितं मया नीतिसारं पितुः पूर्वमुत्सङ्गं हि निषेवता।

मैं असमयके वचनोको न कहूगा, पिताकी गोदीको सेवन करते हुए पहले मैंने सुना है।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
लभते बह्ववज्ञानमपमानञ्च पुष्कलम् ॥ ६७ ॥"

अप्राप्त कालके वचनोंको बृहस्पतिभी कहे तो बहुत अवज्ञा और अपमानको प्राप्त होते हैं ॥ ६७ ॥ "

करटक आह–

करटक बोला–

" दुराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा।
व्यालाकीर्णाः सुविषमाः कठिना दुष्टसेविताः ॥ ६८ ॥

"पर्वतकी समान राजा सदा दुराराध्य हैं, जैसे कि राजा और पर्वत सर्प (हिंस्रजन) श्वापद जीवोसे युक्त दारुण और नीचे ऊचे मार्गोंसे विषम होते हैं, इसी प्रकार राजा दुष्ट सेवित होनेसे कठिन होते हैं ॥ ६८ ॥

तथाच–

और देखो–

भोगिनः कञ्चुकाविष्टाः कुटिलाः क्रूरचेष्टिताः।
सुदुष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजानः पन्नगा इव ॥ ६९ ॥

सुख भोगमें रत, फणावाले, वस्त्रधारी, केंचलीधारी, कुटिल (कपटी), टेढी गतिवाले, निठुरचेष्टावाले, दुष्टराजा सर्पकी समान मन्त्र चित्तानुवृत्तिसेही साध्य होते हैं ॥ ६९ ॥

द्विजिह्वाः क्रूरकर्माणोऽनिष्टाश्छिद्रानुसारिणः ।
दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥ ७० ॥

दो जिह्वावाले, क्षण क्षणमे भिन्न बचन कहनेवाले, क्रूरकर्म करनेवाले, अनिष्ट (निष्पत्तिरहित) दोषके देखनेवाले, (बिलमें गमन करनेवाले) राजा सर्पोंकी समान दूरसेही देखते हैं ॥ ७० ॥

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गाः पापचेतसः ॥ ७१ ॥

जो राजाके इष्टपुरुष उनका थोडाभी अनिष्ट करते हैं, वे पापचित्तवाले अग्निमें पतंगकी समान जलते हैं ॥ ७१ ॥

दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥

सब लोकोंसे नमस्कार करनेके योग्य राजोंका पद दुरारोह (कठिनसे प्राप्त) है, थोडेसेभी अपकारसे ब्राह्मणत्वकी समान दूषित होजाता है ॥ ७२ ॥

दुराराध्याः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिताः ॥ ७३ ॥"

राजलक्ष्मी कठिनतासे सेवनीय होसक्ती है, इसी कारण दुर्लभ और प्राप्य होनेको अशक्य है, लक्ष्मी आधार (पात्र) में जलकी समान यत्नसे रक्षित की हुई चिरकालतक अपने पास रहती है ॥ ७३ ॥"

दमनक आह–" सत्यमेतत्परं किन्तु–

दमनक बोला,–" यह सत्य है किन्तु–

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ७४ ॥

जिस जिसका जो जो भाव है; उस उस भावसे उसको सेवन करे, बुद्धिमान् उसमें प्रवेश कर शीघ्र अपने वशमे करे ॥ ७४ ॥

भर्तुश्चित्तानुवर्त्तित्वं सुवृत्तं चानुजीविनाम् ।
राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्यं छन्दानुवर्तिभिः ॥ ७५ ॥

स्वामीके चित्तके अनुसार वर्तना अनुजीवियोंका सुशील है, निरन्तर उनके आशयके अनुसार चलनेवाले मनुष्य राक्षसोंकोभी वश करलेते हैं ॥७५॥

सरुषि नृपे स्तुतिवचनं तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेषः ।
तद्दानस्य शंसा अमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम् ॥ ७६ ॥ "

राजाके क्रोधकरनेमें स्तुतिके वचन, उनके इष्टमें प्रेम, उनके द्वेषवालेसे द्वेष, उनके दानकी प्रशसा, बिना मत्रके वशीकरण तत्र है ॥ ७६ ॥ "

करटक आह–

करटक बोला–

"यद्येवमभिमतं तर्हि शिवास्ते पन्थानः सन्तु । यथाभिलषितम् अनुष्ठीयताम् " । सोऽपि प्रणम्य पिङ्गलकाभिमुखं प्रतस्थे । अथ आगच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वाःस्थमब्रवीत्–" अपसार्य्यतां वेत्रलता । अयमस्माकं चिरन्तनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहतप्रवेशः । तत्प्रवेश्यतां द्वितीयमण्डलभागी" इति । स आह–"यथा अवादीत् भवान्" इति । अथोपसृत्य दमनको निर्दिष्टे आसने पिङ्गलकं प्रणम्य प्राप्तानुज्ञ उपविष्टः । स तु तस्य नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच–"अपि शिवं भवतः ? कस्माच्चिरात दृष्टोऽसि ?" । दमनक आह–"न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम् । परं भवतां प्राप्तकालं वक्तव्यं यत उत्तममध्यमाधमैः सर्वैरपि राज्ञां प्रयोजनम् ।

"जो यह विचारहै तो आपके मार्ग मगलकारी हों । यथेच्छ अनुष्ठान करो" । वहभी प्रणामकर पिंगलकके सन्मुख चला । तब आते हुए दमनकको देखकर पिंगलक द्वारपालसे बोला–"वेत्रलता (दड) अलगकरो, यह हमारा प्राचीन मन्त्रीपुत्र बेरोकटोक प्रवेशवालाहै सो आनेदो दूसरे मण्डल (आसन) का अधिकारी है" । वह बोला–"जो कुछ आप आज्ञा देते हैं" । तब जाकर दमनक दिये हुए आसनमें पिंगलकको प्रणाम करके बैठा । वह तो उसके नखरूपी वज्रसे अलंकृत दाक्षिण हाथको ऊपर रखकर सन्मानसे बोला–"आपको मगल है ? क्यों बहुत दिनोंमें दीखे ?" दमनक बोला–"श्रीमान्के चर–

णोंका यद्यपि हमसे कुछ प्रयोजन नहीं है परन्तु आपसे समयपर वचन कहना उचितही है.कारण कि,उत्तम,मध्यम,अधम सभीसे राजाओंका प्रयोजन होता है ।

उक्तञ्च–

कहाभी है–

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्य्यं भवतीश्वराणां किमंग वाग्घस्तवता नरेण७७

दांतोंके कुरेदनेसे वा नित्य कर्णोंके खजानेसे तृणसे भी राजोंका कार्य होताहै हे अङ्ग ! वाणी और हाथवाले मनुष्यसे कार्य होता है सदा तो कहनाही क्या है ॥ ७७ ॥

तथा वयं देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे तथापि देवपादानामेतत् युक्तं न भवति ।

इसी प्रकारसे हम स्वामीके चरणोंके कुलक्रमसे प्राप्त हुये भृत्य आपदोंमेंभी पीछे चलनेवाले हैं यद्यपि अपने अधिकारको प्राप्त नहीं हैं तोभी श्रीमान्के चरणोंको यह योग्य नहीं है ।

उक्तञ्च–

कहाभी है–

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥ ७८ ॥

भृत्य और गहने स्थानमें नियुक्त करने चाहिये । मैं प्रभुहूं ऐसा मानकर चूडामणि (शिरका भूषण) चरणपर कोई धारण नहीं करता है ॥ ७८ ॥

यतः–

कारण–

अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते ।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥ ७९ ॥

जो गुणोंसे अनभिज्ञ है; भृत्य उसको साथ नहीं देते, चाहैं वह धनाढय कुलीन और क्रमायात राजा हो ॥ ७९ ॥

उक्तञ्च-

कहा है कि-

असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमाणसत्कारः ।
धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ॥८०॥

जो भृत्य असमान भृत्योंसे समानताको प्राप्त किया जाय तुल्य भृत्योंसे दूर सत्कारवाला किया जाय तथा कार्यभारमें नियुक्त न किया जाय इन तीन कारणोंसे भृत्य राजाको त्यागन करदेता है ॥ ८० ॥

यच्च अविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान् हीनाधमस्थाने नियोजयति न ते तत्रैव तिष्ठन्ति न भूपतेर्दोषो न तेषाम् । उक्तञ्च-

और जो अज्ञानतासे उत्तम पदके योग्य भृत्योंको हीन अधम स्थानमें नियुक्त करता है, न वे वहा रहते है न राजाका दोष है न उनका । कहाभी है-

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते ।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ८१ ॥

सुवर्णके गहनेमे लगाने योग्य मणि यदि निकृष्ट धातुमे लगाई जाय, वह मणि न रोती है, न शोभित होती है किन्तु वैसे नियुक्त करनेवालेकी निन्दा होती है कि, लगानेवालेको योग्यायोग्यका ज्ञान नहीं है ॥ ८१ ॥

यच्च स्वामी एवं वदति "चिराद्दृश्यते" तदपि श्रूयताम् ।

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः ।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्वसेत् ॥ ८२ ॥

और जो स्वामी यह कहते हैं कि, "बहुत कालमें देखा" सोभी सुनो जिस स्थानमे दहिने बाये हाथका विशेष नहीं है, वहा सब स्थानमे जानेवाला कौन बुद्धिमान् क्षणमात्रभी स्थिति करेगा ॥ ८२ ॥

काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्प्यते ।
न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥ ८३ ॥

जिनकी बुद्धि काचमे मणि मणिमें काचका विकल्प करती है उनके निकट भृत्यजन नाममात्रकोभी स्थित नहीं होते ॥ ८३ ॥

परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ८४

जिस देशमें परीक्षा करनेवाले नहीं हैं वहां समुद्रसे उत्पन्न हुए रत्नोंका मूल्य नहीं होता ह आभीर देशमें चन्द्रकान्तमणिको गोप तीन कौडीसे खरीदते हैं ८४

लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चान्तरम् ।
यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ॥ ८५ ॥

लोहित मणि और पद्मरागमणिको अन्तर जहां नहीं है, वहां किस प्रकार रत्नोंका विक्रय होसक्ता है ॥ ८५ ॥

निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्त्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ८६ ॥

जब स्वामी सबभृत्योंमें एकसा विशेषतः रहित वर्तता है वहां उद्यममें समर्थोंका उत्साह हीन हो जाताहै ॥ ८६ ॥

न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥ ८७ ॥

भृत्योंके बिना राजा नहीं और न राजाके बिना भृत्य हैं, उनका यह व्यवहार प स्पर निबन्धवाला है ॥ ८७ ॥

भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः ।
मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥ ८८ ॥

भृत्योंके विना राजा ऐसे शोभित नहीं होता जिस प्रकार लोकको अनुग्रहकरनेवाली किरणोंके विना तेजस्वी सूर्य नहीं शोभित होताहै ॥ ८८ ॥

अरैः सन्धार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ।
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्त्तते ॥ ८९ ॥

अरोंमें नाभि और नाभ (पुट्ठो) में अरे स्थित रहते हैं, इस प्रकारसे यह स्वामी सेवकका आजीविका चक्र चलता है ॥ ८९ ॥

शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः ।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः ॥ ९० ॥

नित्य शिरसे धारण किये स्नेहसे परिपालित तेलके विना केशभी रूखे हो जाते हैं, क्या सेवक न होंगे ॥ ९० ॥

राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति।
ते तु सम्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ९१ ॥

राजा प्रसन्न होकर भृत्योंको अर्थमात्र प्रदान करता है, और वे सन्मानमात्रसे उसके निमित्त अपने प्राण लगादेते हैं ॥ ९१ ॥

एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः।
कुलीनाः शौर्य्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९२ ॥

यह विचारकर राजाओंको चतुर भृत्य करने चाहिये, जो कुलीन शूरतासे सयुक्त समर्थ भक्त और कुलपरपरासे आये हों ॥ ९२ ॥

यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम्।
लज्जया वक्ति नो किञ्चित्तेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥

जो राजाका दुःसाध्य उत्तम हित करके लज्जासे कुछ नहीं कहता है, उससे ही राजा सहायवान् होता है ॥ ९३ ॥

यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा।
आस्यते सेवकः स स्यात्कलत्रमिव चापरम् ॥ ९४ ॥

जिसमें कार्यको निर्भय चित्तसे समर्पण करके राजा स्थित होताहै वह सेवक राजाको अन्य कलत्रकी समान पोषणीय है ॥ ९४ ॥

योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा।
पृष्टः सत्यं मितं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥

जो विनाबुलाये समीपमें स्थित रहता हे सदा द्वारेही स्थित रहता है और पूछनेसे सत्य बोलता हे वह राजाके भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९५ ॥

अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरश्च यः ॥
यतते तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥

और जो राजाकी आज्ञाके विनाभी हानिकारक वार्ताको देख उसके नाश करनेका यत्न करता है, वह राजाके भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९६ ॥

ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा।
यो न चिन्तयते पापं स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥

जो राजासे ताडित होकर कठोर कहा जाकर दण्ड दिया जाकर भी राजाका अनिष्ट चिन्तन नहीं करताहै वह राजाका भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९७ ॥

न गर्वं कुरुते माने नापमाने च तप्यते ।
स्वाकारं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम ॥ ९८ ॥

जो सन्मानमें गर्व नहीं करता, अपमानमें तापित नहीं होता है और जो अपने मानापमानके भावको रक्षित करता है वह राजाका भृत्य होनेके योग्यहै९८

न क्षुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन ।
न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९९ ॥

कभीभी जो निद्रा और क्षुधा शीत आदिसे पीडित नहीं होताहै वह राजाओंके भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९९ ॥

श्रुत्वा सांग्रामिकीं वार्त्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति ।
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०० ॥

जो आगे होनेवाली स्वामीकी संग्राम वार्ताको सुनकर प्रसन्नमुख होता है वह राजाके भृत्य होनेके योग्य है ॥ १०० ॥

सीमावृद्धिं समायाति शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।
नियोगसंस्थिते यस्मिन् स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१०१॥

जिस भृत्यके नियुक्त होनेमें शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी समान राजाकी सीमा वृद्धिको प्राप्त होती है वही राजाओंका भृत्य होनेके योग्य है ॥ १०१ ॥

सीमा सङ्कोचमायाति वह्नौ चर्म इवाहितम् ।
स्थिते यस्मिन्स तु त्याज्यो भृत्यो राज्यं समीहता॥१०२॥

और जिसकी स्थितिमें अग्निमें चर्मकी समान सीमा संकोच भावको प्राप्त होतीहै राज्यकी इच्छा करनेवाले राजा उस भृत्यको त्यागन करे ॥ १०२ ॥

तथा शृगालोऽयमिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यदि अवज्ञा क्रियते तदपि अयुक्तम् । उक्तं च यतः—

और यह शृगाल है यदि ऐसा मानकर स्वामी मेरी अवज्ञा करें तो यहभी अनुचित है । कारण कहा भी है—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद्दूर्वापि गोरोमतः
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात् ।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना १०३

रेशम कीडोसे, सुवर्ण पाषाणसे, दूर्वा गौके रोमसे, कमल कीचडसे, चन्द्रमा सागरसे, इन्दीवर (कमल) गोबरसे, अग्नि काष्ठसे, मणि सर्पके फणसे, रोचन गोपित्तसे उत्पन्न होता है, गुणी अपने गुणोंके उदयसे प्रकाशित होते है न कि जन्मसे ॥ १०३ ॥

मूषिका गृहजातापि हन्तव्या स्वापकारिणी ।
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत्प्रार्थ्यते जनैः ॥ १०४ ॥

घरमें उत्पन्न हुई अपना अपकार करनेवाली मूषिकाभी मारने योग्य है, हित-कारी बिलावको भक्ष्य दान देकरभी लानेकी मनुष्य प्रार्थना करते हैं ॥ १०४ ॥

एरण्डभिण्डार्कनलैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः ।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार बहुतसे एरण्ड भिण्ड आक नलसे कुछ काठका प्रयोजन नहीं निकलता इसी प्रकार अज्ञोंसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ॥ १०५ ॥

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।
भक्तं शक्तं च मां राजन् नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ १०६ ॥"

असमर्थ भक्त और अपकारी सामर्थ्यवान् पुरुषसे क्या है, हे राजन् ! मुझ भक्त और समर्थकी अवज्ञा करनेको आप योग्य नहीं हैं ॥ १०६ ॥"

पिंगलक आह–"भवतु एवं तावत् । असमर्थः समर्थो वा चिरन्तनः त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः तद्विश्रब्धं ब्रूहि यत् किंचि-द्वक्तुकामः" । दमनक आह–"देव ! विज्ञाप्यं किञ्चिदस्ति" । पिंगलक आह–"तन्निवेदय अभिप्रेतम्" । सोऽब्रवीत्–

पिंगलक बोला–"हो यह समर्थ वा असमर्थ, परन्तु तुम हमारे पुराने मन्त्रि-पुत्र हो सो जो तेरे कहनेकी इच्छा है. निर्भय कहो " दमनक बोला–"देव ! कुछ कहना तो है." पिंगलक बोला–"अपना अभीष्टकहो" वह बोला–

"अपि स्वल्पतरं कार्य्यं यद्भवेत्पृथिवीपतेः ।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः ॥ १०७ ॥

"राजाका जो अत्यन्त छोटासाभी कार्य हो वह सभामे नहीं कहना चाहिये ऐसा बृहस्पतिने कहा है ॥ १०७ ॥

तत् ऐकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः । यतः–

सो एकान्तमें स्वामीके चरण मेरी विज्ञप्तिको श्रवण करें कारण कि–

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत्सुधीः ॥ १०८ ॥"

छः कानमें मंत्र भेदको प्राप्त होता है, चारकर्णमें स्थिर होता है इस कारण बुद्धिमान् सब प्रकार षट्कर्णको वार्जित करें ॥ १०८ ॥"

अथ पिंगलकाभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृकपुरःसराः सर्वेऽपि तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः । ततश्च दमनक आह–"उदकग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह निवृत्त्यावस्थानम्" । पिंगलक आह–(सविलक्षस्मितम्) "न किञ्चिदपि" । सोऽब्रवीत्–" देव ! यदि अनाख्येयं तत्तिष्ठतु । उक्तञ्च–

तब पिंगलकके अभिप्राय जाननेवाले व्याघ्र गैंडे वृक आदि सब कोई उसके वचनको श्रवण कर सभामेंसे उसी समय दूर होगये । दमनक बोला–"जल ग्रहणके लिये गये हुए स्वामी क्यों लौटकर यहां स्थित हुए"। पिङ्गलकने लज्जासे कुछ हास्यके सहित कहा–"कुछ नहीं" उसने कहा–"देव ! यदि कहनेके योग्य नहीं है तो जाने दीजिये । कारण कहा है–

दारेषु किञ्चित्स्वजनेषु किञ्चिद्गोप्यं वयस्येषु सुतेषु किञ्चित ।
युक्तं न वा युक्तमिदं विचिन्त्य वदेद्विपश्चिन्महतोऽनुरोधात॥"

कुछ स्त्रियोंमें, कुछ स्वजनोंमें, कुछ बन्धुओंमें, कुछ पुत्रोंमें गुप्त रक्खे; परन्तु विद्वान् यह युक्त है वा नहीं ऐसा विचार कर महाकार्यके वशसे गुप्तभी कहे ॥ १०९ ॥"

तच्छ्रुत्वा पिंगलकश्चिन्तयामास । " योग्योऽयं दृश्यते । तत् कथयामि एतस्य अग्रे आत्मनोऽभिप्रायम् । उक्तञ्च–

यह सुनकर पिंगलक विचार करने लगे "यह तो योग्य ही है सो इसके आगे अपना अभिप्राय कथन करूं, क्योंकि–

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्त्तिनि कलत्रे ।
स्वामिनि सौहृद्युक्ते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥ ११० ॥

निरन्तर चित्तवाले सुहृद्मे, गुणवान् भृत्यमे, अनुगामिनी स्त्रीमे, सौहार्दयुक्त स्वामीमें दुःख निवेदन कर सुखी होता है ॥ ११० ॥

भो दमनक! शृणोषि शब्दं दूरात् महान्तम् ? "। सोऽब्रवीत–"स्वामिन्! शृणोमि ततः किम्" ? पिंगलक आह–"भद्र! अहमस्मात् वनात् गन्तुमिच्छामि"। दमनक आह–"कस्मात्" ?। पिंगलक आह–"यतोऽद्य अस्मद्वने किमपि अपूर्वं सत्त्वं प्रविष्टं यस्य अयं महाशब्दः श्रूयते। तस्य च शब्दानुरूपेण पराक्रमेण भाव्यमिति"। दमनक आह–"यत् शब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वामी तदपि अयुक्तम्। उक्तञ्च–

भो दमनक! क्या तू दूरसे महान् शब्द श्रवण करता है" ? । वह बोला–"स्वामिन्! सुनता हू सो क्या" ? । पिंगलक बोला–"भद्र! मैं इस वनसे जानेकी इच्छा करता हू" । दमनक बोला–"क्यों ?" । पिंगलक बोला–"जो कि, इस वनमे कोई अपूर्व जीव आया; जिसका यह महाशब्द सुनाई देता है। शब्दके अनुरूप इसका पराक्रम भी होगा" । दमनक बोला–"यदि स्वामीको शब्दमात्रसेभी भय प्राप्त हुआ है, सोभी युक्त नहीं है । कहा है–

अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो भिद्यते वाग्भिरातुरः ॥ १११ ॥

जैसे जलसे सेतु भेदको प्राप्त होता है इसी प्रकार अरक्षित मन्त्र भेदको प्राप्त होता है (दुर्जनतासे) चुगलीसे स्नेह और पीडित जन शुष्क कथासे भेदको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

तन्न युक्तं स्वामिनः पूर्वोपार्जितं वनं त्यक्तुम् । यतो भेरीवेणुवीणामृदंगतालपटहशंखकाहलादिभेदेन शब्दा अनेकविधा भवन्ति । तत् न केवलात् शब्दमात्रादपि भेतव्यम् । उक्तञ्च–

सो स्वामीको कुलक्रमागत वन त्यागना उचित नहीं है, जो कि भेरी, वेणु वीणा, मृदंग , ताल, पटह, काहलादिके भेदसे शब्द अनेक प्रकारके होते हैं, सो केवल शब्दमात्रसेही न डरना चाहिये । कहाहै–

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते ।
धैर्य्यं यस्य महीनाथो न स याति पराभवम् ॥ ११२ ॥

जिस राजाका धैर्य अति उत्कट (दारुण) भयानक शत्रुके प्राप्त होनेसेभी नष्ट नहीं होताहै, उसका कभी पराभव नहीं होता ॥ ११२ ॥

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्य्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम् ।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥ ११३ ॥

विधाताकेभी भय दिखानेसे धीरोका धैर्य्यध्वंस नहीं होताहै, गरमीमें सरोवर सूखते हैं, परन्तु सिन्धु अत्यन्त बढताही है ॥ ११३ ॥

तथाच—
और देखो—

यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥११४॥

जिसको विपत्तिमें विषाद, सम्पत्तिमें हर्ष और रणमें भय नहीं होताहै, उस त्रिभुवनके तिलक किसी विरलेही पुत्रको माता उत्पन्न करती है ॥ ११४ ॥

तथाच—
औरभी—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ११५ ॥

शक्तिकी विकलतासे नम्र हुए, निस्सार होनेसे अत्यन्त लघु, मानहीन जन्म धारीकी और तृणकी समान गति है ॥ ११५ ॥

अपिच—
और भी

अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।
जतुजाभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ॥ ११६ ॥

दूसरेके प्रतापको प्राप्त होकर जो दृढताको नहीं प्राप्त होताहै लाखके आभरणकी समान उसके रूपसे भी क्या है ॥ ११६ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्य्यावष्टम्भः कार्य्यः । न शब्दमात्रात् भेतव्यम् । उक्तञ्च—

यह जानकर स्वामीको धैर्यकी स्थिति करनी योग्य है, शब्दमात्रसे डरना न चाहिये कहाभी है–

पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा ।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च ॥ ११७ ॥"

मैंने पहले मज्जासे पूर्ण जान लिया था परन्तु पीछे प्रवेश कर देखा तो इसमें चर्म और दारुही निकला ॥ ११७ ॥"

पिङ्गलक आह–"कथमेतत"? सोऽब्रवीत्–

पिंगलक बोला–"यह कैसी कथा है" ? । वह बोला–

कथा २.

कश्चित् गोमायुर्नाम शृगालः क्षुत्क्षामकंठः इतस्ततः परिभ्रमन् वने सैन्यद्वयसंग्रामभूमिमपश्यत् । तस्याञ्च दुन्दुभेः पतितस्य वायुवशात् वल्लीशाखाग्रैः हन्यमानस्य शब्दमशृणोत् । अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास । "अहो ! विनष्टोऽस्मि । तद्यावत् न अस्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि तावत् अन्यतो व्रजामि । अथवा नैतत् युज्यते सहसैव पितृपैतामहं वनं त्यक्तुम् । उक्तञ्च–

कोई गोमायु नामवाला शृगाल भूखसे दुर्बल कंठवाला इधर उधर घूमता हुआ वनमे दोनो सेनाकी संग्रामभूमि देखता भया । वहां गिरे हुए नगाडेका पवनके वशसे वल्ली शाखाओंके अग्रभागके ताडनसे उठा शब्द सुनता भया । तब क्षुभितहृदय हो विचारने लगा "अहो मैं मरा, सो जबतक इस उच्चारण किये शब्दके सन्मुख नहूं, तबतक यहांसे अन्य स्थानमें जाऊं । अथवा एकसाथे पितामह जनोका यह वन त्यागन करनेके योग्य नहीं है । कहाभी है–

भये वा यदि वा हर्षे संप्राप्ते यो विमर्शयेत् ।
कृत्यं न कुरुते वेगान्न स सन्तापमाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

भय वा हर्षके प्राप्त होनेपर जो विचार करता है और कार्यको शीघ्रतासे नहीं करता है, वह सन्तापको प्राप्त नही होता है ॥ ११८ ॥

तत् तावत् जानामि कस्य अयं शब्दः" । धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन् यावत् मन्दं मन्दं गच्छति तावत् दुन्दुभिम् अप-

श्यत् । स च तं परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकात अताडयत् । भूयश्च हर्षात् अचिन्तयत् । "अहो ! चिरादेतत् अस्माकं महत् भोजनमापतितम्, तत् नूनं प्रभूतमांसमेदोऽसृग्भिः परिपूरितं भविष्यति" । ततः परुषचर्मावगुंठितं तत्कथमपि विदार्य्य एकदेशे छिद्रं कृत्वा संहृष्टमना मध्ये प्रविष्टः परं चर्मविदारणतोदंष्ट्राभङ्गः समजनि । अथ निराशीभूतः तत् दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत् । "पूर्वमेव मया ज्ञातम्" इति । ततो न शब्दमात्रात् भेतव्यम्" । पिङ्गलक आह–"भोः । पश्य अयं मम सर्वोऽपि परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति । तत् कथमहं धैर्य्यावष्टम्भं करोमि" । सोऽब्रवी–"स्वामिन् ! नैषामेष दोषो यतः स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्याः । उक्तञ्च–

सो पहले मैं यह जानूं, कि, यह किसका शब्द है" । धैर्य्यको अवलम्बन कर जबतक शनैः २ गया तवतक नगाडेको देखता भया । वह इसको जान धीरे जाकर स्वयंही कौतुकसे ताडन करता हुआ, फिरभी प्रसन्नतासे विचारता भया । "अहो ! बहुत कालमें यह भोजन हमको प्राप्त हुआहै । सो निश्चयही बहुतसे मांस मेंद रुधिरसे परिपूर्ण होगा" सो कठिन चर्मसे मढे हुए इस (ढोल) को किसी प्रकारसे विदीर्ण करके एक देशमें छिद्र करके प्रसन्नमनसे भीतर प्रविष्ट हुआ । और चर्मके विदारण करनेसे डाढैं टूटगई । तब निराश होकर केवल काष्ठमात्र देखकर इसश्लोकको पढताहुआ कि, "मैंने पहले जाना था" । इससे शब्दमात्रसे न डरना चाहिये" पिंगलक बोला "भो ! देखो यह मेरा सम्पूर्ण कुटुम्ब भयव्याकुल मन होकर भागनेकी इच्छा करता है, सो मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूं" । वह बोला–"स्वामिन् ! इनका दोष नहीं जिस कारण कि, भृत्य स्वामीकी समान होते हैं । कहाभी है–

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ ११९ ॥

घोडा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी यह पुरुषविशेषको प्राप्त होकर योग्य अयोग्य होजाते हैं ॥ ११९ ॥

तत् पौरुषावष्टम्भं कृत्वा त्वं तावत् अत्र एव प्रतिपालय-यावदहमेतत शब्दस्वरूपं ज्ञात्वा आगच्छामि । ततः पश्चात् यथोचितं कार्यम्" इति । पिङ्गलक आह-"किं तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते ?" । स आह-"किं स्वाम्यादेशात्सद्भृत्यस्य कृत्याकृत्यमास्ति उक्तञ्च-

सो पुरुषार्थका अवलम्बन कर तुम तबतक यहा रहो जबतक मैं इस शब्द-स्वरूपको जानकर आऊ, तव पीछे जैसा उचित हो सो करना" । पिंगलक बोला-"क्या आप वहा जानेकी इच्छा करते हो ?"। वह बोला-"स्वामीकी आज्ञासे भृत्यको कृत्यका और अकृत्यका विचार क्या है ? । कहाहे कि-

स्वाम्यादेशात्सुभृत्यस्य न भीः सञ्जायते क्वचित् ।
प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥ १२० ॥

स्वामीकी आज्ञासे सुभृत्यको कहींभी कुछ भय नहीं होताहै, सर्पके मुखमें प्रवेश करजाय वा दुस्तर महासागर तर जाय ॥ १२० ॥

तथाच-

तैसाही-

स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च ।
मन्यते न स सन्धार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता ॥१२१॥"

जो भृत्य स्वामीकी आज्ञाको सम वा विषम नहीं मानता है ऐश्वर्यकी इच्छाकरनेवाले राजाओंको सदा उसको अपने समीपमें रखना उचित है ॥ १२१ ॥"

पिङ्गलक आह-"भद्र ! यदि एवं तत् गच्छ शिवास्ते पन्थानः सन्तु" इति । दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकशब्दानुसारी प्रतस्थे । अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिङ्गलकः चिन्तयामास । "अहो ! न शोभनं कृतं मया, यत् तस्य विश्वासं गत्वा आत्माभिप्रायो निवेदितः । कदाचित दमनकोऽयमुभयवेतनो भूत्वा ममोपरि दुष्टबुद्धिः स्यात् भ्रष्टाधिकारत्वात् । उक्तञ्च-

पिंगलक बोला, "भद्र ! जो ऐसा है तो तेरे मार्ग मगलकारी हो" दमनक भी उसको प्रणाम करके सञ्जीवकके शब्दका अनुसरण कर चला । तव दमनकके

जानेमें भयसे व्याकुलमन होकर पिंगलक विचार करने लगा कि, "देखो मैंने अच्छा नहीं किया जो इसके विश्वासको प्राप्त होकर मैंने अपना भेद कह दिया। जो कदाचित् यह दमनक दोनों तरफका बनकर मेरे ऊपर दुष्टबुद्धि होजाय कारण कि, यह अधिकारसे भ्रष्ट है । कहाहै कि-

ये भवन्ति महीपस्य सम्मानितविमानिताः ।
यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा ॥ १२२ ॥

जो राजाके पहले सन्मानपात्र होकर पीछे तिरस्कृत होते है, चाहै वे कुलीन भी हों तोभी उसके नाशके निमित्त यत्न करते हैं ॥ १२२ ॥

तत् तावदस्य चिकीर्षितं वेत्तुमन्यत् स्थानान्तरं गत्वा प्रतिपालयामि । कदाचित् दमनकः तमादाय मां व्यापादयितुमिच्छति । उक्तञ्च-

सो तबतक इसकी इच्छा देखनेको दूसरे स्थानमें जाकर स्थित रहूं, कदाचित् दमनक उसको साथ लाकर मुझे मरवा डालनेकी इच्छा करताहै क्या कहाहै कि-

न बध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वेव बध्यन्ते बलवन्तोपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥

किसीका विश्वास न करनेवाले दुर्बलभी बलवानोंसे नहीं बंधते है और विश्वास करनेसे बलवान्ही दुर्बलोंसे बंधजातेहैं ॥ १२३ ॥

बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासे व्रजेन्नरः ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यञ्च सुखानि च ॥ १२४ ॥

बुद्धिमान् तो बृहस्पतिके विश्वासमेंभी न जाय जो अपनी आयुवृद्धि और सुखकी इच्छा करता हो ॥ १२४ ॥

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासे व्रजेद्रिपोः ।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ १२५ ॥

शपथसे सन्धान किये शत्रुके विश्वासमें न जाय, देखो विश्वाससेही राज्यलोभसे उद्यत हुए वृत्रको इन्द्रने मार डाला ॥ १२५ ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति ।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ १२६ ॥"

विश्वासके विना तो देवताभी शत्रुको सिद्ध नहीं कर सकते, विश्वाससेही इन्द्रने दितिका गर्भनाश[1] कर दिया ॥ १२६ ॥"

एवं सम्प्रधार्य्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन् एकाकी तस्थौ। दमनकोऽपि सञ्जीवकसकाशं गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत्। "अहो! शोभनमापतितम् अनेन एतस्य सन्धिविग्रहद्वारेण मम पिंगलको वश्यो भविष्यति इति। उक्तश्च—

ऐसा विचारकर अन्यस्थानमें जाय दमनककी वाट देखता हुआ इकला स्थित रहा। दमनकभी सजीवकके निकट जाकर यह बैल है ऐसा जानकर प्रसन्न हो विचारने लगा "आहा! यह तो अच्छी वात हुई। इसके साथ उसकी सन्धि विग्रह होनेसे पिंगलक मेरे वशीभूत हो जायगा। कहाभी है—

न कौलीन्यान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्त्तते।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥

कुलीनता और सुहृदतासे राजा मन्त्रियोंके वाक्यमें प्रवृत्त नहीं होताहै जवतक कि, उसको व्यसन और शोककी प्राप्ति नहीं होती ॥ १२७ ॥

सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम्।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः सापदं नृपम् ॥ १२८ ॥

आपत्तिमें प्राप्त हुआ राजा मन्त्रियोंको सदा भोग्य होताहै, इसकारण मंत्री राजाको आपत्तियुक्त रहनेकीही इच्छा करतेहै ॥ १२८ ॥

यथा नेच्छति नीरोगः कदाचित्सुचिकित्सकम्।
तथापद्रहितो राजा सचिवं नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥"

जैसे निरोगी कभी वैद्यकी इच्छा नहीं करता, इसी प्रकार आपत्तिरहित राजा कभी मन्त्रीकी इच्छा नहीं करता ॥ १२९ ॥"

एवं विचिन्तयन् पिंगलकाभिमुखः प्रतस्थे। पिंगलकोऽपि तमायान्तं प्रेक्ष्य स्वाकारं रक्षन् यथापूर्वमवस्थितः। दमनकोऽपि पिंगलकसकाशं गत्वा प्रणम्य उपविष्टः। पिंगलक आह—"किं दृष्टं भवता तत् सत्त्वम्"?। दमनक आह—"दृष्टं

---

१ देखो भागवतपर हमारी टीका।

स्वामिप्रसादात्" । पिंगलक आह–"अपि सत्यम्" ? । दमनक आह–"किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते? । उक्तञ्च–

ऐसा विचारकर पिंगलकके समीप चला, पिंगलकभी उसको आता देख अपना आकार रक्षित किये हुए पहलेकी समान स्थित भया । दमनकभी पिंगलकके धोरे जाकर प्रणामकर स्थित हुआ । पिंगलक बोला–"क्या आपने उस जीवको देखा?" दमनक बोला–"स्वामीकी कृपासे देखा" । पिंगलक बोला–"क्या सत्य है?" । दमनक बोला–"क्या स्वामीके चरणोंके सन्मुख असत्य कहाजाता है ? । कहा भी है कि–

अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवानाञ्च विनश्येत स द्रुतं सुमहानपि ॥ १३० ॥

जो देवता और राजाके आगे थोडाभी असत्य कहताहै वह महान् भी शीघ्र नष्ट होजाताहै ॥ १३० ॥

तथाच–

और देखो–

सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्त्तितः ।
तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

मनुजीने कहा है कि, राजामे सब देवता निवास करतेहैं । इसकारण उसको सदा देवताओंके समान देखना कभी और प्रकारसे नही॥१३१॥

सर्वदेवमयस्यापि विशेषो नृपतेरयम् ।
शुभाशुभफलं सद्यो नृपाद्देवाद्भवान्तरे ॥ १३२ ॥"

सर्वदेवमय होनेवाले राजामें यह विशेष है कि, राजासे शुभाशुभ फल शीघ्र मिलताहै और देवताओंसे जन्मान्तरमें फल मिलताहै ॥ १३२ ॥"

पिङ्गलक आह–"सत्यं दृष्टं भविष्यति भवता । न दीनोपरि महान्तः कुप्यन्ति इति न त्वं तेन निपातितः । यतः–

पिंगलक बोला–"आपने सत्यही देखा होग , परन्तु दीनोंके ऊपर महान् क्रोध नहीं करते इस कारण उसने तुझको नहीं मारा । क्योंकि,–

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।

स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं
महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥ १३३ ॥

पवन मृदु नीचे सब प्रकार प्रणत हुए तृणोंको उन्मूलन नहीं करताहै श्रेष्ठ चित्तवालोंका यह स्वभावही है बडे पुरुष बडोंमेही विक्रम करतेहैं ॥ १३३ ॥

अपिच-

औरभी-

गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि ।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान्परिकोपमेति ॥ १३४ ॥ "

मदके जलवाले गण्डस्थलोंमे प्रीति करनेवाले मतवाले भ्रमण करते हुए भौरोंके चरणतलसे ताडित होकर भी महाबली हाथी उनपर क्रोध नहीं करता कारण कि, बलवान् तुल्यबलमे क्रोध करताहै ॥ १३४ ॥"

दमनक आह-"अस्तु एवं स महात्मा वयं कृपणाः तथापि स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वे नियोजयामि।" पिङ्गलक आह-" (सोच्छ्वासम्) किं भवान् शक्नोत्येवं कर्त्तुम्?"। दमनक आह-"किमसाध्यं बुद्धेरस्ति । उक्तञ्च-

दमनक बोला-"यही हो क्योंकि, वह महात्मा और हम दीन हैं तोभी यदि आप कहें तो आपके भृत्यपनमें उसको नियुक्त करूं" । पिंगलक (विश्वास लेकर) बोला-"क्या तुम यह कर सकते हो"? । दमनक बोला-"बुद्धिके सामने क्या असाध्य है, कहा है-

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः ।
कार्य्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥१३५॥ "

कार्य जैसा बुद्धिसे सिद्ध होताहै ऐसा शस्त्र, हाथी, घोडे, पैदलोंसे सिद्ध नहीं होता, ॥ १३५ ॥"

पिङ्गलक आह-"यदि एवं, तर्हि अमात्यपदे अध्यारोपितस्त्वम् । अद्यप्रभृति प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्य्यमिति निश्चयः" । अथ दमनकः सत्वरं गत्वा साक्षेपं तमिदमाह-

"एह्येहि दुष्टवृषभ ! स्वामी पिङ्गलकः त्वाम् आकारयति किं निःशङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नदसि वृथेति" । तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकोऽब्रवीत्–"भद्र ! कोऽयं पिङ्गलकः ?"। दमनकः आह–"किं स्वामिनं पिङ्गलकमपि न जानासि ? तत्क्षणं प्रतिपालय फलेनैव ज्ञास्यसि । ननु अयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिङ्गलकनामा सिंहस्तिष्ठति" । तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवात्मानं मन्यमानः सञ्जीवकः परं विषादमगमत् । आह च–"भद्र ! भवान् साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते । तत् यदि मामवश्यं तत्र नयसि तदभयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात् प्रसादः कारयितव्यः" । दमनक आह–"भोः सत्यमभिहितं भवता । नीतिरेषा । यतः–

पिंगलक बोला–"जो ऐसा है तो तुझको अमात्यपदमें स्थापित किया । आजसे लेकर (प्रजा अनुजीवियोंपर) प्रसाद निग्रह (दंड) तुम्हारेही आधीन है यह निश्चय है" तब दमनक शीघ्रतासे जाकर तिरस्कारपूर्वक यह बोला–" आओ आओ ! दुष्ट वृषभ ! स्वामी पिंगलक तुझको पुकारताहै । क्यों निश्शंक होकर वारंवार वृथा नाद करताहै" । यह सुनकर सञ्जीवक बोला–"भद्र ! पिंगलक कौन है ?" दमनक बोला–"क्या तू स्वामी पिंगलकको नहीं जानताहै ? । सो क्षणमात्रको ठहर फलसेही जानलेगा, निश्चयही यह सब मृगोंसे युक्त वटतले हमारा स्वामी पिंगलक सिंह स्थित है" । यह सुन आयुरहित अपनेको मानताहुआ संजीवक महादुःखको प्राप्त हुआ और बोला–" भद्र ! आप साधुसमाचार और वचन बोलनेमें चतुर दीखते हो । यदि मुझको अवश्य ही वह लिये जाते हो, तो अभयप्रदानसे स्वामीके निकट प्रसाद कराओ" । दमनक बोला–"भो ! तुमने सत्य कहा नीति ऐसी ही है । क्योंकि–

पर्यन्तो लभ्यते भूमेः समुद्रस्य गिरेरपि ।
न कथञ्चिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित् क्वचित् ॥ १३६ ॥

मनुष्य पृथ्वी, समुद्र और पर्वतका भी अन्त पासकतेहैं, परन्तु राजाके चित्तका अन्त कभी किसीने नहीं पाया ॥ १३६ ॥

तत् त्वमत्रैव तिष्ठ यावदहं तं समयं दृष्ट्वा ततः पश्चात् त्वांनयामि इति" । तथा अनुष्ठिते दमनकः पिंगलकसकाशं गत्वा इदमाह-"स्वामिन् ! न तत् प्राकृतं सत्त्वं, स हि भगवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभ इति मया पृष्ट इदमूचे-"महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरे शष्पाग्राणि भक्षयितुं समादिष्टः किं बहुना मम प्रदत्तं भगवता क्रीडार्थं वनमिदम्" पिंगलक आह-(सभयम्) "सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना । न देवताप्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्णे एवंविधे वने निःशंका नदन्तो भ्रमन्ति । ततस्त्वया किमभिहितम्?"। दमनक आह-"स्वामिन् ! एतदभिहितं मया 'यदेतद्वनं चण्डिकावाहनभूतस्य मत्स्वामिनः पिंगलकनाम्नः सिंहस्य विषयीभूतं तद्भवानभ्यागतः प्रियोऽतिथिः । तत् तस्य सकाशं गत्वा भ्रातृस्नेहेन एकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिः एकस्थानाश्रयेण कालो नेय इति"। ततः तेनापि सर्वमेतत् प्रतिपन्नमुक्तञ्च सहर्षम् । स्वामिनः सकाशात् अभयदक्षिणा दापयितव्या । इति । तदत्र स्वामी प्रमाणम्" । तच्छ्रुत्वा पिंगलक आह-"साधु सुमते ! साधु । मन्त्रिश्रोत्रिय ! साधु । मम हृदयेन सह सम्मन्त्र्य भवता इदमभिहितम् । तद्दत्ता मया तस्य अभयदक्षिणा । परं सोऽपि मदर्थे अभयदक्षिणां याचयित्वा द्रुततरमानीयतामिति । अथ साधु चेदमुच्यते-

सो तूं यहाँ स्थित हो जबतक मैं समयको देखकर पीछे तुझको वहां ले जाऊं" ऐसा करनेपर दमनक पिंगलके समीप जाकर यह बोला-"स्वामिन् ! वह प्राकृत जीव नहीं है, वह शिवजीका वाहनभूत वृषभ है । मेरे पूछनेसे उसने मुझसे कहा है कि, "शिवजीने प्रसन्न होकर यमुना तीरके देशमे नवीन तृण खानेकी आज्ञा दी है, बहुत कहनेसे क्या है भगवान् शिवने मुझे यह वन क्रीडाके निमित्त प्रदान किया है"। पिंगलक (भयपूर्वक) बोला-"अब मैंने सत्य २ जाना देवताकी प्रसन्नताके विना घास खानेवाले सर्पादिकसे युक्त इस प्रकारके वनमे निश्शंक नाद करते हुये घूमते कैसे रहैं सो तैंने क्या कहा" ? । दमन

बोला—स्वामिन् ! मैंने यह कहा कि "यह वन चण्डिकाके वाहनभूत हमारा स्वामी पिंगलक नाम सिंहका अधिकृतहै, सो आप अभ्यागत प्रिय अतिथि प्राप्त हो सो उस (स्वामी) के पास चलकर भ्रातृस्नेहसे एक स्थानमेंही भक्षण पान विहार क्रियासे एक स्थानमें रहकर समय व्यतीत करो, तब उसने यह सब स्वीकार करके प्रसन्न हो कहा—'स्वामीके निकटसे अभयदक्षिणा दिवाओ, सो इसमें स्वामीही प्रमाण है'' यह सुनकर पिंगलक बोला—"धन्य बुद्धिमान् धन्य । मानो यह मेरे हृदयसेही सम्मति करके तैने कहा । मैंने उसको अभय दक्षिणा दी, परन्तु उससेभी मेरे निमित्त अभय दक्षिणा दिवाकर शीघ्र लाओ । ठीकही कहा है—

अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः परीक्षितैः ।
मन्त्रिभिर्धार्य्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम् ॥ १३७ ॥

सारवान् कुटिलतासे रहित निर्दोष अच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए मंत्रियोंसे राज्य धारण कियाजाताहै जैसे अच्छे स्तम्भोंसे मन्दिर ॥ १३७ ॥

तथाच—

और भी—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ॥१३८॥"

अयुक्तके युक्त करनेमें मन्त्रियोंकी सन्निपातके कर्म (व्यापार) में वैद्योंकी बुद्धि देखी जातीहै स्वस्थतामें कौन पंडित नहीं होताहै ॥ १३८ ॥

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः सहर्षमचिन्तयत् ।"अहो ! प्रसादसन्मुखो नः स्वामी वचनवशगश्च संवृत्तस्तन्नास्ति धन्यतरो मम । उक्तञ्च—

दमनकभी उसको प्रणाम कर संजीवकके समीप गया, और प्रसन्नतासे विचारने लगा "अहो इस समय स्वामी हमपर प्रसन्न है वचनके वशीभूत है सो इस समय मुझसे अधिक धन्य और कौनहै । कहाभी है—

अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम् ।
अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम् ॥ १३९ ॥

जाडेमें अग्नि अमृत है, प्रियदर्शन अमृत है, राजसन्मान अमृत है, तथा क्षीर भोजन अमृत है ॥ १३९ ॥

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच-"भो मित्र ! प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वाम्यभयप्रदानम् । तद्विश्रब्ध मागम्यतामिति। परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समयधर्मेण वर्त्तितव्यम् । न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया विचरणीयम् । अहमपि तव संकेतेन सर्वां राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्य उद्धारिष्यामि। एवं कृते द्वयोरपि आवयोः राज्यलक्ष्मीर्भोग्या भविष्यति । यतः-

सञ्जीवकके निकट जाकर नम्रतापूर्वक यह वचन बोला-"हे मित्र ! आपके निमित्त मैंने स्वामीसे अभयदानके लिये प्रार्थना की । सो निःशंक होकर चलो परन्तु तुमको राजाका प्रसाद प्राप्त कर, मेरे साथ नियमक्रमसे वर्तना चाहिये गर्वको प्राप्त होकर अपनी प्रभुतासे न विचरना और मैंभी तुम्हारे संकेतसे सम्पूर्ण राज्यभार अमात्यपदवीको प्राप्त कर धारण करूंगा ऐसा करनेसेही हम दोनोंको राज्यलक्ष्मी भोग्य होगी । कारण-

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम् ।
नृप्रजाः प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥

आखेटकके धर्मसे ऐश्वर्य मनुष्योंके वशीभूत होजाते हैं, एक मनुष्यरूपी प्रजाओंको प्रेषण करता है और दूसरा इस संसारमें मृगोंकी समान कार्यसिद्धि करता है ॥ १४० ॥

तथाच-
और देखो-

यो न पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान् ।
भूपसम्मानमान्योऽपि भ्रश्यते दन्तिलो यथा ॥ १४१ ॥"

जो गर्वसे उत्तम, अधम, मध्यमका सन्मान नहीं करता है, वह राजासे सन्मान मान्यताको प्राप्त होकरभी दन्तिलके समान भ्रष्ट होता है ॥ १४१ ॥"

सञ्जीवक आह-"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत-
सञ्जीवक बोला-"यह कैसी कथा है ?" वह बोला-

कथा ३.

अस्त्यत्र धरातले वर्द्धमानं नाम नगरम् । तत्र दन्तिलो नाम नानाभाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसतिस्म । तेन पुरकार्य्यं नृपकार्य्यंश्च कुर्वता तुष्टिं नीताः तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च । किं बहुना । न कोऽपि तादृक् केनापि चतुरो दृष्टो न अपि श्रुतो वेति । अथवा साधु चेदमुच्यते–

इस धरातलमें वर्द्धमान नाम नगर है उसमे दन्तिल नामवाला बहुत धनपति (सेठ) सब पुरका नायक रहताथा। उसने पुरकार्य और राजकार्य करके उस पुरके रहनेवाले लोक और राजाको प्रसन्न किया कोईभी उसके समान चतुर किसीने न देखा न सुना; अथवा यह सत्य कहा है कि–

नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विरोधे वर्त्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्य्यकर्त्ता ॥ १४२ ॥

राजाका हितकर्ता लोकमें द्वेषताको प्राप्त होता है, देशका हित करनेवाला राजोंसे त्यागा जाता है, इस प्रकार बडे विरोधके वर्तमान होनेमें राजा और प्रजाका कार्य साधक दुर्लभ है ॥ १४२ ॥

अथ एवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचिद्विवाहः सम्प्रवृत्तः । तत्र तेन सर्वे पुरनिवासिनो राजसन्निधिलोकाश्च सम्मानपुरःसरमामन्त्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च। ततो विवाहानन्तरं राजा सान्तःपुरः स्वगृहमानीय अभ्यर्चितः। अथ तस्य नृपतेः गृहसम्मार्जनकर्त्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेन अनुचितस्थाने उपविष्टोऽवज्ञया अर्द्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारितः। सोऽपि ततःप्रभृति निःश्वसन् अपमानात् न रात्रौ अपि अधिशेते। 'कथं मया तस्य भाण्डपतेः राजप्रसादहानिः कर्त्तव्या' इति चिन्तयन् आस्ते । 'अथवा किमनेन वृथा शरीरशोषणेन । न किञ्चित् मया तस्य अपकर्तुं शक्यमिति । अथवा साधु इदमुच्यते–

इस प्रकार समयके बीतनेपर एक समय दन्तिलका विवाह हुआ। वहा उसने सब नगरके रहनेवाले तथा राजसमीपी लोक बहुत सन्मानसे निमन्त्रण कर बुलाय भोजन कराय वस्त्रादिसे सत्कार किये। तब विवाहके उपरान्त रनवाससहित राजाकोभी अपने घरमे बुलाकर सत्कार किया। उस राजाके घरकी बुहारी देनेवाले गोरम्भ नाम राजसेवकको घर आनेपरभी अनुचित स्थानमे बैठनेके कारण गलहस्त देकर निकाल दिया। वहभी उस दिनसे लेकर निश्वास लेता हुआ अपमानके कारण रात्रिकोभी नहीं सोता था। 'किस प्रकारमैं इस भाण्डपतिकी राजप्रसाद हानि करूं' यही विचार करता रहता। 'अथवा वृथा इस शरीरके शुष्ककरनेसे क्याहै। मैं कुछभी उसका अपकार नहीं करसकता। अथवा किसीने सत्य कहाहै-

यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः।
उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम् ॥१४३॥

जो किसीका कुछ अपकार नहीं कर सकता वह निर्लज्ज वृथा क्यों क्रोध करताहै, कूदकरभी क्या चना भाडको फोड सकताहै ॥ १४३ ॥

अथ **कदाचित्प्रत्यूषे योगनिद्रां गतस्य राज्ञः शय्यान्ते मार्जनं कुर्वन् इदमाह-"अहो! दन्तिलस्य महद्दृप्तत्वं यत् राजमहिषीमालिङ्गति"।तच्छ्रुत्वा राजा ससम्भ्रममुत्थाय तमुवाच-"भो! भो! गोरम्भ! सत्यमेतत् यत् त्वया जल्पितं किं देवी दन्तिलेन समालिंगिता? इति"। गोरम्भः प्राह-"देव! रात्रिजागरणेन द्यूतासक्तस्य मे बलात् निद्रा समायाता। तत न वेद्मि किं मया अभिहितम्"। राजा-(सेर्ष्यं स्वगतम्) "एष तावदस्मद्गृहे अप्रतिहतगतिः तथा दन्तिलोऽपि। तत्कदाचित् अनेन देवी समालिंग्यमाना दृष्टा भविष्यति। तेन इदमभिहितम्। उक्तंच-**

एकसमय प्रातःकाल जब कि, राजा ऊघानींदमें था उनकी सेजके निकट बुहारी देता हुआ यों बोला-"आश्चर्यहै दन्तिलका ऐसा घमण्डहै कि, राजमहिषीको आलिंगन करताहै"। यह सुन राजा घबडाता हुआ उठकर उससे बोला-"भोभो गोरम्भ! यह सत्य है क्या जो तैने कहा, क्या देवीको दन्तिलने

आलिंगन कियाहै ? " । गोरम्भ बोला–" देव ! रात्रिमें द्यूत खेलनेके कारण जागरण करनेसे मुझे बहुत निद्रा होरहीहै, सो मुझे विदित नहीं कि, मैंने क्या कहा" । राजाने (ईर्षासे मनमें) कहा–"यह हमारे घरमें बेरोकटोक आनेवाला है और दन्तिलभी, सो इसने कभी देवी आलिङ्गित होती देखी होगी, इसकारण यह कहता है । कहाहै–

यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा ।
तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद् ब्रूते वाथ करोति वा ॥ १४४ ॥

जो मनुष्य दिनमें इच्छा करता, देखता वा करताहै उसके अभ्याससे वह स्वप्नमेंभी वही बोलता या करताहै ॥ १४४ ॥

तथाच–
औरभी–

शुभं वा यदि वा पापं यन्नृणां हृदि संस्थितम ।
सुगूढमपि तज्ज्ञेयं स्वप्नवाक्यात्तथा मदात् ॥ १४५ ॥

अच्छा या बुरा जो मनुष्योंके हृदयमें स्थितहै वह स्वप्नवाक्यसे अथवा मदसे गुप्त बातभी विदित होजाती है ॥ १४५ ॥

अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सन्देहः ?
अथवा स्त्रियोंके विषयमें क्या सन्देह है ?

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥ १४६ ॥

किसीके साथ बोलतीहैं, किसीको विलासपूर्वक देखतीहैं, हृदयमें प्राप्तहुए अन्यको विचार करतीहैं कहो, स्त्रियोंको कौन प्याराहै ॥ १४६ ॥

अन्यच्च–
औरभी–

एकेन स्मितपाटलाधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षरं
वीक्षन्तेऽन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीफुल्लोल्लसल्लोचनाः ।
दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चान्यं धिया
केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमास्ति वामभ्रुवाम् ॥ १४७ ॥

स्मित लाल अधरकी कान्तिवाली किसीके साथ थोडा बोलती है, स्फुरित खिली कुमुदिनीकी समान किसीको देखती हैं, विचित्र चारित्रवाले विविध सम्पत्तिमान् अन्य पुरुषको बुद्धिसे ध्यान करती हैं, स्त्रियोंका यथार्थ और सत्य प्रेम किसके साथ है ? किसीके नहीं. (शार्दूल विक्रीडित छन्द) ॥ १४७ ॥

तथाच-

तैसाही—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ १४८ ॥

अग्नि काष्ठोंसे, सागर नदियोंसे, काल सब प्राणियोंसे, और स्त्री पुरुषोंसे तृप्त नहीं होती हैं ॥ १४८ ॥

रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १४९ ॥

एकान्त नहीं है, अवकाश नहीं है, प्रार्थना करनेवाला मनुष्य नहीं है, हे नारद ! इसी कारण स्त्रियोंका सतीत्व रहताहै ॥ १४९ ॥

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मम कामिनी ।
स तस्या वशगो नित्यं भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥ १५० ॥

जो मनुष्य मूर्ख अज्ञानसे यह जानता है कि, यह स्त्री मुझसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उसके वशीभूत होकर क्रीडाका पक्षीसा होजाताहै ॥ १५० ॥

तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि ।
करोति यः कृती लोके लघुत्वं याति सर्वतः ॥ १५१ ॥

जो कृती पुरुष स्त्रियोंके छोटे वडे, थोडे या बहुत वाक्योंकोभी करताहै वह सब प्रकारसे लघुताको प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥

स्त्रियश्च यः प्रार्थयते सन्निकर्षञ्च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५२ ॥

जो स्त्रीकी प्रार्थना करता है और उनके निकट जाताहै और थोडीभी सेवा करता है स्त्री उसीकी इच्छा करतीहैं ॥ १५२ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।
मर्य्यादायाममर्य्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १५३ ॥

मनुष्योंके न चाहनेसे, परिजनोंके भयसे, मर्य्यादा रहित स्त्रियें सदा मर्यादामें रहती हैं ॥ १५३ ॥

नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासाञ्च वयसि स्थितिः ।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुज्यते ॥ १५४ ॥

इनको कोई अगम्य नहीं, न इनमें कुछ अवस्थाकी स्थिति है (यह बूढाहै या तरुण) विरूप या रूपवान् है, केवल पुरुषमात्रको भोगती हैं ॥ १५४ ॥

रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटको यथा ।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशितः ॥ १५५ ॥

रक्त (प्रेमी वा लाल) पुरुष शाटी (धोती) की समान स्त्रियोंको भोग्य होताहै जो उत्कृष्ट दशामें प्राप्त हो अवलंबित होता है अथवा जो वस्त्र नितम्बमें आरोपण किया घर्षणको प्राप्त होताहै ॥ १५५ ॥

अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।
अबलाभिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥ "

स्त्रियें जैसें लाखका रंग बलसे पीडन कर चरणोंमें लगातीहैं इसी प्रकार रक्त (अनुरागी) पुरुषको चरणोंमे डालतीहैं ॥ १५६ ॥ "

एवं स राजा बहुविधं विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः सञ्जातः । किं बहुना राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः । दन्तिलोऽपि अकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास ।

इस प्रकार राजा अनेक परितापकर उसी दिनसे दन्तिलसे विगत अनुरागवाला हुआ । बहुत क्या राजद्वारमें उसका प्रवेश निवारित हुआ, दन्तिलभी अकस्मात् रुष्टराजाको देखकर विचारने लगा ।

" अहो ! साधु चेदमुच्यते—

"अहो (आश्चर्यहै) किसीने सत्य कहाहै—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तङ्गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५७ ॥

धनको प्राप्त होकर कौन गर्वित न हुआ? किस विषयी पुरुषकी आपत्ति नाश हुई है? पृथ्वीमें स्त्रियोंसे किसका मन खण्डित नहीं हुआ? राजाका प्यारा कौनहै? कालके गोचर कौन नहीं हुआ? कौन मागनेवाला गौरवको प्राप्त हुआहै? और कौन पुरुष दुर्जनोंकी गोष्ठीमे बैठकर कुशलताको प्राप्त हुआहै? कोई नहीं ॥ १५७ ॥

तथा च-

और भी कहाहै-

> **काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं**
> **सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।**
> **क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता**
> **राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥ १५८ ॥**

कौएमें पवित्रता, जुएमे सत्य, सर्पमें सहनशीलता, स्त्रियोमें कामशान्ति, नपुंसकमे धैर्य, मद्यपमें तत्वचिन्ता, और राजा मित्र किसने देखा वा सुना है? ॥ १५८ ॥

अपरं मया अस्य भूपतेरथवा अन्यस्यापि कस्यचित राजसम्बन्धिनः स्वप्नेऽपि न अनिष्टं कृतम्। तत्किमेतत् पराङ्मुखो मां प्रति भूपतिः" इति। एवं तं दन्तिलं कदाचित राजद्वारे विस्तम्भितं विलोक्य सम्मार्जनकर्त्ता गोरम्भो विहस्य द्वारपालानिदमूचे-"भो भो द्वारपालाः! राजप्रसादाधिष्ठितोऽयं दन्तिलः स्वयं निग्रहानुग्रहकर्त्ता च। तदनेन निवारितेन यथा अहं तथा यूयमपि अर्द्धचन्द्रभाजिनो भविष्यथ"। तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास। "नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम्। अथवा साध्विदमुच्यते-

मैंने इस राजाका तथा अन्य किसी राजसम्बधीका स्वप्नमेंभी अनिष्ट नहीं किया सो यह क्या है जो राजा मुझसे विरुद्ध है"। इस प्रकार उस दन्तिलको कभी राज द्वारमें स्तम्भित देखकर सम्मार्जनकर्ता वह गोरम्भ हँसकर द्वारपालसे बोला-"हे द्वारपाल! राजप्रसादमें प्राप्त हुआ यह दन्तिल स्वय निग्रह और अनुग्रहका कर्ता है, सो इसके निवारण करनेसे जैसे मैं इसी प्रकारसे तुमभी

अर्धचन्द्र (गलहस्त) भागी होंगे" यह सुनकर दन्तिल विचारने लगा—"यह अवश्यही इस गोरम्भकी चेष्टा है । अथवा ठीक कहा है कि—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते ।
अपि सम्मानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते ॥ १५९ ॥

चाहैं कुलीन या मूर्ख कोईभी राजाकी सेवा करता हो सन्मानसे हीनभी वह सर्वत्र पूजित होता है ॥ १५९ ॥

अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेन्नृपतिसेवकः ।
तथापि न पराभूतिं जनादाप्नोति मानवः ॥ १६० ॥"

चाहैं कापुरुष डरपोक भी राजाका सेवक हो तो वह किसीसे पराभवको प्राप्त नहीं होताहै ॥ १६० ॥"

एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमनाः सोद्वेगो गतप्रभावः स्वगृहं गत्वा निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन सम्मान्य इदमुवाच—"भद्र ! मया न तदा त्वं रागवशात् निःसारितः । यतस्त्वं ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इति अपमानितः । तत् क्षम्यताम्" । सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्वस्त्रयुगलमासाद्य परं परितोषं गत्वा तमुवाच—"भोः श्रेष्ठिन् ! क्षान्तं मया ते तत् । तदस्य सम्मानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादञ्च" । एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः । साधु चेदमुच्यते—

इसप्रकार अनेकविध तापित होकर लज्जितमन और उद्वेगसे प्रभावहीन वह (दन्तिल) घर जाकर रात्रिमें गोरम्भको बुलाय दो वस्त्रोंसे सन्मानकर यह बोला-"भद्र ! मैंने उससमय तुझको क्रोधवशसे नहीं निकाला था । परन्तु जो कि, तू ब्राह्मणोंके आगे अनुचित स्थानपर बैठा देखागया इससे तिरस्कृत किया सो क्षमाकरो" । वह स्वर्गराज्यकी समान वस्त्रद्वयको प्राप्तहो परमसन्तुष्टतासे उससे बोला,—"भो श्रेष्ठ ! मैंने वह सब शान्त किया । सो इस सन्मानके करनेसे मेरे बुद्धिप्रभाव और राजप्रसादको देखो " यह कह सन्तुष्टतासे चला गया । यह अच्छाही कहाहै—

"स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टेः खलस्य च ॥ १६१ ॥"

"थोडेसेही ऊपरको चलाजाताहै, थोडेसेही नीचेको जाताहै, तराजू और दुष्टकी एकहीसी चेष्टाहै ॥ १६१ ॥"

ततश्च अन्येद्युः स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रां गतस्य भूपतेः सम्मार्जनाक्रियां कुर्वन् इदमाह–"अहोऽविवेकोऽस्मद्भूपतेः यत् पुरीषोत्सर्गमाचरन् चिर्भटीभक्षणं करोति" तच्छ्रुत्वा राजा सविस्मयं तमुवाच–"रेरे गोरम्भ ! किमप्रस्तुतं लपसि ! । गृहकर्मकरं मत्वा त्वां न व्यापादयामि । किं त्वया कदाचिदहमेवंविधं कर्म समाचरन् दृष्टः?" सोऽब्रवीत्–"देव! द्यूतासक्तस्य रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम बलात् निद्रा समायाता । तथा अधिष्ठितेन मया किञ्चिज्जल्पितम्, तन्न वेद्मि, तत्प्रसादं करोतु स्वामी निद्रापरवशस्येति"।एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितवान्"यन्मया जन्मान्तरे पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता । तत् यथा अयं व्यतिकरो असम्भाव्यो मम अनेन मूढेन व्याहृतः तथा दन्तिलस्य अपि इति निश्चयः । तन्मया न युक्तं कृतं यत स वराकः सम्मानेन वियोजितः न तादृक्पुरुषाणामेवंविधं चेष्टितं सम्भाव्यते । तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां व्रजन्ति" । एवमनेकधा विमृश्य दन्तिलं समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास।अतोऽहं ब्रवीमि-"यो न पूजयते गर्वात्"इति

सो दूसरे दिन गोरम्भ राजकुलमें जाकर राजाकी सम्मर्जन क्रिया करता हुआ यह बोला कि–"इस हमारे राजाकी कैसी अज्ञानताहै जो पुरीष उत्सर्ग (मलत्याग) करनेमे चिर्भटी (काँकुडी) भक्षण करताहै" यह सुन राजा विस्मितहो बोला,–"रे गोरम्भ ! क्या अनहोनी बात कहताहै, घरके कर्म करनेवाला जानकर तुझको नहीं मारताहू क्या कभी इस प्रकारके कर्म करते तैंने मुझे देखा ?" वह बोला–"स्वामिन्! जुए खेलनेके कारण रात्रिमें जागनेसे समार्जन करते २

१–ककडी ।

बलसे मुझे निद्रा आगई, सो निद्रित होनेके कारण कुछ मेरे मुखसे निकल गया, सो मुझे विदित नहीं, सो मुझ निद्रापरवशके ऊपर आप प्रसन्न हूजिये" यह सुनकर राजाने विचार किया कि, "मैंने तो जन्मान्तरमें भी मलत्याग करते कभी चिर्भटी नहीं खाई, जिस कारण यह सम्बन्ध नहीं होनेवालाभी इस मूर्खने कहा इसी प्रकार दन्तिलकाभी (असत्य है) यह निश्चय है । सो मैंने यह अच्छा नहीं किया जो वृथा उस बिचारेको सन्मानसे बहिष्कृत किया, इस सरीखे पुरुषोंकी कभी ऐसी चेष्टा नहीं होसकती है, उसके विना सब राजकाज और पुरके कार्य शिथिल पडे हैं" इस प्रकार अनेक विचार कर दन्तिलको बुलाय अपने अंगके वस्त्र आभरण आदिसे उसको सत्कृत कर निज अधिकारमें नियुक्त किया। इससे मै कहताहूं "जो गर्वसे नहीं पूजता है"—इत्यादि ।

सञ्जीवक आह—"भद्र ! एवमेवैतत् । यद्भवता अभिहितं तदेव मया कर्त्तव्यमिति" । एवमभिहिते दमनकस्तमादाय पिंगलकसकाशमगमत् । आह च—"देव ! एष मया आनीतः स सञ्जीवकः । अधुना देवः प्रमाणम्" । सञ्जीवकोऽपि तं सादरं प्रणम्य अग्रतः सविनयं स्थितः । पिंगलकोऽपि तस्य पीनायतककुद्मतो नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच ।"अपि शिवं भवतः? कुतस्त्वमस्मिन्वने विजने समायातोऽसि?" तेनापि आत्मवृत्तान्तः कथितः। यथा वर्द्धमानेन सह वियोगः सञ्जातस्तथा सर्वं निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा पिंगलकः सादरतरं तमुवाच—" वयस्य ! न भेतव्यम्, मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितेन यथेच्छं त्वया अधुना वर्त्तितव्यम् अन्यच्च नित्यं मत्समीपवर्त्तिना भाव्यं यतः कारणाद्बहुपायं रौद्रसत्वनिषेवितं वनं गुरूणामपि सत्वानामसेव्यं कुतः शष्पभोजिनाम्"।एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्य्य उदकग्रहणं कृत्वा स्वेच्छया तदेव वनं प्रविष्टः । ततश्च करटकदमनकनिक्षिप्तराज्यभारः सञ्जीवकेन सह सुभाषितगोष्ठीमनुभवन्नास्ते ।

संजीवक बोला—"यह ऐसाहीहै जैसा तुमने कहाहै वही मैं करूंगा"। यह कहनेपर दमनक उसको ले पिंगलकके समीप गया और बोला—"देव! यह मैं सञ्जीवकको लायाहूं, अब स्वामीही प्रमाण है"। सञ्जीवकभी उसको सादर प्रणाम कर विनयपूर्वक आगे बैठगया और पिंगलकभी उसके पुष्ट और बडे कंधेपर नखरूपी वज्रसे अलंकृत दहिना हाथ ऊपर रख आदरसे बोला—"आप कुशलहैं? इस निर्जनवनमें कहांसे आये?" उसनेभी अपना वृत्तान्त कहा जैसे वर्द्धमानके संगवियोग हुआ वहभी सब कहा। यह सुन पिंगलक आदरपूर्वक उससे बोला—"मित्र मेरे भुजपञ्जरसे रक्षित होकर कहीं मत डरो, अब तुम यथेच्छ (स्वच्छन्द) रहो और नित्य हमारे समीपमें आओ जिस कारणसे कि, बहुतसे दुःखवाले भयंकर जीवोंसे सेवित यह वन बडे २ प्राणियोंको भी अससेव्यहै, फिर घास खानेवालोंको तो क्या"। यह कह सब मृगोंके सहित यमुनाके किनारेपर आय जलपान कर स्वेच्छासे उस वनमें प्रविष्ट हुआ। तब करटक दमनकपर राज्यभार सौंप सञ्जीवकके साथ सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव करता रहने लगा।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अथवा यह सत्य कहा है—

यदृच्छयाप्युपनतं सकृत्सज्जनसङ्गतम्।
भवत्यजरमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते॥ १६२॥

अकस्मात् महान् उपस्थित हुआ सज्जनका संग अक्षय फलवाला होता है, वह वारंवार अभ्यासके क्रमकी अपेक्षा नहीं करता है (एकही बारमें बहुत उपकार होता है)॥ १६२॥

सञ्जीवकेनापि अनेकशास्त्रावगाहनात् उत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन स्तोकैरेवाहोभिर्मूढमतिः पिंगलको धीमान् तथा कृतो यथारण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः। किं बहुना प्रत्यहं पिंगलकसञ्जीवकावेव केवलं रहसि मन्त्रयतः। शेषः सर्वोपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति। करटकदमनकावपि प्रवेशं न लभेते। अन्यच्च सिंहपराक्रमाभावात्सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ क्षुधाव्याधिबाधिता एकां दिशमाश्रित्य स्थिताः। उक्तञ्च—

सञ्जीवकके साथ अनेक शास्त्रके अवगाहनसे बुद्धिकी प्रगल्भता अधिक होनेके कारण थोडेही दिनोंमें उसने मूढमति पिंगलक इस प्रकार बुद्धिमान् कर दिया कि, वनके धर्मोंसे पृथक् कर ग्राम्य धर्ममें लगादिया । बहुत कहनेसे क्या प्रतिदिन संजीवक और पिंगलकही केवल एकान्तमें सम्मति करते, शेष सम्पूर्ण मृगजन दूरस्थित रहते, करटक दमनकको भी प्रवेश न मिलता । और सिंहके पराक्रम न करनेके कारण सम्पूर्ण मृग और वे दोनों शृगाल क्षुधारूप रोगसे व्याधित हुए एक दिशामें आश्रित हो स्थितहुए । कहा है—

फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम् ।
सन्त्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥ १६३ ॥

भृत्यजन फलहीन कुलीन और उन्नत राजाकोभी छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, जैसे शुष्क वृक्षको पक्षी ॥ १६३ ॥

तथाच—

तैसेही—

अपि सम्मानसंयुक्ताः कुलीना भक्तितत्पराः ।
वृत्तिभंगान्महीपालं त्यजन्त्येव हि सेवकाः ॥ १६४ ॥

सन्मानसेभी संयुक्त कुलीन भक्तिमे तत्पर सेवकभी आजीविका न मिलनेसे स्वामीको त्याग देते हैं ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः ।
कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ॥ १६५ ॥

जो राजा मासिक देनेका कालातिक्रम नहीं करता है उसको घुड़कनेसेभी सेवक कभी नहीं त्यागते हैं ॥ १६५ ॥

तथा न केवलं सेवका इत्थम्भूता यावत् समस्तमपि एतज्जगत् परस्परं भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति । तद्यथा—

इस प्रकारसे सेवक सम्पूर्ण जगत्को परस्पर भक्षणके निमित्त सामादि उपायोंसे स्थित रहते हैं । सो ऐसे कि—

देशानामुपरि क्ष्माभृदातुराणां चिकित्सकाः ।
वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पण्डिताः ॥ १६६ ॥

देशोपर राजा, रोगियोंको वैद्य, ग्राहकोंको वणिक्, मूर्खोंको पण्डित॥१६६॥

प्रमादिनां तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम् ।
गणिकाः कामिनाञ्चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः ॥ १६७ ॥

असावधानोको चोर, गृहस्थियोंको फकीर, कामियोंको गणिका, और सब लोकको शिल्पी ॥ १६७ ॥

सामादिसज्जितैः पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम् ।
उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलदानिव ॥ १६८ ॥

साम दानादि द्वारा लगाये पाशोंसे रात दिन देखते रहते है जैसे व्रीहि आदि मेघोंकी (प्रतीक्षा करते हैं) इस प्रकार सब उनकी शक्तिसे जीते हैं१६८

अथवा साध्विदमुच्यते-

अथवा यह अच्छा कहा है-

सर्पाणाञ्च खलानाञ्च परद्रव्यापहारिणाम् ।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत् ॥ १६९ ॥

सर्प और पराये द्रव्य हरनेवाले दुष्टोंके अभिप्राय नहीं सिद्ध होते इसी कारणसे यह जगत् रक्षाको प्राप्त है ॥ १६९ ॥

अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्त्तः फणी
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम् ।
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद्गृहे
तत्रान्यस्य कथं न भावि जगतोयस्मात्स्वरूपं हितत्१७०॥

(देखो) शिवजीका सर्प क्षुधित होकर गणेशजीके मूषकको खानेकी इच्छा करता है, उसको कार्तिकेयका मोर और मोरको गिरिजाका वाहन सिंह खानेकी इच्छा करता है, इसप्रकार शिवके घरमेंभी परस्पर आक्रमणकी घटना है, तो दूसरेके घरमें क्यो न होगी, कारण कि, परस्पर उपजीविकावाला जगत्का स्वरूप ही है ॥ १७० ॥

ततः स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते । तत्र दमनको ब्रूते "आर्य करटक!

आवां तावदप्रधानतां गतौ । एष पिंगलकः सञ्जीवकानुरक्तः स्वव्यापारपराङ्मुखः सञ्जातः । सर्वोऽपि परिजनो गतः । तत्किं क्रियते" । करटक आह--"यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति तथापि स्वामी स्वदोषनाशाय वाच्यः । उक्तञ्च--

सो स्वामिके प्रसादसे रहित भूखसे दुर्बल करटक और दमनक सम्मति करने लगे । दमनक बोला—"आर्य्य करटक ! हम तौ अब अप्रधानताको प्राप्तहुए और यह पिंगलक संजीवकमें अनुरक्त होकर अपने कार्यसे विमुख हुआ । सब परिजन चलेगये अब क्या करें" । करटक वोला—"यद्यपि आपके वचन नहीं मानता तथापि अपने दोष नाशके लिये स्वामीसे कहना उचितहै । कहाहै कि—

अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः ।
यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः ॥ १७१ ॥

मंत्रियोंको राजा न सुनतेहुएभी समझाना चाहिये जैसे विदुरने धृतराष्ट्रको अपने दोष नाश करनेके लिये समझाया था ॥ १७१ ॥

तथाच--
और देखो—

मदोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः ।
उन्मार्गं वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः ॥ १७२ ॥

मदोन्मत्त राजा और हाथीके उन्मार्ग जानेमें उनके समीपी और महावत वाच्यता (निन्दा)को प्राप्त होते ह ॥ १७२ ॥

तत् त्वया एष शष्पभोजी स्वामिनः सकाशमानीतस्तत्स्वहस्तेन अङ्गाराः कर्षिताः"। दमनक आह--"सत्यमेतत । ममायं दोषो स्वामिनः। उक्तञ्च-

सो तैंने यह घास खानेवाला स्वामीक निकट प्राप्त किया सो अपने हाथसे ही तैंने अगारा खैंचा"दमनक बोला—"यह सत्य है इसमे मेरा दोषहै स्वामीका नहीं । कहाहै—

जम्बूको हुडुयुद्धेन वयं चाषाढभूतिना ।
दूतिका परकार्य्येण त्रयो दोषाः स्वयंकृताः ॥ १७३ ॥"

हुडु (जंविविशेष) से जम्बूक और आषाढभूतिसे हम दूसरेके कार्यसे दूती यह तीनों अपने दोषसे (दूषित हुए) ॥ १७३ ॥"

करटक आह -"कथमेतत ?"। सोऽब्रवीत्-

करकट बोला-"यह कैसी कथा है ?" वह बोला-

कथा ४.

अस्ति कस्मिंश्चिद्विविक्तप्रदेशे मठायतनम् । तत्र देवशर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म । तस्य अनेकसाधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात कालेन महती वित्तमात्रा सञ्जाता । ततः स न कस्यचिद्विश्वसिति । नक्तन्दिनं कक्षान्तरात्तां मात्रां न मुञ्चति । अथवा साधु चेदमुच्यते-

एक किसी निर्जन स्थानमे मठस्थान है वहा देवशर्मा नामक सन्यासी रहता था, उसके पास अनेक महात्मा पुरुषोके दिये सूक्ष्म वस्त्रोके बेचनेसे कुछ समयमें बहुतसा द्रव्य प्राप्त हुआ । तबसे वह किसीका विश्वास नहीं करता रातदिन बगलमेसे उस द्रव्यको नहीं छोडता था । अथवा किसीने सत्य कहा है-

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः ॥ १७४ ॥

अर्थोके उत्पन्न करनेमें दु ख, अर्जन कियेकी रक्षा करनमें दुःख, आनेमे दु ख, जानेमें दु ख कष्टके आश्रयवाले अर्थोको धिक्कार है ॥ १७४ ॥

अथ आषाढभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्त्तस्तामर्थमात्रां तस्य कक्षान्तरगतां लक्षयित्वा व्यचिन्तयत्।"कथं मया अस्य इयमर्थमात्रा हर्त्तव्येति । तदत्र मठे तावद्दृढशिलासञ्चयवशात् भित्तिभेदो न भवति । उच्चैस्तरत्वाच्च द्वारे प्रवेशो न स्यात् । तदेनं मायावचनैर्विश्वास्य अहं छात्रतां व्रजामि येन स विश्वस्तः कदाचिद्विश्वासमेति । उक्तञ्च-

उस समय आषाढभूतिनामक पराये धनका हरण करनेवाला धूर्त उस धनको उसकी बगलमें देखकर विचारने लगा-"किस प्रकार मैं यह इसकी धनमात्रा ग्रहण करू । और दृढ पत्थरके बने हुए इस मठमे कूमल नहीं लगसक्ता, ऊंचा अधिक होनेसे द्वारमें प्रवेशभी नहीं होसकता, सो इसको वचनोंसे विश्व

देकर मैं इसका शिष्यबनूं, जिससे यह विश्वासको प्राप्तहुआ कदाचित् मेरे विश्वासमें आजाय । कहाहै—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः ।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः ॥ १७५ ॥"

निस्पृह अधिकारी नहीं होता, अकामी श्रृंगारप्रिय नहीं होता, मूर्ख कभी प्रिय नहीं बोलसकता, साफ कहनेवाला ठग नहीं होता ॥ १७५ ॥"

एवं निश्चित्य तस्यान्तिकमुपगम्य "ॐनमः शिवायेति" प्रोच्चार्य्य साष्टांगं प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच—"भगवन् ! असारः संसारोऽयं, गिरिनदीवेगोपमं यौवनं, तृणाग्निसमं जीवितम्, शरदभ्रच्छायासदृशा भोगाः, स्वप्नसदृशो मित्रपुत्रकलत्रभृत्यवर्गसम्बन्धः । एवं मया सम्यक् परिज्ञातम् । तत् किं कुर्वतो मे संसारसमुद्रोत्तरणं भविष्यति" । तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह—"वत्स ! धन्योऽसि यत्प्रथमे वयसि एवं विरक्तिभावः । उक्तञ्च—

यह विचारकर उसके समीप जाय "ॐ नमः शिवाय" यह उच्चारणकर साष्टांग प्रणाम कर नम्रतासे बोला—"भगवन् ! यह असार संसार है, गिरिनदीके वेगकी समान यौवन है, तृणकी अग्निकी समान जीवन है, शरदके मेघकी समान भोगहैं, स्वप्नकी समान मित्र, पुत्र, कलत्र (स्त्री) वर्गका सम्बन्धहै, यह मैंने भली प्रकार जान लिया सो क्या करनेसे मैं संसारसागरके पार हूंगा" यह सुन देवशर्मा आदरसे बोला—"हे पुत्र ! धन्य है जो पहली अवस्थामें ही तुझको यह विरक्तता उत्पन्न हुईहै । कहाहै—

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥ १७६ ॥

जो प्रथम अवस्थामें शान्तहै वही शान्त है ऐसा मैं मानताहूं और धातुओंके क्षीण होनेमें कौन शान्त नहीं होताहै ॥ १७६ ॥

आदौ चित्ते ततः काये सतां सम्पद्यते जरा ।
असतान्तु पुनः काये नैव चित्ते कदाचन ॥ १७७ ॥

जरा सत्पुरुषोंके पहले चित्तमें, पीछे कायामें प्रवृत्त होतीहै, जरा अशान्तोंके शरीरमें प्राप्तहोकरभी चित्तमें नहीं होती ॥ १७७ ॥

यच्च मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छसि तच्छ्रूयताम्।

और जो मुझसे संसारसागरसे पार होनेका उपाय पूछताहे, तो सुन-

शूद्रो वा यदि वान्योऽपि चण्डालोऽपि जटाधरः।
दीक्षितः शिवमन्त्रेण स भस्माङ्गी शिवो भवेत् ॥ १७८ ॥

शूद्र अथवा कोई अन्य चाण्डाल वा जटाधारी कोईहो शिवमंत्रसे दीक्षितहो शरीरमें भस्म लगानेसे शिव होजाताहै ॥ १७८ ॥

षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम्।
लिंगस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽभिजायते ॥ १७९ ॥"

जो षडक्षरमंत्रसे एकभी फूल शिवलिंगपर चढाताहै उसका फिर जन्म नहीं होताहै ॥ १७९ ॥"

तच्छ्रुत्वा आषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयमिदमाह-"भगवन्! तर्हि दीक्षया मे अनुग्रहं कुरु"। देवशर्मा आह-"वत्स! अनुग्रहं ते करिष्यामि परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यं यत्कारणं निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते तव च ममापि च। उक्तञ्च-

यह सुन आषाढभूति उसके चरणोंको ग्रहणकर आदरसे यह बोला-"भगवन्! तो दीक्षा कर मेरे ऊपर अनुग्रहकरो"। देवशर्मा बोला-"वत्स! तेरे ऊपर मैं अनुग्रह करूंगा, परन्तु रात्रिमें तू मठमें प्रवेश न करना कारण यह है कि, यतियोंकी निस्संगताही प्रशसनीयहै सो तुम्हारी और मेरीभी। कहाहै-

दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनाद्
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेहः प्रवासाश्रयात्
स्त्री गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ १८० ॥

दुर्मन्त्रसे राजा नष्ट होता है, संगसे यति, लाडसे पुत्र, न पढनेसे ब्राह्मण, कुपुत्रसे कुल, दुष्टोंके संगसे शील, अप्रणयसे मित्रता, अनयसे समृद्धि, परदेशमें रहनेसे स्नेह, गर्वसे स्त्री, न देखनेसे खेती, त्याग और प्रमादसे धन नष्ट होताहै ॥ १८० ॥

तत् त्वया व्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे तृणकुटीरके शयितव्यमिति"। स आह–"भगवन्! भवदादेशः प्रमाणम्। परत्र हि तेन मे प्रयोजनम्"। अथ कृतशयनसमयं देवशर्मा अनुग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत्। सोऽपि हस्तपादावमर्दनादिपरिचर्यया तं परितोषमनयत्। पुनस्तथापि मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुञ्चति। अथ एवं गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास। "अहो! न कथञ्चिदेष मे विश्वासमागच्छति। तत् किं दिवापि शस्त्रेण मारयामि, किं वा विषं प्रयच्छामि, किं वा पशुधर्मेण व्यापादयामि"। इत्येवं चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः कश्चिद्ग्रामादामन्त्रणार्थं समायातः। प्राह च–"भगवन्! पवित्रारोपणकृते मम गृहमागम्यतामिति"। तच्छ्रुत्वा देवशर्मा आषाढभूतिना सह प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः। अथ एवं तस्य गच्छतोऽग्रे काचिन्नदी समायाता। तां दृष्ट्वा मात्रां कक्षान्तरादवतार्य कन्थामध्ये सुगुप्तां निधाय स्नात्वा देवार्चनं विधाय तदनन्तरमाषाढभूतिमिदमाह–"भो आषाढभूते! यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य सावधानतया रक्षणीया" इत्युक्त्वा गतः। आषाढभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः। देवशर्मापि छात्रगुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपविष्टस्तिष्ठति तावत्सुवर्णरोमदेहयूथमध्ये हुडुयुद्धमपश्यत्। अथ रोषवशाद्धुडुयुगलस्य दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति। तच्च जम्बूको जिह्वालौल्येन रंगभूमिं प्रविश्य आस्वादयति। देवशर्मापि तदालोक्य व्यचिन्तयत्। "अहो! मन्दमतिरयं जम्बूकः यदि कथमपि अनयोः संघट्टे पतिष्यति तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्कयामि"। क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशंस्तयोः शिरःसम्पाते पतितो मृतश्च शृगालः। देवशर्मापि

तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदाषाढभूतिं न पश्यति ततश्च औत्सुक्येन शौचं विधाय यावत कन्थामालोकयति तावत् मात्रां न पश्यति। ततश्च "हा ! हा ! मुषितोऽस्मीति" जल्पन् पृथिवीतले मूर्च्छया निपपात । ततः क्षणात् चेतनां लब्ध्वा भूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्तुमारब्धः। "भो आषाढभूते! क्व मां वञ्चयित्वा गतोऽसि। तद्देहि मे प्रतिवचनम्"। एवं बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिमन्वेषयञ्छनैः शनैः प्रस्थितः। अथ एवं गच्छन् सायन्तनसमये कञ्चिद्ग्राममाससाद। अथ तस्माद्ग्रामात्कश्चित्कौलिकः सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्त्तिनि नगरे प्रस्थितः। देवशर्मापि तमालोक्य प्रोवाच-"भो भद्र ! वयं सूर्य्योढा अतिथयस्तवान्तिकं प्राप्ता न कमपि अत्र ग्रामे जानीमः। तद्गृह्यतामतिथिधर्मः। उक्तञ्च-

सो तुझ व्रतग्रहणके उपरान्त मठके द्वारे तृणके कुटीमे प्रवेश करना चाहिये"। वह बोला-"भगवन्! आपकी आज्ञा प्रमाण है दूसरे लोकमे मग लहो यही मेरा प्रयोजन है" सो शयनकी प्रतिज्ञा कर देवशर्मा अनुग्रहकर शास्त्रोक्त विधिसे उसको शिष्य करता भया। वहभी हाथ पैर आदि दाबनेकी परिचर्यासे उसको सतुष्ट करता हुआ, इसपरभी वह मुनि बगलसे मात्राको न त्यागता। तब कुछ समय बीतनेपर आषाढ भूति विचार करनेलगा, "अहो किसीप्रकारसेभी यह मेरे विश्वासको प्राप्त नहीं होताहै। सो क्या दिनमें शस्त्रसे मारू या इसको विषदू या पशुकी समान मारडालू" । यह उसके विचारकरनेपर देवशर्माके शिष्यका पुत्र कोई ग्रामसे निमत्रण करनेको आया और बोला— "भगवन् ! यज्ञोपवीत देनेके निमित्त मेरे घर आइये"। यह सुन देवशर्मा आषाढभूतिके साथ प्रसन्न मन हो चला। तब उनके जातेमें कोई नदी आगे आई। उसको देखकर मात्राको बगलमेंसे निकाल गुदडीमें छिपाय रख स्नानकर देवार्चनविधिकर आषाढभूतिसे यह बोला-"हे आषाढभूति ! जबतक मैं पुरीष त्यागन करआऊ तबतक यह मुझ योगेश्वरकी गुदडी सावधानतासे रक्षा करना" यह कह गया। आषाढभूतिभी उसके अदर्शन होनेमें उस मात्राको

लेकर पलायन करगया । देवशर्माभी शिष्यके गुणोंसे अनुरंजितमन होकर विश्वासकर जबतक स्थितरहा तबतक सुवर्णरोम (जन्तु) के यूथमें हुडनामक जीवका युद्ध देखने लगा । तब रोषके कारण दोनों हुड पीछे हटकर फिरभी बडे वेगसे आकर मस्तकमें प्रहार करते जिससे बडा रुधिर निकलता था । वहां एक गीदड जिह्वाके लौल्यसे रंगभूमिमें प्रवेशकर रुधिर खाता था । देवशर्माभी इसको देखकर विचार करने लगा ।"अहो यह गीदड मन्दमति है,यदि किसी प्रकारसे इन दोनोंके संघट्टमें प्राप्त होगा तो अवश्य मृत्युको प्राप्त होगा ऐसी मैं तर्कना करताहू" । उसीक्षणमें रुधिर आस्वादानकी चचलतासे बीचमें प्रवेश करताहुआ उनके शिरके झटकेसे शृगाल मृतक भया, देवशर्माभी उसको शोचकरता हुआ धनका स्मरण कर शनैः २ चलकर जबतक आषाढभूतिको नहीं देखताहै तंबतक उत्कंठासे शौच करके ज्योंही गुदडीको देखा कि, उसमें मात्राको न पाया तब "हाय ! हाय ! मै ठगा गया" यह कहकर पृथ्वीमे मूर्छित हो गिरा । फिर चेतनताको प्राप्त होकर उठ श्वास लेने लगा "भो आषाढभूति ! मुझे ठगकर कहां गया ? मुझे उत्तर तो दे"इसप्रकार बहुत विलाप कर उसके पैरोंके चिन्हके अनुसरण क्रमसे खोजता हुआ शनैः २ चला । यों जाताहुआ संध्यासमय किसी गांवमें प्राप्त हुआ, उस गांवसे कोई कौलिक स्त्रीके सहित मद्यपान किये नगरके समीप चलाथा। देवशर्माभी उसको देखकर बोला–"भो भद्र! हम सूर्योढ (सन्ध्या समय गृहस्थियोंके घरजानेवाले) अतिथि तुम्हारे निकट प्राप्त हुए हैं किसीको इस गांवमें नहीं जानते सो अतिथिधर्म स्वीकार कीजिये । कहाहै–

संप्राप्तो योऽतिथिः सायं सूर्य्योढो गृहमेधिनाम् ।
पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः ॥ १८१ ॥

जो अतिथि गृहस्थियोंके यहां संध्यासमय (सूर्यछिपनेके समय) प्राप्तहो गृहस्थी उसकी पूजाकरे तो देवत्वको प्राप्त होतेहैं ॥ १८१ ॥

तथाच–
तैसेही–

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १८२ ॥

तृण, भूमि, जल और चौथी सत्य मधुर वाणी यह सत्पुरुषोंके घरसे कदाचित् भी नष्ट नहीं होतीहैं ॥ १८२ ॥

स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पादशौचेन पितर अर्घाच्छम्भुस्तथातिथेः ॥ १८३ ॥

आइये ऐसा कहनेसे अग्नि, आसनसे इन्द्र, चरणधोनेसे पितर और अतिथिके अर्घ देनेसे शिवजी प्रसन्न होजातेहै ॥ १८३ ॥

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्य्यामाह–"प्रिये ! गच्छ त्वमतिथिमादाय गृहं प्रति । पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैव तिष्ठ । अहं तव कृते प्रभूतं मद्यमानेष्यामि" । एवमुक्त्वा प्रस्थितः । सापि भार्य्या पुंश्चली तमादाय प्रहसितवदना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे । अथवा साधु चेदमुच्यते–

कौलिकभी यह वचन सुन अपनी स्त्रीसे बोला–"हे प्रिये ! तू इस अतिथिको लेकर घर जा चरणधोना भोजन शयनादिसे सत्कार करके घरही रह, और मैं तेरे निमित्त बहुतसी मद्य लाताहूं" । यह कह चला । यह उसकी भार्य्या व्यभिचारिणी उसको ले हँसतीहुई देवदत्तका मनमे ध्यान करतीहुई घरको चली । अथवा सत्य कहाहै–

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चरासु घनवीथीषु ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १८४ ॥

मेघसे आच्छादित दिनमें, घन अधकारमे, जहा किसीका प्रवेश न हो ऐसी गलियोमे, पतिके विदेश जानेमें, चपलजघा (रतिप्रिया) स्त्रियोंको परम सुख होताहै ॥ १८४ ॥

तथाच–

तैसेही–

पर्य्यङ्केष्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम् ।
तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्य्यरतलुब्धाः ॥१८५॥

पलगपर सोना, पतिकी अनुकूलता, तथा मनोहर शयनको भी चौररतिकी लालची स्त्रियें तृणकी समान लघु मानतीहैं ॥ १८५ ॥

तथा च-

आरभी-

केलिं प्रदहति लज्जा शृङ्गारोऽस्थीनि चाटवः कटवः।
बन्धक्याः परितोषो न किञ्चिदिष्टं भवेत्पत्यौ ॥ १८६ ॥

कुटलाओंको लज्जा पतिमें क्रीडा जलातीहै, श्रृंगार अस्थी, मनोहर वचन कटु लगतेहैं, बहुत क्या कोईभी पतिमें इष्ट और परितोषता नहीं होती ॥१८६॥

कुलपतनं जनगर्हां बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति कुलटा सततं परपुरुषसंसक्ता ॥ १८७ ॥

कुलकी हीनता, मनुष्योंमें निन्दा, बन्धन, जीवनमें सन्देह यह सब परपुरुषमें मन लगानेवाली कुलटा स्वीकार करलेतीहैं ॥ १८७ ॥

अथ कौलिकभार्य्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गतास्तरणां भग्नाञ्च खट्वां समर्प्य इदमाह-"भो भगवन्! यावदहं स्वसखीं ग्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वया मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम्" एवमभिधाय शृंगारविधिं विधाय यावद्देवदत्तमुद्दिश्य व्रजति तावत् तद्भर्त्ता सन्मुखो मदविह्वलांगो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन् गृहीतमद्यभाण्डः समभ्यति। तञ्च दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याघुट्य स्वगृहं प्रविश्य मुक्तश्रृंगारवेशा यथापूर्वमभवत्। कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृताद्भुतश्रृंगारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरम्परया तस्याः श्रुतापवादःक्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवास्ते। ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच-"आः पापे! पुंश्चलि! क्व प्रस्थिताऽसि?"। सा प्रोवाच-"अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता। तत् कथं मद्यपानवशात् अप्रस्तुतं वदसि" अथवा साधु चेदमुच्यते-

तब कौलिककी स्त्री घर जाय देवशर्मा यतिको बिछोने रहित भग्न (टूटी) खाटको समर्पण कर बोली-"भगवन्! जबतक ग्रामसे आई हुई अपनी सखीसे कुशल कहकर शीघ्र आऊं तबतक तुम हमारे घरमें सावधानतासे रहना"। यह

कह शृंगारकर जबतक देवदत्तके निकट चली कि, तबतक उसका भर्ता सामनेसे मदसे विह्वल शरीर बाल खोले पग पगपर गिरता हुआसा मद्यका बर्तन ग्रहणकरे हुए आया । उसको देख वह बहुत शीघ्र लौटकर तत्काल शृंगार उतार पूर्ववत् स्थित हुई । कौलिकभी उसे भागती हुई अद्भुत शृंगार किये देखकर प्रथम ही कर्णपरम्परासे उसकी निन्दासे क्षुभित हृदय हुआ अपने आकारको छिपाये हुए सदा स्थित रहताथा । उसकी इस प्रकारकी चेष्टाको देख उसबातका विश्वासकर क्रोधसे घरमें प्रवेश कर उससे बोला—"आः पापे व्यभिचारिणी ! कहा जाती है ?" वह बोली—"मैं तुम्हारे पाससे आकर कहींभी नहीं निकली, सो किसप्रकार मद्यपान करके अप्रस्तुत वचन बोलते हो" । अथवा सत्य कहा है—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम् ।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ॥ १८८ ॥

विकलता, धरणीपर गिरना, जो मनमें आवे सो बकना, यह सन्निपातके चिन्ह मद्यमें सब स्थित रहते हैं ॥ १८८ ॥

करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसंगजावस्था भानुनाप्यनुभूयते ॥ १८९ ॥

हाथोंमें कँपकपी, वस्त्रत्याग, तेजहानि, रागता, यह वारुणीपानकी अवस्था सूर्यसे भी अनुभव कीजाती है, अन्यकी कौन कहे पश्चिम दिशामें अस्त होते समय सूर्यकी यही दशा होती है ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेशविपर्य्ययं च अवलोक्य तामाह—"पुंश्चलि ! चिरकालं श्रुतो मया तव अपवादः । तदद्य स्वयं सञ्जातप्रत्ययः तव यथोचितं निग्रहं करोमि" इति अभिधाय लगुडप्रहारैः तां जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढबन्धनेन बद्ध्वा सोऽपि मदविह्वलो निद्रावशमगमत् । अत्रान्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशगतं विज्ञाय तां गत्वा इदमाह—"सखि ! स देवदत्तः तस्मिन् स्थाने त्वां प्रतीक्षते तच्छीघ्रमागम्यताम् ॥" इति । सा च आह—"पश्य मम अवस्थाम् । तत्कथं गच्छामि ? तद्गत्वा

ब्रूहि तं कामिनं यदस्यां रात्रौ न त्वया सह समागमः" ।
नापिती प्राह–"सखि । मामैवं वद । न अयं कुलटाधर्मः ।
उक्तञ्च–

वह भी यह वचन सुन प्रतिकूल वचन और बालोंका बिखरना देख उससे बोला–"पुंश्चलि ! बहुत दिनोंमें मैंने तेरा अपवाद सुनरक्खा है, सो आजदिन स्वयं देखकर विश्वास आगया है अब तेरा यथोचित दण्ड करता हूं," यह कह लकडीके प्रहारसे उसकी जर्जरित देह (चूर्ण) करके स्तम्भमें दृढ बांधकर मदविह्वल हो निद्राके वशीभूत हुआ, इसी समय उसकी सखी नायन कौलिकको निद्राके वशीभूत हुआ जानकर जाकर उससे यों बोली--"सखी देवदत्त उस स्थानमे तेरी वाट देख रहा है सो शीघ्र जाओ" वह बोली-, "मेरी अवस्था तो देख भला मै कैसे जासक्ती हूं ? सो तूही जाकर उस कामीसे कह आजकीरात तुम्हारे सग समागम न होगा" नायन बोली--"सखी ऐसा मत कह, यह कुलटाओंका धर्म नहीं है । कहा है–

विषमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।
उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥ १९० ॥

कठिन स्थानमें स्थित स्वादु फलके ग्रहण करनेका जिनका निश्चय है उन्हींका जन्म मैं ऊंटोंकी समान प्रशंसित मानती हूं ॥ १९० ॥

तथाच–

तैसेही–

सन्दिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे ।
स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥

परलोकमें सन्देह है, जनापवाद चित्र विचित्र होता है, दूसरेसे रमण करना स्वाधीन है युवावस्थाके फल भोगनेवाली स्त्री धन्य हैं ॥ १९१ ॥

यदि भवति दैवयोगात्पुमान् विरूपोऽपि बन्धकीरहसि ।
न तु कृच्छ्रादपि भद्रं निजकान्तं सा भजत्येव ॥ १९२ ॥

औरभी यदि दैवयोगसे पुरुष कुरूपभी एकान्तमे प्राप्तहो तथापि वह कष्टको प्राप्त हुई सुन्दरभी अपने पतिका भजन नहीं करती है ॥ १९२ ॥

सा अब्रवीत्–"यदि एवं तर्हि कथय कथं दृढबन्धनबद्धा सती तत्र गच्छामि ? । सन्निहितश्चायं पापात्मा मत्पतिः" । नापिती आह–"सखि ! मदविह्वलोऽयं सूर्य्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति । तदहं त्वामुन्मोचयामि । मामात्मस्थाने बद्धा द्रुततरं देवदत्तं सम्भाव्य आगच्छ" । सा अब्रवीत्–"एवमस्तु" इति । तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्धा तां देवदत्तसकाशे सङ्केतस्थानं प्रेषितवती । तथानुष्ठिते कौलिकः कस्मिंश्चित्क्षणे समुत्थाय किञ्चिद्गतकोपो विमदस्तामाह,–"हे परुषवादिनि ! यदि अद्यप्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि न च परुषं वदसि ततः त्वामुन्मोचयामि" । नापिती अपि स्वरभेदभयात यावन्न किञ्चित् ऊचे तावत् सोऽपि भूयोभूयस्तां तदेव आह । अथ सा यावत् प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ तावत् स प्रकुपितस्तीक्ष्णशस्त्रमादाय नासिकामच्छिनत् आह च–"रे पुंश्चलि ! तिष्ठ इदानीं न त्वां भूयस्तोषयिष्यामि" इति जल्पन् पुनरपि निद्रावशमगमत् । देवशर्मा अपि वित्तनाशात् क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत्सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत् । सापि कौलिकभार्य्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरतसुखमनुभूय कस्मिंश्चित् क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह–"अयि ! शिवं भवत्याः । नायं पापात्मा मम गताया उत्थितः ?" । नापिती आह–"शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य । तद् द्रुतं मां मोचय बन्धनात्, यावन्नायं मां पश्यति येन स्वगृहं गच्छामि" । तथा अनुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह–"पुंश्चलि ! किमद्यापि न वदसि । किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि" । अथ सा सकोपं साधिक्षेपमिदमाह–"धिक् धिक् महामूढ ! को मां महासतीं धर्षयितुं व्यंगयितुं वा समर्थः । तत् शृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपालाः ।

वह बोली—"यदि ऐसा है बता किसप्रकारसे मै दृढ बंधनमें बँधी हुई वहां जाऊ? और यह पापात्मा मेरा पति समीपमें है" । नायन बोली--"सखी ! मदसे विह्वल हुआ यह सूर्य निकलनेपर जागेगा । सो मैं तुझे खोले देतीहूं, मुझे अपने स्थानमें बांधकर बहुत शीघ्र देवदत्तका मन मनाकर आ" वह बोली--"ऐसाही हो" तब यह नायन उस अपनी सखीको बन्धनसे खोल उसके स्थानमें यथापूर्व अपनी आत्माको बांधकर उसको देवदत्तके निकट संकेत स्थानमें भेजती हुई । ऐसा होनेपर कौलिक कुछ काल उपरान्त उठकर कुछ गतकोप और मद उतरनेसे बोला—"हे कठोरवादिनि ! यदि आजसे लेकर तू घरसे न निकले तो तुझे खोलदूं" नायनभी स्वरभेदके भयसे जबतक कुछ नहीं बोलती तबतक वहभी वारंवार उससे यही कहने लगा और जब उसने कुछभी उत्तर नदिया तब वह क्रोधकर तीक्ष्ण छुरी लेकर उसकी नाक काटता हुआ और बोला—"कुलटा ! ठहर फिर न तुझको संतुष्ट करूंगा" यह कहकर सोगया । देवशर्माभी धनके नाशसे क्षुधासे शुष्ककंठ हुआ निद्रा रहित होकर यह सब स्त्रीचारित्र देखता रहा था, और वह कौलिकभार्या यथेच्छ देवदत्तके संग सुरतका सुख अनुभव कर कुछ काल उपरान्त घर आकर उस नायनसे बोली—"कहो तुम्हारे कुशल है ? अयि ! तुम्हारी कुशल है ? मेरे जानेपर यह पापात्मा उठा तो नहीं" नायन बोली—"नासिकाके विना और सब शरीरमें कुशल है, सो शीघ्र मुझे बन्धनसे खोल जवतक यह मुझे न देखे जिस्से मैं अपने घर चली जाऊं" ऐसा करनेपर फिरभी कौलिक उठकर बोला—"पुंश्चलि ! क्या अबभी नहीं, बोलती क्या अब फिर कठिन दण्ड कर्णछेदनका तुझको करूं" । तब वह क्रोध और आक्षेपके सहित यह बोली,—"धिक् धिक् महामूढ ! कौन मुझ महासतीको धर्षण करनेका अथवा व्यंग (शरीरछेदन) करनेको समर्थ है । सो सब लोकपाल सुनें—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ १९३ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिनरात, दोनों संध्या और धर्म मनुष्यका वृत्त जानते हैं ॥ १९३ ॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति मनसापि परपुरुषो नाभिलषितः ततो देवा भूयोऽपि मे नासिकां तादृग्रूपामक्षतां कुर्वन्तु। अथवा यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति मां भस्मसान्नयन्तु"। एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह– "भो दुरात्मन्! पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृशी एव नासिका संवृत्ता"। अथ असा उल्मुकमादाय यावत्पश्यति तावत् तद्रूपां नासिकाञ्च भूतले रक्तप्रवाहञ्च महान्तमपश्यत्। अथ स विस्मितमनास्तां बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामारोप्य च चाटुशतैः पर्य्यतोषयत्। देवशर्मा अपि तं सर्ववृत्तान्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह–

सो यदि मेरा सतीत्व है और मनसेभी परपुरुषका अभिलाष नहीं कियाहै तो देवता फिरभी मेरी नासिकाको उसी प्रकारकी अक्षत करदें। अथवा यदि मेरे चित्तमें परपुरुषकी भ्रान्तिभी हो तो मुझको भस्म करदे"। यह कह फिर उससे बोली,–"भो दुरात्मन्! देख मेरे सतीत्वके प्रभावसे फिर वैसीही नासिका होगई" तब यह दीपक लेकर देखनेलगा तो उसी प्रकारकी उसकी नासिका और पृथ्वीमें रक्तप्रवाह बहुत देखता भया। तब यह विस्मितमन होकर उस बन्धनसे खोल शय्यामें आरोपणकर सैंकडो मनोहर वचनोंसे उसको सन्तुष्ट करताहुआ। देवशर्माभी इस सब वृत्तान्तको देखकर विस्मयको प्राप्त होकर यह बोला–

"शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि।
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः॥ १९४॥

"जो शम्बरकी मायाहै, जो नमुचिकी मायाहै, बलि और कुम्भीनसकी जो मायाहै वे सब माया स्त्रियें जानतीहैं॥ १९४॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि।
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः॥ १९५॥

यह हँसते हुएके साथ हँसती, रोते हुएके साथ रोती, समय योगसे अनुरक्त जनको प्रियवचनोंसे ग्रहण करती हैं॥ १९५॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तस्माद्रक्ष्याः कथं हि ताः॥१९६॥

जो शास्त्र शुक्र जानताहै और जो शास्त्र बृहस्पति जानता है वह स्त्रीकी बुद्धिमें कुछ विशेष नहीं है इस कारण उन स्त्रियोंकी कैसे रक्षाहो ॥ १९६ ॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम् ।
इति यास्ताः कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह ॥ १९७ ॥

जो असत्यको सत्य और सत्यको असत्य कहती हैं धीर पुरुष इस संसारमें उनकी किस प्रकार रक्षा कर सकतेहैं ॥ १९७ ॥

अन्यत्रापि उक्तम्–

और स्थानमे भी कहाहै–

नातिप्रसंगः प्रमदासु कार्य्यो नेच्छेद्बलं स्त्रीषु विवर्द्धमानम् ।
अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्युतास्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः१९८

स्त्रियोंमे अतिप्रसग न करे और उनका बल बढने नदे कारण अति आसक्त हुए पुरुषोंसे वह पंखनुचे कौओंकी समान क्रीडा करती हैं ॥ १९८ ॥

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा ।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषम् १९९

सुन्दर मुखसे मनोहर बोलतीहैं, तीक्ष्ण चित्तसे प्रहार करती हैं स्त्रियोके वचनमें मधु और हृदयमें हलाहल विप रहताहै ॥ १९९ ॥

अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताडयते ।
पुरुषैः सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धैः कमलं यथालिभिः २००॥

इसी कारण उनके अधर पिये जातेहैं और हृदय मुष्टियोंसे ताडन किया जाता है, सुखलेशसे वञ्चित हुए पुरुषोंसे, मधुसे लुब्ध हुए भौंरों द्वारा कमलकी समान (भोग किया जाता है) ॥ २०० ॥

अपिच–

और भी कहतेहै–

आवर्त्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् २०१॥

सदेहोका आवर्त (भौर), अविनयका घर, साहसका पत्तन (नगर), दोषोंका स्थान, कपटका शतगृह, अविश्वासका क्षेत्र, बडे नरपुरुषोंसे ग्रहण करनेको असमर्थ, सब मायाकी पोटली स्त्रीरूपी यत्र जो विष और अमृतसे युक्त है सो धर्म नाशके लिये किसने निर्माण की है ? ॥ २०१ ॥

कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलतालीकं मुखे दृश्यते
कौटिल्यं कचसञ्चये प्रवचने मान्द्यान्त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं मायाप्रयोगः प्रिये
यासां दोषगणो गुणा मृगदृशां ताः किं नराणां प्रियाः२०२

स्तनोंमें कठिनता, नेत्रोंमें चचलता, मुखमें असत्य, बालसमूहमें कुटिलता, वचनमें मधुरता, नितम्बोमे स्थूलता, हृदयमें भय, स्वामीमें मायापूर्वक वचनोका कहना, इस प्रकारके जिनके दोप गुणनामसे ग्रहण किये जाते हैं, क्या वह मनुष्योंकी प्रिया हैं ? अर्थात् नहीं हैं ॥ २०२ ॥

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्य्यहेतो-
र्विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव
नार्य्यः श्मशानवटिका इव वर्जनीयाः ॥ २०३ ॥

यह कार्यके निमित्त हँसती और रोती हैं, विश्वास करकेभी यह विश्वासको प्राप्त नहीं होती हैं इसकारण कुलशीलवाले मनुष्यको श्मशानके वटवृक्षकी समान सदा स्त्रियें वर्जनीय हैं ॥ २०३ ॥

व्याकीर्णकेशरकरालमुखा मृगेन्द्रा
नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥ २०४ ॥

बिखरे हुए गरदनके बालोंसे करालमुखसिंह, अत्यन्त मदसमूहसे विराजमानहाथी तथा बुद्धिमान् समरशूर, पुरुष भी स्त्रीके निकट परम कायर होजाते हैं ॥ २०४ ॥

कुर्वन्ति तावत्प्रथमं प्रियाणि
यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम् ।

ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं
ग्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति ॥ २०५ ॥

जबतक यह मनुष्यको प्रसक्त नहीं जानती तबतक प्रिय करतीहैं और पीछे उसे कामके वशीभूत जानकर मांस ग्रहण करनेवाली मछलीकी समान उठा-लेती हैं॥ २०५ ॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः
सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्त्तरागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थं
निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २०६ ॥

समुद्रकी तरंगोंकी समान चंचल स्वभाव संध्याकालके मेघरेखाकी समान मुहूर्तमात्रको रागवाली स्त्रियें सिद्धकाम होकर निर्धन पुरुषको निचोडे महावरकी समान त्याग देती हैं ॥ २०६ ॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचं निर्दयत्वञ्च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २०७ ॥

झूंठ, साहस, माया, मूर्खत्व, अतिलोभ, अपवित्रता, निर्दयता यह स्त्रियोंके स्वाभाविक दोषहैं ॥ २०७ ॥

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां
किं वा न वामनयना न समाचरन्ति ॥ २०८ ॥

मोहित करती, मदकरती, प्रसन्न करती, वंचित करती, घुडकती, रमती और विषादित करती हैं, बहुत क्या यह कुटिल नेत्रवाली पुरुषोंके सरल हृदयोंमें प्रवेश करके क्या क्या नहीं करती हैं ॥ २०८ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ॥ २०९ ॥"

यह भीतरसे विषमय और बाहरसे मनोरम, चोंटलीके फलकी समान स्त्रियें किसने निर्मित की हैं ? ॥ २०९ ॥"

एवं चिन्तयतस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेण अतिचक्राम। सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा

चिन्तयामास। "किमिदानीं कर्तव्यम्। कथमेतत् महच्छिद्रं स्थगयितव्यम्"। अथ तस्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्त्ता कार्य-वशाद्राजकुले पर्युषितः प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदे-शस्थः विविधपौरकृत्योत्सुकतया तामाह—"भद्रे! शीघ्रमा-नीयतां क्षुरभाण्डं येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि"। सापि छिन्ननासिका गृहमध्यस्थितैव कार्य्यकरणापेक्षया क्षुरभा-ण्डात्क्षुरमेकं समाकृष्य तस्य अभिमुखं प्रेषयामास। नापि-तोऽपि उत्सुकतया तमेकं क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः सन् तद-भिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिणोत्। एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टा उर्द्ध्व-बाहू विधाय फूत्कर्त्तुमना गृहात् निश्चक्राम। "अहो! पापेन अनेन मम सदाचारवर्तिन्याः पश्यत नासिकाच्छेदो विहितः। तत्परित्रायतां परित्रायताम्"। अत्र अन्तरे राजपुरुषाः सम-भ्येत्य तं नापितं लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्बद्ध्वा तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थानं नीत्वा सभ्यान् ऊचुः—"शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः। अनेन नापितेन अपराधं विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितं तदस्य यत् युज्यते तत् क्रिय-ताम्"। इति अभिहिते सभ्या ऊचुः—"रे नापित! किमर्थं त्वया भार्य्या व्यंगिता। किमनया परपुरुषोऽभिलषितः, उत स्वित् प्राणद्रोहः कृतः, किंवा चौर्य्यकर्म आचरितम्। तत् कथ्यतामस्या अपराधः?"। नापितोऽपि प्रहारपीडिततनु-र्वक्तुं न शशाक। अथ तं तूष्णींभूतं दृष्ट्वा पुनः सभ्या ऊचुः—"अहो! सत्यमेतत् राजपुरुषाणां वचः पापात्मा अयम्। अनेन इयं निर्दोषा वराकी दूषिता। उक्तञ्च—

यह विचार करते उस सन्यासीको वह रात बडे कष्टसे बीती और वह नाक-कटी दूती अपने घर जाकर विचार करने लगी कि, "अब मैं क्या करू। किस प्रकार यह महाछिद्र छिपाना चाहिये"। उसके यह विचार करतेही उसका स्वामी किसी कार्यके वशसे राजकुलमें रहाहुआ प्रातःकाल निज घरमें आकर द्वारपर स्थित हुआही बहुतसे नगरवासियोंके कार्यकी उत्कठासे उससे बोला—

"भद्रे ! शीघ्र क्षुरभाण्ड (किस्वत) ला जिससे कि, क्षौरकर्म (हजामत) बनानको जाऊ" । वहभी नाककटी अपने घरमेंसेही बहुत कार्य करनेकी व्याजतासे किसबतमेंसे एक उसतरा निकाल उसके निकट भेजती भई, इधर नापितनेभी उत्कंठासे एकक्षुरको देख क्रोधकर उसके सन्मुख उस क्षुरको फेंकदिया । इसी अवसरमें वह दुष्टा ऊपरको भुजा उठाकर स्वास लेती (हाय हाय) करती घरसे निकली, "अहो ! इस नाईने मुझ सदाचारमें रहनेवालीकी नाक काटदी, सो रक्षा करो रक्षा करो" । उसी अवसरमें राजपुरुष आकर उस नाईको डंडोंसे ताडितकर दृढ बंधनसे बांध उस छिन्ननासिकाके सहित धर्माधिकारीके स्थान (कचहरी) में लेजाकर वहांके सभ्योंसे बोले—"हे सभासदों ! सुनो । इस नाईने अपराधके विनाही इस स्त्रीरत्नका अंगभंग किया, सो जो कुछ इसका करना हो करो" । यह कहनेपर सभ्य बोले—"हे नाई ! क्यों तैने इस स्त्रीको व्यंगित किया ? क्या इसने परपुरुषकी अभिलाषा की । या प्राणद्रोह किया । या चोरी की । सो इसका अपराध कहो ?" । नाईभी प्रहारसे पीडित शरीर होनेके कारण कुछ न कहसका । उसको चुप देखकर सभ्य बोले—"अहो यह राजपुरुषोंका वचन सत्यहै । यह पापात्माहै इसने इस विचारी निर्दोषाको दूषित कियाहै । कहाहै—

भिन्नस्वरमुखवर्णः शङ्कितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः ।
भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः ॥ २१० ॥

और प्रकारका स्वर, मुखका अन्य वर्ण, संदिग्ध दृष्टि, उत्पातित तेज (नष्टश्री) यह वस्तु पापकरके अपने कर्मसे सन्तापित पुरुषोंको होतीहैं ॥ २१० ॥

तथाच—

और देखो—

आयाति स्खलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः ।
ललाटस्वेदभाक् भूरि गद्गदं भाषते वचः ॥ २११ ॥

स्खलित चरणोंसे आताहै, मुखमें विवर्ण होताहै, माथेपर पसीना, और बोलनेमें गडबड ॥ २११ ॥

अधोदृष्टिर्भवेत्कृत्वा पापं प्राप्तः सभां नरः ।
तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः ॥ २१२ ॥

पाप करके यदि मनुष्य सभामें आवे तो उसकी अधोदृष्टि होती है इसकारण इन चिन्होंसे मनुष्य यत्नसे इनको पहचाने ॥ २१२ ॥

अन्यच्च–

और भी–

प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक् ।
सभायां वक्ति सामर्षं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥ २१३ ॥

प्रसन्नवदन, हृष्टता, स्पष्टवचन बोलनेवाला, क्रोधदृष्टि, धैर्यतासे सभाके बीचमें पवित्र मनुष्य क्रोधसे बोलताहै ॥ २१३ ॥

तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते । स्त्रीधर्षणात् वध्य इति । तच्छूलमारोप्यताम्" इति । अथ वध्यस्थाने नीयमानं तमवलोक्य देवशर्मा तान् धर्माधिकृतान् गत्वा प्रोवाच–"भोः ! भोः ! अन्यायेन एष वराको वध्यते । नापितः साधुसमाचार एषः । तत् श्रूयतां मे वाक्यम् । "जम्बूको हुडुयुद्धेन" इति । अथ ते सभ्या ऊचुः–"भो भगवन् ! कथमेतत् ?" । ततो देवशर्मा तेषां त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेण अकथयत् । तदाकर्ण्य सुविस्मितमनसस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः–"अहो !

सो यह दुष्टचारित्रलक्षणवाला दीखताहै, स्त्रीके धर्षणसे वध्यहै सो इसको शूलपर अरोपण करो" । तब वध्यस्थानमें लेजाते हुए इसको देख देवशर्मा उन अधिकारियोंके पास जाकर बोला–"भो ! भो ! अन्यायसे यह बिचारा मारा जाताहै, यह नाई तो श्रेष्ठ आचारवालाहै, सो मेरा वाक्य श्रवण करो–"जम्बुक हुडयुद्धसे" इत्यादि । तब वे सभ्य बोले– "भगवन् ! यह क्या बातहै ?" । तब देवशर्मा उन तीनोंके वृत्तान्तको विस्तारसे कहता भया । यह वचन सुन वे सब विस्मयको प्राप्तहो नाईको छोडकर परस्पर कहने लगे "अहो !

अवध्यो ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक् ।
विहिता व्यंगिता तेषामपराधे महत्यपि ॥ २१४ ॥

ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी, रोगी यह अवध्यहैं, यदि इनका कोई बडा अपराध हो तोभी कोई अङ्ग विकल करदेना उचितहै ॥ २१४ ॥

तदस्या नासिकाच्छेदः स्वकर्मणा हि संवृत्तः । ततो राजनिग्रहस्तु कर्णच्छेदः कार्यः" । तथानुष्ठिते देवशर्मापि वित्त-

नाशसमुद्भूतशोकरहितः पुनरपि स्वकीयं मठायतनं जगाम । अतोऽहं ब्रवीमि–"जम्बूको हुडुयुद्धेन" इति ।

सो इसका नासिकाच्छेद तो इसके कर्मसेही होगयाहै । अब राजनिग्रह कर्ण-च्छेद करना" । ऐसा होनेपर देवशर्माभी अपने धननाशके शोकसे रहित हो अपने मठमें आया, इससे मैं कहताहूं–"जम्बुक हुडुयुद्धसे" इत्यादि ।

करटक आह–"एवंविधे व्यतिकरे किं कर्त्तव्यमावयोः" । दमनकोऽब्रवीत्–"एवंविधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भविष्यति, येन सञ्जीवकं प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि । उक्तञ्च–

करटक बोला–"इस प्रकारकी अवस्थामें हम दोनोंको क्या करना चाहिये" । दमनक बोला–"इस प्रकारके समयमेंभी मेरी बुद्धि स्फुरित होगी, जिससे संजीवकको प्रभुसे पृथक् करसकूंगा । कहाहै–

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतः सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥ २१९ ॥

धनुष्यधारीके धनुषसे निकला हुआ बाण किसी एकको मारे या न मारे लेकिन् बुद्धिमानकी बुद्धिसे किया कृत्य राजा सहित राज्यको नष्ट करताहै ॥ २१९ ॥

तदहं मायाप्रपञ्चेन गुप्तमाश्रित्य तं स्फोटयिष्यामि" । करटक आह–"भद्र ! यदि कथमपि तव मायाप्रवेशं पिङ्गलकः ज्ञास्यति सञ्जीवको वा तदा नूनं विघात एव" । सोऽब्रवीत्–"तात ! नैवं वद गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि दैवे बुद्धिः प्रयोक्तव्या नोद्यमस्त्याज्यः कदाचित् घुणाक्षरन्यायेन बुद्धेः साम्राज्यं भवति । उक्तञ्च–

सो मैं मायाप्रपंचसे गुप्त आश्रय कर इनमें फूट करूं" करटक बोला–"भद्र ! यदि किसीप्रकार यह पिंगलक संजीवक तुम्हारी मायाका प्रवेश जान जायँ तो अवश्य नष्ट होना होगा" वह बोला–"तात ! ऐसा मतकहो, महाबुद्धिमानोंको आपत्कालमें प्रारब्धके नष्ट होनेमेंभी बुद्धिका प्रयोग करना उचितहै, उद्यमका त्याग करना अच्छा नहीं है, कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे बुद्धिद्वारा सुखसाम्राज्य प्राप्त होजाय । कहा भी है–

---

१ घुनके कुरेदनेसे जो अक्षर बनजाय ।

त्याज्यं न धैर्य्यं विधुरेऽपि दैवे
धैर्य्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः ।
याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति कर्म्म एव ॥ २१६ ॥

दैवके बिगडनेमेभी धीरता त्यागन करनी नहीं चाहिये कारण कि, धैर्यसे कदाचित् स्थितिकी प्राप्ति होजाय समुद्रमे जहाज डूबनेपरभी पोत वणिक् उद्यम करनेकीही इच्छा करता है । (अर्थान्तरन्यासः) ॥ २१६ ॥

तथाच–
और देखो–

उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
र्दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ २१७ ॥

उद्योगी पुरुषको निरन्तर लक्ष्मी मिलती है, प्रारब्ध देता है यह कायर कहते हैं, दैवको त्यागकर आत्मशक्तिसे पुरुषार्थ कर यत्न करनेपरभी यदि सिद्ध न हो तो किसका दोष है ॥ २१७ ॥

तदेवं ज्ञात्वा सुगूढबुद्धिप्रभावेण यथा तौ द्वौ अपि न ज्ञास्यतः तथा मिथो वियोजयिष्यामि । उक्तञ्च–

सो ऐसा जानकर अपनी बुद्धिके प्रभाव करके जैसे वह दोनों न जाने इस प्रकार उनको वियुक्त कर दूंगा । कहाभी है–

सुगुप्तस्यापि दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥ २१८ ॥"

सम्यक् प्रकारसे छिपाये दम्भके अन्तको तो ब्रह्माभी नहीं जानसकता, इसी लिये एक कौलिक विष्णुके रूपसे राजकन्यासे रमताथा ॥ २१८ ॥"

करटक आह–"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

करटक बोला,–"यह कैसी कथा है ?" वह बोला–

कथा ५.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म। तत्र च तौ बाल्यात् प्रभृति सहचारिणौ, परस्परमतीव स्नेहपरौ सदा एकस्थानविहारिणौ कालं नयतः। अथ कदाचित् तत्राधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवायतने यात्रामहोत्सवः संवृत्तः। तत्र च नटनर्त्तकचारणसंकुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ, काञ्चिद्राजकन्यां करेणुकारूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षवरपरिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ। अथासौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषार्दित इव दुष्टग्रहगृहीत इव कामशरैः हन्यमानः सहसा भूतले निपपात। अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारः तद्दुःखदुःखित आप्तपुरुषैस्तं समुत्क्षिप्य स्वगृहमानाययत। तत्र च विविधैः शीतोपचारैः चिकित्सकोपदिष्टैः मन्त्रवादिभिरुपचर्य्यमाणश्चिरात्कथञ्चित्सचेतनो बभूव। ततो रथकारेण पृष्टः। "भो मित्र! किमेवं त्वमकस्मात् विचेतनः सञ्जातः। तत्कथ्यतामात्मस्वरूपम्?"। स आह,—"वयस्य! यदि एवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियतां, क्षम्यतां यद्वा किञ्चित्प्रणयातिरेकादयुक्तं तव मयानुष्ठितम्"। सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच—"वयस्य! यत्किञ्चिद्दुःखकारणं तद्वद येन प्रतीकारः क्रियते यदि शक्यते कर्त्तुम्। उक्तञ्च—

किसी स्थानमें एक कौलिक और बढई दो मित्र रहतेथे, वह बालकपनसे सहचारी थे; परस्पर अत्यन्त स्नेहवाले सदा एक स्थानमें रहते समय विचरतेथे, तब कभी उस स्थानमें किसी देवताके स्थानमें यात्राका महोत्सव हुआ। वहां नट नर्तक चारणसे युक्त अनेक अनेक देशोंसे आये मनुष्योंसे आवृत वह दोनों सहचर घूमते हुए किसी राजकन्याको हथिनीपर चढी सम्पूर्ण गहने पहरे अन्तःपुरके वृद्ध ब्राह्मण और नपुसकोंसे युक्त देवताके दर्शन करनेके निमित्त आई

हुईको देखते भये, तब यह कौलिक उसको देखकर विषसे आर्दित हुएकी समान दुष्टग्रहसे गृहीत हुआसा कामवाणसे ताडितकी समान सहसा पृथ्वीमे गिरा। उसकी यह दशा देखकर रथकार उसके दुःखसे दुःखी हुआ, अपने मनुष्योंसे उसको उठवाय अपने घरमें लाया। वहा अनेक प्रकारके शीतल उपचार वैद्योंके किये हुए तथा मन्त्रादिसे उपचारको प्राप्त हुआ बहुतकालमे कुछ सचेत भया। तब रथकारने पूंछा—"मित्र! यह क्या है जो तुम अकस्मात् अचेतन होगये अपनी वात तो कहो?"। वह बोला,—"मित्र! जो ऐसा है तो मेरी गुप्त वार्ता सुनो, जिस कारण मैं सब अपना दुःख तुझसे कहताहू। जो तू मुझे अपना सुहृदय मानता है तो चिता रचकर मेरे ऊपर कृपा करो। और क्षमा करना जो कुछ प्रणयके कारण तुमसे अयुक्त कहा होवे"। वहभी यह वचन सुन आखोंमे आंसू भर गद्गद-कण्ठसे बोला—"मित्र! जो कुछ दुःखका कारण है, सो कहो जिससे यदि होसकेगा तो उसका प्रतिकार किया जायगा। कहा है—

औषधार्थसुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम्।
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद्ब्रह्माण्डस्य मध्यगम् ॥२१९॥

इस ससार और ब्रह्माण्डके मध्यमें जो कुछभी है वह औषधी, अर्थ और सुमन्त्र तथा महात्माओंकी बुद्धिके सामने कुछ असाध्य नहीं है॥ २१९॥

तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदा अहं साधयिष्यामि"। कौलिक आह—"वयस्य! एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तत् मे दुःखम्। तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेपं कुरु"। रथकार आह—"भो मित्र! यद्यपि असाध्यं तथापि निवेदय येनाहमपि तदसाध्यं मत्वा त्वया सह वह्नौ प्रविशामि। न क्षणमपि त्वद्वियोगं सहिष्ये। एष मे निश्चयः"। कौलिक आह—"वयस्य! या असौ राजकन्या करेणुकारूढा तत्र उत्सवे दृष्टा तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन ममेयमवस्था विहिता। तत न शक्नोमि तद्वेदनां सोढुम्। तथाचोक्तम्—

सो इन चारोंमे यदि साध्य होगा तो मैं साधन करूंगा"। कौलिक बोला,—

"मित्र ! इन चारोंमें अथवा अन्य सहस्रों उपायोंसेभी मेरा दुःख असाध्य है इस कारण मेरे मरणमें वृथा समयका बिताना मतकरो" । रथकार बोला– "मित्र ! यद्यपि असाध्य है, तथापि निवेदन तो कर जिससे मैंभी उसे असाध्य मानकर तेरे संग अग्निमें प्रवेश करूं क्षणमात्रको भी तुम्हारा वियोग न सहूंगा यह मेरा निश्चय है" । कौलिक बोला–"मित्र ! जो यह कन्या हथिनीपर चढी उस उत्सवमें देखीथी उसके दर्शन करतेही कामके कारण मेरी यह दशा हुई सो उसकी वेदना अब नहीं सही जाती । वैसा कहा भी है–

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुंकुमार्द्रे
तस्याः पयोधरयुगे रतखेदखिन्नः ।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्त्ती
स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसंगम् ॥ २२० ॥

मत्त हाथियोंके कुम्भकी समान परिणाहवाले केशरसे गीले उसके युगल स्तनोंको रतिके खेदसे खिन्न हुआ मैं भुजाओंके मध्यमें कर हृदयमें रख क्षण मात्रको उसके अगसंगको प्राप्त होकर कब सोऊंगा ॥ २२० ॥

तथाच–

तैसेही–

रागी बिम्बाधरोऽसौ स्तनकलशयुगं यौवनारूढगर्वं
नीचा नाभिः प्रकृत्या कुटिलकमलकं स्वल्पकश्चापि मध्यम् ।
कुर्वन्त्वेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेदं
यन्मां तस्याः कपोलौ दहत इति मुहुः स्वच्छकौ तन्न युक्तम्"

लालवर्ण उसका कंदूरीकी समान अधर, कलशकी समान स्तन, गर्वको प्राप्त यौवन, गम्भीर नाभि, स्वभावसेही कुटिल बाल, पतली कमर इतनी वस्तु विचारतेही हठसे मनमें खेद उत्पन्न करतीही हैं और जो उसके स्वच्छ विमल कपोलको मैं वारंवार चिन्तन करताहूं वह जो मुझे जलाते हैं यह युक्त नहीं है ॥ २२१ ॥"

रथकारोऽपि एवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्य सस्मितमिदमाह–"वयस्य ! यदि एवं तर्हि दिष्ट्या सिद्धं नः प्रयोज-

नम्। तदद्यैव तया सह समागमः क्रियताम्" इति। कौलिक आह--"वयस्य ! यत्र कन्यान्तःपुरे वायुं मुक्त्वा न अन्यस्य प्रवेशोऽस्ति तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथं मम तया सह समागमः। तत् किं मां असत्यवचनेन विडम्बयसि ?"। रथकार आह--"मित्र ! पश्य मे बुद्धिबलम्"। एवमभिधाय तत्क्षणात् कीलसञ्चारिणं वैनतेयं बाहुयुगलं वायुजवृक्षदारुणा शंखचक्रगदापद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभं अघटयत्। ततः तस्मिन् कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्नितं कृत्वा कीलसञ्चरणविज्ञानञ्च दर्शयित्वा प्रोवाच--"वयस्य ! अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथे तां राजकन्यामेकाकिनीं सप्तभूमिकप्रासादप्रान्तगतां मुग्धस्वभावां त्वां वासुदेवं मन्यमानां स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभिः रञ्जयित्वा वात्स्यायनोक्तविधिना भज"। कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपः तत्र गत्वा तामाह--"राजपुत्रि ! सुप्ता किं वा जागर्षि ? अहं तव कृते समुद्रात् सानुरागो लक्ष्मीं विहाय एव आगतः। तत् क्रियतां मया सह समागमः" इति। सापि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच--"भगवन् ! अहं मानुषी कीटिकाऽशुचिः भगवान् त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च। तत्कथमेतद्युज्यते ?"। कौलिक आह--"सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या परं किन्तु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत् सा त्वं अत्र अवतीर्णा। तेन अहमत्र आयातः"। इति उक्ता सा प्राह--"भगवन् ! यदि एवं तत् मे तातं प्रार्थय सोऽपि अविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति"। कौलिक आह--"सुभगे ! न अहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि। किं पुनरालापकरणम्, त्वं गान्धर्वेण विवाहेन आत्मानं प्रयच्छ। नो चेत् शापं दत्त्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात् करिष्यामि" इति। एवमभिधाय गरुडादवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा, तां सभयां सल

ज्ञां वेपमानां शय्यायामनयत् । ततश्च रात्रिशेषं यावत् वात्स्यायनोक्तविधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम । एवं तस्य तां नित्यं सेवमानस्य कालोयाति । अथ कदाचित् कंचुकिनः तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डनं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः-"अहो ! पश्यत अस्या राजकन्यायाः पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवाः विभाव्यन्ते । तत् कथमयं सुरक्षितेऽपि अस्मिन् गृहे एवंविधो व्यवहारः । तत् राज्ञे निवेदयामः" । एवं निश्चित्य सर्वे समेत्य राजानं प्रोचुः-"देव ! वयं न विद्मः । परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित् प्रविशति । तद्देवः प्रमाणम्" इति । तच्छ्रुत्वा राजा अतीव व्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत् ।

रथकारभी इसप्रकार सकाम उसके वचनको सुनकर हँसता भया । "मित्र ! यदि ऐसा है तो भाग्यसे हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ । सो आजही उसके साथ समागम करो" । कौलिक बोला-"मित्र ! जिस कन्याके अन्तःपुरमें वायुको छोड अन्य वस्तुका प्रवेश नहीं है, वहां राजाके पुरुषोंसे युक्त स्थानमे मेरा उसके साथ कैसा समागम होगा । सो क्यों मुझे असत्यवचनसे वंचित करताहै."! । रथकार बोला-"मित्र ! मेरी बुद्धि और बलको देखो" ऐसा कह उसीसमय कील घुमानेसे चलनेवाले गरुड जो वायुज वृक्षके काष्ठकी दो भुजा शंख, चक्र, गदा, पद्म, किरीट और कौस्तुभकोभी बनाताहुआ उसपर उस कौलिकको चढाकर विष्णुचिन्हसे चिन्हितकर कील प्रवेशके विज्ञानकोभी दिखाकर बोला-"मित्र ! इस विष्णुरूपसे जाकर कन्याके अन्तःपुरमे अर्धरात्रिके समय उस राजकन्याको जो इकली सतमहले मन्दिरमें प्राप्त हुई मुग्धस्वभावसे तुझे वासुदेव माननेवाली उसको अपनी कुटिल उक्तिसे प्रसन्नकर वात्स्यायन मुनिके कहे कामशास्त्रके विधानसे भोगो" । कौलिकभी यह वचन सुन उस रूपसे वहां जाकर उससे बोला-"राजपुत्रि ! सोतीहो या जागती ? मैं तुम्हारे निमित्त समुद्रसे अनुराग करनेवाली लक्ष्मीको त्याग करके आयाहूं । सो मेरे साथ समागम करो" । वहभी गरुडपर चढे चार भुजा आयुध लिये कौस्तुभसे युक्त देखकर विस्मयपूर्वक शयनसे उठकर बोली-"भगवन् ! मैं मानुषी कीटजाति अपवित्रहूं । आप

त्रिलोकीके नमस्कार करने योग्य पवित्र करनेवाले हैं, सो यह कैसे होसकता है?"। कौलिक बोला-"सुभगे! तुमने सत्य कहा, परन्तु राधा नामक मेरी भार्या जो प्रथम गोपकुलमें उत्पन्न हुईथी, वही तू यहा अवतीर्ण हुई है। इसीकारण मैं यहां आयाहू" ऐसा कहनेपर वह बोली,-"भगवन्! यदि ऐसाहै तो मुझे मेरे पितासे मांगो वह भी तत्काल तुमको प्रदान करेंगे"। कौलिक बोला-"सुभगे! मैं मनुष्योंके दर्शनपथको प्राप्त नहीं होताहू फिर बात करनी तो कैसी! तू गन्धर्वविवाहसे अपने आपको मुझे प्रदानकर, नही तो शापदेकर कुलसहित तेरे पिताको भस्म करदूंगा" यह कह गरुडसे उत्तर सीधे हाथसे उसे ग्रहणकर उस भय लज्जासे कंपित हुईको शय्यापर ले आया शेषरात्रिमें वात्स्यायन विधिके अनुसार उसको सेवनकर बहुत प्रभातमे अलक्षितहो अपने स्थानको गया। इसप्रकार नित्य उसको भोगते, समय बीतता भया। तब कभी कचुकी उसके अधरोष्ठ रक्त और खण्डित देखकर परस्पर कहने लगे-"अहो! देखो तो इस राजकन्याके पुरुषसे भोगे हुए शरीरके अगप्रत्यग दीखते हैं। सो कैसे यह सुरक्षित इस घरमें इस प्रकारका व्योहारहै, सो हम राजासे निवेदन करें"। ऐसा निश्चयकर सब मिलकर राजासे बोले-"देव हम नहीं जानते परन्तु सुरक्षितभी कन्याके अन्तःपुरमे कोई प्रवेश करता है, सो इसमें आपही प्रमाण हैं" यह सुन राजा महाव्याकुल हो विचारने लगा.-

"पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः।
दत्त्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्॥ २२२॥

"इस ससारमें कन्या होना यह बडी चिन्ता है, कारण यह किसको दें यह महान् वितर्क है, और भी देनेसे सुख पावैगी या नहीं यह भी नहीं जानाजाता इसलिये कन्या पिताके निमित्त एक कष्टहीहै॥ २२२॥

नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावा-
स्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम्।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति
नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः॥ २२३॥

नदी और नारियोंका समान प्रभाव होताहै, उनके दोनो किनारे और कन्याके मातृ पितृ कुल समान हैं, नदी जलसे और नारी दोषसे अपने कुलको नष्ट करती हैं ॥ २२३ ॥

तथाच-
और देखो-

जननीमनो हरति जातवती परिवर्द्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिनं दुरतिक्रमा दुहितरो विपदः ॥"

कन्या उत्पन्न होतेही माताका मन हरती है, सुहृद्जनोंके शोचके सहित बढ़ती है, पराये आधीन करनेपर भी मलीन करती है, कन्यारूपी विपत् तरी नहीं जाती ॥ २२४ ॥"

एवं बहुविधं विचिन्त्य देवीं रहःस्थां प्रोवाच-"देवि ! ज्ञायतां किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति । तस्य कृतान्तः कुपितो येन एतदेवं क्रियते" । देवी अपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वरं कन्यान्तःपुरं गत्वा तां खण्डिताधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यत् । आह च-"आः पापे ! कुलकलङ्कारिणि ! किमेवं शीलखण्डनं कृतम् ? कोऽयं कृतान्तावलोकितः त्वत्सकाशमभ्येति । तत्कथ्यतां ममाग्रे सत्यम्" इति कोपाटोपविशङ्कटं वदंत्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जानताननं प्रोवाच-"अम्ब ! साक्षान्नारायणः प्रत्यहं गरुडारूढो निशि समायाति । चेदसत्यं मम वाक्यम् । तत् स्वचक्षुषा विलोकयतु निगूढतरा निशीथे भगवन्तं रमाकान्तम्" । तत् श्रुत्वा सा अपि प्रहसितवदना पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं गत्वा राजानमूचे-"देव ! दिष्ट्या वर्द्धसे । नित्यमेव निशीथे भगवान् नारायणः कन्यकापार्श्वेऽभ्येति तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता । तदद्य त्वया मया च रात्रौ वातायनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्यो, यतो न स मानुषैः सह आलापं करोति" । तच्छ्रुत्वा हर्षितस्य राज्ञस्तद्दिनं वर्षशतप्रायमिव कथञ्चित् जगाम । ततस्तु रात्रौ निभृतो भूत्वा राज्ञीसहितो राजा

वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिः यावत्तिष्ठति तावत्तस्मिन् समये गरुडारूढं तं शखचक्रगदापद्महस्तं यथोक्तचिह्नाङ्कितं व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमपश्यत्। ततः सुधापूरप्लावितमिव आत्मानं मन्यमानः तामुवाच-"प्रिये! नास्ति अन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च,यत्प्रसूतिं नारायणो भजते। तत्सिद्धाः सर्वेऽस्माकं मनोरथाः। अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमतीं वश्यां करिष्यामि"। एवं निश्चित्य सर्वैः सीमाधिपैः सह मर्य्यादाव्यतिक्रममकरोत्। ते च तं मर्य्यादाव्यतिक्रमेण वर्त्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः। अत्रान्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच-"पुत्रि! त्वयि दुहितरि वर्त्तमानायां नारायणे भगवति जामातरि स्थिते तत् किमेवं युज्यते यत् सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति। तत् सम्बोध्योऽद्य त्वया निजभर्त्ता यथा मम शत्रून् व्यापादयति" ततः तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः-"भगवन्! त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न युक्तम्। तत्प्रसादं कृत्वा सर्वान् तान् शत्रून् व्यापादय"। कौलिक आह-"सुभगे! कियन्मात्रास्तु एते तव पितुः शत्रवः। तद्विश्वस्ता भव क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वान् तिलशः खण्डयिष्यामि"। अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिः उद्वास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः, तथापि वासुदेवरूपधरं कौलिकमजानन् राजा नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तूरिकादिपरिमलविशेषान् नानाप्रकारवस्त्रपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेषयन् दुहितृमुखेन तमूचे-"भगवन्! प्रभाते नूनं स्थानभङ्गो भविष्यति, यतो यवसेन्धनक्षयः सञ्जातः तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमक्षमः, प्रचुरो मृतश्च। तदेवं ज्ञात्वा अत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्" इति। तच्छ्रुत्वा कौलिकोऽपि अचिन्तयत्।"यत् स्थानभङ्गे जाते मम अनया सह वियोगो भविष्यति। तस्मात् गरुडमारुह्य

सायुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि । कदाचित् मां वासुदेवं मन्यमानास्ते साशंका राज्ञो योद्धृभिः हन्यन्ते । उक्तञ्च–

इस प्रकार बहुत विचार कर एकान्तमें रानीसे कहा–"देवि ! जानो तो जो यह कंचुकी कहते हैं । उसपर कालने क्रोध किया है जो ऐसा करताहै" देवीभी यह वचन सुनकर व्याकुलहो शीघ्र कन्याके अन्तःपुरमे जाय खंडित अधर नखोंसे चिन्हित शरीरके अवयववाली अपनी कन्याको देखती हुई बोली– "हे पापे ! कुलकलंककारिणी ! यह क्या चारित्र दूषण किया, कौन यह कालका देखा हुआ तेरे समीप आताहै ? सो मेरे आगे सत्य कह" । इस प्रकार क्रोधके वेगसे निष्ठुर कहती हुई अपनी मातासे राजपुत्री भय लज्जासे शिर झुकाये बोली–"माता ! साक्षात् नारायण प्रतिदिन गरुडपर चढ रात्रिमें आतेहै । यदि मेरा वाक्य असत्य मानो तो अपनी नेत्रोंसे गूढतर अर्धरात्रमें रमाकान्त भगवान्को देखो" । यह वचन सुन वह भी प्रहसितवदन होकर सब अंगसे पुलिकित शरीर हो शीघ्र जाकर राजासे बोली–"देव ! भाग्यसेही बढतेहो । नित्यही अर्धरात्रिमें भगवान् नारायण कन्याके निकट आतेहैं । और उन्होने गान्धर्वविवाहसे उससे विवाह किया । सो आज हम और तुम रात्रिमें झरोखोंमें बैठकर अर्धरात्रमें देखें कारण कि, मनुष्योंके साथ वह वार्ता नहीं करते" । यह सुन प्रसन्नहुए राजाको वह दिन सौ वर्षकी समान बीता । फिर रात्रिमें एकान्तमें प्राप्तहोकर रानीके सहित राजा झरोखेमें बैठकर आकाशमें दृष्टि लगाये जबतक बैठा कि, उसी समय गरुडपर चढे, शंख, चक्र, गदा, पद्म हाथमें लिये, यथोक्त चिन्होंसे युक्त, आकाशसे उतरते हुए नारायणको देखा । तब अमृतके पूरसे प्लावितकी समान अपने आपको मानताहुआ उससे बोला"–प्रिये ! हमसे अधिक कोई धन्य नहीं जिसकी कन्याको नारायण भजतेहैं । सो हमारे सब मनोरथ सफल हुए । अब जामाताके प्रभावसे सब पृथ्वीको अपने वश करूंगा" यह विचार सबही सीमाधिपतियोंके साथ मर्यादाका अतिक्रम करता भया वे उसको मर्यादा अतिक्रमसे वर्तते देखकर सब मिलकर उसके साथ विग्रह करतेहुए, इसी समय राजा देवीके मुखसे अपनी कन्याको कहलाताहुआ–"पुत्रि ! तुमसी कन्या होनेपरभी और भगवान् नारायणसे जामाताहोनेमें भी यह क्या उचितहै कि, सब राजा मेरे साथ विग्रहकरें । सो आज यह अपने स्वामीसे कहना कि, वह मेरे शत्रुओंको

मारें" । तब उसने उस कौलिकको विनयपूर्वक रात्रिमें कहा—"भगवन्! आपसे जामाता स्थित होनेमें मेरे पिता शत्रुओंसे तिरस्कृत होतेहैं, सो युक्त नहींहै, सो कृपाकर उनको मारो" । कौलिक बोला—"सुभगे! तुम्हारे पिताके वे शत्रु क्या पदार्थ हैं, सो विश्वास रख क्षणमात्रमें उन सबको सुदर्शनचक्रसे तिलवत् खण्ड खण्ड कर दूंगा" । तब कुछ समय बीतनेपर सबदेश शत्रुओंने नष्टकर वह राजा परकोट मात्र अवशिष्ट किया (परकोटमात्र बचा) तौभी वासुदेवरूपधारी कौलिकको न जानकर वह राजा नित्यही विशेष कपूर अगर कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्योंसे नानाप्रकार वस्त्र पुष्प भक्ष्य पेय आदि पदार्थ भेजकर कन्याके मुखसे कहलाताभया—"भगवन्! कल प्रभात काल अवश्यही स्थान भग होगा, कारण कि, अब घास इन्धन आदिकाभी क्षय हुआहै और सम्पूर्ण जन प्रहारसे जर्जरित देह हुए युद्ध करनेको असमर्थहैं और बहुत मरगये सो यह जानकर इस समय जो उचितहो सोकरो" । यह सुन कौलिकभी विचार करने लगा कि—"स्थानभग होनेसे अवश्य इसका मेरे साथ वियोग होगा, इसकारण गरुडपर चढ आयुधसहित अपनेको आकाशमें दिखाऊं, कदाचित् मुझे वासुदेव जानकर वे डरे हुए राजाके योधाओंसे मारे जाय। कहा भी है—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फणा ।
विषं भवतु मा भूयात्फटाटोपो भयंकरः ॥ २२५ ॥

निर्विष सर्पकोभी महाफणा नी चाहिये विष हो या नहीं फणाटोप भयंकर है ॥ २२५ ॥

अथ यदि मम स्थानार्थमुद्यतस्य मृत्युः भविष्यति तदपि सुन्दरतरम् । उक्तञ्च—

सो यदि मेरी इस स्थानके लिये मृत्यु हो तोभी अच्छाहै । कहाहै—

गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्त्रीकृतेऽथवा ।
स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः ॥२२६ ॥

गो, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री और स्थानके निमित्त जो प्राणोंका त्यागन करतेहैं उनके लिये सनातन लोकहैं ॥ २२६ ॥

चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीशः ।
शरणागतेन सार्द्धं विपदपि तेजस्विनां श्लाघ्या ॥ २२७॥"

(सूर्यके अमावस्याको) चन्द्र मण्डलमें स्थित होते यदि राहु सूर्य-को ग्रहण करता है तो यह शरणागतके संग विरचि तेजस्वीयोंको श्लाघनी-य है ॥ २३७ ॥"

एवं निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच—"सुभगे! समस्तैः शत्रुभिर्हतैरन्नं पानं च आस्वादयिष्यामि। किं बहुना त्वयापि सह सङ्गमं ततः करिष्यामि। परं वाच्यस्त्वया आत्मपिता यत् प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह नगरात् निष्क्रम्य योद्धव्यम्, अहं च आकाशस्थित एव सर्वान् तान् निस्तेजसः करिष्यामि पश्चात्सुखेन भवता हन्तव्याः। यदि पुनरहं तान् स्वयमेव सूदयामि तत्तेषां पापात्मनां वैकुण्ठीया गतिः स्यात्। तस्मात्ते तथा कर्त्तव्या यथा पलायन्तो हन्यमानाः स्वर्गं न गच्छन्ति"। सापि तदाकर्ण्य पितुः समीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत्। राजापि तस्या वाक्यं श्रद्दधानः प्रत्यूषे समुत्थाय सुसन्नद्ध-सैन्यो युद्धार्थं निश्चक्राम। कौलिकोऽपि मरणे कृतनिश्चय-श्चापपाणि गगनगतिर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थितः। अत्रान्तरे भगवता नारायणेन अतीतानागतवर्त्तमानवेदिना स्मृतमात्रो वैनतेयः सम्प्राप्तो विहस्य प्रोक्तः—"भो गरुत्मन्! जानासि त्वं यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारूढो राज-कन्यां कामयते?"। सोऽब्रवीत्—"देव! सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम्। तत् किं कुर्मः साम्प्रतम्" श्रीभगवानाह—"अद्य कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो युद्धार्थं विनिर्गतः। स नूनं प्रधानक्षत्रियशराहतो निधनमेष्यति। तस्मिन् हते सर्वो जनो वदिष्यति यत्प्रभूतक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च निपातितः। ततः परं लोकोऽयमावयोः पूजां न करिष्यति। ततस्त्वं द्रुततरं तत्र दारुमयगरुडे संक्रमणं कुरु। अहमपि कौलिकशरीरे प्रवेशं करिष्यामि। येन स शत्रून् व्यापाद-यति। ततश्च शत्रुवधात् आवयोर्माहात्म्यवृद्धिः स्यात्"।

अथ गरुडे तथेति प्रतिपन्ने श्रीभगवान् नारायणस्तच्छरीरे संक्रमणमकरोत् । ततो भगवन्माहात्म्येन गगनस्थः सः कौलिकः शंखचक्रगदाचापचिह्नितः क्षणादेव लीलयेव समस्तानपि प्रधानक्षत्रियान् निस्तेजसश्चकार । ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृतेन संग्रामे जिता निहताश्च ते सर्वेऽपि शत्रवः। जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा-"अनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहताः" इति । कौलिकोऽपि तान् हतान् दृष्ट्वा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णः सन् यावद्राजामात्यपौरलोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति ततः पृष्टः किमेतदिति। ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्तं न्यवेदयत्। ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधात् अवाप्ततेजसा राज्ञा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्षं विवाहविधिना तस्मै समर्पिता देशश्च प्रदत्तः । कौलिकोऽपि तया सार्द्धं पञ्चप्रकारं जीवलोकसारं विषयसुखमनुभवन् कालं निनाय । अतस्तूच्यते-"सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य"-इति ।

यह निश्चयकर प्रातःकाल दतोन कर उससे बोला-"सुभगे ! आज सम्पूर्ण शत्रुओंको मारकर मैं अन्नपान सेवन करूंगा। बहुत कहनेसे क्या तेरे साथ भी समागम तभी होगा, परन्तु तू अपने पितासे कह कि, प्रातःकालही बहुत सेनाके साथ नगरसे निकलकर युद्ध करे। और मैं आकाशमें स्थित हुआही उन सबको निस्तेज करदूंगा, फिर तुम सुखसे उनको मारडालना और यदि मैं स्वयं ही उनको मारूंगा तो वे पापी वैकुण्ठको जायगे, इस कारण ऐसा करना चाहिये कि, भागते मारे हुए वे स्वर्गको न जाय"। वहभी यह सुन पिताके समीप जाय सब वृत्तान्त कहती हुई। राजाभी उसके वाक्यमें श्रद्धा कर प्रातःकाल उठ सेना तयार कर युद्धके लिये निकला, कौलिकभी मरणमें निश्चयकर धनुष ले आकाशमें गरुडपर चढ युद्धको निकला। इसी अवसरमें भगवान् नारायण भूतभविष्यवर्तमान गति जाननेवाले स्मरण करतेही प्राप्तहुए गरुडको कहने लगे कि-"हे गरुड ! क्या तुम जानतेहो ? कि, हमारे रूपसे कौलिक काठके गरुडपर चढा राजकन्यासे रमताहै" वह बोला-"देव ! सब उसकी

चेष्टा विदित है । सो अब क्या करें" । भगवान् बोले—"आज कौलिक मरणमें निश्चयकर नियमकर युद्धके निमित्त निकला है वह अवश्यही प्रधान क्षत्रियोंके बाण लगनेसे मरजायगा । उसके मरनेमें सब मनुष्य कहेंगे प्रधान क्षत्रियोंने मिलकर वासुदेव और गरुडको मारडाला तब यह लोक हमारी पूजा न करेंगे, सो तू बहुत शीघ्र काठके गरुडमें प्रवेशकर मैंभी कौलिकके शरीरमें प्रवेश करूंगा, जिससे वह शत्रुओंको मारेगा तब शत्रुवधसे हमारा तुम्हारा माहात्म्य बढेगा" । 'बहुत अच्छा' यह गरुडके कहनेपर श्रीभगवान् नारायण उसके शरीरमें प्रवेश करगये । तब भगवान्के माहात्म्यसे आकाशमें स्थित हुआ वह शंख, चक्र, गदा, चापके चिन्हसे क्षणमें लीलासेही उन सम्पूर्ण क्षत्रियोंको तेज रहित करताहुआ । तब उस राजाने अपनी सेनासे युक्त संग्राममें वे सब शत्रु जीतकर मारदिये । और सब लोकमें यह चर्चा फैली कि, 'इस राजाने जामाता विष्णुके प्रभावसे सब शत्रु नष्ट करदिये' । कौलिकभी उनको मृतक देख ज्योंही आकाशसे उतरा कि, तबतक राजाके अमात्य और नगरनिवासी लोग उसको कौलिक देखते हुए पूछने लगे यह क्या है ? तब वह आदिसे अपना सब वृत्तान्त कहता भया । तब कौलिकके साहससे प्रसन्न मनहो शत्रुवधसे तेजको प्राप्त हुए राजाने वह राजकन्या सब जनोंके समक्ष विवाहविधिसे उसको समर्पण करदी और देशभी दिया । कौलिकभी उसके साथ पंचेन्द्रियके भोग्य जीवलोकके सार विषय सुखको अनुभव करता समय बिताता हुआ । इसी कारण कहा है कि, "भली प्रकार प्रयोग किया दम्भ" इत्यादि ।

तच्छ्रुत्वा करटक आह—"भद्र । अस्ति एवम्, परं तथापि महन्मे भयम् । यतो बुद्धिमान् सञ्जीवकः रौद्रश्च सिंहः । यद्यपि ते बुद्धिप्रागल्भ्यं तथापि त्वं पिंगलकात् तं वियोजयितुमसमर्थ एव" । दमनक आह—"भ्रातः ! असमर्थोऽपि सम एव । उक्तञ्च—

यह सुन करटक बोला—"भद्र ! यह तो ऐसेही है तोभी मुझको महाभय है कारण कि, संजीवक बुद्धिमान् और सिंह भयंकर है । यद्यपि तेरी बुद्धि तीव्र है तोभी तू पिंगलकसे उसे वियुक्त करनेको असमर्थ है" । दमनक बोला—"भ्रातः! असमर्थभी समर्थहूं । कहा है—

उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः॥ २२८॥"

उपायसे जो होसकता है वह पराक्रमसे नहीं। काकीने सुवर्णसूत्रसे कृष्णसर्पको मारा॥ २२८॥"॥

करटक आह—"कथमेतत्?"। सोऽब्रवीत्—

करटक बोला—"यह कैसा?" वह बोला—

कथा ६.

अस्ति कस्मिंश्चित्प्रदेशे महान् न्यग्रोधपादपः। तत्र वायसदम्पती प्रतिवसतः स्म। अथ तयोः प्रसवकाले वृक्षविवरात् निष्क्रम्य कृष्णसर्पः सदैव तदपत्यानि भक्षयति। ततस्तौ निर्वेदात् अन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियसुहृदं शृगालं गत्वा ऊचतुः—"भद्र! किमेवंविधे सञ्जाते आवयोः कर्त्तव्यं भवति। एवं तावत् दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरात् निर्गत्य आवयोर्बालकान् भक्षयति। तत कथ्यतां तद्रक्षार्थं कश्चिदुपायः।

किसी स्थानमें एक बडा वटका वृक्ष है वहां एक कौआ और काकी रहते थे। उसके प्रसव समयमें वृक्षकी खखोडलसे निकलकर काला सर्प सदा उनके संतानको खाजाता। तब वे परम दुःखसे दूसरे वृक्षकी मूलमें रहनेवाले प्रिय सुहृद शृगालके निकट जाकर बोले—"इसप्रकारके कृत्यमें हमको क्या करना चाहिये, इसप्रकारसे वह दुष्टात्मा कृष्णसर्प वृक्षकी खखोडलसे निकल कर हमारे बालक खाजाता है, सो इसकी रक्षाका कोई उपाय कहो।

यस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्य्या च परसंगता।
ससर्पे च गृहे वासः कथं स्यात्तस्य निर्वृतिः॥ २२९॥

जिसका खेत नदीके किनारे है, भार्या परपुरुषगामिनी है, और सर्पयुक्त जिसका निवास है, तिसको सुख कैसा अर्थात् सुख नहीं है॥ २२९॥

अन्यच्च—

औरभी—

सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ।
यद्ग्रामान्ते वसेत्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसंशयः ॥ २३० ॥

कहाहै कि, सर्पयुक्त घरमें निवास होवे तो मृत्युमें कोई संदेह नहीं जिस ग्रामकी सीमामें सर्प रहता है उसका वहां प्राण संशय होता है ? इसमें सन्देह नहीं ॥ २३० ॥

अस्माकमपि तत्र स्थितानां प्रतिदिनं प्राणसंशयः ।" स आह-" न अत्र विषये स्वल्पोऽपि विषादः कार्य्यः । नूनं स लुब्धो न उपायमन्तरेण वध्यः स्यात् ।

सो वहां रहनेसे हमको भी प्रतिदिन प्राणसंदेह रहता है" वह बोला-"इसमें कुछभी दुःख मतकरो वह लुब्धक उपायके विना न मरेगा ।

उपायेन जयो यादृग् रिपोस्तादृग् न हेतिभिः ।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः परिभूयते ॥ २३१ ॥

जिस प्रकार शत्रु उपायसे दमन होता है इस प्रकार हथियारोंसे नहीं, उपायका जाननेवाला छोटे शरीरवालाभी शूरोंसे तिरस्कृत नहीं होता ॥ २३१ ॥

तथाच-

और देखो-

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।
अतिलौल्याद्बकः कश्चिन्मृतः कर्कटकग्रहात् ॥ २३२ ॥

उत्तम मध्यम् अनेक मत्स्योंको खाकर अति चपलता करनेसे कोई बक कैकडेसे पकडे जानेके कारण मृतकहुआ ।

तावूचतुः-"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत-

वे दोनो बोले,-"यह कैसी कथा है" ? वह (शृगाल) कहने लगा-

कथा ७.

अस्ति कस्मिंश्चित् वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथं महत् सरः । तत्र च कृताश्रयो बक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान् व्यापादयितुमसमर्थः । ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठः सरस्तीरे उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैः अश्रुप्रवाहैर्धरातलमभिषिञ्चन् रुरोद । एकः कुलीरको नानाजलचरसमेतः समेत्य तस्य दुःखेन

दुःखितः सादरमिदमूचे,—"माम! किमद्य त्वया न आहार-वृत्तिः अनुष्ठीयते ?। केवलमश्रुपूर्णनेत्राभ्यां सनिःश्वासेन स्थीयते"। स आह—"वत्स! सत्यमुपलक्षितं भवता, मया हि मत्स्यादनं प्रति परमवैराग्यतया साम्प्रतं प्रायोपवेशनं कृतं, तेनाहं समीपगतानपि मत्स्यान् न भक्षयामि"। कुलीरकः तच्छ्रुत्वा प्राह—"माम! किं तद्वैराग्यकारणम्?"। स प्राह,—"वत्स! अहम् अस्मिन् सरसि जातो वृद्धिं गतश्च। तत् मया एतत् श्रुतं यत् द्वादशवार्षिकी अनावृष्टिः सम्पद्यते लग्ना"। कुलीरक आह,—"कस्मात् तच्छ्रुतम्?" बक आह—"दैवज्ञमुखात्। यतः शनैश्चरो हि रोहिणीशकटं भित्वा भौमं शुक्रञ्च प्रयास्यति।

किसी वनमें अनेक जलचरोंसे युक्त एक सरोवर है। वहांपर रहनेवाला एक बगला वृद्ध भावको प्राप्त हुआ मछलियोंके खानेको असमर्थ था, वहां भूंखसे शुष्ककंठ नदीके किनारे बैठा मोतियोंके समूहकी समान आसुओंके प्रवाहसे पृथ्वीको भिजोता हुआ रोताथा। एक कैंकडा अनेक जलचरोंके साथ उसके दु:खसे दुःखी हुआ आदरसे यह बोला,—"मामा! आज तुम अपने आहारकी वृत्ति क्यों नहीं करते हो? केवल अश्रुपूर्ण नेत्रोंको किये श्वास लेरहे हो"। वह बोला,—"वत्स! आपने सत्य देखा, मैंने अब मछलियोंके खानेमें परम वैराग्यता होनेसे मरने का व्रत लिया है, इस समयमें समीपमें गई हुई मछलियोंको भी नहीं खाताहूं"कुलीरक यह सुनकर बोला,—"मामा! तुम्हारे वैराग्यका कारण क्या है?" वह बोला,—मैं इस सरोवरमें उत्पन्न हुआ और यहीं वृद्धिको प्राप्त हुआहूं। सो मैंने यह सुना है बारह वर्षकी अनावृष्टि होगी"। कुलीरक बोला—"किससे सुना?" उस बकने कहा—"ज्योतषीके मुखसे सुना है कारण कि, शनैश्चर रोहिणीको भेदकर मंगल शुक्रके निकट प्राप्त होगा।

उक्तञ्च वराहमिहिरेण—

जैसा कि, वराहमिहिरने कहा है—

यदि भिन्ते सूर्य्यपुत्रो रोहिण्याः शकटमिह लोके।
द्वादशवर्षाणि तदा न हि वर्षति वासवो भूमौ॥ २३३॥

जो सूर्यपुत्र (शनि) इस लोकमें रोहिणी शकटको भेदन करे तो बारह वर्षतक इन्द्र पृथ्वीमें वर्षा नहीं करता है ॥ २३३ ॥

तथाच–

और भी–

प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वैव पातकं वसुधा ।
भस्मास्थिशकलकीर्णा कापालिकमिव व्रतं धत्ते ॥ २३४ ॥

रोहिणीका शकट शनिसे भेदित होनेसे पृथ्वीमें पातक होताहै । तथा पृथ्वी भस्म अस्थिके खण्डसे व्याप्त होकर कापालिक व्रतको धारण करती है॥२३४॥

तथाच–

और देखो--

रोहिणीशकटमर्कनन्दनश्चेद्भिनत्ति रुधिरोऽथवाशशी ।
किं वदामि तदनिष्टसागरे सर्वलोकमुपयाति संक्षयः २३५

जो रोहिणीके शकटको शनि मंगल अथवा चन्द्रमा भेदनकरे तो इस अनिष्ट सागरको मैं क्या कहूँ सबही लोक क्षय होजांय ॥ २३५ ॥

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।
क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशनाः सूर्य्यतप्तभिदुराम्बुपायिनः॥

चन्द्रमाके रोहिणी शकटमें स्थित होनेसे शरण रहित होके मनुष्य बालक मारकर खानेवाले तथा सूर्यके तापसे भेदको प्राप्त हुए जलके पीनेवाले कहां जांय ॥ २३६ ॥

तदेतत्सरः स्वल्पतोयं वर्त्तते । शीघ्रं शोषं यास्यति अस्मिन् शुष्के यैः सह अहं वृद्धिं गतः सदैव क्रीडितश्च ते सर्वे तोयाभावात् नाशं यास्यन्ति । तत् तेषां वियोगं द्रष्टुमहमसमर्थः । तेनैतत् प्रायोपवेशनं कृतम् । साम्प्रतं सर्वेषां स्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते, केचिच्च मकरगोधाशिशुमारजलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति तेनाहं विशेषात् रोदिमि यद्बीजशेषमात्रमप्यत्र न उद्धरिष्यति"। ततः स तदाकर्ण्य अन्येषामपि जलचराणां तत् तस्य

वचनं निवेदयामास । अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनसो मत्स्यकच्छपप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य पप्रच्छुः-"माम ! अस्ति कश्चिदुपायो येनास्माकं रक्षा भवति?" । बक आह-"अस्ति अस्य जलाशयस्य नातिदूरे प्रभूतजलसनाथं सरः पद्मिनीखण्डमण्डितं यच्चतुर्विंशत्यापि वर्षाणामवृष्ट्या न शोषमेष्यति । तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहति तदहं तं तत्र नयामि"। अथ ते तत्र विश्वासमापन्नाः तात ! मातुल ! भ्रातः ! इति ब्रुवाणा अहं पूर्वमहं पूर्वमिति समन्तात् परितस्थुः । सोऽपि दुष्टाशयः क्रमेण तान् पृष्ठे आरोप्य जलाशयस्य नातिदूरे शिलां समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोऽपि जलाशयं समासाद्य जलचराणां मिथ्यावार्त्तासन्देशकैर्मनांसि रञ्जयन्नित्यामिवाहारवृत्तिमकरोत् । अन्यस्मिन् दिने च कुलीरकेणोक्तः-"माम ! मया सह ते प्रथमः स्नेहसम्भाषः सञ्जातः । तत किं मां परित्यज्य अन्यात्रयसि । तस्मादद्य मे प्राणत्राणं कुरु"। तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्तितवान् । "निर्विण्णोऽहं मत्स्यमांसादनेन । तदद्य एनं कुलीरकं व्यञ्जनस्थाने करोमि" इति विचिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां वध्यशिलामुद्दिश्य प्रस्थितः । कुलीरकोऽपि दूरादेवास्थिपर्वतं शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्-"माम! कियद्दूरे स जलाशयः ? मदीयभारेण अतिश्रान्तस्त्वं तत कथय" । सोऽपि मन्दधीर्जलचरोऽयमिति मत्वा स्थले न प्रभवतीति सस्मितमिदमाह-"कुलीरक ! कुतोऽन्यो जलाशयः मम प्राणयात्रेयम्, तस्मात् स्मर्यतामात्मनोऽभीष्टदेवता । त्वामपि अस्यां शिलायां निक्षिप्य भक्षयिष्यामि" । इत्युक्तवति तस्मिन् स्ववदनदंशद्वयेन मृणालनालधवलायां मृदुग्रीवायां गृहीतो मृतश्च । अथ स तां बकग्रीवां समादाय शनैः शनैः तज्जलाशयमाससाद । ततः सर्वैरेव

जलचरैः पृष्टः--" भोः कुलीरक ! किं निवृत्तस्त्वम् ? स मातुलोऽपि न आयातः ? तत् किं चिरयति ?, वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणास्तिष्ठामः" । एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच-"मूर्खाः सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिताः । तन्मया आयुःशेषतया तस्य विश्वासघातकस्य अभिप्रायं ज्ञात्वा ग्रीवेयमानीता । तदलं सम्भ्रमेण । अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति" । अतोऽहं ब्रवीमि-"भक्षयित्वा बहून् मत्स्यान्" इति ।

'सो यह सरोवर स्वल्प जलवाला है शीघ्र सूख जायगा और इसके सूखनेसे जिनके साथ मैं वृद्धिको प्राप्त हुआ हूं, सदैव क्रीडा की है वे सब जलके न होनेसे नाशको प्राप्त होंगे, सो उनका वियोग देखनेको मैं असमर्थ हूं । इसी कारण यह मरनेका व्रत लिया है इस समय सवही स्वल्प सरोवरोंके जलचर बडे २ जलाशयोंमे अपने स्वजनों द्वारा लेजाये जाते हैं; कोई मकर, गोधा, घडियाल, जलहस्ति आदि स्वयमेवही जाते हैं और इस सरोवरके जो जलचर है वे निश्चिन्त हैं; इस कारण मैं विशेष कर रोताहूं कि, इसका तो बीजमात्र न बचेगा" । तब वह यह वचन सुनकर और जलचरोंसे उसके वचन निवेदन करता भया, तब वे सब भयसे व्याकुल मन हुए मच्छ कच्छ आदि उसके पास आनकर पूछने लगे-"मामा ! क्या कोई उपाय है ? जिससे हमारी रक्षाहो" बगला बोला-"इस सरोवरसे थोडी ही दूर बहुत जलसे युक्त कमलिनीसे शोभायमान सरोवर है, जो चौवीस वर्षकी अनावृष्टिमेभी नहीं सूखेगा सो यदि कोई मेरी पीठपर चढै तो मैं उसे वहां लेजाऊं" । तब वे वहां विश्वासको प्राप्त हुए तात, मामा, भाई इस प्रकार-बोलते हुए प्रथम मैं पहले मैं इस प्रकार उसके चारों ओर स्थित हुए । वहभी दुष्टात्मा उनको पीठपर चढाय जलाशयके थोडी दूर शिलापर आरोपणकर उसमें डाल अपनी इच्छासे भक्षण कर फिरभी जलाशयको प्राप्त होकर जलचरोंकी मिथ्या वार्ताके सन्देशोंसे मन प्रसन्न करता हुआ इस प्रकार अपनी आजीविका करता रहा । एक दिन कुलीरकने कहा- "मामा ! मेरे संग पहले तेरा स्नेह सम्भाषण हुआथा, सो क्यों मुझे छोडकर

अन्योंको लेजाता है ? सो आज मेरे प्राणोंकी रक्षा कर" । यह सुनकर वहभी दुष्टात्मा विचारने लगा । "मछलियोंके मास खानेसे मेरा जीभी उकता गयाहै, सो आज मैं इस कुलीरकको व्यञ्जनके स्थानमे करूं" । यह विचार उसको पीठपर चढाकर उस वध्यशिलाके उद्देश्य करके चला । कुलीरक भी दूरसे अस्थिपर्वत शिलाआश्रयको देखकर मत्स्योंकी अस्थि पहचानकर उससे पूछने लगा—"मामा ! वह जलाशय कितनी दूर है ? मेरे भारसे तुम अधिक थकगये हो सो कहो।" वहभी मन्दबुद्धि यह जलचर है ऐसा मानकर कि, स्थलमें यह बलवान् न होगा हँसता हुआ यह बोला—"कुलीरक ! दूसरा जलाशय नहीं है, यह मेरी प्राणयात्रा है । सो अब अपने इष्टदेवताका स्मरण करो, तुझेभी इस शिलामें डालकर मैं भक्षण करजाऊंगा" । उसके यह कहनेपर कुलीरकने अपने दोनो दांतोंसे कमलनालकी समान उसकी श्वेत मृदुग्रीवा पकडी जिससे वह मरगया, तब वह उस बगलेकी गरदनको ग्रहणकर सहज सहज उस जलाशयको प्राप्त हुआ, तब सम्पूर्ण जलाशयोंके रहनेवालोंने पूछा "भो कुलीरक ! तू किसप्रकारसे लौट आया ? वह मातुलभी न आया, सो क्यों देर करता है, हम सब बडे उत्कंठित क्षण २ मे बाट देखते स्थितहैं।" उनके ऐसा कहनेपर कुलीरक हँसकर बोला—"मूर्खो ! सम्पूर्ण जलचर उस मिथ्यावादीने ठगकर थोडीही दूर शिलातलपर पटकर खाये । सो मैं आयुशेष होनेसे उस विश्वासघातकका अभिप्राय जानकर यह उसकी गर्दन लेआयाहूं, सो अब उद्वेग मत करो । अब सब जलचरोंकी क्षेम होगी" इससे मैं कहता हूं—"बहुतसे मत्स्योंको खाकर" इत्यादि ।

वायस आह—"भद्र ! तत्कथय कथं स दुष्टसर्पो वधमुपैष्यति ?" । शृगाल आह—"गच्छतु भवान् कञ्चिन्नगरं राजाधिष्ठानम् । तत्र कस्यापि धनिनो राजामात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत् कोटरे प्रक्षिप येन । सर्पस्तद्ग्रहणेन वध्यते" । अथ तत्क्षणात् काकः काकी च तदाकर्ण्य आत्मेच्छयोत्पतितौ । ततश्च काकी किञ्चित्सरः प्राप्य यावत्पश्यति तावत् तन्मध्ये कस्यचिद्राज्ञोऽन्तःपुरं जलासन्नं न्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणं जलक्रीडां कुरुते ।

अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्थे । ततश्च कंचुकिनो वर्षधराश्च तं नीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वरमनुययुः । काकी अपि सर्पकोटरे तत् कनकसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता । अथ यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुह्य तत् कोटरमवलोकयन्ति तावत्कृष्णसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति । ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमादाय यथाभिलषितं स्थानं गताः । वायसदम्पती अपि ततः परं सुखेन वसतः । अतोऽहं ब्रवीमि–"उपायेन हि यत् कुर्य्यात" इति । तन्न किञ्चिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति । उक्तञ्च–

कौआ बोला–"भद्र ! सो कहो किसप्रकारसे वह दुष्ट सर्प वधको प्राप्त होगा?" । शृगाल बोला–"तुम किसी राजाके नगरमें जाओ, वहां किसी धनी राज अमात्यादि किसी असावधानका कनक सूत्र वा हार ग्रहण करके उसकी खखोडलमें डालदो जिससे उसके ग्रहणसेभी वह सर्प वध किया जाय" । तब उसीक्षण वे कौए और कौअन उस वचनको सुन अपनी इच्छासे उडे । सो काकी किसी सरोवरको प्राप्त होकर जबतक देखतीहै तबतक उसके मध्यमें कोई राजाके अन्तःपुरकी स्त्री जलके निकट कनक सूत्र मोती हार तथा वस्त्र रखकर जलक्रीडा करती देखी, तब वह काकी कनकसूत्रको लेकर अपने घरकी ओर चली, तब वे कंचुकी और वर्षधर उसको लेजाता देखकर लकडी ले बहुत शीघ्र उसके पीछे गये, काकी भी सर्पके खखोडलमें उस कनकसूत्रको डाल दूर स्थितहुई । सो जबतक राजपुरुष उस वृक्षमें चढकर उसकी खखोडलको देखते है, तबतक काला सांप फणफैलाये बैठा देखा, तब उसको डंडोके प्रहारसे वधकर कनकसूत्रले अपने अभिलषित स्थानको गये । वायसदम्पतीभी परम सुखसे रहने लगे, इससे मैं कहताहूं"जो उपायसे शक्य है" इत्यादि । सो बुद्धिमानोंको कुछभी असाध्य नहीं है, कहा है–

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥ २२७ ॥"

जिसको बुद्धि है, उसीको बलहै, निर्बुद्धिको बल नहीं । देखो ! वनमें मदोन्मत्त सिंह खरगोशसे मारागया ॥ २२७ ॥"

करटक आह–"कथमेतत्?" स आह–

करटक बोला–"यह कैसी कथा है?" वह बोला–

कथा ८.

कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। अथासौ वीर्य्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान् मृगशशकादीन् व्यापादयन्न उपरराम। अथान्येद्युस्तद्वनजाः सर्वे सारङ्गवराहमहिषशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य प्रोचुः–"स्वामिन्! किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव? यतस्तव एकेनापि मृगेण तृप्तिर्भवति। तत् क्रियतामस्माभिः सह समयधर्म्मः। अद्य प्रभृति तव अत्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको मृगो भक्षणार्थं समेष्यति। एवं कृते तव तावत्प्राणयात्रा क्लेशं विना अपि भविष्यति, अस्माकञ्च पुनः सर्वोच्छेदनं न स्यात्। तदेष राजधर्मोऽनुष्ठीयताम्। उक्तञ्च–

किसीएक वनमें भासुरकनाम सिंह रहताथा वह पराक्रमकी अधिकतासे अनेक मृग शशक आदिको मारताहुआ उपरामको प्राप्त न होता। तब दूसरे किसी दिन उस वनके सब जीव मृग शूकर भैंसे शशकादि मिलकर उसके निकट जाकर बोले,–"स्वामिन्! इन सब मृगोंके मारनेसे क्या लाभ है, नित्यही तुम्हारी तो एकही मृगसे तृप्ति होजाती है सो हमारे सग प्रतिज्ञा करलो। आजसे लेकर तुम्हारे यहा बैठेहुएके पास जातिक्रमसे भक्षणके निमित्त एक मृग आवेगा ऐसा करनेसे तुम्हारी प्राणयात्रा क्लेशके विना होगी और हम सबकाभी नाश न होगा सो यह राजधर्मका अनुष्ठानकरो। कहाहै–

शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम्।
रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमां व्रजेत॥ २३८॥

हे राजन्! जो शनैः २ बलके अनुसार खाताहै वह प्राज्ञ रसायनकी समान पुष्टिको प्राप्त होताहै॥ २३८॥

विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च।
प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम्॥ २३९॥

विधि और मन्त्रसे युक्त (अर्थात् सुयुक्ति विधिसे) जोतीहुई कठिन भूमि भी बहुत फलको देतीहै, जैसे अरणी अग्निको मथनेसे देतीहै ॥ २३९ ॥

प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्द्धनम् ।
पीडनं धर्मनाशाय पापायायशसे स्थितम् ॥ २४० ॥

प्रजापालन राजाओंको प्रशंसनीय है। यही स्वर्गके कोषका बढानाहै । प्रजाको पीडा देना धर्मके नाश, पाप और अकीर्तिके लिये होताहै ॥ २४० ॥

गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्धं शनैः शनैः ।
पालनात्पोषणाद्ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥ २४१ ॥

गोपालको प्रजारूपी गौका दूध शनैः २ ग्रहण करना चाहिये, पालन पोषण और न्यायकी वृत्तिसे ग्रहणकरे ॥ २४१ ॥

अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथञ्चन ॥ २४२ ॥

और जो राजा मोहसे बकरी समान प्रजाको नष्टकरताहै, उस एककोही तृप्ति होती है, दूसरेकी कदाचित् नहीं ॥ २४२ ॥

फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥

फलकी इच्छावाला राजा यत्नसे लोकोंको पालनकरे जिसप्रकार दान मानके जलसे माली अंकुरोंको बढाताहै ॥ २४३ ॥

नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि ।
आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥

दीपककी समान राजा प्रजासे धनरूपी स्नेहको ग्रहण करता हुआ अपने अन्तरमे स्थित श्रेष्ठ गुणोंके कारण किसीको लक्षित नहीं होताहै ॥ २४४ ॥

यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजाः ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥

जैसे समयपर गौ दुही जातीहै ऐसेही पालीहुई प्रजा समयपर दुही जातीहै सींचीहुई लताही समयपर पुष्प फलादि प्रदान करतीहै ॥ २४५ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥

जिस प्रकार सूक्ष्मबीजोके अंकुर यत्नोसे रक्षितहुए समयपर फल देते हैं इसी प्रकार सुरक्षित लोकभी ॥ २४६ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥ २४७ ॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, विविध यान तथा औरभी जो कुछ है वह सब राजाको प्रजासे ही प्राप्त होताहै ॥ २४७ ॥

लोकानुग्रहकर्त्तारः प्रवर्द्धन्ते नरेश्वराः।
लोकानां संक्षयाच्चैव क्षयं यान्ति न संशयः ॥ २४८ ॥"

लोकोपर अनुग्रह करनेवाले राजा वृद्धिको प्राप्त होतेहैं और लोकके क्षय करनेसे नाश होजातेहै इसमे सन्देह नही ॥ २४८ ॥"

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह–"अहो! सत्यमभिहितं भवद्भिः परं यदि ममोपविष्टस्यात्र नित्यमेव नैकः श्वापदः समागमिष्यति तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि"। अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजः तत्रैव वने निर्भयाः पर्यटन्ति। एकश्च प्रतिदिनं क्रमेण याति। वृद्धो वा वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषां मध्यात्तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमये उपतिष्ठते। अथ कदाचित् जातिक्रमाच्छशकस्य अवसरः समायातः। स समस्तमृगैः प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्दं मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्तयन् वेलातिक्रमं कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावत् मार्गे गच्छता कूपः संदृष्टः। यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्ये आत्मनः प्रतिबिम्बं ददर्श। दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितं।"यद्भव्य उपायोऽस्ति, अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुद्ध्या अस्मिन् कूपे पातयिष्यामि"। अथासौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्राप्तः। सिंहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठः कोपाविष्टः सृक्किणी परिलेलिहन् व्यचिन्तयत्। "अहो! प्रातराहाराय निःसत्वं वनं मया कर्त्तव्यम्"। एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्य

तस्य अग्रे स्थितः । अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह,—"रे शशकाधम ! एकतस्तावत् त्वं लघुः प्राप्तोऽपरतः वेलातिक्रमेण, तदस्मादपराधात् त्वां निपात्य प्रातः सकलान्यपि मृगकुलानि उच्छेदयिष्यामि" । अथ शशकः सविनयं प्रोवाच,—"स्वामिन् ! नापराधो मम,न च सत्त्वानाम्, तत् श्रूयतां कारणम्" । सिंह आह—"सत्वरं निवेदय यावत् मम दंष्ट्रान्तर्गतो न भवान् भविष्यति"इति । शशक आह—"स्वामिन्! समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः । ततश्च अहमागच्छन्नन्तराले महता केनचिदपरेण सिंहेन विवरान्निर्गत्य अभिहितः—"रे ! क्व प्रस्थिता यूयम् ? अभीष्टदेवतां स्मरत"। ततो मयाभिहितम्—"वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशे आहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः" । ततः तेन अभिहितम्—"यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्वनं मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्त्तितव्यम् । चौररूपी स भासुरकः । अथ यदि सोऽत्र राजा ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकानत्र धृत्वा तमाहूय द्रुततरमागच्छ, येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात् पराक्रमेण राजा भविष्यति स सर्वानेतान् भक्षयिष्यति" इति । ततोऽहं तेनादिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः, एतत् वेलाव्यतिक्रमकारणम् । तदत्र स्वामी प्रमाणम्" । तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—"भद्र ! यदि एवं तत् सत्वरं दर्शय मे तं चौरसिंहम्, येन अहं मृगकोपं तस्य उपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि । उक्तञ्च—

तब उनके यह वचन सुनकर भासुरक बोला—"अहो तुमने सत्य कहा, परन्तु यदि मेरे बैठेहुए नित्य एक जीव न आवेगा तो अवश्यही सबको खा जाऊंगा" । तब वे ऐसाही करेंगे यह प्रतिज्ञा करके निरुद्वेग होकर उस वनमें निर्भय फिरने लगे । प्रति दिन एक क्रमसे उनके पास जाता वृद्ध या वैराग्ययुक्त वा शोकग्रस्त वा पुत्र कलत्रके नाशसे भीतहुआ उनके मध्यसे उनके भोजनके

निमित्त मध्यान्ह समय प्राप्त होता था । तब कभी जातिके क्रमसे खरगोशकी वारी आई वह सब मृगोंसे प्रेरित हुआ इच्छा न करनेपरभी शनै २ जाता उसके मारनेके उपायको चिन्ता करता हुआ समयको विताकर व्याकुल हृदयसे जबतक जाताहै, तबतक मार्गमें जाते हुए उसने कूपदेखा । जब कूपपर गया तब उसमे अपनी परछाही देखकर उसने मनमे विचार किया कि, "यह एक उत्तम उपाय है मैं भासुरकको क्रोधित कराकर इस कूपमें गिराऊगा" तब यह कुछ दिनशेषरहे भासुरकके समीप प्राप्तहुआ । सिंहभी समयके वीतनेसे भूखसे शुष्ककंठ क्रोधमें भरा जीभको चाटता हुआ विचारता था, "अहो प्रभात ही भोजनके निमित्त यह वन निर्जीव कर दूगा" इसप्रकार उसके विचारते वह खरगोश शनै २ जाय प्रणामकर उसके आगे स्थित भया । तब प्रज्वलित आत्मा भासुरक उसे घुडकता-हुआ बोला—"रे नीच खरगोश ! एक तो तू लघु दूसरे समयको विताकर आया है इस अपराधसे तुझको मारकर सवेरे सभी मृगोका नाश करूगा" । तब खरगोश विनयपूर्वक बोला—"स्वामिन् ! इसमें न मेरा अपराध न अन्यजीवोंका है सो कारण सुनिये । सिंह बोला,—"शीघ्र निवेदन कर जबतक तू मेरी डाढोंके अन्तर्गत न होता है"। खरगोश बोला,—"स्वामिन् ! सपूर्ण मृगोंने आज जाति-क्रमसे मेरा अति लघु कलेवर जानकर पाच खरगोशोंसहित मुझे आपके पास भेजा । सो मैं आता हुआ मार्गमें एक अन्य सिंहने विवरसे निकल कर कहा,—"रे तुम कहा जातेहो ? अपने इष्टदेवताका स्मरण करो" । तब मैंने कहा—"हम स्वामी भासुरकके पास उसके भोजनको प्रतिज्ञाधर्मसे जाते हैं" उसने कहा"—जो ऐसा है तो यह वन मेरा है, मेरे साथ प्रतिज्ञासे सब जीवोको वर्तना चाहिये, चोर है वह भासुरक । और जो वह यहाका राजा है तो विश्वासके निमित्त चार खरगोशोंको यहा रखकर उसे बुलाकर बहुतशीघ्र आओ इससे हम दोनोके बीचमें जो कोई पराक्रमसे राजा होगा वही इन सबको खायगा" सो मैं उसकी आज्ञासे स्वामीके पास आया हू यह समयके उल्लंघनका कारण है सो इसमे स्वामीही प्रमाण हैं"। यह सुनकर भासुरक बोला,—"भद्र ! जो ऐसा है तो शीघ्र मुझे उस चोर सिंहको दिखाओ जिससे मैं इन मृगोके कोपको उसके ऊपर छोडकर स्वस्थ होऊ । कहा है—

भूमिर्मित्रं हिरण्यञ्च विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषां न तं कुर्यात्कथञ्चन ॥ २४९ ॥

भूमि, मित्र, सुवर्ण यह तीन विग्रहके फल हैं और जो इनमेंसे एकभी न हो तो वहां विग्रह न करे ॥ २४९ ॥

यत्र न स्यात्फलं भूरि यत्र च स्यात्पराभवः ।
न तत्र मतिमान्युद्धं समुत्पाद्य समाचरेत् ॥ २५० ॥"

जहां विशेष फल न मिले और पराभव हो, मतिमान्को चाहिये कि, वहां युद्ध न करे ॥ २५० ॥"

शशक आह-"स्वामिन् ! सत्यमिदम, स्वभूमिहेतोः परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः, परं स दुर्गाश्रयः, दुर्गान्निष्क्रम्य वयं तेन विष्कम्भिताः । ततो दुर्गस्थो दुःसाध्यो भवति रिपुः । उक्तञ्च-

खरगोश बोला,-"स्वामिन् ! यह सत्य है, अपनी भूमिके हेतु परिभवसे क्षत्रिय युद्ध करते हैं, परन्तु वह दुर्गमें रहता है, दुर्गमेंसे निकलकर उसने हमको रोक-लिया, इससे दुर्गमें स्थित शत्रु दुस्साध्य होता है । कहाहै कि-

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
यत्कृत्यं साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन सिध्यति ॥ २५१ ॥

जो कार्य सहस्र हाथी, लक्ष घोडोंसे सिद्ध नही होता है, वह एक दुर्गसे राजाओंका कार्य सिद्ध होताहै ॥ २५१ ॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः ॥ २५२ ॥

किलेमें स्थित एक धनुषधारी सौसे युद्ध करसकता है, इस कारण नीति-शास्त्रके जाननेवाले दुर्गकी प्रसंशा करते है ॥ २५२ ॥

पुरा गुरोः समादेशाद्धिरण्यकशिपोर्भयात् ।
शक्रेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्विश्वकर्मणः ॥ २५३ ॥

प्रथम गुरुकी आज्ञासे हिरण्यकशिपुके भयसे इन्द्रने विश्वकर्माकी सहायतासे दुर्ग निर्माण कियाथा ॥ २५३ ॥

तेनापि च वरो दत्तो यस्य दुर्गं स भूपतिः ।
विजयी स्यात्ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः सहस्रशः ॥ २५४ ॥

और उसनेभी यह वर दिया था कि, जिसके दुर्ग होगा वही राजा विजयी होगा इस कारण पृथ्वीमें सैंकडों दुर्ग होगये ॥ २५४ ॥

दंष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ २५५ ॥"

जैसे डाढोंसे रहित सर्प, मदसे हीन हाथी इसी प्रकार दुर्गहीन राजा शीघ्र अन्योंके वशमें होजाता है ॥ २५५ ॥"

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह–"भद्र ! दुर्गस्थमपि दर्शय तं चौरसिंहं येन व्यापादयामि । उक्तञ्च–

यह सुनकर भासुरक बोला,–"भद्र ! किलेमें स्थितभी उस चोर सिंहको दिखाओ जिससे मैं उसे मारडालूं । कहा है–

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगञ्च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

जो उत्पन्न होतेही शत्रु और रोगको अपने वशमें नहीं करता है, वह महाबली हो तथापि उसके साथ वृद्धिको प्राप्तहोकर हनन करता है ॥ २५६ ॥

तथाच–

औरभी कहा है–

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥ २५७ ॥

हितकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उठे हुए शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, श्रेष्ठ पुरुषोंने वृद्धिको प्राप्त होते हुए शत्रु और रोग समान कहे हैं ॥ २५७ ॥

अपिच–

और देखो–

उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः
प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसौ
असाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥ २५८ ॥

उपेक्षा करनेसे क्षीणबलवालाभी शत्रु मदान्ध पुरुषोंके प्रमाददोषोंसे प्रथम साध्य होकर भी पीछे व्याधिकी समान असाध्य होजाताहै॥ २५८ ॥

तथाच–

तैसेही–

आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य मानोत्साहञ्च यो व्रजेत ।
बहून् हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा ॥२५९॥"

जो अपनी शक्तिको देखकर मान और उत्साहको प्राप्त होता है, वह एकभी बहुतोंको मार सकता है, जैसे क्षत्रियोंको परशुराम ॥ २५९ ॥"

शशक आह–"अस्त्येतत्तथापि बलवान् स मया दृष्टः तत् न युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वा गन्तुम् । उक्तश्च–

शशक बोला–"यह तो है, परन्तु तौभी वह मैंने बलवान् जाना है, विना उसकी सामर्थ्य देखे स्वामीको वहां जाना उचित नहीं है । कहाहै–

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत ॥ २६० ॥

जो अपनी और दूसरेकी शक्तिके विना जाने समुत्सुक होकर सन्मुख जाता है वह अग्निमें पतंगकी समान जाकर नष्ट होता है ॥ २६० ॥

यो बलात्प्रोन्नतं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम् ।
विमदः स निवर्त्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥"

जो सबलभी बलसे प्रबल शत्रुके मारनेको जाता है वह विमद होकर दांत टूटे हाथीकी समान निवृत्त होता है ॥ २६१ ॥"

भासुरक आह–"भोः ! किं तव अनेन व्यापारेण, दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि" । अथ शशक आह–"यद्येवं तर्हि आगच्छतु स्वामी" । एवमुक्त्वा अग्रे व्यवस्थितः । ततश्च तेन आगच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत् तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह– "स्वामिन् ! कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः । त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गम्, तदागच्छ येन दर्शयामि" इति। भासुरक आह–"दर्शय मे दुर्गम्" । तदनु दर्शितस्तेन कूपः । ततः सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्ये आत्मप्रतिबिम्बं जलम-

ध्यगतं दृष्ट्वा सिंहनादं मुमोच । ततः प्रतिशब्देन कूपमध्याद्विगुणतरो नादः समुत्थितः। अथ तेन तं शत्रुं मत्वा आत्मानं तस्य उपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः । शशकोऽपि हृष्टमनाः सर्वमृगान् आनन्द्य तैः सह प्रशस्यमानो यथासुखं तत्र वने निवसति स्म । अतोऽहं ब्रवीमि--"यस्य बुद्धिर्बलं तस्य" इति ।

भासुरक बोला,—"भो! तुझे इस बातसे क्या उस किलेमे स्थितभी उसे मुझे दिखा" । तब शशक बोला,—"जो ऐसा है तो आओ स्वामी" यह कहकर आगे चला । तब उसने आतेमें जो कूप देखा था उसी कूपको प्राप्त होकर वह भासुरकसे बोला,—"स्वामिन्! आपका प्रताप कौन सह सक्ता है । तुमको देखकर दूरसेही वह चोर सिंह अपने दुर्गमें प्रविष्ट हुआ है सो आओ मैं दिखाऊं" भासुरक बोला,—"मुझे वह दुर्ग दिखाओ" तब इसने वह कूप दिखलाया। तब वहभी मूर्ख सिंह अपने प्रतिबिम्बको कूपमें स्थित देख सिंहनाद करता भया उसकी प्रतिध्वनिसे कुएसे दूना नाद उठा । उससे वह उसको शत्रु मानकर अपनेको उसके ऊपर डालकर प्राण छोडता भया । खरगोशभी प्रसन्न मनहो सब मृगोको आनंदित कर उनके साथ प्रशंसितहो यथासुखसे उस वनमे रहने लगा। इससे मैं कहताहू "जिसको बुद्धि है उसको बल है."

तद्यदि भवान् कथयति, तत्तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धिप्रभावेण मैत्रीभेदं करोमि" । करटक आह--"भद्र! यदि एवं तर्हि गच्छ, शिवास्ते पन्थानः सन्तु, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्" । अथ दमनकः सञ्जीवकवियुक्तं पिंगलकमवलोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याग्रे समुपविष्टः । पिंगलकोऽपि तमाह--"भद्र ! किं चिरात् दृष्टः?" दमनक आह--"न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तेन अहं नागच्छामि । तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य सन्दह्यमानहृदयो व्याकुलतया स्वयमेव अभ्यागतो वक्तुम् । उक्तञ्च—

सो यदि आप कहैं तो वहा जाकर उनका अपनी बुद्धिके प्रभावसे मैत्रीभेद करू" । करटक बोला,—"भद्र! जो ऐसा है तो जाओ, तुम्हारे मार्ग

मंगलकारी हों, अभिलषित अनुष्ठान करो" । तब दमनक संजीवकसे अलग पिंगलकको देखकर उसी समय प्रणामकर आगे बैठा, पिंगलक उससे बोला,— "भद्र ! बहुत दिनोंमें क्यों दीखे ?" दमनक बोला,—"श्रीमान्के चरणोंका हमसे कुछभी प्रयोजन नहीं है, इससे मैं नहीं आताहूं । तथापि राजप्रयोजनका नाश देखकर संदिग्ध हृदय हो व्याकुलतासे स्वयं ही कहनेको आयाहूं । कहा है—

प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाशुभम् ।
अपृष्टोऽपि हितं वक्ष्येद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ २६२ ॥"

प्यारा वा द्वेषी शुभ या अशुभ विना पूछे हितू उससे कहै जिसके पराभवकी इच्छा नहो ॥ २६२ ॥"

अथ तस्य साभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिंगलक आह—"किं वक्तुमना भवान् ? तत्कथ्यतां यत्कथनीयमस्ति" स प्राह— "देव ! सञ्जीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धिरिति विश्वासगतस्य मम विजने इदमाह—"भो दमनक ! दृष्टा मया अस्य पिंगलकस्य सारासारता तदहमेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वितं करिष्यामि" इति। पिंगलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृशं दारुणं वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किञ्चिदपि उक्तवान् दमनकोऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान् । "अयं तावत्सञ्जीवकनिबद्धरागः तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाशमवाप्स्यतीति । उक्तञ्च-

तब उसके अभिप्राय सहित वचनोंको सुनकर पिंगलक बोला,—"तुम क्या कहना चाहते हो?, सो जो कथनीय हो सो कहो"। वह बोला,—"देव ! संजीवक आपके चरणोंमें द्रोहबुद्धि रखता है, यह उसने मेरेकूं विश्वाससे एकान्तमें कहा है— "भो दमनक ! मैने इस पिंगलक राजाकी सारासारता देखी सो मैं इसको मारकर सब मृगोंका आधिपत्य तुझे मंत्रीपद देकर करूंगा" । पिंगलकभी वह वज्रसारके प्रहारकी समान दारुण वचनको सुनकर मोहको प्राप्त होकर कुछभी न कहता भया, दमनक उसके आकारको देख विचारने लगा। "यह तो संजीवकमें अनुरागी है, सो अवश्य इस मंत्रीसे राजा नाशको प्राप्त होगा। कहाभी है—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाद्दास्येन निर्विद्यते।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वपि द्रुह्यते ॥२६३॥

जिस समय राजा एकही मन्त्रीको राज्यमे प्रमाण करता है, तब उसको मोहसे मद प्राप्त होता है, वह मदसे दास्यतासे निर्वेदताको प्राप्त होता है, निर्वेदताको प्राप्त हुए मनुष्योंके हृदयमें स्वतन्त्रताकी इच्छा प्रवेश करती है और इस इच्छासे मन्त्री राजाको प्राणोंसेभी अलग कर देता ॥ २६३ ॥

तत् किमत्र युक्तम्" इति। पिंगलकोऽपि चेतनां समासाद्य कथमपि तमाह--"दमनक! सञ्जीवकस्तावत् प्राणसमो भृत्यः स कथं ममोपरि द्रोहबुद्धिं करोति?"। दमनक आह--"देव! भृत्यो भृत्य इति अनैकान्तिकमेतत्। उक्तञ्च--

सो यहा क्या युक्त है"। पिंगलकभी चेतनाको प्राप्त होकर उससे बोला - "दमनक! सञ्जीवक तो मेरा प्राणोंकी समान प्रिय भृत्य है वह किस प्रकार मेरे ऊपर दुष्टबुद्धि होगा?"। दमनक बोला—"देव भृत्य सदा भृत्य नहीं हो सकता। कहा है—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम्।
अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्रं पर्युपासते ॥ २६४ ॥"

राजाके यहा वह पुरुष नहीं है जो लक्ष्मीकी इच्छा न करे सर्वत्र अशक्त होकर पुरुष राजाकी उपासना करते है ॥ २६४ ॥"

पिंगलक आह--"भद्र! तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न विकृतिं याति। अथवा साधु चेदमुच्यते—

पिंगलक बोला,—"भद्र! तोभी मेरी उसके ऊपर चित्तवृत्ति विकारको नहीं प्राप्त होती। अथवा ठीक कहा है--

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ २६५ ॥"

अनेक दोषोंसे दूषित होकरभी अपना शरीर किसको प्यारा नहीं है जो अपने संग अनुचित वर्ताव करके प्रिय हो वही प्रिय है॥ २६५ ॥"

दमनक आह—"अत एव अयं दोषः । उक्तञ्च—

दमनक बोला,—"इसीसे तो यह दोष है । कहाभी है—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।
अकुलीनः कुलीनो वा स श्रियो भाजनं नरः ॥ २६६ ॥

राजा जिसके ऊपर अधिक कृपादृष्टि करता है अकुलीन हो वा कुलीन वह मनुष्य लक्ष्मीका भागी होता है ॥ २६६ ॥

अपरं केन गुणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे धारयति?। अथ देव ! यदि एवं चिन्तयसि महाकायो यमनेन रिपून् व्यापादयिष्यामि, तदस्मात् न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी, देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाशिनः । तत् रिपुसाधनमस्य साहाय्येन न भवति । तस्मादेनं दूषयित्वा हन्यताम्" इति । पिंगलक आह--

इस कारण कौनसे गुणसे स्वामी निर्गुण संजीवकको अपने निकट धारण करते हो? सो देव ! यदि ऐसा विचारते हो कि,यह महाकायवान् है इसके द्वारा शत्रुओंको मारूंगा सोभी इससे सिद्ध नहीं होता कारण कि, यह घासभक्षी और श्रीमान्के चरणशत्रु मांसभक्षी हैं सो इसकी सहायतासे शत्रु साधन नहीं हो सकता है सो इसको दूषित कर मारिये" । पिंगलक बोला—

"उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि ।
तस्य दोषो न वक्तव्यः प्रतिज्ञाभंगभीरुणा ॥ २६७ ॥

"यह गुणवान् है सभामे जिसके लिये ऐसा कहा है प्रतिज्ञाके भंगसे डरनेवालेको उसके दोष कहने उचित नहीं हैं ॥ २६७ ॥

अन्यच्च—

और भी—

मया अस्य तव वचनेन अभयप्रदानं दत्तम् । तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि । सर्वथा सञ्जीवकोऽयं सुहृदस्माकं न तं प्रति कश्चित् मन्युरिति । उक्तञ्च—

मैंने तो तेरे वचनसे इसको अभय दिया है फिर कैसे स्वयं इसको मारूं। सब प्रकार यह संजीवक सुहृत् है हमारा कुछभी उस पर क्रोध नहीं है। कहा है कि—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ २६८ ॥

(तारकासुरसे पीडित उसके वधार्थी देवताओं प्रति ब्रह्माका वचन है) कि, वह दैत्य मुझसे ऐश्वर्य प्राप्त कर चुका है वधके योग्य नहीं है कारण कि, स्वय बढाया हुआ विषवृक्षभी (आप) नही काटाजाता ॥ २६८ ॥

आदौ न वा प्रणयिनां प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः।
उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जां
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥ २६९ ॥

प्रथम तो प्रणयिजनोंको प्रणय (प्रेम) नहीं करना चाहिये और करे तो फिर प्रतिदिन उसका पालन करे जो करके छोडा जाता है वह लज्जा करताहै कारण कि, पृथ्वीमे स्थितको गिरनेका भय नहीं है ॥ २६९ ॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ २७० ॥

जो उपकारियोंका भला करता है उसके उपकारीपनमें क्या गुणहै जो अपकारियोमें साधु है सत्पुरुषोने उसीको साधु कहा है ॥ २७० ॥

तद्द्रोहबुद्धेरपि मया अस्य न विरुद्धमाचरणीयम्'' । दमनक आह-''स्वामिन् ! नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धेरपि क्षम्यते । उक्तञ्च-

सो इस द्रोहबुद्धिपरभी मैं विरुद्ध आचरण नहीं करूंगा'' । दमनक बोला,-''स्वामिन् ! यह राजधर्म नहीं है कि, द्रोहबुद्धिको क्षमा किया जाय। कहाभी है-

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम्।
अर्द्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥ २७१ ॥

तुल्यधन, तुल्य सामर्थ्य, मर्म जाननेवाले उद्योगी अर्धराज हरनेवाले भृत्यको जो नहीं मारताहै वह मारा जाता है ॥ २७१ ॥

अपरं त्वया अस्य सखित्वात् सर्वोऽपि राजधर्मः परित्यक्तो राजधर्माभावात सर्वोऽपि परिजनो विरक्तिं गतो यः

सञ्जीवकः शष्पभोजी, भवान् मांसादः तव प्रकृतयश्च । यत्तव अवध्यव्यवसायबाह्यं कुतस्तासां मांसाशनम् । यद्रहितास्ताः त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति । ततोऽपि त्वं विनष्ट एव अस्य सङ्गत्या पुनस्ते न कदाचित् आखेटके मतिर्भविष्यति । उक्तञ्च—

और आपने तो इसकी मित्रतासे सम्पूर्ण ही राजधर्म त्यागन करदियाहै । राजधर्मके अभावसे सम्पूर्ण परिजन विरक्त होकर गये, जो यह संजीवक तृणभोजी आप मांसभक्षी और आपके प्रकृति (कुटुम्ब) भी, जो कि अब मांस भक्षण तुम्हारे पराक्रमसे बाह्य होगयीं (तुम उद्योग नहीं करतेहो) तो फिर वह मांस कहासे खायँगे इसकारण वे तुमको त्यागन कर चलेजायँगे । इसीसे तुम विनष्ट होगे । इसकी संगतिसे तुम्हारी आखेटमें कभी बुद्धि नहीं होगी । कहाहै—

यादृशः सेव्यते भृत्यैर्यादृशांश्चोपसेवते ।
कदाचिन्नात्र सन्देहस्तादृग्भवति पूरुषः ॥ २७२ ॥

जब जो जैसे भृत्योंसे सेवन किया जाता है वा जो जैसोंको सेवन करता है इसमें सन्देह नहीं वह पुरुष वैसाही होजाताहै ॥ २७२ ॥

तथाच—

वैसेही—

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥ २७३ ॥

तपेहुए लोहेपर पडेहुए जलका नाममात्रभी नहीं विदित होता है और वही कमलपत्रके ऊपर मोतीके आकारमें स्थितहुआ शोभा पाता है, स्वातिनक्षत्रमें सागरमें सीपीमें प्रवेशकर वही मोती होजाता है, प्रायः संगतिसे अधम, मध्यम, उत्तम गुण होजाते हैं ॥ २७३ ॥

तथाच—

और देखो—

असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥ २७४ ॥

असत् पुरुषोंकी संगतिके दोषसे महात्माभी विकारको प्राप्त होते हैं, दुर्योधनकी संगतिसे भीष्म गोहरनेको गयेथे ॥ २७४ ॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति। उक्तञ्च–

इसीकारण महात्मा नीच संगति नहीं करते हैं। कहा है–

"न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः।
मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी ॥ २७५ ॥"

जिसका शीलस्वभाव न जाना हो उसे आश्रय नदे खटमलके दोषसे मन्दविसर्पिणी मारीगई ॥ २७५ ॥"

पिंगलक आह–"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत्–

पिंगलक बोला,–"यह कैसी कथा है?" वह बोला–

कथा ९.

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कस्मिंश्चित् स्थाने मनोरमं शयनस्थानम्। तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म। सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति। अन्येद्युश्च तत्र शयने क्वचिद्भ्राम्यन् अग्निमुखोनाम मत्कुणः समायातः। अथ तं दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच–"भो अग्निमुख! कुतस्त्वमत्र अनुचितस्थाने समायातः? तद्यावत् न कश्चिद्वेत्ति तावच्छीघ्रं गम्यताम्" इति। स आह–"भगवति! गृहागतस्य असाधोरपि नैतद्युज्यते वक्तुम्। उक्तञ्च–

किसी राजाके किसी स्थानमें मनोहर शयनस्थानहै वहां अत्यन्त शुक्ल वस्त्रमें मंदविसर्पिणी नाम श्वेत जूं रहती थी वह उस राजाका रुधिरपान करती हुई सुखसे समय बितातीथी। दूसरे दिनमें उस शयनपर भ्रमता हुआ अग्निमुखनाम खटमल आया। उसे देखकर दुःखी हुई वह जू बोली,–"भो अग्निमुख! तुम कैसे अनुचित स्थानमें आये हो? सो जबतक कोई नहीं जाने, तबतक

१ देखो विराटपर्व।

शीघ्र जाओ" । वह बोला,–"भगवति ! घरमें आये असाधुसेभी कोई ऐसा नहीं कहताहै । कहाहै–

एह्यागच्छ समाश्वसासनमिदं कस्माच्चिराद्दृश्यसे
का वार्त्ताऽन्वतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।
एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्त्तैर्लघुः स्वर्गदः ॥२७६॥

यहां आओ, यह सुन्दर आसनहै, बहुत दिनोंमे देखा, कहां थे, क्या बात है, बहुत कमजोर होगये, कुशल है ? हम आपके दर्शनसे प्रसन्नहुए, इस प्रकार सत्पुरुष नीचके प्राप्त होनेमें भी कहा करते हैं यह गृहस्थी स्मृतिकारोंका स्वर्ग देनेवाला सामान्य धर्म है ॥ २७६ ॥

अपरं मया अनेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराणि आस्वादितानि आहारदोषात् कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वादानि न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम् । तद्यदि त्वं प्रसादं करोषि तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जनान्नपानचोष्यलेह्यस्वाद्वाहारवशादस्य शरीरे यत् मिष्टं रक्तं सञ्जातं तदास्वादनेन सौख्यं सम्पादयामि जिह्वया इति । उक्तञ्च–

मैने अनेक मनुष्योंके अनेक विधि रुधिर आस्वादन किये हैं । आहार दोषसे कटु, तिक्त, कषैले अम्ल रसका आस्वाद देखा, परन्तु मैंने कभी मधुर रसका आस्वादन नहीं किया । सो यदि तू प्रसन्नता करे तो इस राजाके विविध अन्नपान चोष्य लेह्य स्वादु आहारके वशसे इसके शरीरमें जो मीठा रस है उसके आस्वादनसे जिह्वाका सौख्य सम्पादन करूंगा । कहाहै–

रङ्कस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं समं स्मृतम् ।
तन्मात्रञ्च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥ २७७ ॥

रंक (कंगाल) और राजाको जिह्वाका सौख्य समान काहा है, जिसके निमित्त मनुष्य यत्न करता है वही इसमे सार है ॥ २७७ ॥

यद्येवं न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।
तन्न भृत्यो भवेत्कश्चित्कस्यचिद्वशगोऽथवा ॥ २७८ ॥

जो जिह्वाकी तुष्टि देनेवाला कर्म लोकमे नहो तो कोई किसीका भृत्य वा वशीभूत न होता ॥ २७८ ॥

यदसत्यं वदेन्मर्त्यो यद्वासेव्यश्च सेवते ।
यद्गच्छति विदेशञ्च तत्सर्वमुदरार्थतः ॥ २७९ ॥

जो मनुष्य असत्य कहता है वा असेव्यको सेवन करता है वा जो विदेशको जाता है वह सब उदरहीके निमित है ॥ २७९ ॥

तत् मया गृहागतेन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद्भोजनमर्थनीयं तत्र त्वया एकाकिन्या अस्य भूपतेः रक्तभोजनं कर्त्तुं युज्यते"। तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिणी आह-"भो मत्कुण ! अहमस्य नृपतेर्निद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि, पुनस्त्वम् अग्निमुखः चपलश्च, तत् यदि मया सह रक्तपानं करोषि तत्तिष्ठ। अभीष्टतरं रक्तमास्वादय"। सोऽब्रवीत्,-"भगवति ! एवं करिष्यामि, यावत्त्वं न आस्वादयसि प्रथमं नृपरक्तं तावत् मम देवगुरुकृतः शपथः स्याद् यदि तत् आस्वादयामि"। एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुतः। अथ असौ मत्कुणो जिह्वालौल्यप्रकृष्टौत्सुक्यात् जाग्रतमपि तं महीपतिमदशत्। अथवा साधु चेदमुच्यते-

सो घरमें आये हुए भूखसे पीडित मुझे आपसे केवल भोजनकी इच्छा है, सो इकलेही तुमको इस राजाका रक्त भोजन करना मुनासिव नहीं है"। यह सुनकर मन्दविसर्पिणी बोली,-"भो खटमल ! मैं निद्राको प्राप्त हुए इस राजाका रक्तपान करती हू तू अग्निमुख और चपल है, सो यदि मेरे साथ रक्तपान करेगा तो स्थितहो, यथेष्ट रक्तको आस्वादन करना"। वह बोला-"भगवति ! ऐसाही करूगा, जबतक तू पहले राजाका रक्त नहीं आस्वादन करेगी, तबतक मुझे देव गुरुकी शपथ है, यदि मै आस्वादन करू"। इस प्रकार उन दोनोके परस्पर कहनेमें वह राजा खाटपर आनकर सोगया। तब यह खटमल जिह्वाकी चचलता और बडी उत्कठासे जागते ही हुए उस राजाको काटता भया। अथवा सत्य कहा है-

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्त्तुमन्यथा ।
सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम् ॥ २८० ॥

उपदेशसेही कोई किसीका स्वभाव अन्यथा नहीं कर सकता है तपाया हुआभी पानी फिर शीतल होजाता है ॥ २८० ॥

यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः ।
न स्वभावोऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्त्तुमन्यथा ॥ २८१ ॥

चाहें अग्नि शीतल होजाय, चन्द्रमा जलाने लगे, तथापि मनुष्योंका स्वभाव कोई अन्यथा नहीं कर सकता है ॥ २८१ ॥

अथ असौ महीपतिः सूच्यग्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा तत्क्षणादेव उत्थितः । "अहो ! ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा नूनं तिष्ठति येन अहं दष्ट इति" । अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा सूक्ष्मदृष्ट्या वीक्षांचक्रुः । अत्रान्तरे स मत्कुणः चापल्यात् खट्वान्तं प्रविष्टः सा मन्दविसर्पिणी अपि वस्त्रसन्ध्यन्तर्गता तैर्दृष्टा व्यापादिता च । अतोऽहं ब्रवीमि, "न ह्यविज्ञातशीलस्य" इति । एवं ज्ञात्वा त्वया एष वध्यः । नो चेत् त्वां व्यापादयिष्यति । उक्तञ्च–

तब यह राजा सूचीके अग्र भागकी समान विद्ध हुआ खाट छोडकर उसी समय उठबैठा । "अहो ! देखो तो इस चादरमें खटमल वा लीं जूं अवश्य है जिसने मुझे काटलिया" । तब जो कंचुकी वहां स्थित थे वह बहुत शीघ्र चादरको ले सूक्ष्म दृष्टिसे देखने लगे । इसी समय वह खटमल चपलतासे खाटके नीचे गया और मन्दविसर्पिणी वस्त्रकी सलवटमें बैठी हुई उन्होने देखी और मारडाली, इससे मैं कहता हूं " जिसका शील स्वभाव न देखाहो उसे न टिकावे" । ऐसा जानकर तुम्हें इसको मारना ही उचित है, नहीं तो यह आपको मार डालेगा । कहा है–

त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः ।
स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः ॥ २८२ ॥"

जिसने आभ्यन्तर जनोको त्याग दियाहै और बाहरी जनोंको अन्तरगमे लिया है वह ककुद्द्रुम राजाकी तरह नाश होजाता है॥ २८२॥"

पिङ्गलक आह-"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत्-

पिंगलक बोला,-"यह कैसी कथा?" वह बोला-

कथा १०.

कस्मिंश्चित् वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति-स्म। स कदाचित् क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यात् नगरान्तरे प्रविष्टः। अथ तं नगरवासिनः सारमेया अवलोक्य सर्वतः शब्दायमानाः परिधाव्य तीक्ष्णदंष्ट्राग्रैर्भक्षितुमारब्धाः। सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राणभयात् प्रत्यासन्नरजकगृहं प्रविष्टः। तत्र च नीलीरसपरिपूर्णमहाभाण्डं सज्जीकृतमासीत्। तत्र सारमेयैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतितः। अथ यावत् निष्क्रान्त-स्तावन्नीलीवर्णः सञ्जातः। तत्र अपरे सारमेयास्तं शृगाल-मजानन्तो यथाभीष्टदिशं जग्मुः चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेश-मासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे न च नीलवर्णेन कदाचित् निजरङ्गस्त्यज्यते। उक्तञ्च-

किसी वनके निकट चण्डरव नामवाला शृगाल रहताथा वह कभी भूखसे व्याकुल हुआ जिह्वाके लालचसे नगरान्तरमें प्रविष्ट भया। तब उसे नगरके रहने-वाले कुत्ते देख सब ओरसे भोंकते हुए दौडे और तीक्ष्ण डाढोंसे खाने लगे। वहभी उनसे काटा हुआ प्राणभयसे निकटके धोबीके घरमें घुसगया वहा नीलके रससे पूर्ण महापात्र (नाद) तयार रक्खीथी। सो कुत्तोंसे आक्रात हुआ उस भाण्डमें गिरपडा। जब उसमेंसे निकला तो नीला होगया तब कुत्ते उसको गीदड न जानकर यथेष्ट चले गये। चण्डरवभी दूरदेशको प्राप्तहो वनके सन्मुख चला, नीलवर्ण कभी त्यागा नहीं जाता है। कहाहै-

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोर्यथा॥ २८३॥

वज्रलेप मूर्ख, नारी और कर्कट (कुलीरक) और मछली इनका नील और मद्यपान करनेवालेकी समान एकही आग्रह है (वज्र लेपकी कदाचित् मुक्ति

होजाय-परन्तु कर्कटमीनके दांतसे ग्रहण करनेसे तथा नीलवर्णके संगमें मुक्ति कठिन है) ॥ २८३ ॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य-सर्वे सिंहव्याघ्रद्वीपिवृकप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुलितचित्ताः समन्तात् पलायनक्रियां कुर्वन्ति, कथयन्ति च "न ज्ञायतेऽस्य-कीदृग्विचेष्टितं पौरुषञ्च । तद्दूरतरं गच्छामः उक्तञ्च-

तब उसको शिवजीके गलेकी विषकी समान कान्तिमान् अपूर्व जीव देखकर सब सिंह व्याघ्र गेंडे वनवासी भयसे व्याकुल हो सब ओरसे पलायन करने लगे और कहने लगे,-"नहीं जानते इसकी कैसी चेष्टा और पराक्रम है सो दूरचलें । कहाहै-

न यस्य चेष्टितं विद्यान्न कुलं न पराक्रमम् ।
न तस्य विश्वसेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥ २८४ ॥

जिसके चेष्टा कुल पराक्रमको न जाने यदि अपना मंगल चाहे तो बुद्धिमान् उसका विश्वास न करे ॥ २८४॥

चण्डरवोऽपि तान भयव्याकुलितान् विज्ञाय इदमाह-"भोः भोः श्वापदाः ! किं यूयं मां दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ ? तन्न भेतव्यम्, अहं ब्रह्मणा अद्य स्वयमेव सृष्ट्वाभिहितः-"यत् श्वापदानां मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति, तत्त्वं मया अद्य सर्वश्वापदप्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिधस्ततो गत्वा क्षितितले तान् सर्वान् परिपालय" इति-ततोऽहमत्रागतः । तन्मम छत्रच्छायायां सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम् । अहं ककुद्द्रुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः" । तच्छ्रुत्वा सिंहव्याघ्रपुरःसराः श्वापदाः-"स्वामिन् ! प्रभो ! समादिश" इति वदन्तस्तं परिवव्रुः । अथ तेन सिंहस्य अमात्यपदवी प्रदत्ता, व्याघ्रस्य शय्यापालत्वं, द्वीपिनः ताम्बूलाधिकारो, वृकस्य द्वारपालकत्वम्, ये च आत्मीयाः शृगालाः तैः सह आलापमात्रमपि न करोति । शृगालाः सर्वेऽपि अर्द्धचन्द्रं

दत्त्वा निःसारिताः । एवं तस्य राज्यक्रियायां वर्त्तमानस्य ते सिंहादयो मृगान् व्यापाद्य तत्पुरतः प्रक्षिपन्ति । सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषां तान् प्रविभज्य प्रयच्छति । एवं गच्छति काले कदाचित् तेन सभागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि । तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुः आनन्दाश्रुपरिपूर्णनयनः उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान् । अथ ते सिंहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य शृगालोऽयमिति मत्वा सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः–"भो वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन तद्वध्यताम्" इति । सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छन् तत्र स्थाने एव सिंहादिभिः खण्डशः कृतो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि "त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन" इति ।

चण्डरवभी उनको भयसे व्याकुल जानकर यह बोला–"भो भो जीवो ! क्यों तुम मुझे देखकर सब ओरको भागे जाते हो ? सो मतडरो, ब्रह्माने आज स्वयही मुझको निर्माणकर कहा है कि,–"श्वापदोंके मध्यमें कोई राजा नहीं है, सो तुझे मैंने आज सब जीवोंके आधिपत्यमें अभिषिक्त किया है, ककुद्द्रुम तेरा नाम है, सो जाकर पृथ्वीपर सबकी पालना करना," इस कारण मैं आया हूं, सो मेरी छत्र छायामें सम्पूर्ण वनके जीवोंको वर्तना चाहिये । मैं ककुद्द्रुम राजा त्रिलोकीका अधिपतिहूं" । यह सुन सिंह व्याघ्रादिजीव स्वामिन् ! प्रभो ! आज्ञादो ऐसा सब ओरसे कहने लगे । तब उसने सिंहको अमात्य पदवी दी, व्याघ्रको शय्यापालक, गैंडेको ताम्बूलाधिकारी, भेडियेको द्वारपालकत्व दिया और जो अपनी जातिके शृगाल थे उनसे वार्ताभी नहीं करता, सब शृगाल गलवाही देकर निकाले गये, इस प्रकार उसके राजक्रियामें वर्तमान होनेसे वे सिंहादिक मृगोंको मारकर उसके आगे फेंकतेथे और वहभी प्रभुधर्मसे उन सबको विभाग कर उनके आगे डालता । इस प्रकार समय बीतनेपर कभी उसने आये हुए दूर देशमे शब्द करनेवाले शृगालसमूहका शब्द सुना । उस शब्दको सुन पुलकित शरीर अश्रुपूर्णनेत्र होकर उठ ऊचे स्वरसे शब्द करना आरभकिया । तब वे सिंहादिक उसके उच्च स्वरको जानकर "अरे ! यह शृगाल है" ऐसा

जानकर लज्जासे नीचा मुखकर एकक्षण स्थित हो परस्पर बोले,–"भो ! इस क्षुद्र शृगालने हमको ठगलिया, सो इसे मार डालो," वह भी यह वचन सुन भागनेकी इच्छा करता हुआ उस स्थानमें सिंहादिसे टुकडे किया हुआ मरगया" इससे मैं कहता हूं "जिसने आभ्यन्तर त्याग दिये है इत्यादि"

तदाकर्ण्य पिंगलक आह–"भो दमनक ! कः प्रत्ययोऽत्र विषये यत् स ममोपरि दुष्टबुद्धिः" । स आह,–"यदद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत्प्रभाते पिंगलकं वधिष्यामि तदत्रैव प्रत्ययः । प्रभातेऽवसरवेलायाम् आरक्तमुखनयनः स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन अनुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्त्तव्यम्" इति । कथयित्वा सञ्जीवकसकाशं गतः । तं प्रणम्य उपविष्टः, सञ्जीवकोऽपि सोद्वेगाकारं मन्दगत्या समायान्तं तमुद्वीक्ष्य सादरतरमुवाच,–"भो मित्र ! स्वागतम्, चिराद्दृष्टोऽसि, अपि शिवं भवतः ? तत्कथय येनादेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि । उक्तञ्च–

यह सुनकर पिंगलक बोला,–"भो दमनक ! इसमें क्या प्रमाण है कि, वह मेरे ऊपर दुष्टबुद्धि है" वह बोला–"कि आजही मेरे आगे उसने निश्चय किया है कि, प्रातःकाल पिंगलकको मारूंगा, यही इसमें प्रमाण है । प्रातःकाल आपके पास आनेके समयमें लाल मुख नेत्र किये स्फुरायमान अधर इधर उधर देखता अनुचित स्थानमे बैठा तुमको क्रूर दृष्टिसे देखेगा । ऐसा जानकर जो उचित हो सो करो" यह कह सजीवकके निकट गया, उसको प्रणाम कर बैठा । संजीवकभी उद्वेगके आकार मन्दगतिसे आते हुए उसको देख आदरसे बोला,–"भो मित्र ! तुमको चिरकालमें देखा कुशल तो हो ? सो कहो जिससे अदेय वस्तुभी तुम घरमें आये हुएके निमित्त प्रदान करूं । कहाहै–

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले ।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्य्यार्थं सुहृदो जनाः ॥ २८९ ॥"

वे धन्य, वेही विवेकज्ञ, सभ्य इस भूतलमें है जिनके यहां कार्यार्थी सुहृद जन नित्य आते हैं ॥ २८९ ॥"

दमनक आह-"भोः! कथं शिवं सेवकजनस्य।

दमनक बोला-"भो सेवक जनोको कुशल कहा।

सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृतम्।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः॥ २८६॥

सम्पत्ति पराये आधीन, चित्त अशान्त, अपने जीनेमेंभी उनको अविश्वास रहता है जो राजसेवक हैं॥ २८६॥

तथाच-

औरभी-

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्॥ २८७॥

सेवासे धनकी इच्छा करनेवाले सेवकोंने जो किया है सो देखो कि शरीरकी जो स्वतंत्रता थी सोभी मूर्खोंने नष्ट करदी॥ २८७॥

तावज्जन्मातिदुःखाय ततो दुर्गतता सदा।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा॥ २८८॥

प्रथम तो जन्मही दुःखके निमित्त फिर दारिद्रता फिर उसमें सेवावृत्ति अहो दुःखकी परम्परा है॥ २८८॥

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः॥ २८९॥

महाभारतमें पाच जीते हुए मरे सुने गये है दरिद्र, रोगी, मूर्ख, प्रवासी और नित्य सेवक॥ २८९॥

नाश्नाति स्वेच्छयौत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते।
न निःशङ्कं वचो ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जीवति॥ २९०॥

उत्कंठित रहनेसे स्वेच्छासे नहीं खाता (प्रभुके भयसे) विनिद्र होकर भी नहीं जागता निश्शंक वचन नहीं बोलता क्या सेवकभी जीताहै॥ २९०॥

सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम्।
स्वच्छन्दं चरति श्वात्र सेवकः परशासनात्॥ २९१॥

जिन्होंने सेवा श्ववृत्ति (कुत्तेकी वृति) कहीहै उन्होने मिथ्याजल्पना की है कुत्ता स्वच्छन्द फिरता है और सेवकका फिरना आज्ञासे है॥ २९१॥

भूशय्या ब्रह्मचर्य्यश्च कृशत्वं लघुभोजनम् ।
सेवकस्य यतेर्यद्वद्विशेषः पापधर्म्मजः ॥ २९२ ॥

पृथ्वीमें शय्या ब्रह्मचर्य्य कृशता लघुभोजन सेवकका यतिकी समान होताहै अन्तर यह है सेवकका पापके निमित्त है यतिका धर्मके निमित्तहै ॥ २९२ ॥

शीतातपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः ।
धनार्थ तानि चाल्पानि यदि धर्मान्न मुच्यते ॥ २९३ ॥

शीत गरमीके कष्ट जो सेवक धनके निमित्त सहन करताहै वह कष्ट अल्प होते यदि वह धर्मसे न छूटता ॥ २९३ ॥

मृदुनापि सुवृत्तेन सुश्लिष्टेनापि हारिणा ।
मोदकेनापि किं तेन निष्पत्तिर्यस्य सेवया ॥ २९४ ॥"

बडे मधुर गोल मनोहर उस लड्डूसे भी क्याहै जो सेवा करनेसे प्राप्त होताहै ॥ २९४ ॥"

सञ्जीवक आह–"अथ भवान् किं वक्तुमनाः ?" सोऽब्रवीत्–"मित्र ! सचिवानां मन्त्रभेदं कर्त्तुं न युज्यते ।

संजीवक बोला,–"तो तुम क्या कहना चाहते हो?" वह बोला,–"मित्र ! मंत्रियोंको मंत्रभेद करना मुनासिब नहीं ।

उक्तश्च–

कहाहै–

यो मन्त्रं स्वामिनो भिन्द्यात्साचिव्ये सन्नियोजितः ।
स हत्वा नृपकार्थं तत्स्वयञ्च नरकं व्रजेत् ॥ २९५ ॥

जो मन्त्रीकी पदवीमें स्थित मंत्री मत्रभेद करदे वह राजाके कार्यको नष्ट करके स्वयं नरकको जाता है ॥ २९५ ॥

येन यस्य कृतो भेदः सचिवेन महीपतेः ।
तेनाशस्त्रवधस्तस्य कृत इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

जिस मंत्रीने राजाका मंत्रभेद करादिया है उसने राजाका विनाही शस्त्रके वध किया यह नारदजी कहते हैं ॥ २९६ ॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः । यतस्त्वं मम वचनेनात्र राजकुले विश्वस्तः प्रविष्टश्च । उक्तश्च–

तोभी मैंने तुम्हारे स्नेहके पाशबद्ध होनेके कारण मन्त्रभेद किया है, क्योंकि तुम मेरे वचनसे इस राजकुलमें प्रविष्ट हुए हो। कहा है–

विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन।
तस्य हत्या तदुत्था सा प्राहेदं वचनं मनुः॥ २९७॥

जिसके विश्वाससे जो कोई मृत्युको किसप्रिकार प्राप्त होताहै उसकी हत्या उसीको लगतीहै, यह वचन मनुजीने कहा है॥ २९७॥

तत् नवोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः। कथितं च अद्य अनेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया "यत्प्रभाते सञ्जीवकं हत्वा समस्तमृगपरिवारं चिरात् तृप्तिं नेष्यामि"। ततः स मयोक्तः– "स्वामिन्! न युक्तमिदं यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते। उक्तञ्च–

सो तुम्हारे ऊपर यह पिंगलक दुष्टबुद्धि है आज इसने मेरे आगे चारकर्णसे कहाथा (अर्थात् मैं और वह) कि, "प्रभात सजीवकको मारकर समस्त मृगपरिवारको चिरकालतक तृप्त करूंगा" तब उससे मैंने कहा–"स्वामिन्! यह युक्त नहीं कि, जो मित्रद्रोहसे जीवन किया जाय। कहाहै–

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथञ्चित्सुहृद्द्रुहः॥ २९८॥

ब्रह्मवधकर उसके योग्य विशेष अनुष्टानका प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध होजाता है पर मित्रद्रोही शुद्ध नहीं होता॥ २९८॥

ततस्तेनाहं सामर्षेणोक्तः–"भो दुष्टबुद्धे! सञ्जीवकस्तावत शष्पभोजी, वयं मांसाशिनस्तदस्माकं स्वाभाविकं वैरमिति कथं रिपुरुपेक्षते। तस्मात् सामादिभिरुपायैर्हन्यते। न च हते तस्मिन् दोषः स्यात्। उक्तञ्च–

तब उसने मुझसे क्रोधकर कहा,–"भो दुष्टबुद्धे! सजीवक तो घासखानेवालाहै, हम मास खानेवाले सो हमारा उससे स्वभाविक वैरहै क्यो रिपुकी उपेक्षा करें। इस कारण सामादि उपायोंसे मारतेहैं, इसके मारनेमें दोष नहीं। कहाहै–

दत्त्वापि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता।
अन्योपायैरशक्यो यो हते दोषो न विद्यते॥ २९९॥

जो शत्रुको अन्य उपायोंसे नहीं मारसके तो अपनी कन्या देकर भी मारे क्योंकि, उसके मारनेमें दोष नहीं अर्थात् किसी प्रकारसेभी शत्रुका मारना दोषकारक नहीं है ॥ २९९ ॥

कृत्याकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः ।
प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः ॥ ३०० ॥"

युद्ध करनेको तैयार हुवा शूरवीर युद्धमें कर्तव्य: और अकर्तव्यका विचार न करे सोही कहते हैं कि, देखो पूर्वकालमें द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने सोता-हुआ भी धृष्टद्युम्न मारडाला ॥ ३०० ॥"

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः । साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः । मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः । अथ यत् ते प्रतिभाति तत्कुरुष्व" इति । अथ सञ्जीवकस्तस्य तद्वज्रपातदारुणं वचनं श्रुत्वा मोहमुपागतः । अथ चेतनां लब्धा सवैराग्यमिदमाह-"भो ! साधु चेद-मुच्यते-

इसलिये मैं उसका निश्चय करके तुम्हारे समीप आया हूं । अब मेरेको विश्वास घातका कोई दोष नहीं । यह गुप्त सलाह मैंने तुम्हारे अगाडी निवेदन करदीहै । इसके अनन्तर तुमको जो श्रेष्ठ प्रतीत होवै सो करो" । पश्चात् संजीवक वज्र पातसरीखा तिसका वह वचन सुनकर मोहको प्राप्त होगया । इसके अनन्तर संजीवक बुद्धिको प्राप्त होकर वैराग्यसे यह वचन कहने लगा कि,-"भो ! यह यथार्थ कहाहै-

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणास्नेहवान्भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्षी च ॥ ३०१ ॥

नारी प्रायःकरके दुर्जनगम्यहैं अर्थात् अपने दुर्जनोंसे भी मिलसकतीहैं और राजा स्नेह रहित होताहै, धन कृपणके पासही रहता है और मेघ प्रायः करके पर्वत और दुर्गपर वरसते हैं ॥ ३०१ ॥

अहं हि सम्मतो राज्ञो य एवं मन्यते कुधीः ।
बलीवर्दः स विज्ञेयो विषाणपरिवर्जितः ॥ ३०२ ॥

मैत्री राजाका मानाहुआहू जो मूर्ख ऐसे मानताहै वह शृंगरहित बैल अर्थात् पशुतुल्य है ॥ ३०२ ॥

वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवनम्।
वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाधिकारेण सम्पदः ॥ ३०३ ॥

मनुष्योंको वनका निवास श्रेष्ठहै और भिक्षासे भोजन श्रेष्ठहै और भार उठाकर जीना श्रेष्ठहै और व्याधिभी श्रेष्ठहै परतु सेवाकरके सपत् प्राप्तहोना श्रेष्ठ नहीं ॥ ३०३ ॥

तदयुक्तं मया कृतं यदनेन सह मैत्री विहिता। उक्तञ्च–

सो मैंने बडा अनुचित किया कि, जो इसके साथ मैत्री करी। कहाहै–

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३०४ ॥

जिनका समान धनहै और समान कुलहै उनकेही मैत्री और विवाह होने योग्य हैं और सबलनिर्बलोंके मैत्री विवाह होने योग्य नहीं ॥ ३०४ ॥

तथाच–

औरभी कहाहै–

मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति
गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः
समानशीलव्यसनेन सख्यम् ॥ ३०५ ॥

मृग मृगोंके साथ सग करते हैं, गौ गौवोंके साथ, अश्व अश्वोंके साथ, मूर्ख मूर्खोंके साथ, बुद्धिमान् बुद्धिमानोंके साथ, क्योंकि मैत्री अपने तुल्य स्वभाव व व्यसनवालोंकीही होतीहै ॥ ३०५ ॥

तद्यदि गत्वा तं प्रसादयामि तथापि न प्रसादं यास्यति।
उक्तञ्च–

इसकारण जो मैं जाकर तिसको प्रसन्न भी करूंगा तो भी वह प्रसन्न नहीं होवेगा। कहाहै–

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रशाम्यति।

अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत्
कथं नरस्तं परितोषयिष्यति ॥ ३०६ ॥

जो मनुष्य किसी कारणको अनुसरण करके कुपितहो वह तिस कारणके नष्ट होनेपर निश्चय शांतिको प्राप्त होजाताहै और जो मनुष्य कारणके विना द्वेष करनेवालाहै उसको मनुष्य कैसे प्रसन्न करसकता है ? अर्थात् नहीं करसकता ॥ ३०६ ॥

अहो ! साधु चेदमुच्यते ।

अहो ! यह सत्य कहाहै-

भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां
सेवासंव्यवहारतत्त्वविदुषां द्रोहच्युतानामपि ।
व्यापत्तिः स्खलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा
तस्मादम्बुपतेरिवावनिपतेः सेवा सदा शङ्किनी ॥ ३०७ ॥

उपकारी भक्त तथा पराये निमित्त व्यापार करनेवाले सेवा और व्यवहारके तत्वजाननेवाले द्रोहसे रहित पुरुषोंकोभी अस्थिर स्वभाववाले स्वामियोंसे आपत्ति होतीहीहै कि, सिद्धि हो या नहो इसकारण सागरकी समान राजाओंकी सेवा सदा शंकासे व्याप्त है (जैसे समुद्रसे रत्नलाभ शंकास्पद है) ॥ ३०७ ॥

तथाच-

औरभी-

भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति लोके
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतये चोपयाति ।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्म्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ३०८ ॥

मनोहर भावसे उपकार कियाहुआभी लोकमें द्वेष्यताको प्राप्त होताहै और साक्षात् दूसरोंके अपकार करनेसेभी प्रीतिको प्राप्त होताहै एक भावसे न रहनेवाले राजाओंका मन दुर्ग्राह्य होनेसे सेवाका धर्म महाकठिन है अर्थात् योगियोंको भी अगम्यहै ॥ ३०८ ॥

तत्परिज्ञातं मया यत् प्रसादमसहमानैः समीपवर्त्तिभिः एष पिङ्गलकः प्रकोपितः । तेनायं मम अदोषस्यापि एवं वदति । उक्तञ्च-

सो यह मैने जान लिया कि, प्रसादको न सहनेवाले समीपवर्तियोंने इस पिंगलकको मेरे ऊपर क्रुद्ध कर दिया इस कारण यह मुझ अदोषीको भी ऐसा कहताहै। कहाहै-

प्रभोः प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः ।
सपत्न्य इव संक्रुद्धाः स्वपत्न्याः सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

सेवक प्रभुकी प्रसन्नता होनेसे उसको (मनुष्य) नही सहसकते हैं अपने आचरण किये भावसे सौत स्त्रियें जैसे किसी एकपर किये स्वामीके प्रसादको नहीं सह सक्तीहैं ॥ ३०९ ॥

भवति चैवं यद्गुणवत्सु समीपवर्त्तिषु गुणहीनानां न प्रसादो भवति । उक्तञ्च-

यह होताहीहै गुणवाले समीपवर्तियोंमें गुणहीनोंपर प्रसाद नहीं होताहै। कहाहै-

गुणवत्तरपात्रेण छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः ।
'रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति ॥ ३१० ॥"

अति गुणशालि जनोंसे गुणियोंके गुण तिरस्कृत किये जाते है जैसा रात्रिमें दीपकी शिखा मनोहर लगतीहै सूर्य उदयमे नहीं ॥ ३१० ॥"

दमनक आह-"भो मित्र ! यद्येवं तन्नास्ति ते भयं प्रकोपितोऽपि स दुर्जनैः तव वचनरचनया प्रसादं यास्यति" । स आह-"भो ! न युक्तमुक्तं भवता लघूनामपि दुर्जनानां मध्ये वस्तुं न शक्यते उपायान्तरं विधाय ते नूनं घ्नन्ति । उक्तञ्च-

दमनक बोला-"भो मित्र ! जो ऐसाहै तो तुमको भय नहीं क्रोधित कराया हुआ भी वह दुर्जनोंसे तुम्हारी वचनरचनासे प्रसन्न होजायगा" । वह बोला- "यह तुमने युक्त न कहा लघुभी दुर्जनोंके मध्यमें नहीं रहाजाता उपायान्तर विधानकर वे अवश्य मारतेहै । कहाहै-

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः ।
कुर्य्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा ॥ ३११ ॥"

बहुतसे क्षुद्र पंडित मायाजालसे जीविका करते हैं वे कृत्य अकृत्यको र करडालतेहैं जैसे ऊटमें काकादिकोंने किया ॥ ३११ ॥"

दमनक आह–"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

दमनक बोला–"यह कैसे ?" वह बोला–

कथा ११.

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः प्रतिवसतिस्म । तस्य च अनुचरा अन्ये द्वीपिवायसगोमायवः सन्ति । अथ कदाचित् तैः इतस्ततो भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः क्रथनको नाम उष्ट्रो दृष्टः । अथ सिंह आह–"अहो ! अपूर्वमिदं सत्त्वम् । तज्ज्ञायतां किमेतदारण्यकं ग्राम्यं वा" इति । तच्छ्रुत्वा वायस आह–"भोः स्वामिन् ! ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्यः । तत् व्यापाद्यताम्" । सिंह आह–"नाहं गृहमागतं हन्मि । उक्तञ्च–

किसी वनमें मदोत्कट नाम सिंह रहता था उसके अनुचर दूसरे गेंडे, कौए, गीदड थे । एक समय उन्होंने इधर उधर वनमें घूमते हुए अपने साथसे भ्रष्ट हुआ एक क्रथनक नामक ऊट देखा । तब सिंह बोला–"अहो ! यह बडा अपूर्व जीव है । सो जाना जावे यह ग्राम्य है या वनका" । यह सुन कौआ बोला–"भो स्वामिन् ! यह ग्राम्य पशु उष्ट्रनाम तुम्हारा भोज्य है सो मार डालो"। सिंह बोला–"मै घर आये हुएको नहीं मारूगा । कहा है–

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम् ।
यो हन्यात्तस्य पापं स्याच्छतब्राह्मणघातजम् ॥ ३१२ ॥

घरमें विश्वासको प्राप्त भयहीन शत्रुभी प्राप्त हो तो उसके मारनेसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है ॥ ३१२ ॥

तदभयप्रदानं दत्त्वा मत्सकाशमानीयतां येन अस्यागमनकारणं पृच्छामि" । अथ असौ सर्वैरपि विश्वास्य अभय-

प्रदानं दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानीतः प्रणम्योपविष्टश्च । ततस्तस्य पृच्छतस्तेनात्मवृत्तान्तः सार्थभ्रंशसमुद्भवो निवेदितः । ततः सिंहेनोक्तम्–"भोः क्रथनक ! मा त्वं ग्रामं गत्वा भूयोऽपि भारोद्वहनकष्टभागी भूयाः । तदत्रैव अरण्ये निर्विशङ्को मरकतसदृशानि शष्पाग्राणि भक्षयन् मया सह सदैव वस" । सोऽपि तथेत्युक्त्वा तेषां मध्ये विचरन् न कुतोऽपि भयमिति सुखेन आस्ते । तथान्येद्युर्मदोत्कटस्य महागजेन अरण्यचारिणा सह युद्धमभवत् । ततस्तस्य दन्तमुशलप्रहारैर्व्यथा सञ्जाता । व्यथितः कथमपि प्राणैर्न वियुक्तः । अथ शरीरासामर्थ्यात न कुत्रचित्पदमपि चलितुं शक्नोति । तेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं दुःखं भेजुः । अथ तान् सिंहः प्राह–"भो ! अन्विष्यतां कुत्रचित् किञ्चित् सत्त्वं येन अहं एतामपि दशां प्राप्तस्तद्धत्वा युष्मद्भोजनं सम्पादयामि" । अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धा यावन्न किञ्चित् सत्त्वं पश्यन्ति तावद्वायसशृगालौ परस्परं मन्त्रयतः । शृगाल आह–" भो वायस ! किं प्रभूतभ्रान्तेन, अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वस्तस्तिष्ठति तदेनं हत्वा प्राणयात्रां कुर्म्मः" । वायस आह–"युक्तमुक्तं भवता, परं स्वामिना तस्य अभयप्रदानं दत्तमास्ते न वध्योऽयम" इति॥ शृगाल आह–"भोः वायस ! अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये यथा स्वामी वधं करिष्यति तत्तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा च आगच्छामि"। एवमभिधाय सत्वरं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः । अथ सिंहमासाद्य इदमाह–"स्वामिन् ! समस्तवनं भ्रान्त्वा वयमागताः, न किञ्चित्सत्त्वमासादितम्, तत् किं कुर्मो वयम् । सम्प्रति वयं बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचालितुं न शक्नुमः। देवोऽपि पथ्याशी वर्त्तते । तद्यदि देवादेशो भवति तत् क्रथनकपिशितेन अद्य पथ्यक्रिया क्रियते" । अथ सिंहस्तस्य तद्दारुणं वचनमाकर्ण्य

सकोपमिदमाह-"धिक् पापाधम ! यद्येवं भूयोऽपि वदसि ततः त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि यतो मया तस्य अभयं प्रदत्तम्। तत् कथं व्यापादयामि । उक्तश्च--

सो अभय दान देकर हमारे निकट लाओ जिससे यहां आनेका कारण पूँछूं"। तब यह सबने विश्वास दे अभय दानकर उसको मदोत्कटके निकट लाकर प्रणाम कर बैठाया । तब उसके पूछनेपर उसने अपना वृत्तान्त सार्थसे छूटनेका निवेदन किया, तब सिंहने कहा"-भोः क्रथनक ! अब तू फिर गांवको जाकर भार उठानेके कष्टका भागी नहो । सो इसी वनमें शंकारहित होकर मरकतमणिके सदृश तृणके अग्रभागोंको भोजन करता हुआ हमारे साथ सदैव निवासकर" । वहभी "बहुत अच्छा" कह उनके मध्यमें विचरता हुआ निर्भय सुखसे रहता था। एकदिन मदोत्कटका वनचारी महागजके साथ युद्ध हुआ, तब उसके दांतरूपी मूशलके प्रहारसे उसको बडी व्यथा हुई । परन्तु व्यथित होकर किसी प्रकार प्राणोंसे मुक्त न हुआ, परन्तु शरीरकी असामर्थ्यसे सर्वथा चलनेको भी समर्थ नहींथा । वेभी सब काकादि प्रभुके अशक्त होनेसे क्षुधासे परम दुखको प्राप्तहुए। तब उनसे सिंह बोला,-"भो ! कहीं कोई जीवकी खोज करो जिससे मै इस दशामें भी प्राप्त हुआ उसे मारकर तुम्हारा भोजन सम्पादन करूंगा" तब वे चारोंभी भ्रमण करने लगे जब कोई जीव नहीं पाया तब कौए और गीदड परस्पर मंत्रणा करने लगे, श्रृगाल बोला,-"भो वायस ! बहुत घूमनेसे क्याहै यह हमारे प्रभुका विश्वासी क्रथनक मौजूदहै। सो इसे मारकर हम प्राणयात्रा करैं"। काक बोला-'आपने सत्य कहा, परन्तु स्वामीने उसको अभयदान दियाहै इस कारणसे वह वध्यनहीं है" । श्रृगाल बोला,-"वायस ! मै स्वामीसे विज्ञप्ति कर ऐसा करूंगा जो स्वामी उसका वधकरे सो आप यहीं स्थित रहो जबतक मैं घर जाय प्रभुकी आज्ञा लेकर आऊं" । यह कह वह सिंहकी ओरको चला । और सिंहको प्राप्त होकर बोला,-"स्वामी ! हम सम्पूर्ण वन घुम आये, परन्तु कोई जीव प्राप्त नहीं हुआ । सो हम क्या करें अब हम भूखसे एक चरणभी नहीं चल सकते हैं. आपकोभी पथ्य व्यापार करना युक्त है । सो यदि स्वामीकी आज्ञा हो तो क्रथनकके मांससे आज भोजन व्यापार किया जाय" । तब सिंह उसके दारुण वचन सुनकर क्रोधसे यह बोला,-"पापाधम ! धिक्कार है तुझे ! यदि फिर ऐसा कहेगा

तो उसीक्षण तुझको मारडालूंगा कारण कि, मैंने इसको अभयदान दियाहै सो किस प्रकार मारूं, कहा है-

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ३१३"

न गोदान, न भूमिदान, न अन्नदान ऐसा प्रधान है जैसे पंडितलोग सब दानोंमें अभयप्रदानको श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ३१३ ॥"

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह-"स्वामिन् ! यदि अभयप्रदानं दत्त्वा वधः क्रियते तदा एष दोषो भवति । पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो जीवितव्यं प्रयच्छति तन्न दोषः, ततो यदि स स्वयमेव आत्मानं वधाय नियोजयति, तद्वध्योऽन्यथा अस्माकं मध्यादेकतमो वध्य इति, यतो देवपादाः पथ्याशिनः क्षुन्निरोधादन्त्यां दशां यास्यन्ति । तत् किमेतैः प्राणैरस्माकं ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति । अपरं पश्चादपि अस्माभिर्वह्निप्रवेशः कार्यः । यदि स्वामिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति । उक्तञ्च-

यह सुनकर शृगाल बोला-"स्वामिन् ! यदि अभय दान देकर वध किया जाय तो यह दोष लगे और जो स्वामीके चरणोंमें भक्तिसे अपना जीवदे तो दोष नहीं है सो यदि वह स्वयही अपनेको वधके निमित्त प्रदान करे तो वध्य है नहीं तो हममेसे किसी एकको वधकरना । कारण कि, स्वामीके चरण पथ्यव्यापारसे युक्त भूखके कारण मरणावस्थाको प्राप्त हैं । और पीछे भी हमको अग्निमे प्रवेश करना पडेगा जो स्वामीके चरणोंका कुछभी अनिष्ट होगा । कहा है कि-

यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः ।
तस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते न नाभिभंगे ह्यरयो वहन्ति ३१४"

जिस कुलमें जो पुरुष प्रधान है उसकी सब यत्नोंसे रक्षा करना चाहिये उस कुलके सारभूतके नष्ट होनेमें सब ओरसे शत्रु उसको पराभूत करते हैं"

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह-"यद्येवं तत् कुरुष्व यद्रोचते" तच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तान् आह-"भोः स्वामिनो महती

अवस्था वर्त्तते, तत् किं पर्य्यटितेन तेन विना कोऽत्र अस्मान् रक्षयिष्यति । तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात् परलोकं प्रस्थितस्य आत्मशरीरदानं कुर्मो येन स्वामिप्रसादस्य अनृणतां गच्छामः । उक्तञ्च-

यह सुनकर मदोत्कट बोला,-"जा ऐसा है तो जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो" । यह सुनकर वह उनके पास जाकर बोला,-"भो ! भो ! स्वामीकी बडी कठिन अवस्था है सो अब फिरनेसे क्या स्वामीके विना हमारी कौन रक्षा करेगा, सो चलकर क्षुधारोगसे परलोक जाते हुए उसको अपना शरीर प्रदान करें जिससे स्वामीके प्रसादसे अनृणताको प्राप्त होजायँ, कहा है-

आपदं प्राप्नुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यतः ।
प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३१५ ॥"

जिस भृत्यके देखते स्वामी आपत्तिको प्राप्त होता हो अपने प्राण होते उसकी रक्षा न करे वह भृत्य नरकको जाता है ॥ ३१५ ॥"

तदनन्तरं ते सर्वे बाष्पपूरितदृशो मदोत्कटं प्रणम्य उपविष्टाः । तान् दृष्ट्वा मदोत्कट आह-"भोः ! प्राप्तं दृष्टं वा किञ्चित् सत्वम् ?" अथ तेषां मध्यात् काकः प्रोवाच,- "स्वामिन् ! वयं तावत् सर्वत्र पर्य्यटिताः, परं न किञ्चित्सत्वमासादितं दृष्टं वा । तदद्य मां भक्षयित्वा प्राणान् धारयतु स्वामी, येन देवस्य आश्वासनं भवति मम पुनः स्वर्गप्राप्तिरिति । उक्तञ्च-

तब वे सब आंखोंमें आंसू भरे मदोत्कटको प्रणाम कर बैठे । उनको देखकर मदोत्कट बोला,-"भो ! कोई जीव प्राप्त हुआ या देखा ?"। तब उनके बीचमेंसे कौआ बोला,-"स्वामिन् ! हम सब स्थानमें घूमे परन्तु न कोई जीव पाया न देखा । सो आज मुझे भक्षण कर स्वामी अपने प्राणोंको धारण करें जिससे स्वामीका आश्वासन और मेरी स्वर्गप्राप्ति होगी, कहा है-

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणान्भृत्यो भक्तिसमन्वितः ।
परं स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम् ॥ ३१६ ॥"

भक्तिमान् जो सेवक स्वामिके निमित्त प्राण त्यागन करता है वह जरामरण रहित परमपदको प्राप्त होता है ॥ ३१६ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह-"भोः ! स्वल्पकायो भवान् तव भक्षणात् स्वामिनस्तावत् प्राणयात्रा न भवति अपरो दोषश्च तावत् समुत्पद्यते। उक्तञ्च-

यह सुनकर शृगाल बोला,-"आप स्वल्प शरीर हो तुम्हारे भक्षणसे स्वामीको प्राणयात्रा न होगी और दोषभी प्राप्त होगा। कहा है-

काकमांसं शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम्।
भक्षितेनापि किं तेन तृप्तिर्येन न जायते॥ ३१७॥

एक तो काकका मास दूसरे कुत्तेकी उच्छिष्टतासे बचा हुआ और फिर थोडा तथा दुष्प्राप्य उसके खानेसे क्या है जिससे कि, तृप्ति नहो ॥ ३१७॥

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता, गतं च आनृण्यं भर्तृपिण्डस्य, प्राप्तश्च उभयलोके साधुवादः तदपसर अग्रतः अहं स्वामिनं विज्ञापयामि"। तथानुष्ठिते शृगालः सादरं प्रणम्य उपविष्टः आह-"स्वामिन् ! मां भक्षयित्वा अद्य प्राणयात्रां विधाय मम उभयलोकप्राप्तिं कुरु। उक्तञ्च-

सो आपने स्वामीभक्ति दिखादी स्वामीकी अनृणताकी प्राप्ति की, दोनों लोकोंमें साधुवाद प्राप्तकिया, सो आगेसे हटो मै स्वामीको कहूं," यह होनेपर शृगाल आदरसे प्रणाम कर बैठा और बोला-"स्वामिन् ! मुझ भक्षणकर, आज प्राणयात्रा कर मेरी उभयलोकप्राप्ति करो। कहाहै-

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनैः।
यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः॥ ३१८॥"

प्राण सदा स्वामीके आधीनहैं कारण कि, स्वामीने वह धनसे खरीद लियेहैं सो उनके ग्रहण करनेमे कुछ दोप नही होताहै ॥ ३१८॥"

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीपी आह-"भोः ! साधु उक्तं भवता, पुनः भवानपि स्वल्पकायः स्वजातिश्च, नखायुधत्वात् अभक्ष्य एव। उक्तञ्च-

यह सुनकर गेंडा बोला,-"भो ! तुमने ठीक कहा आपभी स्वल्पकाय और सजातीयहो नखायुध होनेसे अभक्ष्यहो। कहाहै-

नाभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
विशेषात्तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम् ॥ ३१९ ॥

बुद्धिमान् कंठमें प्राण आनेपरभी अभक्ष्यको न खाय उसमे भी विशेषकर लघु होनेसे दोनों लोक नष्ट होतेहै ॥ ३१९ ॥

तद्दर्शितं त्वया आत्मनः कौलीन्यम्, अथवा साधु चेद-मुच्यते–

सो तुमने अपनी कुलीनता दिखलादी, अथवा अच्छा कहाह–

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् ।
आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥ ३२० ॥"

इसीकारण अच्छे कुलवानोंको राजा संग्रह करतेहैं जो आदि, मध्य, अन्तमें कभी विकारको प्राप्त नहीं होतेहैं ॥ ३२० ॥ "

तदपसर अग्रतो येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि"। तथा-नुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह,–"स्वामिन्! क्रियताम् अद्य मम प्राणैः प्राणयात्रा, दीयतामक्षयोवासः स्वर्गे, मम विस्तार्य्यतां क्षितितले प्रभूततरं यशः तन्नात्र विकल्पः कार्य्यः । उक्तञ्च–

सो आगेसे हटो जिससे मै स्वामीसे कहू"।ऐसा होनेपर गेंडा प्रणामकर मदोत्कटसे बोला,–"स्वामिन्! आज मेरे प्राणोंसे अपना निर्वाह करो मुझे स्वर्गमें अक्षय निवासदो पृथ्वीमें मेरा अत्यन्त यश विस्तार करो, उसमें विकल्पकरना नहीं चाहिये । कहाहै कि–

मृतानां स्वामिनः कार्य्ये भृत्यानामनुवर्त्तिनाम् ।
भवेत्स्वर्गेऽक्षयो वासः कीर्त्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥"

जो अनुकूल भृत्य स्वामीके निमित्त प्राण त्यागन करते हैं उनका स्वर्गमें अक्षयवास और पृथ्वीमें कीर्ति होतीहै ॥ ३२१ ॥"

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास,। "एतैः तावत्सर्वैरपि शोभनानि वाक्यानि प्रोक्तानि, न च एकोऽपि स्वामिना विनाशितः, तदहमपि प्राप्तकालं विज्ञापयामि, येन मम वचनमेते योऽपि समर्थयन्ति" । इति निश्चित्य प्रोवाच,–"भोः!

सत्यमुक्तं भवता, परं भवानपि नखायुधः तत् कथं भवन्तं स्वामी भक्षयति । उक्तञ्च–

यह सुनकर क्रथनक विचारनेलगा कि, "इन सबने अच्छे २ वचन कहे एककोभी स्वामीने न मारा सो मैंभी अब समय प्राप्तिपर विज्ञप्ति करूं जिससे यह तीनो मेरे वचनको समर्थन करेंगे है" । यह विचारकर बोला,–"भोः ! आपने सत्य कहा परन्तु तुमभी नखायुधवालेहो सो कैसे आपको स्वामी भक्षण करेंगे । कहाहै–

मनसापि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।
भवन्ति तस्य तान्येव इहलोके परत्र च ॥ ३२२ ॥

जो मनसेभी अपने जातिके अनिष्टकी चिन्ता करताहै इस लोकमे और परलोकमे उसको वेही होतेहैं ॥ ३२२ ॥

तदपसर अग्रतो येन अहं स्वामिनं विज्ञापयामि" तथानुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच–" स्वामिन् ! एते तावदभक्ष्या भवतां तत् मम प्राणैः प्राणयात्रा विधीयतां येन मम उभयलोकप्राप्तिर्भवति । उक्तञ्च–

सो आगेसे हटो जिससे मैं स्वामीको विज्ञापनादूं" ऐसा करनेपर क्रथनक आगे स्थितहो प्रणाम कर बोला,–"स्वामिन् ! यह तो सब अभक्ष्यहैं आपके, सो हमारे प्राणोंसे प्राणयात्रा करो जिससे मेरी उभयलोक प्राप्ति होगी । कहाहै–

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः ।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः॥ ३२३॥

उस गतिको न यज्ञशील न योगी जातेहैं जिस गतिको स्वामीके निमित्त प्राण त्यागन करनेवाले उत्तम सेवक जाते हैं ॥ ३२३ ॥"

एवमभिहिते ताभ्यां शृगालचित्रकाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः। क्रथनकः प्राणान् अत्याक्षीत्। ततश्च तैः क्षुद्रपण्डितैः सर्वैर्भक्षितः अतोऽहं ब्रवीमि । "बहवः पण्डिताः क्षुद्राः" इति ।

ऐसा कहनेपर शृगाल और चीतेसे कोख विदीर्ण किया हुआ क्रथनक प्राणत्यागन करता हुआ, तब उन सब क्षुद्रपडितोंने उसको भक्षणकर लिया । इससे मैं कहताहूं कि, "बहुत क्षुद्रपडितोंने" इत्यादि ।

तद्भद्र ! क्षुद्रपरिवारोऽयं ते राजा मया सम्यग् ज्ञातः सतामसेव्यश्च । उक्तञ्च-

सो हे भद्र ! यह तुम्हारा राजा क्षुद्रपरिवारवाला है यह मैंने भलीप्रकार जानलिया इससे सत्पुरुषोंको असेव्यहै । कहाभीहै-

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नानुरज्यते ।
यथा गृध्रसमासन्नः कलहंसः समाचरेत् ॥ ३२४ ॥

अशुद्ध प्रकृतिवाले राजामें प्रजा (प्रसन्न) आनद नहीं होती जैसे गृध्रोंसे युक्त कलहंस श्रेष्ठ आचरण नहीं करसकता ॥ ३२४ ॥

तथाच-

और देखो-

गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः ।
हंसाकारोऽपि संत्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः ॥ ३२५ ॥

गृध्रकेसे आकारवाले राजाका हंसाकारवाले सभासद सेवन करसक्तेहैं और हंसाकार राजा गृध्राकारवाले सभासदोंसे युक्त हो तो त्यागना चाहिये ॥३२५॥

तन्नूनं ममोपरि केनचित् दुर्जनेन अयं प्रकोपितः । तेनैवं वदति । अथवा भवति एतत् । उक्तञ्च-

सो निश्चय मेरे ऊपर किसी दुर्जनने इसको क्रोधित करादिया इसीसे ऐसा कहताहै । अथवा यह होताहीहै, कहाहै-

मृदुना सलिलेन खन्यमाना-
न्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि ।
उपजापविदां च कर्णजापैः
किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम् ॥ ३२६ ॥

कोमल जलसे घिसे हुए पर्वतके स्थलभी घिस जाते हैं फिर भेदमें कुशल मनुष्योंके कान भरनेसे कोमल मनुष्योंके चित्तोंकी कौन कहे ॥ ३२६ ॥

कर्णविषेण च भग्नः किं किं न करोति बालिशो लोकः ।
क्षपणकतामपि धत्ते पिबति सुरां नरकपालेन ॥ ३२७ ॥

कान भरनेके विषसे भग्न हुआ मूर्ख लोग क्या क्या नहीं करताहै बहुत क्या संन्यासीभी होता है तथा मनुष्यकी खोपडीमें सुरापान भी करता है ॥ ३२७

अथवा साधु चेदमुच्यते-

अथवा सत्य कहाहै-

पादाहतोऽपि दृढदण्डसमाहतोऽपि
यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः ।
कोऽप्येष एव पिशुनोऽग्रमनुष्यधर्म्मः
कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ॥ ३२८ ॥

चरणसे हत और दृढ दण्डसे ताडित सर्प जिसे दंष्ट्रासे काटता है वही मरता है और यह मनुष्य धर्मकी चुगली इस प्रकारकी है कि, मनुष्यको समूल नष्ट करतीहै ॥ ३२८ ॥

तथाच-

औरभी-

अहो ! खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधक्रमः ।
कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

अहो दुष्ट और सर्पके वध करनेका धर्म विपरीत है कि, वह कानमें किसीके लगताहै और प्राणोंसे कोई (नष्ट) पृथक् होता है ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्त्तव्यमिति अहं त्वां सुहृद्भावात् पृच्छामि" । दमनक आह-"तद्देशान्तरगमनं युज्यते न एवं विधस्य कुस्वामिनः सेवां विधातुम् । उक्तञ्च-

सो ऐसा होनेपरभी क्या करना चाहिये मैं तुझसे सुहृद्भावसे पूछता हूं" दमनक बोला,-"आप अन्यस्थानमे चले जाइये इस प्रकारके कुस्वामीकी सेवा करनी उचित नहीं कहा है-

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्य्याकार्य्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ ३३० ॥"

उद्धत कार्य अकार्यके न जाननेवाले उन्मार्गमें प्राप्त गुरुजनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ ३३० ॥"

सञ्जीवक आह-"अस्माकमुपरि स्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते न च अन्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति । उक्तञ्च-

संजीवक बोला,—"हम स्वामीके क्रोधित होनेपर अन्य स्थानमें नहीं जा-सकते कारण कि, अन्य स्थानमें जानेसे मंगल नही होगा । कहाहै—

महतां योऽपराध्येत दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हिंसति हिंसकम् ॥ ३३१ ॥

जो बडे पुरुषोका अपराध करता है वह मैं दूरहूं ऐसा विचार नकरे बुद्धि-मान्‌की दीर्घ बाहु दूरसेभी उस हिंसकको पकडकर मारती है ॥ ३३१ ॥

तद्युद्धं मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम् । उक्तञ्च—

सो युद्धको छोडकर अब और श्रेयस्कर उपाय नहीं है । कहाहै—

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान्
स्वर्गैषिणो दानशतैः सुवृत्तैः ।
क्षणेन यान्यान्ति रणेषु धीराः
प्राणान्समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः ॥ ३३२ ॥

स्वर्गकी इच्छा करनेवाले उन लोकोंको तीर्थ तप सैंकडो दान और सुकृतोंसे नहीं प्राप्त होते हैं जहां धैर्यवान् सुशील पुरुष युद्धकर क्षणमात्रमें प्राप्तहोते हैं ॥ ३३२ ॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ।
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥

मरनेसे स्वर्ग और जीनेसे उत्तम कीर्ति प्राप्त होती है यह दोनों गुण शूर पुरुषोंके दुर्लभ हैं ॥ ३३३ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ।
तत्सोमपानेन समं भवेच्च संग्रामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ॥ ३३४ ॥

जिस शूरके माथेसे बहता हुआ रुधिर मुखमें प्रवेश करता है वह विधिपूर्वक संग्रामयज्ञमें प्राप्त हुआ सोमपानकी समान होता है ॥ ३३४ ॥

तथाच—

और देखो—

होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनैः
यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम् ।

सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥"

विधिपूर्वक होमार्थ और दानविधिसे सद्ब्राह्मणोंके अर्चनसे तथा बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे (जो श्रेष्ठ कहे हैं) जो फल उनसे प्राप्त होता है तथा तीर्थ, आश्रम, वास, होम, नियम, चान्द्रायण आदि करनेसे पुरुषोंको जो फल प्राप्त होता है वह फल संग्राममें प्राण त्यागनेसे तत्काल मिलता है ॥ ३३५ ॥"

तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास । "युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं दृश्यते दुरात्मा तद्यदि कदाचित् तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां स्वामिनं प्रहरिष्यति तत् महान् अनर्थः सम्पत्स्यते । तदेनं भूयोऽपि स्वबुद्ध्या प्रबोध्य तथा करोमि यथा देशान्तरगमनं करोति" आह च,-"भो मित्र ! सम्यक् अभिहितं भवता, परं किन्तु कः स्वामिभृत्ययोः संग्रामः । उक्तञ्च-

यह सुनकर दमनक विचारने लगा, "यह दुरात्मा तो युद्धके लिये निश्चय किये हैं सो यदि कदाचित् यह तीक्ष्ण शृंगोंसे स्वामीको प्रहार करे तो महान् अनर्थ होगा, सो इसको फिरभी अपनी बुद्धिसे समझाकर वैसा करूं जो यह देशान्तरको चला जाय" । बोलाभी-"भो मित्र ! तुमने सत्य कहा परन्तु स्वामी सेवकका क्या संग्राम ? कहाहै-

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलात्मानं प्रगोपयेत् ।
बलवद्भिश्च कर्त्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ ३३६ ॥

बलवान् शत्रुको देखकर अवश्यही आत्माकी रक्षाकरे और बलवानोंको शरच्चन्द्रकी समान अपना प्रकाश करना चाहिये ॥ ३३६ ॥

अन्यच्च-

और भी-

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः ।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिट्टिभाद्यथा ॥ ३३७ ॥"

औरभी जो शत्रुके पराक्रमको न जानकर वैर आरंभ करता है वह टिट्टिभसे समुद्रकी समान पराभवको प्राप्त होता है ॥ ३३७ ॥"

सञ्जीवक आह–"कथमेतद्" सोऽब्रवीत्–

संजीवक बोला,–"यह कैसे" ? वह बोला–

कथा १२.

कस्मिंश्चित् समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिभदम्पती प्रतिवसतः स्म। ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्टिभी गर्भमाधत्त। अथ आसन्नप्रसवा सती सा टिट्टिभमूचे–"भोः कान्त ! मम प्रसवसमयो वर्त्तते तद्विचिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवं स्थानं येन तत्राहमण्डकाविमोक्षणं करोमि।" टिट्टिभः प्राह–"भद्रे ! रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः। तदत्रैव प्रसवः कार्य्यः"। सा आह–"अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति। सा मत्तगजेन्द्रानपि समाकर्षति तद्दूरमन्यत्र किञ्चित् स्थानमन्विष्यताम्"। तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्टिभ आह–"भद्रे ! युक्तमुक्तं भवत्या का मात्रा समुद्रस्य या मम दूषयिष्यति प्रसूतिम ? किं न श्रुतं भवत्या ?

कहीं समुद्रके एक देशमें टटीहरी और उसका स्वामी रहताथा तब समय बीतनेमें ऋतुसमयको प्राप्त होकर टिट्टिभीने गर्भ धारण किया। तब प्रसवके समीप होनेसे सो वह टटीहरी स्वामीसे बोली,–"भो स्वामिन् ! मेरे प्रसवका समय वर्तमान है सो कोई उपद्रव रहित स्थान खोज किया जाय जिससे मैं वहां अपने अण्डे त्यागन करूं"। टिट्टिभ बोला,–"भद्रे ! यह समुद्रस्थान बहुत सुन्दर है सो यहीं बच्चे उत्पन्न करो" वह बोली,–"पूर्णमासीके दिन यहां समुद्र-वेला प्राप्त होती है वह और तो क्या मतवाले हाथियोंकोभी आकर्षण करतीहै सो कहीं दूर और स्थान खोज किया जाय"। यह सुन हँसकर वह टिट्टिभ बोला,–"तुमने सत्य कहा परन्तु समुद्रकी क्या सामर्थ्य है जो मेरी सन्तानको दूषित करे क्या तुमने न सुनाहै, कि–

बद्धाम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्भयदम्।
मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वेच्छया मनुजः ॥३३८॥

आकाशचारियोंके मार्ग रोकनेवाले, धूमरहित महाभयदायक अग्निमें कौन मन्दमति अपनी इच्छासे प्रवेश करता है ॥ ३३८ ॥

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम्।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम ? ॥ ३३९ ॥
मतवाले हाथियोंके गण्डस्थलके विदीर्ण करनेमे श्रम किये सोते कालकी समान सिंहको कौन यमलोक देखनेकी इच्छावाला जगावै ॥ ३३९ ॥

को गत्वा यमसदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः।
प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तव ॥ ३४० ॥
कौन यमलोकको जाकर स्वय भयरहित यमराजसे कहेगा कि, यदि तुझमें कोई शक्ति हो तो मेरे प्राणोंको हर ॥ ३४० ॥

प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे।
गुणदोषज्ञः पुरुषो जलेन कः शीतमपनयति ॥ ३४१ ॥
शिशिरसे मिली जड भारी प्रभात वायुके चलनेसे गुण दोषको जाननेवाला कौन पुरुष उस शीतको जलसे दूर करसकताहै ॥ ३४१ ॥

तस्मात् विश्रब्धा अत्रैव गर्भं मुञ्च। उक्तञ्च–
इस कारण निश्शंक हो यहीं गर्भ त्यागो। कहाहै–

यः पराभवसन्त्रस्तः स्वस्थानं संत्यजेन्नरः।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ॥ ३४२ ॥"
जो पराभवके डरसे मनुष्य अपना स्थान त्यागताहै यदि माता उसीके होनेसे पुत्रिणीहै तो वध्या किससे कही जायगी ॥ ३४२ ॥"

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास' अहो गर्वः पक्षिकीटस्यास्य। अथवा साधु चेदमुच्यते–
यह सुनकर समुद्र विचारने लगा, "अहो इस पक्षि कीटका यह गर्वहै। अथवा सत्य कहाहै–

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादावास्ते भंगभयाद्दिवः।
स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते ॥ ३४३ ॥
कीट आकाशके गिरनेके भयसे आकाशकी ओरको चरण करके सोताहै वहा अपने चित्तसे कल्पित गर्व किसको नहीं है ॥ ३४३ ॥

तन्मया अस्य प्रमाणं कुतूहलादपि द्रष्टव्यम्। किं मम एषोऽण्डापहारे कृते करिष्यति" इति चिन्तयित्वा

स्थितः । अथ प्रसवानन्तरं प्राणयात्रार्थं गतायाः टिट्टिभ्या समुद्रो वेलाव्याजेन अण्डानि अपजहार । अथ आयाता स टिट्टिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्टिभमूचे- "भो मूर्ख! कथितमासीत् मया ते यत् समुद्रवेलया अण्डानां विनाशो भविष्यति, तद्दूरतरं व्रजावः परं मूढतया अहङ्कारमाश्रित्य मम वचनं न करोषि । अथवा साधु चेदमुच्यते-

सो मैं कुतूहलसे इसका प्रमाण देखूंगाही । कि, मेरे अण्डहरण करनेपर यह क्या करेगा । ऐसा चिन्ताकर स्थित हुआ । अण्डेरखनेके उपरान्त प्राणयात्राके लिये गई हुई टिट्टिभीके अण्डोको समुद्रने वेलाके बहानेसे हरण कर लिया । तब आई हुई वह टिट्टिभी अपने प्रसवस्थानको शून्यदेखकर विलापकर टिट्टिभसे बोली-"भो मूर्ख ! मैंने तुझसे कहाथा कि समुद्रवेलासे अण्डोका नाश होगा सो बहुत दूर चलकर रक्खैं तैने मूढतासे अहंकारके आश्रितहो मेरे वचन न किये। अथवा सत्य कहाहै-

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥ ३४४ ॥"

हितकारी सुहृदोके जो वचन नहीं करताहै वह दुर्बुद्धि लकडीसे गिरे कछुएकी समान नष्ट होताहै ॥ ३४४ ॥"

टिट्टिभ आह-"कथमेतत् ?" सा अब्रवीत्-

टिट्टिभने कहा-"यह कैसे ?" वह बोली-

कथा १३.

अस्ति कस्मिंश्चित् जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छपः। तस्य च संकटविकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव सरस्तीरमासाद्य तेन सह अनेकदेवर्षिमहर्षीणां कथाः कृत्वा अस्तमयवेलायां स्वनीडसंश्रयं कुरुतः । अथ गच्छता कालेन अवृष्टिवशात् सरः शनैः शनैः शोषमगमत् । ततस्तद्दुःखदुःखितौ तौ ऊचतुः-"भो मित्र! जम्बालशेषमेतत्सरः सञ्जातं तत्कथं भवान् भविष्यतीति व्याकुलत्वं नो हृदि

वर्त्तते"। तच्छ्रुत्वा कम्बुग्रीव आह-"भोः! साम्प्रतं न अस्ति अस्माकं जीवितव्यं जलाभावात्। तथापि उपायश्चिन्त्यतामिति। उक्तञ्च-

किसी सरोवरमे कम्बुग्रीव नाम कच्छप रहता था उसके संकट विकटनामवाले हंसजातिके दो मित्र परम स्नेहकी कोटिको प्राप्तहुए नित्यही सरोवरके समीप रहतेथे। उसके साथ अनेक देवर्षि महर्षियोंकी कथाकर सूर्यास्तके समय अपने घोंसलेका आश्रय करते। फिर कुछ दिनोंके उपरान्त अवर्षणसे सरोवर शनैः २ सूखने लगा, तब उसके दुःखसे दुखी हुए वोह बोले,-"हे मित्र! यह सरोवर तो कर्दम (कीच) मात्र अवशेष है सो आप कैसे रहेंगे यह व्याकुलता हमारे हृदयमें है" सो सुनकर कम्बुग्रीव बोला,-"भो! इस समय जलके अभावसे हमारा जीवन नहीं होगा तो भी उपाय विचारो। कहाहै-

त्याज्यं न धैर्य्यं विधुरेऽपि काले
धैर्य्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति तर्त्तुमेव॥ ३४५॥

प्रारब्धके विगड जानेमेंभी धैर्य त्यागन करना न चाहिये कदाचित् धैर्यसे उसकी गति प्राप्त होजाय अर्थात् उपाय प्राप्त होजाय, जैसे सागरमें पोत (जहाज) भंग होनेपर पोतवणिक् धैर्यसे तरनेहीकी इच्छा करताहै॥ ३४५॥

अपरञ्च-

औरभी-

मित्रार्थे बान्धवार्थे च बुद्धिमान्यतते सदा।
जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः॥ ३४६॥

बुद्धिमान् सदा मित्र और बांधवोंके निमित्त यत्न करे चाहे कैसीभी विपत्तिहो मनुने यह वचन कहाहै॥ ३४६॥

तत् आनीयतां काचित् दृढरज्जुर्लघु काष्ठं वा, अन्विष्यतां च प्रभूतजलसनाथं सरो येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गृहीते सति युवां कोटिभागयोः तत्काष्ठं मया सहितं संगृह्य

तत्सरो नयथ:" । तौ ऊचतुः,-"भो मित्र ! एवं करिष्याव: परं भवता मौनव्रतेन स्थातव्यं, नो चेत् तव काष्ठात् पातो भविष्यति" । तथा अनुष्ठिते, गच्छता कम्बुग्रीवेण-अधोभागव्यवस्थितं किञ्चित् पुरमालोकितं तत्र ये पौरास्ते तथा नीयमानं विलोक्य सविस्मयामदमूचुः,-"अहो ! चक्राकारं किमपि पक्षिभ्यां नीयते, पश्यत पश्यत" अथ तेषां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीव आह-"भोः ! किमेष कोलाहलः" इति वक्तुमना अर्द्धोक्ते पतितः पौरैः खण्डशः कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-"सुहृदां हितकामानाम्" इति ।

सो कोई दृढरज्जु वा लघु काष्ठ लाना चाहिये और बहुत जलसे युक्त कोई सरोवर खोज करो जिससे मैं उसका मध्यभाग अपने दांतोंसे पकडूं और तुम उसके दोनों किनारे पकड मुझ सहित उस सरोवरमें लेजाओ । वह बोले, "मित्र ! ऐसाही करेंगे परन्तु तुम मौन रहना, नहीं तो आपका काष्टसे पतन हो जायगा" । तबते तैसा करनेपर जाते हुए कम्बुग्रीवने नीचे कोई पुर देखा । वहांके पुरवासी उसको वैसा लेजाते देखकर विस्मयपूर्वक बोले-"अहो ! यह क्या चक्राकार वस्तु पक्षि लिये जाते हैं देखो २" । तब उनका कोलाहल सुनकर कम्बुग्रीव बोला,-"भो ! कैसा यह कोलाहलहै" ऐसा कहनेकी इच्छासे आधा कहता हुआ गिरा पुरवासियोंने खण्ड २ करडाला । इससे मैं कहताहूं "हितकारी सुहृदोंका इत्यादि" ।

तथाच-

तैसेही-

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ३४७ ॥"

अनागतविधाता (अनुपस्थितकर्मको विचारकर करनेवाला) प्रत्युत्पन्नमति (उपस्थित विपत्के प्रतिकारमें समर्थ) यह दोनों सुखसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं यद्भविष्य (जो भाग्यमें है सो होगा) नाश होताहै ॥ ३४७ ॥"

टिट्टिभ आह-"कथमेतत् ?" सा अब्रवीत्-

टिट्टिभ बोला-"यह कैसा ?" वह बोली-

कथा १४.

कस्मिंश्चित् जलाशये अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिः यद्भविष्यश्चेति त्रयो मत्स्याः सन्ति। अथ कदाचित् तं जलाशयं दृष्ट्वा गच्छद्भिर्मत्स्यजीविभिरुक्तं "यदहो! बहुमत्स्योऽयं ह्रदः कदाचिदपि नास्माभिरन्वेषितः। तदद्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता, सन्ध्यासमयश्च संवृत्तः ततः प्रभातेऽत्र आगन्तव्यमिति निश्चयः"। अतस्तेषां तत्कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्य अनागतविधाता सर्वान्मत्स्यान् आहूय इदमूचे,– "अहो! श्रुतं भवद्भिः यन्मत्स्यजीविभिरभिहितम्? तत् रात्रावपि गम्यतां कथञ्चिन्निकटं सरः। उक्तञ्च–

किसी एक सरोवरमे अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमति और यद्भविष्य तीन मत्स्य रहतेथे, तब उस जलाशयको देखकर जाते हुए मत्स्यजीवियोंने कहा–"अहो! यह ह्रद बहुतसी मछलियोवाला है, हमने कभी इसकी खोज न की। सो आज तो आहारवृत्ति हो चुकी और सन्ध्या भी होगई। सो प्रात काल यहा आओ यह निश्चय है"। तब वज्रपातके समान उनके वचनको श्रवणकर अनागतविधाता सब मछलियोंको बुलाकर यह बोला,–"अहो सुना आपने जो धीमरोंने कहा? सो रातमेही किसी निकटके सरोवरमें चलो। कहा है–

अशक्तैर्बलिनः शत्रोः कर्त्तव्यं प्रपलायनम्।
संश्रितव्योऽथवा दुर्गो नान्या तेषां गतिर्भवेत्॥ ३४८॥

असमर्थोंको बलवान् शत्रुओंके निकटसे पलायन करना चाहिये अथवा दुर्गमें स्थिति करे उनको दूसरी गति नहीं है॥ ३४८॥

तन्नूनं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंक्षयं करिष्यन्ति एतन्मम मनसि वर्त्तते। तन्न युक्तं साम्प्रतं क्षणमपि अत्रावस्थातुम्। उक्तञ्च–

सो अवश्यही प्रभातसमय मत्स्यजीवी यहा आकर मत्स्योका नाश करेंगे यह मेरे मनमें वर्तता है सो इस समय क्षणमात्र भी यहा रहना उचित नहीं है। कहा है–

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्रापि सुखावहा ।
ते न पश्यन्ति विद्वांसो देहभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ३४९ ॥"

जिनको अन्य स्थानमें सुखदायक गति विद्यमान है वे विद्वान् देहभंग और कुलक्षयको नहीं देखते हैं ॥ ३४९ ॥"

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह-"अहो ! सत्यमभिहितं भवता, ममापि अभीष्टमेतत्, तदन्यत्र गम्यतामिति । उक्तञ्च-

यह सुन प्रत्युत्पन्नमति बोला-" अहो ! आपने सत्य कहा, यह मुझकोभी अभीष्टहै सो अन्य स्थानमें जाना चाहिये । कहाहै-

परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ ३५० ॥

परदेशके भयसे भीत बहुत ममतावाले नपुंसक काक कापुरुष और मृग वहीं मृतक होजातेहैं ॥ ३५० ॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्
स्वदेशरागेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ३५१ ॥ "

जिसको सर्वत्रगति विद्यमानहै वह अपने देशके रागसे क्यों नाश होताहै पिताका कुआँहै ऐसा विचार कर खारे पानीको पुरुष पीते हैं ॥ ३५१ ॥ "

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोच्चैर्विहस्य यद्भविष्यः प्रोवाच,- "अहो ! न भवद्भ्यां मन्त्रितं सम्यगेतदिति । यतः किं वाङ्मात्रेणापि तेषां पितृपैतामहिकं एतत्सरः त्यक्तुं युज्यते ?। यदि आयुःक्षयोऽस्ति तदन्यत्र गतानामपि मृत्युर्भविष्यति एव । उक्तञ्च-

यह वचन सुन ऊंचे स्वरसे हँसकर यद्भविष्य बोला,-"अहो ! आपने अच्छा मंत्र नहीं किया सो क्या वाणीमात्रसेही उन पिता पितामहादिका यह सरोवर त्यागन करदें ? यदि आयुका क्षयहै तो अन्य स्थानमें जाकर भी मृत्यु होगी । कहाहै-

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥ ३५२ ॥

अरक्षित पुरुष दैवसे रक्षित हुआ स्थित रहताहै दैवसे हत होनेसे सुरक्षितभी नष्ट होता है। वनमें त्यागन किया अनाथभी जीताहै और यत्नकरनेपर घरमें भी नहीं जीता है ॥ ३५२ ॥

तदहं न यास्यामि भवद्भ्यां च यत्प्रतिभाति तत्कर्त्तव्यम्" । अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन । अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तज्जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत् सरो निर्मत्स्यतां नीतम् । अतोऽहं ब्रवीमि "अनागतविधाता च" इति तत् ज्ञात्वा टिट्टिभ आह–"भद्रे ? किं मां यद्भविष्यसदृशं सम्भावयसि ? तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं यावदेनं दुष्टसमुद्रं स्वचञ्च्वा शोषयामि" । टिट्टिभी आह–"अहो ! कस्ते समुद्रेण सह विग्रहः ? तन्न युक्तमस्योपरि कोपं कर्तुम् । उक्तञ्च–

सो मैं तो और स्थानमें न जाऊंगा जो आपको अच्छा लगे सो करो" । तब उसके इस निश्चयको जानकर अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति परिजन (कुटुम्ब) सहित वहांसे चलेगये। प्रातःकाल धीमरोंने जालसे उस सरोवरको आलोडित कर यद्भविष्यके संग वह सरोवर मत्स्यरहित करदिया। इससे मैं कहता हूं "अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमति"। यह सुन टिट्टिभ बोला,–"भद्रे! क्या तू मुझे यद्भविष्यकी समान जानती है ? सो मेरी बुद्धिके प्रभावको देख कि, इस दुष्ट समुद्रको अपनी चोंचसे शोखे डालता हूं" । टिट्टिभी बोली,–"अहो ! समुद्रसे तुम्हारी कैसी लडाई ? सो इसके ऊपर कोप करना उचित नहीं। कहाहै–

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।
पिठरं ज्वलदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥ ३५३ ॥

असमर्थ पुरुषोंका क्रोध अपने नाशके ही निमित्त होताहै अत्यन्त जलती हुई कसेरी अपने निकटकोही जलातीहै ॥ ३५३ ॥

तथाच–

और देखो–

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतंगवत् ॥ ३५४ ॥"

जो उत्कंठित हो अपनी शक्ति और परकी शक्ति विनाजाने सन्मुख जाताहै वह अग्निमें पतंगकी समान नष्ट होजाताहै ॥ ३५४ ॥"

टिट्टिभ आह–"प्रिये ! मामैवं वद येषामुत्साहशक्तिः भवति ते स्वल्पा अपि गुरून् विक्रमन्ते । उक्तञ्च–

टिट्टिभ बोला,–"प्रिये ! ऐसा मत कहो जिनको उत्साहशक्ति होतीहै वे स्वल्पभी बडे बडोंपर आक्रमण करते हैं । कहाहै–

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षणः ।
आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाद्यापि विधुन्तुदः ॥ ३५५ ॥

क्रोधी शत्रु विशेषकर परिपूर्णकेही सन्मुख जाताहै जैसे राहु अभीतक चन्द्रमाके सन्मुख ॥ ३५५ ॥

तथाच–

औरभी देखो–

प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युतेः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ ३५६ ॥

प्रमाणसेभी अधिक, गण्डस्थलमें श्याम, मदत्यागनेवाले मत्त हाथीके सिरपर सिंह चरण रखता है ॥ ३५६ ॥

तथाच–

तैसेही–

बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सहजातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ॥ ३५७ ॥

बालक सूर्यकी किरणें पर्वतोंके ऊपर गिरती है तेजके साथ उत्पन्न हुओंकी अवस्था नहीं देखीजातीहै ॥ ३५७ ॥

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः
दीपे प्रज्वालिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।
वज्रेणापि शताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरि-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान्स्थूलेषु कः प्रत्ययः ३५८

हाथी महास्थूलहै वह अंकुशके वशमेंहै क्या अंकुश हाथीकी समान है ? दीपकके ज्वलित होनेमें अंधकार नाश होताहै क्या दीपक अंधकारकी समान है ? वज्रसे सैंकडों पर्वत गिरजाते हैं क्या वज्र पर्वतकी समान है ? तेज जिसमें है वही बलवान् है मोटे शरीरवालोंमें क्या विश्वास है ॥ ३५८ ॥

तदनया चञ्च्वास्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि"। टिट्टिभी आह-"भोः कान्त ! यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति तथा सिन्धुश्च, तत्कथं त्वमष्टादशनदीशतैः पूर्यमाणं तं विप्रुषवाहिन्या चञ्च्वा शोषयिष्यसि ?। तत् किमश्रद्धेयेन उक्तेन"। टिट्टिभ आह-"प्रिये!

सो इस चोचसे इसका सम्पूर्ण जल सुखा डालूंगा" टिट्टिभी बोली,-"भो स्वामिन्! जहां गंगा नदी नौसौ नदियोंको लेकर नित्यही प्रवेश करती है तथा सिन्धु नदभी, सो किस प्रकार तू अठारहसौ नदियोंसे पूर्यमाण उस सागरको जलकण वहन करनेवाली चोंचसे सुखासकेगा ? सो अश्रद्धेय वचनोंसे क्या लाभ है" टिट्टिभ बोला,-"प्रिये !

अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चुर्मे लोहसन्निभा।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति॥ ३५९ ॥

निर्वेदका नहोना उद्योग) लक्ष्मीका मूल है मेरी चोंच लोहनिर्मितसी है दिन रात दीर्घहै समुद्र क्यों न सूखेगा ॥ ३५९ ॥

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम्।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि॥३६०॥

परायाभाग कठिनतासे मिलताहै, परन्तु तभीतक, जबतक कि, पुरुष पुरुषार्थ नहीं करताहै तुला (संक्रमण)में प्राप्त हुआ सूर्यभी मेघसमूहको जीतताहै ३६०॥"

टिट्टिभ्याह-"यदि त्वयावश्यं समुद्रेण सह वैरानुष्ठानं कार्यं तदन्यानपि विहगानाहूय सुहृज्जनसहित एवं समाचर। उक्तञ्च-

टिट्टिभी बोली—"अवश्यही यदि समुद्रसे विग्रह करतेहो तो और विहंगमोंको बुलाकर सुहृज्जनोंके सहित ऐसाकर । कहाहै—

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैरावेष्ट्यते रज्जुर्यया नागोपि बध्यते ॥ ३६१ ॥

बहुत निर्बलोंका समूहभी दुर्जय है तिनकोंसे बनी हुई रस्सीमें हाथी बांध लिये जाते हैं ॥ ३६१ ॥

तथाच—

औरभी कहते है—

चटकाकाष्ठकूटेन मक्षिकादर्दुरैस्तथा ।
महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः ॥ ३६२ ॥

काष्ठ कूटसे चटका, मेडकोसे मक्षिका तथा महाजनोंके विरोधसे हाथी प्रलयको प्राप्त हुआ (नाश होगया) ॥ ३६२ ॥"

टिट्टिभ आह—"कथमेतत् !" सा प्राह—

टिट्टिम बोला,—"यह कैसे ?" वह बोली—

कथा १५.

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चटकदंपती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवसतः । अथ गच्छता कालेन संततिरभवत् । अन्यस्मिन्नहनि प्रमत्तो गजः कश्चित्तं तमालवृक्षं घर्मार्तश्छायार्थी समाश्रितः । ततो मदोत्कर्षात्तां तस्य शाखां चटकाक्रान्तां पुष्कराग्रेणाकृष्य बभञ्ज । तस्याः भंगेन चटकाण्डानि सर्वाणि विशीर्णानि । आयुःशेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ । अथ साण्डभंगाभिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न कथंचिदतिष्ठत । अत्रान्तरे तस्यास्तान्प्रलापाञ्छ्रुत्वा काष्ठकूटो नाम पक्षी तस्याः परमसुहृत्तद्दुःखदुःखितोऽभ्येत्य तामुवाच—"भवति ! किं वृथाप्रलापेन । उक्तञ्च—

किसी एक वनके निकट चटक चटकी तमालवृक्षमें घोंसला बनाकर रहते थे । कुछ समयके उपरान्त उनके सन्तान हुई । किसी दिन मत्त हुआ वनका

हाथी तमालवृक्षके नीचे धूपसे घबडाया छायाकी इच्छासे आबैठा, मदके उत्कर्षसे उस वृक्षकी उस शाखाको जिसपर चटक था अपनी सूडके अग्रभागसे खैंचकर तोड डाला, उसके टूटनेसे चटकके सम्पूर्ण अण्डे भग्न होगये आयु शेष रहनेसे किसी प्रकार चटका चटकी प्राणोसे वियुक्त न हुए। तब चटका निज अंडोंके भंग होनेसे तिरस्कृत हो रुदन करती कुछभी सुखको प्राप्त न हुई उसी समय इसके इस प्रलापको सुन खुटबढई नामकपक्षी उसका परमसुहृत् उसके दुःखसे दुःखी हुआ आकर उससे बोला-"भगवति! क्यों वृथा रुदन करती हो। कहाहै-

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः।
पण्डितानाञ्च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः॥ ३६३॥

नष्ट, मृत और विशीर्ण हुएका पडितजन शोच नहीं करते हैं यही पडित और मूर्खोंमें विशेषहै॥ ३६३॥

तथाच-

तैसेही-

अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति।
स दुःखे लभते दुःखं द्वावनर्थौ निषेवते॥ ३६४॥

इस ससारमें जो मूढ अशोच्योंको शोच करताहै वह दुःखमें दुःख दोनों अनर्थोंको सेवन करताहै॥ ३६४॥

अन्यच्च-

औरभी-

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतोऽवशः।
तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्य्याश्च शक्तितः॥३६५॥"

बाधवोंके त्यागन किये श्लेष्माश्रु आसुओको प्रेत अवशहोकर भोगताहै इस कारण रोना उचित नहीं शक्तिके अनुसार उसकी क्रियाकरै॥ ३६५॥"

चटका प्राह-"अस्त्वेतत्। परं दुष्टगजेन मदात् मम सन्तानक्षयः कृतः, तद्यदि मम त्वं सुहृत् सत्यस्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यतां यस्य अनुष्ठानेन मे सन्ततिनाशदुःखमपसरति। उक्तञ्च-

चटकाने कहा,—"यह सत्यहै परन्तु दुष्ट हाथीने मदसे मेरी सन्तान क्षय करडाली सो यदि तुम मेरे सत्य सुहृद् हो तो इस नीच हाथीका कोई वधोपाय चिन्तन करो जिसके करनेसे मेरी सन्ताननाशका दुःख दूरहो । कहाहै—

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ ३६६ ॥"

जिसने आपत्तिमें बुरा किया, दुःखदशामें जिसने हास्य किया उन दोनोंका अपकार करके मैं मनुष्यका फिर जन्म होना मानता हूं ॥ ३६६ ॥"

काष्ठकूट आह—"भगवति ! सत्यमभिहितं भवत्या। उक्तंच—

खुटबढई बोला--"भगवति ! तुमने सत्य कहा । कहा भी है--

स सुहृद्व्यसने यः स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन् ।
वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ३६७ ॥

चाहे अन्य जातिका है पर दुःखमें जो सहाय करे वही सुहृद् है वृद्धिमें सब देहधारियोंके सब मित्र होते हैं ॥ ३६७ ॥

स सुहृद्व्यसने यः स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान् ।
स भृत्यो यो विधेयज्ञः सा भार्य्या यत्र निर्वृतिः ॥३६८॥

वही सुहृद् है जो दुःखमें साथ दे, वही पुत्र है जो भक्तिमान् है, वही भृत्य है जो विधिका जाननेवाला है और वही भार्य्या है जिससे सुख हो ॥ ३६८ ॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं, परं ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम मक्षिका अस्ति । तत् तामाहूय आगच्छामि येन स दुरात्मा दुष्टगजो वध्यते"। अथ असौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच—"भद्रे ! मम इष्टा इयं चटका केनचिद् दुष्टगजेन पराभूता अण्डस्फोटनेन तत्तस्य वधोपायमनुतिष्ठतो मे साहाय्यं कर्तुमर्हसि" । मक्षिकापि आह—"भद्र ! किमुच्यतेऽत्र विषये । उक्तञ्च—

सो मेरी बुद्धिके प्रभावको देखो, परन्तु मेरी एक मित्रभूत वीणारवा नामक मक्खी है उसको बुलाकर आता हूं जिससे वह दुरात्मा दुष्ट हाथी मरे"। तब यह चटकाके सहित मक्षिकाको प्राप्त होकर बोला,—"भद्रे ! मेरी सुहृद् यह चटका किसी दुष्ट हाथीने अण्डे नष्ट कर तिरस्कृत की है । सो इसके वधोपायका अनु-

ष्ठान करनेमें मेरी सहायता करो" । मक्षिका बोली,-"भद्र ! इस विषयमें क्या कहते हो । कहा है-

पुनः प्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम् ।
यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न किं कृतम् ॥ ३६९ ॥

फिर प्रत्युपकारके लिये मित्रोका प्रिय किया जाता है फिर मित्रोंका कार्य मित्रें कौनसा नही करते सब करते हैं ॥ ३६९ ॥

सत्यमेतत् परं ममापि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति, तमपि आहूय यथोचितं कुर्मः । उक्तञ्च-

यह सत्य है, परन्तु मेरा मित्र एक मेघनाद नामक मेडक है सो उसेभी बुलाकर यथोचितकार्य करें, कहा है-

हितैः साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।
कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ३७० ॥"

हितकारी अच्छे आचरणवाले शास्त्रज्ञाता बुद्धिमान् विद्वानोका विचारा हुआ कभी अन्यथा नहीं होता ॥ ३७० ॥"

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्य अग्रे समस्तमपि वृत्तान्तं निवेद्य तस्थुः । अथ स प्रोवाच-"कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याग्रे । तन्मदीयो मन्त्रः कर्त्तव्यः । मक्षिके ! त्वं गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्य गजस्य कर्णे वीणारवसदृशं शब्दं कुरु, येन श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकूटचंच्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतः तृषार्त्तो मम गर्त्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा समभ्येति । ततो गर्त्तमासाद्य पतिष्यति पञ्चत्वं यास्यति च । इति । एवं समवायः कर्त्तव्यो यथा वैरसाधनं भवति" । अथ तथा अनुष्ठिते स मत्तगजो मक्षिकागेयसुखात् निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहतचक्षुः मध्याह्नसमये भ्राम्यन् मण्डूकशब्दानुसारी गच्छन् महतीं गर्त्तामासाद्य पतितो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि "चटका काष्ठकूटेन" इति ।

तब वे तीनों जाकर मेघनादके आगे समस्त वृत्तान्तको निवेदन कर स्थित हुए। तब कहने लगा कि—"क्या वस्तु है यह क्षुद्र हाथी क्रोध किये हुए महाजनोंके आगे! सो मेरी सम्मति करो। मक्षिके! तू जाकर दुपहरके समय उस मदोद्धतहाथीके कानमें वीणाशब्दकी समान शब्दकर जिससे श्रवणसुखकी लालसासे वह नेत्र मीचिलेगा, उसी समय यह खुटबढईकी चोंचसे आंख फोडा हुआ आन्धा हो प्याससे व्याकुल हुआ खाईके निकट मेरा परिवार सहित शब्द श्रवण कर जलाशय मानकर प्राप्त होगा। तब गर्तको प्राप्तहो गिरेगा और फिर मरजायगा। इसप्रकार कौशल करो तो वैरसाधन होजायगा" तब यही करनेपर मक्खीके गानसुखसे नेत्र मींचतेहीं. खुटबढईसे आंखें फोडाहुआ मध्यान्ह समय घूमता मडकके शब्दका अनुसरण करता बडे गर्तको प्राप्तहो गिरकर मरगया। इससे मैं कहताहूं "चटका खुटबढईसे इत्यादि"

टिट्टिभ आह—"भद्रे! एवं भवतु, सुहृद्वर्गसमुदायेन समुद्रं शोषयिष्यामि" इति निश्चित्य बकसारसमयूरादीन् समाहूय प्रोवाच—"भोः! पराभूतोऽहं समुद्रेणाण्डकापहारेण तच्चिन्त्यतामस्य शोषणोपायः"। ते सम्मन्त्र्य प्रोचुः" अशक्ता वय समुद्रशोषणे, तत् किं वृथाप्रयासेन। उक्तञ्च—

टिट्टिभ बोला,—"भद्रे! यही होगा सुहृद्वर्गोके सहित सागर शोषढूंगा" ऐसा निश्चय कर बक सारस मृगादिको बुलाकर बोला—"भो! मुझे अण्डे हरण कर इस सागरने पराभूत कियाहै सो इसके सुखानेका कोई उपाय करो"। वे सम्मति कर बोले,—"सागर शोषनेमे हम असमर्थ हैं क्यों वृथा प्रयास करतेहो।

अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः।
युद्धार्थं स निवर्त्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ ३७१ ॥

निर्बल और उन्नत शत्रुके पास जो मदमोहित होकर युद्धार्थ जाताहै वह शीर्णदन्त हाथीकी समान युद्धके लिये निवृत्त होता है ॥ ३७१ ॥

तदस्माकं स्वामी वैनतेयः अस्ति, तत्तस्मै सर्वमेतत् परिभवस्थानं निवेद्यतां येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्यं गच्छति। अथवा अत्रावलेपं करिष्यति तथापि नास्ति वो दुःखम्। उक्तञ्च—

सो हमारा स्वामी गरुडहै सो उसके निमित्त यह पारिभवका स्थान निवेदन करो जिससे अपने जातिके पराभवसे क्रोधित हुआ वैरकी अनृणताको प्राप्त होगा। अथवा जो अवलेप (गर्व) करेगा तोभी दुःख नहीं है। कहाहै-

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति॥३७२॥

निरन्तर चित्तवाले सुहृद्, गुणवान् भृत्य, अनुवर्ती स्त्री, शक्तिमान् स्वामीसे अपना दुःख निवेदन कर सुखी होता है॥ ३७२॥

तद्यामो वैनतेयसकशं यतोऽसौ अस्माकं स्वामी"। तथा अनुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशः वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्तुमारब्धाः-"अहो अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्! अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति, समुद्रेण अण्डानि अपहृतानि। तत् प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम्। अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते। उक्तञ्च-

सो हम गरुड़के पास जाते हैं क्यों कि, यह हमारा स्वामी है" ऐसा करनेपर सब पक्षी दुःखी मुख नेत्रोंमें आसुभरे गरुडजीको प्राप्तहो करुणास्वरसे स्वांस लेने लगे। "अहो! अवध्य है अवध्यहै!! कि, इस सदाचार टिट्टिभके अण्डे सागरने हरण करलिये। सो अब पक्षिकुल नष्ट हुआ। औरोंकोभी स्वेच्छासे सागर नष्ट करेगा। कहाहै-

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्तोऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥ ३७३॥

एकका कुत्सित कर्म देखकर दूसरेभी वैसा करते हैं लोककी भेडा चालहै परमार्थकी नहीं॥ ३७३॥

तथाच-

और देखो-

चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कूटच्छद्मादिभिस्तथा॥३७४॥

चाटुकार दुर्वृत्त साहसियोंसे (दुर्जन) तथा कपट छलवालोंसे पीडित हुई प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३७४ ॥

प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।
अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥

रक्षा करनेसे राजाको प्रजाके धर्मका छठाभाग मिलताहै और, जो रक्षा नहीं करता उसको अधर्मका छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ३७५ ॥

प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥ ३७६ ॥

प्रजापीडनके सन्तापसे उठीहुई अग्नि राजाकी लक्ष्मी कुल और प्राणोंको दग्ध करकेही निवृत्त होती है ॥ ३७६ ॥

राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥

अबन्धुओंका राजाही बन्धुहै, अनेत्रोंका राजाही नेत्रहै सब न्यायमें वर्तनेवालोंका पिता माता राजाही है ॥ ३७७ ॥

फलार्थी पार्थिवो लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ ३७८ ॥

फलकी इच्छावाला यत्नसे लोकोंकी पालना करे और उनका दान मानकरे जैसे माली जलसे अंकुरोंको पालता है ॥ ३७८ ॥

यथा बीजांकुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ ३७९ ॥

जिसप्रकार सूक्ष्म बीजांकुर यत्नसे रक्षा किया हुआ कालमें फल देनेवाला होताहै इसी प्रकार सुरक्षित लोक भी है ॥ ३७९ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्नृपस्य तत् ॥ ३८० ॥

सुवर्ण, धन, रत्न अनेक विमान और जो कुछभीहै राजाको सब प्रजासे प्राप्त होताहै ॥ ३८० ॥"

अथ एवं गरुडः समाकर्ण्य तद्दुःखदुःखितः कोपाविष्टश्च व्यचिन्तयत्। "अहो ! सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः तदद्य गत्वा

तं समुद्रं शोषयामः"। एवं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूतः समागत्य आह-"भो गरुत्मन्! भगवता नारायणेन अहं तव पार्श्वे प्रेषितः, देवकार्य्यार्थ भगवान् अमरावत्यां यास्यतीति तत् सत्वरमागम्यताम्"। तच्छ्रुत्वा गरुडः साभिमानं प्राह,-"भो दूत! किं मया कुभृत्येन भगवान् करिष्यति। तद्गत्वा तं वद यदन्यो भृत्यो वाहनार्थ अस्मत्स्थाने क्रियताम्। मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवतः। उक्तञ्च-

यह वचन गरुड सुन उसके दुःखसे दुःखी हुआ क्रोधकर विचारने लगा। "अहो! इन पक्षियोंने सत्य कहा सो आज जाकर उस सागरको शोषलेंगे"। उसके यह विचार करनेमें विष्णुदूत आनकर बोला,-"भो गरुड! नारायण भगवान्ने मुझे तुम्हारे पास भेजाहै। देवकार्य्यके निमित्त भगवान् अमरावतीको जायगे सो शीघ्र आओ"। यह सुन गरुड अभिमानपूर्वक बोला,-"भो दूत! मुझ कुभृत्यसे भगवान् क्या करेंगे। सो जाकर उनसे कहो किसी और भृत्यको मेरे स्थानमें वहनयोग्य करें। भगवान्से मेरा नमस्कार कहदेना। कहाहै-

यो न वेत्ति गुणानस्य न तं सेवेत पण्डितः।
न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव॥ ३८१॥"

जो जिसके गुण नहीं जानता बुद्धिमान्को चाहिये कि, उसकी सेवा नकरे उससे कुछ फल नहीं प्राप्त होताहै जैसे जोती हुई ऊषरभूमिसे॥ ३८१॥"

दूत आह-"भो वैनतेय! कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया न एतदभिहितमीदृक्। तत् कथय किं ते भगवता अपमानस्थानं कृतम्?" गरुड आह-"भगवदाश्रयभूतेन समुद्रेण अस्मट्टिट्टिभाण्डानि अपहृतानि, तद्यदि तस्य निग्रहं न करोति तदहं भगवतो न भृत्य इत्येष निश्चयस्त्वया वाच्यः। तद्द्रुततरं गत्वा भवता भगवतः समीपे वक्तव्यम्"। अथ दूतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवान् चिन्तयामास। "अहो! स्थाने कोपो वैनतेयस्य, तत् स्वयमेव गत्वा सम्मानपुरःसरं तमानयामि। उक्तञ्च,-

दूत बोला,—"भो गरुड ! कभीभी भगवान्के प्रति तुमने ऐसे वचन नहीं कहेथे सो कहतो भगवान्ने तुम्हारा क्या अपमान किया है ? ।" गरुड बोला,—"भगवान्के आश्रयभूत सागरने इस टिट्टिभके अण्डे ग्रहण करलिये सो यदि सागरको दण्ड न दियागया तो मैं भगवान्का भृत्य नहीं यह मेरा निश्चय तू कह देना सो तुम शीघ्र जाकर भगवान्से कहो" । तब दूतसे प्यारसे क्रोधित हुए गरुडको जानकर भगवान् विचारने लगे। "अहो ! गरुडका क्रोध सत्यही है सो, स्वयं जाकर सन्मानपूर्वक उसको लाऊं । कहा है—

भक्तं शक्तं कुलीनञ्च न भृत्यमपमानयेत् ।
पुत्रवल्लालयेन्नित्यं य इच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥ ३८२ ॥

भक्त समर्थ और कुलीन सेवकका तिरस्कार न करे जो अपना मंगल चाहै तो पुत्रवत् उसको लालन पालन करे ॥ ३८२ ॥

अन्यच्च—

और भी—

राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
तेतु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥"

राजा भृत्योंपर: सन्तुष्ट हो धनमात्र देता है और भृत्य सम्मानित हुए प्राण तक लगा देते हैं ॥ ३८३ ॥"

इत्येवं सम्प्रधार्य्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत्, वैनतेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाधोमुखः प्रणम्योवाच—"भगवन् ! त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यस्य अण्डानि अपहृत्य ममापमानो विहितः । परं भगवल्लज्जया मया विलम्बितं नोचेदेनमहं स्थलान्तरमद्यैव नयामि, यतः स्वामिभयाच्छुनोऽपि प्रहारो न दीयते । उक्तञ्च—

ऐसा विचारकर गरुडके नगर रुक्मपुरमें गरुडके निकट बहुत शीघ्र गये । गरुड भी घर आये भगवान्को देख लज्जासे नीचे मुखकर प्रणाम कर बोला,—"भगवन् ! तुम्हारे आश्रयसे उन्मत्त हुए समुद्रने मेरे भृत्यके अण्डे लेकर मेरा अपमान किया । सो आपकी लज्जासेही देर करी नहीं तो इसे मैं आजही शुष्क करदूं, परन्तु स्वामीके भयसे कुत्तेको भी नहीं माराजाता । कहा है—

येन स्याल्लघुता वाथ पीडा चित्ते प्रभोः क्वचित् ।
प्राणत्यागेऽपि तत्कर्म न कुर्य्यात्कुलसेवकः ॥ ३८४॥"

जिससे लघुता वा प्रभुके चित्तमें कुछभी पीडाहो कुलसेवक् प्राणके त्यागमें भी वह कर्म न करे ॥ ३८४ ॥"

तच्छ्रुत्वा भगवान् आह—"भो वैनतेय ! सत्यमभिहितं भवता । उक्तञ्च—

यह सुनकर भगवान् बोले,—"हे गरुडजी ! आपने सत्य कहा, कहाहै कि—

भृत्यापराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जापि तस्योत्था न भृत्यस्य तथा पुनः ॥ ३८५ ॥

भृत्यके अपराधसे उत्पन्न हुआ दण्ड स्वामीको होता है उससे उस स्वामीको जो लज्जा होती है ऐसी भृत्यको नहीं ॥ ३८५ ॥

तदागच्छ येन अण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभं सम्भावयावः अमरावतीञ्च गच्छावः" । तथानुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भर्त्स्य आग्नेयं शरं सन्धाय अभिहितः,—"भो दुरात्मन् ! दीयन्तां टिट्टिभाण्डानि नो चेत् स्थलतां त्वां नयामि" । ततः समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाण्डानि तानि प्रदत्तानि, टिट्टिभेनापि भार्य्यायै समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि, "शत्रोर्बलमविज्ञाय" इति ।

सो आओ समुद्रसे अण्डे लेकर टिट्टिभका सत्कार करें और अमरावतीको जाय । ऐसा करनेपर सागरको भगवान्ने घुडक अग्निबाण चढाकर कहा—"दुरात्मन् टिट्टिभके अण्डे दे नहीं तो तुझको शुष्क कर दूंगा" । तब सागरने डरकर टिट्टिभके अण्डे वे देदिये । टिट्टिभने अपनी स्त्रीको समर्पण किये इससे मैं कहता हूं "शत्रुका बल विना जाने इत्यादि" ॥

तस्मात् पुरुषेण उद्यमो न त्याज्यः" । तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि पप्रच्छ,—"भो मित्र ! कथं ज्ञेयो मया असौ दुष्टबुद्धिरिति । इयन्तं कालं यावदुत्तरोत्तरस्नेहेन प्रसादेन च अहं दृष्टो न कदाचित् तद्विकृतिर्दृष्टा, तत् कथ्यतां येना-

ह्मात्मरक्षार्थं तद्वधाय उद्यमं करोमि" । दमनक आह-"भद्र ! किमत्र ज्ञेयं ? एष ते प्रत्ययः, यदि रक्तनेत्रस्त्रिशिखां भ्रुकुटिं दधानः सृक्किणी परिलेलिहन् त्वां दृष्ट्वा भवति तद्दुष्टबुद्धिरन्यथा सुप्रसादश्चेति तदाज्ञापय माम्, स्वाश्रयं प्रति गच्छामि । त्वया च यथा अयं मन्त्रभेदो न भवति तथा कार्य्यम् । यदि निशामुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोषि तद्देशत्यागः कार्य्यः । यतः-

इस कारण पुरुषको उद्यम त्यागन करना न चाहिये" यह सुनकर संजीवक फिर उससे पूछने लगा-"भो मित्र ! मैं कैसे जानूं कि, यह दुष्टबुद्धि है । इतने समयतक उत्तरोत्तर बढेहुए स्नेहसे और प्रसन्नतासे उसको देखा कभी उसका विकार नहीं देखा । सो कह जिससे मैं अपनी रक्षा उसके वधके निमित्त उद्योग करूं" । दमनक बोला,-"भद्र ! मैं इसमें क्या जानूं । यह तुम्हारा विश्वास है ! जो लाल नेत्र शिखा किये टेढी भौंहें जीभ चाटता हुआ तुझे देखे तब जानना कि, यह दुष्टबुद्धि है नहीं तो प्रसन्न जानना ! सो मुझे आज्ञा दो कि मैं अपने आश्रमको जाऊ । परन्तु यह हमारा मंत्रभेद न हो ऐसा तुमको करना चाहिये । और जो रात्रिके समय जानेमें समर्थ हो तो यह देश त्यागन कर । क्योंकि-

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत ॥ ३८६ ॥

कुलके निमित्त एकको त्यागन करे, ग्रामके निमित्त कुलको त्यागे, देशके निमित्त ग्रामको और आत्माके निमित्त पृथ्वीको भी त्यागे ॥ ३८६ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ३८७ ॥

आपत्तिके निमित्त धनकी रक्षाकरे, स्त्रियोंको धनसे रक्षाकरे, और आत्माको स्त्री और धनसे सदा रक्षाकरे ॥ ३८७ ॥

बलवताभिभूतस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वा नीतिः । तद्देशत्यागः कार्य्यः । अथवा आत्मा सामादिभिरुपायैरभिरक्षणीयः । उक्तञ्च-

बलवान्से तिरस्कृत हो विदेशगमन अथवा उसका आश्रय करनाही नीति है सो देशका त्याग करना उचित है। अथवा आत्मा सामादि उपायोंसे रक्षाके योग्य है। कहा है-

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान्नरक्षेत पंडितः।
विद्यमानैर्यतस्तैः स्यात्सर्वं भूयोऽपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥

पंडित पुत्र और कलत्रोंकेभी जानेसे प्राणोंकी रक्षा करे, कारण कि, प्राणोंके रहनेसे देहधारियोंको फिरभी सब होजाते हैं ॥ ३८८ ॥

तथाच-

और देखो-

येन केनाप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ॥

जिस किसी शुभ वा अशुभ उपायसे दीन आत्माका उद्धार करना, कारण कि, समर्थ होकर धर्म करसकेगा ॥ ३८९ ॥

यो मायां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु।
तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत् ॥ ३९० ॥"

जो मूर्ख प्राणत्यागमे धनादिकोंमें ममता करता है उसके प्राण नष्ट होते हैं उनके नष्ट होनेमे वह सब नष्टहैही ॥ ३९० ॥"

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमत् । करटकोऽपि तमायान्तं दृष्ट्वा प्रोवाच-"भद्र ! किं कृतं तत्र-भवता ?" दमनक आह-" मया यावत् नीतिबीजनिर्वापणं कृतं परतो दैवविहितायत्तम्। उक्तञ्च यतः-

यह कह दमनक करटकके समीप गया। करटक उसे आया देखकर बोला-"भद्र ! क्या किया आपने ?" दमनक बोला-"मैंने तो नीतिबीज बोदिया आगे करना दैवके आधीन है। क्योंकि कहाहै-

पराङ्मुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्य्यं विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च ॥ ३९१ ॥

दैवके पराङ्मुख होनेपरभी अपने दोष नाशकरने और स्वचित्तके स्तम्भन करनेके निमित्त बुद्धिमान्को कार्य करना चाहिये ॥ ३९१ ॥

तथाच–

और देखो–

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥३९२॥"

उद्योगी पुरुषसिंह लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं । दैव देता है यह कायर पुरुष कहते हैं दैवको त्याग आत्मशक्तिसे पुरुषार्थ करो यत्न करनेपर यदि सिद्ध न हो तो किसीका क्या दोष है ॥ ३९२ ॥"

करटक आह–"तत् कथय कीदृक् त्वया नीतिबीजं निर्वापितम्?" । सोऽब्रवीत्–"मया अन्योन्यं ताभ्यां मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो यथा भूयोऽपि मन्त्रयन्तौ एकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि" । करटक आह–"अहो ! न युक्तं भवता विहितं यत्परस्परं तौ स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ । उक्तञ्च–

करटक बोला–"सो कहो किस प्रकार आपने नीतिबीज बोया ?" । वह बोला–"मैने परस्पर उन दोनोंका मिथ्या उक्तियोंसे इस प्रकार भेद किया है कि, फिर उनको एक स्थानमें मंत्रणा करते हुए तुम न देखोगे" करटक बोला,–"अहो ! आपने यह युक्त नहीं किया जो परस्पर स्नेहसे आर्द्रहृदयवाले सुखके आश्रय उन दोनोंको कोपसागरमें डाला । कहाहै–

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गे नियोजयेत् ।
जन्मजन्मान्तरे दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥ ३९३ ॥

अविरुद्ध और सुखमें स्थित हुओंको दुःखमार्गमें लगाता है वह मनुष्य जन्म जन्मान्तरमें दुःखी होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९३ ॥

अपरं त्वं यद्भेदमात्रेणापि तुष्टस्तदपि अयुक्तं यतः सर्वोऽपि जनो विरूपकरणे समर्थो भवति नोपकर्तुम् । उक्तञ्च–

और जो तू भेदमात्रसेही सन्तुष्ट है सोभी अयुक्त है जो कि, सम्पूर्ण जन विरूप करनेमें समर्थ होता है उपकार करनेको नहीं । कहाहै–

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं नचोन्नमितुम्॥ ३९४॥"

नीच परकार्यका नाश करनाही जानता है सिद्ध करना नहीं। वायुकी शक्ति वृक्ष उखाडनेकी है जमानेकी नहीं॥ ३९४॥"

दमनक आह–"अनभिज्ञो भवान् नीतिशास्त्रस्य, तेन एतद् ब्रवीषि। उक्तञ्च यतः–

दमनकने कहा–"आप नीतिशास्त्रको नहीं जानते इस कारण ऐसा कहते हो। कहाहै–

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते॥ ३९५॥

उत्पन्न होतेही जो व्याधि और शत्रुको शान्त नहीं करता है वह महाबलभी उसके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर नष्ट होता है॥ ३९५॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माकं मंत्रिपदापहरणात्। उक्तञ्च–

सो यह हमारा मन्त्रिपद हरनेसे शत्रुभूत है। कहाहै–

पितृपैतामहं स्थानं यो यस्यात्र जिगीषते।
स तस्य सहजः शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थितः॥ ३९६॥

जो जिसका पितृ पितामहका स्थान जीतनेकी इच्छा करताहै वह उसका सहज (स्वाभाविक) शत्रु है वह प्रियमें स्थितभी नाशके योग्य है॥ ३९६॥

तत् मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावत् तावदहमपि तेन साचिव्यात् प्रच्यावितः। अथवा साधु चेदमुच्यते।

सो पहले मैं उदासीनतासे अभयदान देकर उसको लाया था सो उसने पहले मुझेही मन्त्रिपदसे च्यावित किया। अथवा सत्य कहाहै–

दद्यात्साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं
तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमानः स्वयं सः।
तस्माद्देयो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमानां
जारोऽपि स्याद्गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र॥ ३९७॥

यदि साधु अपने स्थानमें दुर्जनका प्रवेश करादेताहै सो वह उस पदकी स्वयं इच्छा करता हुआ उसके नाशके लिये यत्न करता है इसकारण बुद्धिमानोंको चाहिये कि, अधमोंको प्रवेश न दे यह सुना जाता है कि, जारभी गृहपति होता है ॥ ३९७ ॥

तेन मया तस्योपरि वधोपाय एष विरच्यते । देशत्यागाय वा भविष्यति । तच्च त्वां मुक्त्वा अन्यो न ज्ञास्यति, तद्युक्तमेतत् स्वार्थायानुष्ठितम् । उक्तञ्च यतः–

इस कारण मैंने उसके ऊपर यह वधका उपाय रचा है । अथवा देशत्याग होगा । सो यह तुम्हारे सिवाय और कोई न जानेगा सो युक्तहीहै और यहभी स्वार्थके निमित्तही अनुष्ठान कियाहै । जो कि कहाहै–

निस्त्रिंशं हृदयं कृत्वा वाणीं क्षुरसमोपमाम् ।
विकल्पोऽत्र न कर्त्तव्यो हन्यात्तत्रापकारिणम् ॥ ३९८ ॥

हृदयको खड्ग सरीखा और वाणीको क्षुरकी समान करके विना विचारे अपकारीको मारना चाहिये ॥ ३९८ ॥

अपरं मृतोऽपि अस्माकं भोज्यो भविष्यति, तदेकं तावद्वैरसाधनम् । अपरं साचिव्यञ्च भविष्यति तृप्तिश्चेति । तद् गुणत्रयेऽस्मिन् उपस्थिते कस्मान्मां दूषयसि त्वं जाड्यभावात् । उक्तञ्च–

और मरकरभी वह हमारा भोज्य होगा । सो एक तो वैर साधन होगा और मंत्रिपद तथा तृप्ति होगी । सो तीन गुणोंको उपस्थित होनेमें मूर्खतासे तू क्यों मुझको दूषित करता है । कहा है–

परस्य पीडनं कुर्वन्स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः ।
मूढबुद्धिर्न भक्षेत वने चतुरको यथा ॥ ३९९ ॥"

पंडितजन पराई पीडा करकेभी स्वार्थसिद्धि करते हैं मूढबुद्धि तो भोगको समर्थ नहीं होता जैसे वनमें चतुरक ॥ ३९९ ॥"

करटक आह–"कथमेतत् ?" स आह–

करटक बोला–"यह कैसे ?" वह बोला–

कथा १६.

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः। तस्य चतुरकक्रव्यमुखनामानौ शृगालवृकौ भृत्यभूतौ सदैवानुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसतः। अथ अन्यदिने सिंहेन कदाचित् आसन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद् भ्रष्टा उष्ट्री उपविष्टा कस्मिंश्चिद्वनगहने समासादिता। अथ तां व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति, तावज्जीवल्लघुदासेरकशिशुर्निष्क्रान्तः। सिंहोऽपि दासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिमुपागतः परं स्नेहात् बालदासेरकं त्यक्तं गृहमानीय इदमुवाच— "भद्र! न तेऽस्ति मृत्योर्भयं मत्तो न अन्यस्मादपि। ततः स्वेच्छया अत्र वने भ्राम्यतामिति। यतस्ते शंकुसदृशौ कर्णौ ततः शंकुकर्णो नाम भविष्यसि"। एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि ते एकस्थाने विहारिणः परस्परमनेकप्रकारगोष्ठीसुखमनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। शंकुकर्णोऽपि यौवनपदवीमारूढः क्षणमपि न तं सिंहं मुञ्चति। अथ कदाचित् वज्रदंष्ट्रस्य केनचिद्वन्येन मत्तगजेन सह युद्धमभवत्। तेन मदवीर्य्यात् स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो विहितो यथा प्रचलितुं न शक्नोति। तदा क्षुत्क्षामकण्ठः तान् प्रोवाच—"भो! अन्विष्यतां किञ्चित्सत्त्वं येन अहमेवं स्थितोऽपि तं व्यापाद्य आत्मनो युष्माकञ्च क्षुत्प्रणाशं करोमि। तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि वने सन्ध्याकालं यावद्भ्रान्ताः परं न किंचित्सत्त्वमासादितम्। अथ चतुरकः चिन्तयामास। "यदि शंकुकर्णोऽयं व्यापाद्यते ततः सर्वेषां कतिचिद्दिनानि तृप्तिर्भवति परं नैनं स्वामी मित्रत्वादाश्रयसमाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति। अथवा बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं प्रतिबोध्य तथा करिष्ये यथा व्यापादयिष्यति। उक्तञ्च—

किसी वनमें वज्रदष्ट्रनाम सिंह रहताथा उसके चतुरक और क्रव्यमुखनामवाले शृगाल वृक भृत्य सदानुगामी उस वनमे रहते थे। दूसरे दिन सिंहने एक

समय प्रसव समीपवाली प्रसववेदनासे अपने यूथसे भ्रष्ट हुई ऊंटनी बैठी हुई गहन वनमें देखी (पाई) उसको मारकर जबतक पेट फोडता है तबतक जीता हुआ छोटा ऊंटनीका बच्चा निकला । सिंहभी ऊंटनीके मांससे परिवार-सहित परम तृप्तिको प्राप्त हुआ परंतु स्नेहसे बालक ऊंटनीके त्यागे बच्चेको घरमें लाकर यह बोला—"भद्र ! तेरेको मृत्युसे भय नहीं न मुझसे न अन्यसे । सो स्वेच्छासे अपने वनमें भ्रमण करो । जो कि, तेरे शंकुकी समान कानहैं इससे तेरा शंकुकर्ण नाम होगा" । ऐसा अनुष्ठान कर फिर वे चारों एक स्थानमें विहार करते परस्पर अनेक प्रकार गोष्ठीसुख अनुभव करते स्थित थे । शंकुकर्णभी यौवनपदवीको प्राप्त हुआ क्षणमात्रभी सिंहको न छोडता । कभी वज्रदंष्ट्रका किसी दूसरे वनके हाथीके साथ युद्ध हुआ । उससे मदके वीर्यसे वह दन्तके प्रहारोंसे इस प्रकार क्षतशरीर होगया कि, एक पगभी चलनेको समर्थ न हुआ । तब भूँखसे व्याकुल हुआ उनसे बोला—"भो ! कोई जीव ढूंढो जो मैं इस दशामें स्थित हुआभी उसको मारकर अपनी और तुम्हारी क्षुधा शान्त करूं." यह सुनकर वे तीनों वनमें सन्ध्याकाल पर्यन्त घूमे परन्तु कोई जीव न मिला । तब चतुरक विचार करनेलगा "जो यह शंकुकर्ण माराजाय तो सबकी कुछ दिनोंतक तृप्तिहो परन्तु मित्र तथा आश्रित होनेसे स्वामी इसको न मारेगा । अथवा बुद्धिके प्रभावसे स्वामीको समझाकर ऐसा करूंगा जैसे वह मारडाले । कहाहै—

अवध्यं चाथवागम्यमकृत्यं नास्ति किंचन ।
लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात्तां विनियोजयेत् ॥ ४०० ॥"

इस संसारमें बुद्धिमानोंको कोई अवध्य, अगम्य और अकृत्य नहीं है इस कारण बुद्धिको कार्यमें लगावे ॥ ४०० ॥

एव विचिन्त्य शंकुकर्णमिदमाह,—"भोः शंकुकर्ण ! स्वामी तावत्पथ्यं विना क्षुधया परिपीड्यते स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुवं विनाश एव । ततो वाक्यं किञ्चित् स्वाम्यर्थे वदिष्यामि । तत् श्रूयताम्" । शंकुकर्ण आह—"भोः ! शाघ्र निवेद्यतां येन ते वचनं शीघ्रं निर्विकल्पं करोमि । अपरं स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भविष्यति" । अथ चतुरक आह—"भो भद्र ! आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन

स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा भवति"। तदाकर्ण्य शंकुकर्णः प्राह,-"भद्र! यदि एवं तन्मदीयप्रयोजनमेतदुच्यताम्। स्वाम्यर्थः क्रियतामिति, परमत्र धर्मः प्रतिभूः"। इति ते विविच्य सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः। ततः चतुरक आह-"देव! न किञ्चित सत्त्वं प्राप्तम्। भगवानादित्योऽपि अस्तङ्गतः। तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति ततः शंकुकर्णोऽयं द्विगुणवृद्धया स्वशरीरं प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा"। सिंह आह-"भो! यदि एवं तत सुन्दरतरम्, व्यवहारस्य अस्य धर्मः प्रतिभूः क्रियताम्"इति। अथ सिंहवचनानन्तरं वृकशृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शंकुकर्णः पञ्चत्वमुपागत.। अथ वज्रदंष्ट्रः चतुरकमाह-"भोः चतुरक! यावदहं नदीं गत्वा स्नानं देवतार्चनविधिं कृत्वा आगच्छामि, तावत् त्वया अत्र अप्रमत्तेन भाव्यम" इत्युक्त्वा नद्यां गतः। अथ तस्मिन् गते चतुरकः चिन्तयामास, कथं मम एकाकिनो भोज्योऽयमुष्ट्रो भविष्यतीति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह,-"भोः क्रव्यमुख! क्षुधालुर्भवान्, तद्यावदसौ स्वामी न आगच्छति तावत त्वमस्य उष्ट्रस्य मांसं भक्षय। अहं त्वां स्वामिनो निर्दोषं प्रतिपादयिष्यामि"। सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत् किञ्चिन्मांसं आस्वादयति तावच्चतुरकेणोक्तम्,-"भोः क्रव्यमुख! समागच्छति स्वामी, तत् त्यक्त्वा एनं दूरे तिष्ठ येनास्य भक्षणं न विकल्पयति"। तथानुष्ठिते सिंहः समायातो यावदुष्ट्रं पश्यति तावद्रिक्तीकृतहृदयो दासेरकः। ततो भ्रुकुटिं कृत्वा परुषतरमाह-"अहो! केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतो येन तमपि व्यापादयामि"। एवमभिहिते क्रव्यमुखः चतुरकमुखं अवलोकयति, "किल तद्वद किंचिद्येन मम शान्तिर्भवति"। अथ चतुरको विहस्योवाच-"भो! मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वा अधुना मन्मुखमवलोकयसि! तत् आस्वादय

अस्य दुर्णयतरोः फलम्'' इति । तदाकर्ण्य ऊर्ध्वमुखो जीवनाशभयाद्दूरदेशं गतः । एतस्मिन् अन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः । तस्याग्रसरोष्ट्रस्य कंठे महती घंटा बद्धा तस्याः शब्दं दूरतोऽपि आकर्ण्य सिंहो जम्बूकमाह--''भद्र ! ज्ञायतां किमेष रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः'' । तच्छ्रुत्वा चतुरकः किंचिद्वनान्तरं गत्वा सत्वरमभ्युपेत्य प्रोवाच,--''स्वामिन्! गम्यतां गम्यतां यदि शक्नोषि गन्तुम्''। सोऽब्रवीत्,--''भद्र ! किमेवं मां व्याकुलयसि, तत कथय किमेतत्''इति । चतुरक आह--''स्वामिन् ! एष धर्म्मराजः तवोपरि कुपितः, यदनेन अकाले दासेरकोऽयं मदीयो व्यापादितः तत्सहस्रगुणमुष्ट्रमस्य सकाशाद् ग्रहीष्यामीति निश्चित्य बृहन्मानमादाय अग्रेसरस्य उष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां बद्धा वध्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव''। सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा सर्वतो दूरादेव अवलोक्य मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात् प्रनष्टः।चतुरकोऽपि शनैः शनैः तस्य उष्ट्रस्य मांसं भक्षयामास । अतोऽहं ब्रवीमि, ''परस्य पीडनं कुर्वन् '' इति ।

यह विचार कर शंकुकर्णसे बोला--''भो शंकुकर्ण ! स्वामी पथ्यके विना क्षुधासे पीडित होता है । स्वामीके न होनेसे हमाराभी अवश्य मरण हो जायगा सो जो कुछ वाक्य स्वामीके निमित्त कहूं वह सुन'' । शंकुकर्ण बोला--''भो ! शीघ्र निवेदन करो जो मैं शीघ्र तुम्हारे वचन वे विचारे करूं औरभी स्वामीके हित करनेमें मेरे सौ सुकृत होंगे'' तब चतुरक बोला--''भो भद्र ! अपने शरीरको दुगुण लाभके लिये स्वामिको दो, जिससे तेरा दूना शरीर हो जायगा । और स्वामीकी प्राणयात्रा होगी '' । यह सुन शंकुकर्ण बोला--''भद्र ! जो ऐसा है तो मेरा प्रयोजन यह कहो, स्वामीका अर्थ करो परन्तु इसमें धर्मही साक्षी है'' । इस प्रकार वे सब विचार सिंहके समीप गये । तब चतुरक बोला--''देव ! कोई जीव नहीं मिला, भगवान् सूर्यभी अस्ताचलको प्राप्त हुए सो यदि स्वामी दुगुणशरीर प्रदान करें तो यह शंकुकर्ण यह द्विगुणवृद्धिसे धर्मका

विश्वास कर अपने शरीरको देगा," सिंह बोला-"भो ! यदि ऐसा है तो यह सुन्दरतरहै, यह व्यवहारका कर्महै इसमें धर्मका प्रतिभू करो" । तब सिंहके वचनके उपरान्त वृक शृगालोंने उसकी दोनों कोख विदिर्ण करदीं और शकुकर्ण मरगया । तब वज्रदंष्ट्र चतुरकसे बोला-"भो चतुरक ! जबतक मैं नदीमें जाकर स्नान देवतार्चनविधि करके आताहू तबतक तुझे यहा सावधान रहना चाहिये" ऐसा कह नदीको गया । उसके जानेमें चतुरक विचारने लगा । "कैसे मुझ इकलेकोही यह ऊट खानेको मिले" यह विचार क्रव्यमुखसे बोला-"भो क्रव्यमुख ! आप भूखेहो सो जबतक स्वामी न आवे तबतक तुम इस ऊटके मासको खाओ मैं तुझको स्वामीसे निर्दोष प्रतिपादन करूगा." वहभी यह वचन सुन जबतक कुछ मास खाता है तबतक चतुरकने कहा-"भो क्रव्यमुख ! स्वामी आताहै सो इसको त्यागकर दूरहो, जो इसके भक्षणमे विकल्प न हो" ऐसा करनेपर सिंह आनकर ऊटको देखने लगा तो, रीताहृदय ऊट देखा । तब टेढी भौं करके क्रोधकर बोला-"अहो ! किसने यह ऊंट झूठा कर दिया, जिससे उसकोभी मारू" ऐसा कहनेपर क्रव्यमुख चतुरकका मुख देखने लगा "निश्चयही उसको कह जिससे मेरी शान्ति हो" तब चतुरक हँसकर बोला-"भो ! मुझको अनादर कर मास खाकर अब मेरा मुख देखता है सो उस दुर्नीतिरूपी वृक्षका फल आस्वादन करो" । यह सुनकर क्रव्यमुख जीवनाशके भयसे दूरस्थानमें चलागया, इसी समय उस मार्गमे ऊटोंका समूह बोझसे लादाहुआ आया, उसके आगे ऊटके गलेमें एक बडा घण्टा बँधाथा । उसके शब्दको दूरसेही सुनकर सिंह जम्बूकसे बोला-"भद्र ! देखो तो यह किसका कठोर शब्द सुनाई देता है जो पहले सुना नहीं था" । यह सुनकर चतुरक कुछ दूर वनान्तरमें जाकर, शीघ्रतासे आकर बोला-"स्वामिन् ! जाओ जाओ यदि जानेमें समर्थ होतो" । वह बोला-"भद्र ! क्यों मुझको व्याकुल करते हो । सो कहो यह क्या है." चतुरक बोला-"स्वामिन् ! ये धर्मराज तुम्हारे ऊपर क्रोध किये हैं कि, इसने अकालमें यह हमारा ऊट नाश किया सो हजार गुणा उस ऊटका इससे ग्रहण करूगा ऐसा कह महापरिमाण ग्रहण कर आगेको ऊंटमें घटा बाव ऊंटमें मन लगाय उसके पितामहादिको लिये वैर लेनेके निमित्त आताही है" । सिंहभी यह वचन सुन दूरसे देख मरे ऊटको छोड

प्राणभयसे भागगया, चतुरकभी सहज २ उसका मांस खाता भया, इससे मैं कहता हूं "परका पीडन करके इत्यादि" ।

अथ दमनके गते सञ्जीवकश्चिन्तयामास, "अहो ! किमेतन्मया कृतं यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्यानुगः संवृत्तः । अथवा साधु इदमुच्यते-

तब दमनकके जानेसे संजीवक विचारने लगा,—"अहो यह मैंने क्या किया,जो मैं घास खानेवाला इस मांसभोजीका अनुगामी हुआ।अथवा यह सत्य कहा है कि—

अगम्यान्यः पुमान्याति असेव्यांश्च निषेवते ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ४०१ ॥

जो पुरुष अगम्योंमें गमन करता है, असेव्योंको सेवन करता है, वह मृत्युको प्राप्त होता है जैसे खचरी गर्भके धारण करनेसे ॥ ४०१ ॥

तत् किं करोमि, क्व गच्छामि, कथं मे शान्तिर्भविष्यति, अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि, कदाचिन्मां शरणागतं रक्षति प्राणैर्न वियोजयति । यत उक्तञ्च-

सो मैं क्या करूं कहां जाऊं किस प्रकार मेरी शान्ति होगी अथवा उसी पिंगलकके पास जाऊं कदाचित् मुझ शरण आये हुएको प्राणोंसे वियुक्त न करेगा रक्षा करेगा । कहाहै—

धर्म्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचित्
तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्य्यो विशेषान्नयः ।
लोके ख्यातिमुपागतात्र सकले लोकोक्तिरेषा यतो
दग्धानां किल वह्निना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः॥४०२॥

इस लोकमें धर्मार्थ यत्न करनेमें यदि दैवात् कुछ विपत्तिभी होजाय, तो उसकी शान्तिके लिये सुमतियोंको विशेष नीति करनी चाहिये कारण कि, सब लोकमें यह बात विख्यात है कि, जलेहुए स्थानपर अग्निका सेकही हितकारक होता है ॥ ४०२ ॥

तथाच-

औरभी कहाहै—

लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं
नित्यं समाश्रितवतां सुहितक्रियाणाम् ।

भावार्जितं शुभमथाप्यशुभं निकामं
यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतुः ॥ ४०३ ॥

इस लोकमें शरीरधारियोंको अपने कर्मका विपाक होताही है जो कि, नित्य अपने कर्तव्यसे अच्छी प्रकार कियाही है। तथा जो शुभ अशुभभावसे अर्जन किया है और जो होनहार है वह होगाही इसमें विचारकी आवश्यकता नहीं ॥ ४०३ ॥

अपरं च, अन्यत्र गतस्यापि मे कस्यचित् दुष्टसत्त्वस्य मांसाशिनः सकाशान्मृत्युर्भविष्यति, तद्वरं सिंहात्। उक्तञ्च–

और अन्यस्थानमें जाकरभी मेरी किसी मांसभक्षी दुष्ट जीवसे मृत्यु होगी तो उससे तो सिंहके हाथसे मरना भला है। कहाहै–

महद्भिः स्पर्द्धमानस्य विपदेव गरीयसी।
दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

बडे पुरुषोंसे स्पर्धा करनेसे विपत्तिभी अच्छी है पर्वतके विदीर्ण करनेमें हाथियोंका दन्तभगभी श्रेयस्कर है ॥ ४०४ ॥

तथाच–

तैसेही–

महतोऽपि क्षयं लब्ध्वा श्लाघ्यं नीचोऽपि गच्छति।
दानार्थी मधुपो यद्वद्गजकर्णसमाहतः ॥ ४०५ ॥

नीच प्राणी बडे मनुष्योंसे क्षयको प्राप्तहोकर श्लाघताको प्राप्त होता है जैसे दानकी इच्छा करनेवाला हाथीके कर्णसे ताडित हुआ भौंरा ॥ ४०५ ॥

एवं निश्चित्य स स्खलितगतिर्मन्दं मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पश्यन्नपठत, अहो साधु इदमुच्यते–

ऐसा निश्चय कर छिन्नगतिसे सजीवक मंद मंद जाकर सिंहका आश्रय देखता हुआ यह श्लोक पढने लगा। अहो यह सत्य कहाहै–

अन्तर्लीनभुजङ्गमं गृहमिव व्यालाकुलं वा वनं
ग्राहाकीर्णमिवाभिरामकमलच्छायासनाथं सरः।
नानादुष्टजनैरसत्यवचनासक्तैरनार्यैर्वृतं
दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञां गृहं वार्धिवत् ॥ ४०६ ॥

भीतर स्थित है सर्प जिसमें ऐसे घरकी समान, हिंसक जीवोंसे व्याप्त वनकी समान, ग्राह (नाकों) से युक्त मनोहर छायावाले कमल खिले सरोवरकी समान, अनेक दुष्टजन असत्य वचनोंमे रत असाधुओंसे पूर्ण राजाओंका घर सागरकी समान भीत हुए श्रेष्ठ पुरुषोंसे दुःखसे जाया जाता है ॥४०६॥

एवं पठन् दमनकोक्ताकारं पिङ्गलकं दृष्ट्वा प्रचकितः संवृतशरीरो दूरतरं प्रणामकृतिं विनापि उपविष्टः पिङ्गलकोऽपि तथाविधं तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्दधानः कोपात् तस्योपरि पपात। अथ सञ्जीवकः खरनखराविकर्त्तितपृष्ठः शृंगाभ्यां तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेतः। शृंगाभ्यां हन्तुमिच्छन् युद्धायावस्थितः। अथ द्वौ अपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परस्परवधकांक्षिणौ दृष्ट्वा करटको दमनकमाह- "भो मूढमते! अनयोर्विरोधं वितन्वता त्वया साधु न कृतम्। न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि। नीतिविद्भिरुक्तञ्च,-

इस प्रकार पढता हुआ दमनकके कहे आकारकी समान पिंगलकको देखकर चकित और रक्षित शरीरसे विनाही प्रणाम किये दूर बैठगया। पिंगलकभी इस प्रकार उसको देख दमनकका वाक्य सत्य मानकर कोपसे उसके ऊपर टूट पडा तब संजीवक उसके तीक्ष्ण नखोंसे विदीर्ण पीठवाला; सींगोंसे उसके उदरमें प्रहार कर किसी प्रकार उससे अलग हुआ; सींगोंसे मारनेकी इच्छा कर युद्धके निमित्त स्थित हुआ, तब दोनोंही वह फूले ढाककी समान हुए परस्पर वधकी आकांक्षासे दोनोंको देख करटक दमनकसे बोला,—"भो मूढमते! इन दोनोंको विरोध करते हुए तैने अच्छा नहीं किया तू नीतिका तत्त्व नहीं जानता। नीतिजाननेवालोंने कहाहै—

कार्य्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायाससाध्यानि ये
प्रीत्या संशमयन्ति नीतिकुशलाः साम्नैव ते मन्त्रिणः।
निःसाराल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषां दुर्णयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रीस्तुलाम् ॥ ४०७ ॥

जो कार्य्य उत्तम दंड साहसके फलवाले और कष्टसाध्य हैं नीतिकुशल मंत्री वे कार्य प्रीति और साम उपायसेही निर्वाहित करते हैं और जो अन्याय तथा

युद्धके उद्योगसे अल्प फलकी वाछा करते हैं उन दुर्नीति चेष्टावाले राजोंकी लक्ष्मी सन्देहमें आरोपण की जाती है ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यति तत् किं त्वदीयमन्त्रबुद्धया क्रियते। अथ सञ्जीवको न वध्यते तथापि अभव्यं यतः प्राणसन्देहात् तस्य च वधः, तन्मूढ ! कथं त्वं मन्त्रिपदमभिलषसि सामसिद्धिं न वेत्सि, तद्वृथा मनोरथोऽयं ते दण्डरुचेः। उक्तञ्च–

सो यदि स्वामीका नाश होगा तो क्या तेरी मंत्रबुद्धिसे किया जाय। और सजीवक न मरे तो भी अशुभ होगा, जो कि, प्राणसन्देहसे उसका वध है सो मूर्ख ! किसप्रकार तू मन्त्रीपदकी अभिलाषा करता है साम सिद्धिको नहीं जानता सो दण्डरुचि करनेवाले तेरा यह मनोरथ वृथा है। कहा है–

सामादिदण्डपर्य्यन्तो नयः प्रोक्तः स्वयम्भुवा।
तेषां दण्डस्तु पापीयांस्तं पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

सामसे लेकर दण्ड पर्य्यन्त ब्रह्माने नीति कही है उसमें दड पापी है उसको पीछे नियुक्त करना चाहिये ॥ ४०८ ॥

तथाच–

और देखो–

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ॥ ४०९ ॥

जहा साम उपायसेही सिद्धि होती है पडितको वहा दड प्रयुक्त नहीं करना चाहिये, यदि मिश्री शर्करासेही पित्त शान्त होजाय तो पटोल देनेसे क्या फायदा ॥ ४०९ ॥

तथाच–

और भी–

आदौ साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता।
सामसाध्यानि कार्य्याणि विक्रियां यान्ति न कचित् ४१०

ज्ञानी पुरुषोंको प्रथम साम उपाय प्रयोग करना चाहिये सामसे सिद्ध हुए कार्य्य विकारको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ४१० ॥

न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्य्येण न वह्निना ।
साम्नैव विलयं याति विद्वेषिप्रभवं तमः ॥ ४११ ॥

चन्द्रमा, औषधी, सूर्य्य, अग्निसे विद्वेषतासे उत्पन्न हुआ अंधकार दूर नहीं होता किन्तु साम उपायसेही दूर होता है ॥ ४११ ॥

तथा यत् त्वं मन्त्रित्वमभिलषसि तदपि अयुक्तं यतस्त्वं मन्त्रगतिं न वेत्सि । यतः पञ्चविधो मन्त्रः स च कर्म्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः । कार्य्यसिद्धिश्चेति । सोऽयं स्वाम्यमात्ययोरेकतमस्य किंवा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः। तद्यदि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनिपातप्रतीकारः, भिन्नसन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा, तन्मूर्ख ! तत् कर्तुमसमर्थस्त्वं यतो विपरीतबुद्धिरसि । उक्तञ्च-

और जो तू मन्त्रीपदकी अभिलाषा करता है सोभी अयुक्त है जो कि, तू मंत्रकी गतिको नहीं जानता है जो कि, पांचप्रकारका मंत्र होताहै-कर्मके आरंभका उपाय करना, उपयुक्त कर्मचारियोकी द्रव्य सम्पत्ति, देश कालका विभाग (इस समयदान इस समय दंडका प्रयोग इत्यादि) अपायका प्रतीकार करना और कार्यसिद्धि । सो यह पिंगलक और संजीवक दोनों स्वामी भृत्यमेंसे एकका वा दोनोंका मरण होना उपस्थितहै । सो यदि कोई शक्ति हो तो इस अनिष्ट अपायका प्रतीकार करो भिन्न (१) सन्निधानमेही मंत्रियोंकी बुद्धिकी परीक्षा कीजातीहै सो हे मूर्ख ! यह करनेमें तू असमर्थ है कारण कि, विपरीतबुद्धिहै । कहाहै-

मंत्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।
कर्म्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ॥४१२॥

पृथक् हुओंको मिलानेमें मंत्रियोंकी, सन्निपात रोगके कर्ममें वैद्योंकी बुद्धि देखी जाती है स्वस्थतामें कौन पंडित नहीं है ॥ ४१२ ॥

(१) द्वेषियोंका मिलाप कराना ।

अन्यच्च-

औरभी-

घातयितुमेव नीचः परकार्य्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम्॥ ४१३॥

नीच पराया कार्य नष्ट करना ही जानता है सिद्ध करना नहीं। चूहेकी अन्न पिटारीके गिरा देनेकीही शक्ति है उठारखनेकी नहीं॥ ४१३॥

अथवा न ते दोषोऽयं स्वामिनो दोषो यस्ते वाक्यं श्रद्धाति। उक्तञ्च-

अथवा यह तेरा दोष नहीं स्वामीका दोष है जो तेरे वचनमें श्रद्धा की, कहाहै-

नराधिपा नीचजनानुवर्त्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये।
विशन्त्यतो दुर्गममार्गनिर्गमं समस्तसम्बाधमनर्थपञ्जरम्॥४१४

जो राजा नीच जनोंसे सेवित होते हैं वे पडितोंके उपदेश किये मार्गसे नही चलते हैं, इस कारण वे निकलनेके मार्गसे रहित समस्त बाधाओंसे युक्त अनर्थके समूह दुर्गम मार्गमें प्रवेश करते हैं॥ ४१४॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि तदा अन्योऽपि कश्चिन्न अस्य समीपे साधुजनः समेष्यति। उक्तञ्च-

सो यदि तू इसका मन्त्री होगा तो दूसरा कोई साधु पुरुष इसके समीप न आवेगा। कहाहै-

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते।
प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राहो यथा ह्रदः॥ ४१५॥

गुणोंका स्थान राजा असन्मत्रीजनोंसे घिराहो तो उसके निकट कोई नहीं जाता है प्रसन्न (निर्मल) स्वादिष्ट जलवाला सरोवर जैसे नाकेसे युक्त होनेसे अगम्य होताहै॥ ४१५॥

तथा च-शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति उक्तञ्च-

तथाच-शिष्टजनरहित स्वामीकाभी नाश होगा। कहाहै-

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः।
ये रमन्ते नृपास्तेषां रमन्ते रिपवः श्रिया॥ ४१६॥

जो राजा चित्रविचित्र कथाके आस्वादवाले धनुष न चढानेवाले भृत्योंसे रमण करते हैं (राजकाज नहीं करते हैं) शत्रु उनकी लक्ष्मीसे रमण करते हैं ॥ ४१६ ॥

तत् किं मूर्खोपदेशेन, केवलं दोषो न गुणः । उक्तञ्च–

सो मूर्खके उपदेशसे क्या केवल दोषही है गुण नहीं । कहा है–

नानाम्यं नमते दारु नाश्मनि स्यात्क्षुरक्रिया ।
सूचीमुख विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ ४१७ ॥

नहीं झुकने योग्य काष्ठ टेढा नहीं होता, पत्थरका क्षौरकर्म नहीं होता, अशिष्यको उपदेश नदे इसमें सूचीमुखका दृष्टान्त है ॥ ४१७ ॥

दमनक आह–"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

दमनक बोला–"यह कैसे ?" वह बोला–

कथा १७.

अस्ति कस्मिंश्चित् पर्वतैकदेशे वानरयूथम् । तच्च कदाचित् हेमन्तसमये अतिकठोरवातसंस्पर्शवेपमानकलेवरं तुषारवर्षोद्धतप्रवर्षघनधारानिपातसमाहतं न कथञ्चित् शान्तिमगमत् । अथ केचित् वानरा वह्निकणसदृशानि गुञ्जाफलानि अवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुर्वन्तः समन्तात् तस्थुः । अथ सूचीमुखो नाम पक्षी तेषां तं वृथायासमवलोक्य प्रोवाच–" भोः ! सर्वे मूर्खाः यूयं, नैते वह्निकणाः, गुञ्जाफलानि एतानि, तत् किं वृथा श्रमेण, न एतस्मात् शीतरक्षा भविष्यति । तत अन्विष्यतां कश्चित् निर्वातो वनप्रदेशो गुहा वा गिरिकन्दरं वा । अद्यापि साटोपा मेघा दृश्यन्ते" । अथ तेषामेकतमो वृद्धवानरः तमुवाच–"भो मूर्ख ! किं तव अनेन व्यापारेण, तद्गम्यताम् । उक्तञ्च–

किसी पर्वतपर वानरोंका यूथ है वह एक समय हेमन्तसमयमें अति कठोर पवनके लगनेसे कंपितशरीर शीत और वर्षासे उद्धत घनवर्षाके धारानिपातसे

समाहत हुआ किसी प्रकार शान्त न हुआ। तब कोई वानर अग्निकणकी समान चोंटलियोंको इकट्ठाकर अग्निकी इच्छासे फूक मारते हुए चारों ओरसे स्थित हुए। तब सूचीमुख नाम पक्षी उनके उस वृथा परिश्रमको देखकर बोला—"भोः! तुम सब मूर्ख हो। यह अग्निकण नहीं हैं, यह चोंटलीहैं क्यों वृथा परिश्रम करतेहो। इससे शीत रक्षा न होगी, सो ढूंढो कोई पवनरहित वनस्थान गुहा वा पर्वतकदर्र अबभी मडल बांधे हुए मेव दीखते हैं"। तब उनमेसे एक बूढा वानर उससे बोला—"भो मूर्ख! तुझे इससे क्या प्रयोजन है चलाजा। कहाहै—

मुहुर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारं पराजितम्।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः॥ ४१८॥

वारवार कर्ममें विघ्न पानेवाला, जुआ खेलनेवाला, पराजित इनसे यदि अपने मगलकी इच्छा हो तो वार्ता न करे॥ ४१८॥

तथाच—

जैसेही—

आखेटकं वृथा क्लेशं मूर्खं व्यसनसंस्थितम्।
आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम्॥ ४१९॥"

शिकारी, वृथा क्लेशकारी, मूर्ख, दुर्व्यसनमें स्थितसे जो वार्ता करता है वह पराभवको प्राप्त होता है॥ ४१९॥"

सोऽपि तमनादृत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह—"भोः! किं वृथा क्लेशेन" अथ यावदसौ न कथंचित् प्रलपन्विरमति तावदेकेन वानरेण व्यर्थश्रमत्वात् कुपितेन पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतः। अतोऽहं ब्रवीमि, "नानाम्यं नमते दारु" इत्यादि।

वह भी उसको अनादर कर बारवार वानरोंसे वही वचन कहने लगा—"भो! वृथाक्लेशसे क्या है"। सो जब यह किसी प्रकार प्रलापसे न शान्त हुआ तब एक वृथा श्रमसे क्रुद्ध हुए वानरने उसके पंख पकड कर शिलापर पटककर मार दिया, इससे मैं कहता हूं "अनमित काष्ठ नहीं नमता इत्यादि"।

तथाच-
तैसेही-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥ ४२० ॥

मूर्खोंको उपदेश करना कोपके वास्ते है शान्तिको नहीं सर्पोंको दूध पिलाना केवल विष बढानेके निमित्त है ॥ ४२० ॥

अन्यच्च-
औरभी-

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने ।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निर्गृहीकृतः ॥ ४२१ ॥"

जैसे तैसे मनुष्यको उपदेश देना न चाहिये देखो एक मूर्ख वानरने उत्तम गृहस्थ घरसे शून्य कर दिया ॥ ४२१ ॥"

दमनक आह-"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत् ।

दमनक बोला-"यह कैसे ?" वह बोला-

कथा १८.

अस्ति कस्मिंश्चित् वनोद्देशे शमीवृक्षः । तस्य लम्बमानशिखायां कृतावासौ अरण्यचटकदम्पती वसतः स्म । अथ कदाचित् तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं मन्दं वर्षितुमारब्धः । अत्रान्तरे कश्चित् शाखामृगो वातासारसमाहतः प्रोद्धूलितशरीरो दण्डवीणां वादयन् वेपमानः तत शमीमूलमासाद्य उपविष्टः । अथ तं तादृशमवलोक्य चटका प्राह-" भो भद्र !

किसी एक वनके स्थानमें शमीका पेड था । उसकी लम्बमान शिखामें निवास करनेवाले बनेले चटक चटका रहतेथे । एक समय सुखसे बैठे हुए उन दोनोंके हेमन्त कालका मेघ मन्द २ वर्षने लगा । इसी समय कोई शाखामृग (वानर) पवन वर्षासे हत हुआ वर्षाके जलसे भीजा शरीरवाला दंडवीणाको वजाता हुआ कंपित हुआ, उस शमलके नीचे आकर बैठा उसकी यह दशा देख चटका बोली,-"भो भद्र !

हस्तपादसमोपेतो दृश्यसे पुरुषाकृतिः।
शीतेन भिद्यसे मूढ! कथं न कुरुषे गृहम् ॥ ४२२ ॥"

हाथ पैरसे युक्त हुए तुम पुरुषाकार दीखते हो और हे मूर्ख! शीतसे भेदित होकर भी तू घर क्यों नहीं बनाताहै ॥ ४२२ ॥"

एतच्छ्रुत्वा तां वानरः सकोपमाह,-"अधमे! कस्मात् न त्वं मौनव्रता भवसि। अहो! धाष्टर्यमस्याः अद्य मामुपहसति।

यह सुन क्रोध कर वानर बोला,-"अधमे! चुप क्यो नहीं होती, अहो! इसकी ढीठता कि, मेरा उपहास करती है-

सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवादिनी।
नाशङ्कते प्रजल्पन्ती त त्किमेनां न हन्म्यहम् ॥ ४२३ ॥"

सूचीमुखवाली दुराचार रण्डा वृथा अपनेको पंडित माननेवाली बकवाद करती हुई नही डरती। सो इसको मैं क्यों नहीं नष्ट करूं ॥ ४२३ ॥"

एवं प्रलप्य तामाह,-"मुग्धे! किं नव ममोपरि चिन्तया। उक्तंच-

इस प्रकार जल्पना कर उससे बोला,-"मुग्धे! मेरी चिन्तासे तुझे क्या, कहा है-

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतश्च विशेषतः।
प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

श्रद्धासे युक्त पूछते मनुष्यसेही विशेष कर कहना चाहिये श्रद्धाहीनसे कहना वनमें रोनेकी समान है ॥ ४२४ ॥

तत् किं बहुना। तावत् कुलायस्थितया तया पुनरपि अभिहितः स तावत् तां शमीमारुह्य तस्याः कुलायं शतधा खण्डश अकरोत। अतोऽहं ब्रवीमि "उपदेशो न दातव्यः" इति।

सो बहुत कहनेसे क्या है जब कि, घोंसलेमें बैठी हुई उसने फिर कहा तब इसने शमी वृक्षपर चढकर उसके घोंसलेके सौ खण्डकर दिये। इससे मैं कहता हूं कि, "जिस किसीको उपदेश न देना चाहिये"

तन्मूर्ख! शिक्षापितोऽपि न शिक्षितः त्वम्। अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय सम्पद्यते न असाधोः। उक्तञ्च-

सो हे मूर्ख ! सिखाया हुआ भी तू न सीखा । अथवा तेरा दोष नहीं है साधुमें शिक्षा गुणके निमित्त होतीहै असाधुमें नहीं । कहाहै—

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम् ।
अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाहितः ॥ ४२५ ॥

अनुचित स्थानमें लगाई पंडिताई क्या कर सकतीहै जैसे अंधकारसे पूर्ण घडेके ऊपर धरा हुआ दीपक (उसके भीतरका अंधकार दूर नहीं कर सकता) ॥ ४२५ ॥

तद्व्यर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमश्रृण्वन् न आत्मनः शान्तिमपि वेत्सि, तन्नूनमपजातः त्वम् । उक्तञ्च—

सो वृथा पांडित्यका आश्रय कर मेरे वचन न सुने न अपनी शान्तिको भी जाना सो अवश्यही तू विजातीयहै । कहा है—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च ।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्याः शास्त्रवेदिभिः ॥ ४२६ ॥

इस संसारमें शास्त्रके जाननेवाले जात, अनुजात, अतिजात और अपजात यह चार प्रकारके पुत्र कहते हैं ॥ ४२६ ॥

मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः ।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः ॥ ४२७ ॥

माताके तुल्य गुणवाला जात, पिताके तुल्य गुणवाला अनुजात, पितासे अधिक अतिजात और अपजात अधमाधम कहाता है ॥ ४२७ ॥

अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः ।
प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्धः ॥ ४२८ ॥

पराये दुःखसे प्रसन्न हुआ दुष्ट अपने नाशको नहीं गिनताहै प्रायः मस्तकके नाश होनेमेंभी कबन्ध समरमें नृत्य करता है॥ ४२८ ॥

अहो ! साधु चेदमुच्यते ।

अहो ! यह सत्य कहा है कि—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम ।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः ॥ ४२९ ।

धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनोंको मैंने जाना पुत्रकी वृथा पंडिताईसे पिता धूमसे घातित हुआ ॥ ४२९ ॥"

दमनक आह-"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत्-

दमनक बोला,-"यह कैसी कथा है?" वह बोला-

कथा १९.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्च द्वे मित्रे प्रतिवसतः स्म। अथ कदाचित् पापबुद्धिना चिन्तितम्, अहं तावत् मूर्खो दारिद्र्योपेतश्च। तदेनं धर्म्मबुद्धिमादाय देशान्तरं गत्वा अस्य आश्रयेण अर्थोपार्जनं कृत्वा एनमपि वंचयित्वा सुखी भवामि। अथ अन्यस्मिन् अहनि पापबुद्धिः धर्म्मबुद्धिं प्राह-"भो मित्र! वार्द्धकभावे किं त्वमात्मविचेष्टितं स्मरसि। देशान्तरमदृष्ट्वा कां शिशुजनस्य वार्त्तां कथयिष्यसि। उक्तञ्च-

किसी एक स्थानमें धर्मबुद्धि और पापबुद्धि दो मित्र रहते थे। तब कदाचित् पापबुद्धिने विचार किया मैं मूर्ख और दरिद्र हूं सो इस धर्मबुद्धिको लेकर देशान्तर जाकर इसके आश्रयसे धन उत्पन्नकर इसको भी वंचित कर सुखी हूंगा फिर और एक दिन पापबुद्धि धर्मबुद्धिसे बोला-"भो मित्र! वृद्धावस्थामें क्या अपनी चेष्टाको स्मरण करोगे देशान्तरको विना देखे बालकोंसे क्या वार्ता कहैगा। कहा है-

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम्।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥ ४३० ॥

जिसने देशान्तरोंमे बहुत भाषावेशादि नहीं जाना है पृथ्वीतलमे घूमते हुए उसका जन्म वृथा गया ॥ ४३० ॥

तथाच-

तैसेही-

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः ॥ ४३१ ॥"

विद्या धन कारीगरी तबतक मनुष्य अच्छी तरह प्राप्त नहीं करता है जबतक प्रसन्न हुआ देश देशान्तरकी भूमिमें नहीं जाता है ॥ ४३१ ॥"

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनाः तेनैव सह गुरुजनानुज्ञातः शुभे अहनि देशान्तरं प्रस्थितः । तत्र च धर्म्मबुद्धिप्रभावेण भ्रमता पापबुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम् । ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रति औत्सुक्येन निवृत्तौ । उक्तञ्च–

तब उसके इस वचनको सुनकर उसीके संग गुरुजनोंकी आज्ञा लेकर सुन्दर दिनमें देशान्तरको गया वहां धर्मबुद्धिके प्रभावसे भ्रमते हुए पापबुद्धिने बहुतसा धन प्राप्त किया । तब दोनोंही बहुत धनके उपार्जनसे प्रसन्न हुए अपने घरके प्रति उत्कंठासे निवृत्त हुए । कहा है–

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत् ॥ ४३२ ॥"

प्राप्तविद्या धन और कारीगरीवाले देशान्तरमें निवास करनेवालोंको एक कोशमात्र पृथ्वी सौयोजनकी समान होती है (अर्थात् जब सिद्धकार्य हो निजस्थानमें आते हैं तब एक कोश सो योजनसा बीतता है) ॥ ४३२ ॥"

अथ स्वस्थानसमीपवर्त्तिना पापबुद्धिना धर्म्मबुद्धिरभिहितः,–"भद्र ! न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते, यतः कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते । तदत्र एव वनगहने क्वापि भूमौ निक्षिप्य किंचिन्मात्रमादाय गृहं प्रविशावो भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्रं समेत्य अस्मात् स्थानात् नेष्यावः । उक्तञ्च–

तब अपने स्थानके समीपवर्ती पापबुद्धिने धर्मबुद्धिसे कहा–"भद्र ! यह सब धन घर लेजाना उचित नहीं है क्यों कि, कुटुम्बि और बन्धु उसकी प्रार्थना करेंगे । सो इसी वनगहनमें कहीं पृथ्वीमें गाड़कर उसमेंसे कुछ लेकर घरको जांय, कि, फिरभी प्रयोजन होनेपर उतनाही परस्पर मिलकर इस स्थानसे लेजायंगे । कहा है–

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो ।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥ ४३३ ॥

बुद्धिमान् अपना थोडा धनभी किसीको न दिखावे कारण कि, उसके दर्श-नसे मुनिकाभी मन चलायमान होजाता है ॥ ४३३ ॥

"तथाच-

तैसेही-

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥४३४॥"

जैसे मांस जलमें मच्छोंसे, पृथ्वीमें सिंहादि हिंसकोंसे, आकाशमें पक्षियोंसे खाया जाता है इसी प्रकार सर्वत्र धनवान् खाया जाता है ॥ ४३४ ॥"

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिः प्राह,-"भद्र ! एवं क्रियताम्"। तथा अनुष्ठिते द्वावपि तौ स्वगृहं गत्वा सुखेन संस्थितवन्तौ। अथ अन्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशीथेऽटव्यां गत्वा तत सर्वं वित्तं समादाय गर्त्तं पूरयित्वा स्वभवनं जगाम। अथ अन्ये-द्युः धर्मबुद्धिं समभ्येत्य प्रोवाच,-"सखे ! बहुकुटम्बा वयं वित्ताभावात् सीदामः। तद्गत्वा तत्र स्थाने किंचिन्मात्रं धनमानयावः"। सोऽब्रवीत,-"भद्र ! एवं क्रियताम्"। अथ द्वावपि गत्वा तत् स्थानं यावत् खनतस्तावत रिक्तं भाण्डं दृष्टवन्तौ। अत्रान्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन् प्रोवाच-"भो धर्मबुद्धे ! त्वया हृतमेतद्धनं न अन्येन, यतो भूयोऽपि गर्त्ता-पूरणं कृतं, तत प्रयच्छ मे तस्यार्द्धं, अथवा अहं राजकुले निवेदयिष्यामि"। स आह,-"भो दुरात्मन् ! मैवं वद, धर्मबुद्धिः खलु अहम्। न एतच्चौरकर्म करोमि। उक्तञ्च-

यह सुनकर धर्मबुद्धि कहने लगा,-"भद्र ! ऐसाही करो" ऐसा अनुष्ठान करनेपर वे दोनोंही अपने घर जाकर सुखसे स्थित हुए। तब किसी और दिन पापबुद्धि अर्धरात्रमें जाकर उस सब धनको ले गढेको पूर्ण कर अपने घर आया। फिर दूसरे दिन धर्मबुद्धिसे मिलकर बोला,-"सखे ! हम बहुत कुटु-म्बी हैं इस कारण धनके अभावसे दुःखी होते हैं। सो चलकर उस स्थानसे कुछ धन लावें"। वह बोला,-"भद्र ! ऐसाही करो"। तब दोनोंही जाकर जब उस स्थानको खोदने लगे तब वहां वर्तन रीता देखा। तब वह पापबुद्धि

शिरपीटता हुआ बोला,—"भो धर्मबुद्धे ! तैनेही यह मेरा धन हरलिया है किसी औरने नहीं । जो फिरभी गड्ढा भरदिया सो उसका आधा मुझे दे नहीं तो मैं राजकुलमें निवेदन करूंगा" । वह बोला,—"भो दुरात्मन् ! ऐसा मत कह । निश्चयही मैं धर्मबुद्धि हूं यह चोर कर्म नहीं करता हूं । कहाहै—

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥ ४३५ ॥"

माताकी समान पराई स्त्री, मट्टीकी समान पराया धन, आत्माकी समान सब प्राणियोंको धर्मबुद्धि देखते हैं ॥ ४३५ ॥"

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं गतौ प्रोचतुश्च परस्परं दूषयन्तौ । अथ धर्माधिकरणाधिष्ठितपुरुषैः दिव्यार्थे यावत् नियोजितौ तावत् पापबुद्धिः आह,—"अहो ! न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः । उक्तञ्च—

इस प्रकार वे दोनोंही झगडा करते हुए धर्माधिकारीके पास जाकर बोलते हुए परस्पर दूषण देनेलगे । तब धर्माधिकारीसे नियुक्त हुए पुरुषोंने ज्यौं हो शपथके निमित्त उसको नियुक्त किया, तबतक पापबुद्धि बोला,—"आश्चर्य है कि, भलीप्रकार न्याय नहीं हुआ । कहा है—

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः ।
साक्ष्यभावात्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४३६ ॥

विवादमें पहले पत्र (लेख) देखा जाता है, उसके अभावमें साक्षी, साक्षीके अभावमें शपथ करनी ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है ॥ ४३६ ॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवताः साक्षिभूताः तिष्ठंति । ता अपि आवयोः एकतरं चौरं साधुं वा करिष्यन्ति" । अथ तैः सर्वैः अभिहितम्—"भोः ! युक्तमुक्तं भवता । उक्तञ्च—

सो इस विषयमें वृक्षदेवता हमारे साक्षी हैं वही हम दोनोंमें एकको चोर या साधु करेंगे" तब उन सबने कहा—"भो ! आपने सत्य कहा । कहा है—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ॥ ४३७ ॥

जब विवादमें अन्त्यजभी साक्षी होता है वहां शपथ नहीं कीजाती फिर जहां देवता हों वहां शपथ कैसी ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमपि अत्र विषये महत्कौतूहलं वर्त्तते। प्रत्यूषसमये युवाभ्यामपि अस्माभिः सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्" इति। एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमुवाच-"तात! प्रभूतोऽयं मयार्थो धर्म्मबुद्धेश्चोरितः, स च तव वचनेन परिणतिं गच्छति, अन्यथा अस्माकं प्राणैः सह यास्यति"। स आह-"वत्स! द्रुतं वद येन प्रोच्य तद्द्रव्यं स्थिरतां नयामि" पापबुद्धिः आह-"तात! अस्ति तत्प्रदेशे महाशमी, तस्यां महत्कोटरमस्ति, तत्र त्वं साम्प्रतमेव प्रविश। ततः प्रभाते यदाहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा त्वया वाच्यं यद्धर्म्मबुद्धिश्चौरः" इति। तथा अनुष्ठिते प्रत्यूषे स्नात्वा पापबुद्धिः धर्म्मबुद्धिपुरःसरो धर्माधिकरणिकैः सह तां शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच-

सो हमकोभी इस विषयमें वडा कुतूहल है प्रातःकाल तुम दोनोंको हमारे साथ उस वनमें जाना चाहिये"। इसी समय पापबुद्धि अपने घर जाय पितासे बोला-"हे तात! वहुतसा यह धर्मबुद्धिका धन मैंने चुरा लिया वह तुम्हारे वचनसे पचजायगा। नहीं तो मेरे प्राणोंके साथ जायगा"। वह बोला-"वत्स! शीघ्र कहो जिसे कहकर मैं उस द्रव्यको स्थिरताको प्राप्तकरूं"। पापबुद्धि बोला-"तात! इस प्रदेशमें एक महा शमीका पेड है उसकी एक बडी खखोडल है वहां तू अभी प्रवेश करजा, प्रातःकाल जब मैं सत्य सुनाऊं तब तुम कह देना धर्मबुद्धि चोर है," ऐसा कर प्रभात स्नान कर पापबुद्धि धर्मबुद्धिको आगे किये धर्माधिकारियोंके संग उस शमीको प्राप्तहो ऊंचे स्वरसे बोला-

"आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ४३८ ॥

"सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिनरात्रि, दोनों सध्या और धर्म मनुष्यके कर्तव्यको जानता है ॥ ४३८ ॥

भगवति वनदेवते ! आवयोर्मध्ये यः चौरः त्वं कथय" अथ पापबुद्धिपिता शमीकोटरस्थः प्रोवाच-"भोः ! शृणुत शृणुत धर्म्मबुद्धिना हृतमेतद्धनम्" । तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्फुल्ललोचना यावद्धर्म्मबुद्धेः वित्तहरणोचितं निग्रहं शास्त्रदृष्ट्या अवलोकयन्ति तावद्धर्म्मबुद्धिना तच्छमीकोटरं वह्निभोज्यद्रव्यैः परिवेष्ट्य वह्निना सन्दीपितम् । अथ ज्वलति तस्मिन् शमीकोटरेऽर्द्धदग्धशरीरः स्फुटितेक्षणः करुणं परिदेवयन् पापबुद्धिपिता निश्चक्राम । ततश्च तैः सर्वैः पृष्टः-"भोः ! किमिदम् ?" इत्युक्ते स पापबुद्धिविचेष्टितं सर्वमिदं निवेदयित्वा उपरतः । अथ ते राजपुरुषाः पापबुद्धिं शमीशाखायां प्रतिलम्ब्य धर्म्मबुद्धिं प्रशस्य इदमूचुः-"अहो ! साधु चेदमुच्यते-

भगवति वनदेवते ! हम दोनोंके बीचमें जो चोरहो उसको तुम कहो" तब पापबुद्धिका पिता शमीकी खखोडलमेंसे बोला--"भो ! सुनो २ यह धन धर्मबुद्धिने हरण किया है" यह सुनकर वे सब राजपुरुष विस्मयसे खिले नेत्रवाले जबतक धर्मबुद्धिको धनहरणके उचित दंडको शास्त्रदृष्टिसे देखते हैं तबतक धर्मबुद्धिने उस शमीकी खखोडल अग्निभोज्य (तृणादि) द्रव्यसे ढककर उसमें आग लगादी । तब उस शमीकोटरके जलनेपर अर्ध दग्धशरीरवाला नेत्रफूटा करुणास्वरसे चिल्लाता हुआ पापबुद्धिका पिता निकला. तब उन सबने पूछा--"भोः ! यह क्या है ?" । ऐसा कहनेपर वह इस सब पापबुद्धिकी चेष्टाको निवेदन कर मरगया । तब वे राजपुरुष पापबुद्धिको शमीशाखामें बांधकर धर्मबुद्धिकी प्रशंसा कर यह बोले--"अहो ! यह सत्य कहा है-

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बकाः ॥ ४३९ ॥"

बुद्धिमान् उपायकी चिन्ता कर अपायकीभी चिन्ता करे । मूर्ख बगलेके देखते नौलेने उसके बच्चे खालिये ॥ ४३९ ॥"

धर्म्मबुद्धिः प्राह-"कथमेतत् ?" ते प्रोचुः ।

धर्मबुद्धि बोला-"यह कैसे ?" वे बोले-

कथा २०.

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे बहुबकसनाथो वटपादपः । तस्य कोटरे कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म । स च बकबालकानजातपक्षान् अपि सदैव भक्षयन् कालं नयति । अथ एको बकस्तेन भक्षितानि अपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात् सरस्तीरमासाद्य बाष्पपूरपूरितनयनः अधोमुखस्तिष्ठति । तच्च तादृक्चेष्टितमवलोक्य कुलीरकः प्रोवाच,-"माम ! किमेवं रुद्यते भवता अद्य?" । स आह-"भद्र ! किं करोमि, मम मन्दभाग्यस्य बालकाः कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः, तद्दुःखदुःखितोऽहं रोदिमि । तत् कथय मे यदि अस्ति कश्चिदुपायः तद्विनाशाय ?" । तदाकर्ण्य कुलीरकः चिन्तयामास । "अयं तावत् अस्मज्जातिसहजवैरी तथा उपदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं यथान्येऽपि बकाः सर्वे संक्षयमायान्ति । उक्तञ्च-

किसी एक वनमें बहुत बगलोंसे युक्त वटका वृक्ष था उसकी खखोडलमें काला सांप रहताथा । वह पख न निकले बगलेके बच्चोंको सदा भक्षण करता समय बिताता । तब एक बगला उसके भक्षण किये सन्तानोंको देखकर बालकोंके विरागसे नदीके किनारे आकर नेत्रोंमें जलभरे नीचेको मुख किये स्थित था । उसकी यह चेष्टा देखकर कुलीरक बोला-"मामा ! आज तुम क्यों रोतेहो ?"। वह बोला,-"भद्र ! क्या करू मुझ मन्दभाग्यके बालक खखोडलमें रहनेवाले काले सर्पने खालिये । उसके दुःखसे दुःखी हुआ मैं रोताहू सो मुझसे कह यदि कोई उस सापके नाशका उपाय हो तो ?" यह सुनकर कुलीरक चिन्ता करने लगा । "यह तो हमारी जातिका सहज वैरी है ऐसा उपदेश दू कि, सत्य और अनृत हो जिससे सब बगले नाश हो जायँगे । कहाहै-

नवनीतसमां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो म्रियते यथा ॥ ४४० ॥"

मक्खनकी समान वाणी और निर्दय चित्त करके शत्रुको इस प्रकार समझावे जिससे वंशसहित शत्रु मरजाय ॥ ४४० ॥

आह च,-"माम ! यदि एवं तत् मत्स्यमांसखण्डानि नकुलस्य बिलद्वारात् सर्पकोटरं यावत् प्रक्षिप यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं विनाशयति" । अथ तथा अनुष्ठिते मत्स्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्ण-सर्पं निहत्य तेऽपि तद्वृक्षाश्रयाः सर्वे बकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः । अतो वयं ब्रूमः "उपायं चिन्तयेदिति" ।

बोलाभी-"मामा ! यदि ऐसा है तो मत्स्योंके मांसखण्ड नकुलके बिलके द्वारसे सांपकी खखोडलपर्यन्त डालो जो नौला उसमार्गसे जाकर उस दुष्ट सर्पको मारेगा" वैसा अनुष्ठान करनेपर मछलियोंके मांसानुसारी नौलेने उस काले सर्पको मारकर और, वेभी उस वृक्षपर रहनेवाले सब बगले भी शनैः २ भक्षण कर लिये । इससे हम कहते हैं "उपाय विचारे इत्यादि" ।

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नापायः । ततस्त-त्फलं प्राप्तम् ।

सो इस पापबुद्धिने उपाय विचारा अपाय नहीं सो इसका यह फल है ।

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम ।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः ॥ ४४१ ॥

धर्मबुद्धि और कुबुद्धि यह दोनों मैंने जाने, वृथा पाण्डित्यसे पिताको धूमसे पुत्रने मारडाला ॥ ४४१ ॥

एवं मूढ ! त्वयापि उपायश्चिन्तितो नापायः पापबुद्धिवत् । तत् न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापबुद्धिरसि, ज्ञातो मया स्वामिनः प्राणसन्देहानयनात् । प्रकटीकृतं त्वया स्वयमे-वात्मनो दुष्टत्वं कौटिल्यञ्च । अथवा साधु चेदमुच्यते-

सो हे मूढ ! तैनेभी उपायकी चिन्ता करी अपायकी नहीं । सो तू सज्जन नहीं केवल पापबुद्धि है जाना मैंने स्वामीके प्राणसन्देहकी अनयसे प्रगट की या तुमने स्वयंही अपनी दुष्टता और कुटिलता । अथवा अच्छा कहा है-

यत्नादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम्।
यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः॥ ४४२॥

यत्नसेभी मोरोंके भोजनके (बीट) निकलनेके मार्गको कौन देख सक्ता है यदि मेघकी ध्वनिसे प्रसन्नहुए वेही मूढ न नृत्य करें॥ ४४२॥

यदि त्वं स्वामिनं एनां दशां नयसि तदस्मद्विधस्य का गणना। तस्मात् मम आसन्नेन भवता न भाव्यम्। उक्तञ्च–

जो तू स्वामीको इस दशामें प्राप्त करता है सो फिर हम सरीखोंकी क्या गणना है। इस कारण मेरे समीपमें तुमको रहना उचित नहीं है। कहा है–

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः।
राजँस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः॥ ४४३॥"

जहा सहस्रलोहकी तुलाको चूहे खाजाते हैं हे राजन्! वहीं बालकको श्येन लेजाता है इसमें सन्देह नहीं॥ ४४३॥"

दमनक आह,–"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत्–

दमनक बोला,–"यह कैसी कथा है?" वह बोला–

कथा २१.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो नाम वणिक्पुत्रः। स च विभवक्षयात् देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत्।

किसी स्थानमें एक जीर्णधन नामवाला वणिक्पुत्र रहताथा वह धनके क्षयसे देशान्तरमें जानेकी इच्छासे विचारने लगा। कि,

"यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगान्भुक्त्वा स्ववीर्यतः।
तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधमः॥ ४४४॥

जिस देश वा जिस स्थानमें अनेक भोगोंको अपने पराक्रमसे भोगे उस स्थानमें जो ऐश्वर्यहीन होकर वसे वह पुरुष नीच है॥ ४४४॥

तथाच–

तैसेही–

येनाहङ्कारयुक्तेन चिरं विलसितं पुरा।
दीनं वदति तत्रैव यः परेषां स निन्दितः॥ ४४५॥"

जिस अहंकारयुक्तने प्रथम बहुत समयतक विलास किया है और जो उसी स्थानमें दीन वचन कहे वह निन्दित होता है ॥ ४४५ ॥"

तस्य च गृहे लोहभारघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुला आसीत् । ताञ्च कस्यचित श्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः । ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिनमुवाच,-"भोः श्रेष्ठिन् ! दीयतां मे सा निक्षेपतुला" । स आह-"भो ! नास्ति सा त्वदीया तुला मूषिकैर्भक्षिता" । जीर्णधन आह-"भोः श्रेष्ठिन् ! नास्ति दोषस्ते यदि मूषिकैः भक्षितेति । ईदृक् एवायं संसारः । न किञ्चिदत्र शाश्वतमस्ति, परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि, तत् त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय" इति । सोऽपि चौर्य्यभया-त्तस्य शङ्कितः स्वपुत्रमुवाच-"वत्स ! पितृव्योऽयं तव स्नानार्थं नद्यां यास्यति तद्गम्यतामनेन सार्द्धं स्नानोपकरणमादाय" इति । अहो ! साधु इदमुच्यते-

उस घरमें लोहभार वाली वृद्ध पुरुषोंकी उपार्जित एक तराजू थी उसको किसी सेठके घरमें धरोहर रखकर देशन्तरको गया । और बहुतकालतक देशा-न्तरमें यथेच्छ भ्रमण कर फिर अपने पुरमें आकार श्रेष्ठीसे यह बोला,-"भो सेठ ! हमारी निक्षेपतुला (धराहरकी तराजू) दो" वह बोला,-"भो वह तुम्हारी तराजू नहीं है चूहोंने खाली" । जीर्णधन बोला,-"सेठजी ! इसमें आपका दोष क्या यदि चूहोंने खाली, इसी प्रकारका यह संसार है कोई यहां निरन्तर रहनेवाला नहीं है । परन्तु मैं नदीमें स्नान करने जाऊंगा । सो तुम अपने इस बालक धन-देवको मेरे साथ स्नानीय द्रव्यके सहित भेज दीजिये," वहभी चोरीके भयसे शंकित हो अपने पुत्रसे बोला--"वत्स ! यह तुम्हारे चचा स्नानके निमित्त नदीको जायंगे सो इनके साथ स्नानीय पदार्थ लेकर जाओ" इति । अहो ! यह अच्छा कहा है-

न भक्त्या कस्यचित्कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः ।
मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्य्यकारणमेव वा ॥ ४४६ ॥

भक्तिसे कोई मनुष्य किसीका कुछ प्रिय नहीं करता है, भय, लोभ वा कार्य-कारणको छोडकर (अन्य कारण नहीं है) ॥ ४४६ ॥

तथाच-

तैसेही-

अत्यादरो भवेद्यत्र कार्य्यकारणवर्जितः ।
तत्र शङ्का प्रकर्त्तव्या परिणामेऽसुखावहा ॥ ४४७ ॥

जहा कार्यकारणको छोडकर बहुत आदर होता है उस स्थानमे अवश्य शंका करनी चाहिये परिणाममें बुरा है ॥ ४४७ ॥

अथ असौ वणिक्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेन अभ्यागतेन सह प्रस्थितः । तथानुष्ठिते वणिक् स्नात्वा तं शिशुं नदीगुहायां प्रक्षिप्य तद्वारं बृहच्छिलया आच्छाद्य सत्वरं गृहमागतः पृष्टश्च तेन वणिजा,-"भो अभ्यागत ! कथ्यतां कुत्र मे शिशुर्यः त्वया सह नदीं गतः"। इति स आह,-"नदीतटात् स श्येनेन हृतः"इति । श्रेष्ठ्याह,-"मिथ्यावादिन् ! किं क्वचित् श्येनो बालं हर्तुं शक्नोति ? तत् समर्पय मे सुतमन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि:" इति । स आह,-"भोः सत्यवादिन् ! यथा श्येनो बालं न नयति तथा मूषिका अपि लोहभारघटितां तुलां न भक्षयन्ति, तत् अर्पय मे तुलां, यदि दारकेण प्रयोजनम्" । एवं तौ विवदमानौ द्वावपि राजकुलं गतौ । तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच-"भोः ! अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम !! मम शिशुः अनेन चौरेण अपहृतः" । अथ धर्माधिकारिणः तमूचुः,-"भोः ! समर्प्यतां श्रेष्ठिसुतः"। स आह,-"किं करोमि, पश्यतो मे नदीतटात् श्येनेन अपहृतः शिशुः" । तच्छ्रुत्वा ते प्रोचुः,-"भो ! न सत्यमभिहितं भवता, किं श्येनः शिशुं हर्तुं समर्थो भवति ?" स आह,-भो भोः ! श्रूयतां मद्वचः-

तब यह वणिक्शिशु स्नानकी सामग्री लेकर प्रसन्नहो उस अभ्यागतके साथ चला । तब यह वणिक् ऐसा करनेपर स्नान कर उस बालकको नदीगुहामें रख उसके द्वारको एक बडी शिलासे ढककर बहुत शीघ्र घर आया तब उस वैश्यने पूछा—"भो अभ्यागत ! कहो कहां है वह मेरा बालक जो तेरे साथ नदीस्नानको गयाथा" वह बोला—"नदीके किनारेसे उसको गिद्ध लेगया" । सेठ बोला,—"मिथ्या वादिन् ! क्या कोई गिद्धभी बालकको हरण कर सकता है । सो मेरे पुत्रको दे नहीं तो राजकुलमें निवेदन करूंगा," वह बोला,—"भो सत्यवादिन् ! जैसे गिद्ध बालकको नहीं लेजा सकता इसी प्रकार मूषकभी लोहसे बनी तराजूको नहीं खा सकते हैं । मेरी तराजू दे यदि बालकसे प्रयोजन है तो" । इस प्रकार दोनोंही विवाद करते राजकुलमें गये । वहां सेठ ऊंचे स्वरसे बोला "भो ! बडा अनुचित है ! बडा अनुचित है ! मेरा बालक इस चोरने हरण कर लिया," तब धर्माधिकारी उससे बोले,—"श्रेष्ठिका पुत्र समर्पण करो"। वह बोला,—"मैं क्या करूं मेरे देखते नदीतटसे गृध्रने बालक हरण किया," यह सुनकर वह बोले,—"भो ! तुमने सत्य नहीं कहा क्या गिद्ध बालक हरण करनेको समर्थ हो सकता है ?" वह बोला,—"भो ! भो ! ! हमारे वचन सुनो—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः ।
राजन् तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः ॥ ४४८ ॥"

जहां सहस्र लोहकी तराजूको मूषे खा जाते हैं वहां बालककोभी श्येन हर लेता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४४८ ॥"

ते प्रोचुः—"कथमेतत् ?" ततः श्रेष्ठी सभ्यानामग्रे आदितः सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास । ततः तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं संबोध्य तुलाशिशुप्रदानेन सन्तोषितौ । अतोऽहं ब्रवीमि, "तुलां लोहसहस्रस्य" इति ।

वह बोले,—"यह कैसे ?" तब श्रेष्ठी सभ्योंके आगे आदिसे सब वृत्तान्त निवेदन करता भया, तब उन्होंने हँसकर उन दोनोंहीको तराजू और बालक दिलवाकर सन्तुष्ट किया, इससे मैं कहताहूं "तुला लोहसहस्रकी इत्यादि" ॥

तन्मूर्ख ! सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वया एतत् कृतम् । अहो साधु चेदमुच्यते—

सो मूर्ख! सजीवककी प्रसन्नता न सहनेवाले तैने यह किया। अहो अच्छा कहा है कि—

प्रायेणात्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगा
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माश्रयं पापिनो
नानाशास्त्रविचक्षणञ्च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा॥४४९॥

बहुधा इस जगत्में खाटे कुलमें उत्पन्न हुए कुलीनोंकी, दुर्भागी भाग्यवान् पुरुषोंकी, कजूस दाताओंकी, कुटिल सीधोंकी, निर्धनी धनियोंकी, विरूप सुन्दरोंकी, पापी धर्मात्माओंकी, मूर्ख नाना शास्त्रमें चतुर पुरुषोंकी सदा निन्दा करते हैं॥ ४४९॥

तथाच—
तैसेही—

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः॥ ४५०॥

मूर्ख पंडितोंसे सदा द्वेष करते हैं, निर्धन धनवानोंसे, पापात्मा व्रतवालोंसे, असती कुलस्त्रियोंसे सदा द्वेष करती हैं॥ ४५०॥

तन्मूर्ख! त्वया हितमपि अहितं कृतम्। उक्तञ्च—
सो हे मूर्ख! तने हितभी अहित किया. कहा है—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिताः॥ ४५१॥

पंडित शत्रुभी अच्छा, हितकारी मूर्ख भला नहीं वानरने राजाको मारा और ब्राह्मणोंकी चोरने रक्षा की॥ ४५१॥

दमनक आह—"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत—
दमनक बोला—"यह कैसे?" वह बोला—

कथा २२.

कस्यचित् राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तःपुरेऽपि अप्रतिषिद्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत्। एकदा राज्ञो निद्रां गतस्य वानरे व्यजनं नीत्वा वायुं विदधति

राज्ञो वक्षःस्थलोपरि मक्षिका उपविष्टा । व्यजनेन मुहुर्मुहुर्निषिध्यमानापि पुनः पुनस्तत्रैव उपविशति । ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्णं खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः। ततो मक्षिका उड्डीय गता तेन शितधारेण असिना राज्ञो वक्षो द्विधा जातं राजा मृतश्च । तस्मात् चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीयः । अपरमेकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान् परं पूर्वजन्मयोगेन चौरो वर्त्तते । स तस्मिन् पुरेऽन्यदेशादागतान् चतुरो विप्रान् बहूनि वस्तूनि विक्रीणतो दृष्ट्वा चिन्तितवान्, "अहो ! केन उपायेन एषां धनं लभे" ! । इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि सुभाषितानि च अतिप्रियाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्त्तुमारब्धा । अथ वा साधु चेदमुच्यते–

किसी एक राजाका नित्य अत्यन्त भक्त एक वानर अंगरक्षक अन्तःपुरमेंभी अनिवारित प्रवेशवाला अति विश्वासपात्र था, एक समय निद्रित हुए राजाके वानरके पंखा लेकर हवा करनेमें राजाकी छातीपर मक्खी बैठ गई पंखेसे वारंवार निषेध की हुईभी वहीं बैठती । तब उस स्वभावसे चपल मूर्ख वानरने क्रोध कर तीक्ष्ण खड्ग ले उसपर प्रहार दिया । तब मक्खी तो उडगई उस तीक्ष्ण धारवाली तल्वारसे राजाकी छाती दो खण्ड हुई जिससे वह मरगया, इससे चिरायुकी रक्षा करनेवाले राजाको मूर्ख अनुचर करना उचित नहीं । दूसरी बात यह कि, एक नगरमें कोई ब्राह्मण महाविद्वान् था, परन्तु पूर्वजन्मके योगसे चोर होगया, वह उस पुरमें और देशोंसे आये हुए चार ब्राह्मणोंको बहुतसी चीजे बेचता देखकर विचारने लगा, "अहो किस उपायसे इनका धन लूं" । ऐसा विचार कर उनके सन्मुख अनेक शास्त्रोक्त सुभाषित अतिप्रिय मधुर वचनोंको कहकर उनके मनमें विश्वास उत्पन्न कर सेवा करनी प्रारम्भ की । अथवा यह अच्छा कहा है–

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरञ्च शीतलं भवति ।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्त्तजनः ॥४९२॥

असती लज्जावती होती है, खारी पानी ठंढा होता है, ज्ञानी पाखंडी होता है और धूर्तमनुष्य प्रियवक्ता होता है ॥ ४९२ ॥

अथ तस्मिन् सेवां कुर्वति तैः विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय वहुमूल्यानि रत्नानि क्रीतानि । ततः तानि जंघामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो विहितः । ततः स धूर्त्तविप्रस्तान् विप्रान् गन्तुमुद्यतान् प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः । "अहो ! धनमेतत् न किञ्चित् मम चटितम् । अथ एभिः सह यामि, पथि क्कापि विषं दत्त्वा एतान्निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णामि" । इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलप्य इदमाह,–"भोः मित्राणि ! यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्यताः । तन्मे मनो भवद्भिः सह स्नेहपाशेन बद्धं भवद्भिरहनाम्नैव आकुलं सञ्जातं यथा धृतिं क्कापि न धत्ते । यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत । तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्रचित्ताः तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः । अथ अध्वनि तेषां पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वांक्षाः कथयितुमारब्धाः,–" रे रे किराताः ! धावत धावत । सपादलक्षधनिनो यान्ति । एतान् निहत्य धनं नयत" । ततः किरातैः ध्वांक्षवचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुडप्रहारैः जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः, परं धनं किञ्चिन्न लब्धम् । तदा तैः किरातैरभिहितम्–"भोः पान्थाः ! पुरा कदापि ध्वांक्षवचनमनृतं न आसीत् । ततो भवतां सन्निधौ क्कापि धनं विद्यते । तदर्पयत । अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्गं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः" । तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्, यदा एषां विप्राणां वधं विधाय अंगं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति तदा अपि मां वधिष्यन्ति

ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्य एतान् मुञ्चामि । उक्तञ्च-

उसके सेवा करनेपर उन ब्राह्मणोंने सब वस्तु बेचकर बहु मूल्य रत्न खरीदे । और उनको जंघामें उनके सन्मुखही डालकर अपने देश जानेको तयार हुए । तब वह ब्राह्मण उनको जाता देख मनमें व्याकुल हुआ, "अहो यह धन कुछभी हमको न दिया सो मैं इनके साथ जाऊं मार्गमे कहीं विष दे इनको मारकर सब रत्न ग्रहण करलूं" । ऐसा विचार कर उनके आगे करुणासे विलाप कर यह बोला,—"भो मित्रो ! तुम मुझ इकलेको छोडकर जानेको तयार हुए, सो मेरा मन आपके साथ स्नेहपाशमें बंधा है आपके वियोगसेही मैं व्याकुल हूं बुद्धि धीरज धारण नहीं करती है । तुम अनुग्रह कर सहायभूत मुझेभी साथ ले चलो" । उसके वचन सुन वे करुणासे आर्द्रचित्त हो उसके साथ ही अपने देशको चले । तब मार्गमें उन पांचोंके पल्ली पुरमें जाते हुए काक कहने लगे,—"रेरे किरातो ! दौडो दौडो सवा लाख रुपयेके धनी जाते है इनको मारकर धन लेलो" । तब किरातोंने ध्वांक्षवचन सुनकर शीघ्र जाकर उन ब्राह्मणोंको लगुडप्रहारसे जर्जर करके वस्त्र उतारकर देखा, परन्तु धन कुछभी न पाया । तब उन किरातोंने कहा,—"भो मुसाफिरो ! पहले कभी काकोंका वचन असत्य नहीं हुआथा । सो तुम्हारे पास कहीं धन है सो दो नहीं तो सबका वधकर चर्म विदीर्ण कर प्रत्यंग देखकर धन लेलेंगे" । तब उनके ऐसे वचन सुनकर चोर विप्रने मनमें विचारा "जो यह इन ब्राह्मणोंका वध कर अंगको देख रत्न लेंगे तो मुझकोभी मारेंगे सो पहले मैं अरत्न अपनेको समर्पण कर इनको छुडाऊं । कहा है—

मृत्योर्बिभेषि किं बाल न स भीतं विमुञ्चति ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ४९३ ॥

मूर्ख ! मृत्युसे क्यों डरता है यह डरे हुएको नहीं छोडेगी आज वा सौ वर्षमें प्राणियोंको मृत्यु अवश्य होगी ॥ ४९३ ॥

तथाच-

तैसेही—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः ।
सूर्यस्य मण्डलं भित्वा स याति परमां गतिम् ॥४५४॥"

जो गौ और ब्राह्मणके निमित्त प्राणत्यागन करता है वह सूर्यमंडलको भेदकर परमगतिको जाता है ॥ ४९४ ॥"

इति निश्चित्य अभिहितम्,-"भोः किराताः! यदि एवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत। ततः तैस्तथानुष्ठिते तं धनरहितमवलोक्य अपरे चत्वारोऽपि मुक्ताः। अतोऽहं ब्रवीमि, "पण्डितोऽपि वरं शत्रुः" इति। अथ एवं संवदतोस्तयोः सञ्जीवकः क्षणमेकं पिंगलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुः वसुन्धरापीठे निपपात। अथ तं गतासुमवलोक्य पिंगलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच-"भोः! अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता, यतो विश्वासघातादन्यत् नास्ति पापतरं कर्म। उक्तञ्च-

ऐसा निश्चय कर उसने कहा,-"हे किरातो! जो ऐसा है तो पहले मुझे मारकर देखो तब उन्होंने वैसा करके उसको धनरहित देख शेष चारों छोड-दिये। इससे मैं कहताहू "पंडितभी शत्रु अच्छा है इत्यादि"। ऐसा उन दोनोंके कहतेमें सजीवक एकक्षण पिंगलकके साथ युद्ध करके उसके तीक्ष्ण नखप्रहारसे हत हुआ प्राणरहित हो पृथ्वीपर गिरा। तब उसको प्राणरहित देख पिंगलक उसके गुण स्मरणसे आर्द्रहृदय हो बोला,-"भो! सजीवकको मारकर मैंने अयुक्त पाप किया, कारण कि,विश्वासघातसे अधिक और कोई पापकर्म नही है। कहाहै-

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४९५ ॥

मित्रद्रोही, कृतघ्नी और जो विश्वासघाती है वे मनुष्य जबतक सूर्य चन्द्र हैं तब तक नरकको जाते हैं ॥ ४९५ ॥

भूमिक्षये राजविनाश एव भृत्यस्य वा बुद्धिमतो विनाशे।
नो युक्तमुक्तं ह्यनयोःसमत्वं नष्टापि भूमिःसुलभा न भृत्याः॥

भूमिक्षय राजनाश वा बुद्धिमान् भृत्यके नाशमें इनका समत्व कहना युक्त नहीं हो सक्ता नष्टहुई भूमि सुलभ है पर भृत्य नहीं मिलते ॥ ४९६ ॥

तथा मया सभामध्ये स सदैव प्रशंसितः। तत् किं कथयिष्यामि तेषामग्रतः। उक्तञ्च-

और मैंने उसकी सभामे सदा प्रशंसा की अब उन सबके आगे क्या कहूंगा। कहा है–

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि ।
न तस्य दोषो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५७ ॥"

जिसको पहले सभामें यह गुणवान् है ऐसा कहा है प्रतिज्ञाभंगभीरुओंको फिर उनके दोष कहने उचित नहीं हैं ॥ ४५७ ॥"

एवंविधं प्रलपन्तं दमनकः समेत्य सहर्षमिदमाह–" देव कातरतमस्तव एष न्यायो यद्द्रोहकारिणं शष्पभुजं हत्वा इत्थं शोचसि । तन्न एतदुपपन्नं भूभुजाम् । उक्तञ्च–

इस प्रकारसे प्रलाप करते हुएके निकट दमनक आकर प्रसन्नतासे यह बोला- "देव ! आपका यह न्याय अत्यन्त कातरतम है जो इस द्रोहकारी घासभोजीको मारकर इस प्रकार शोच करते हो राजाओंको यह उचित नहीं है । कहा है–

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भार्य्याथवा सुहृत् ।
प्राणद्रोहं यदा गच्छेद्धन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥ ४५८ ॥

पिता, भ्राता, पुत्र, स्त्री वा सुहृत् जो यह अपने प्राणोंका द्रोह करें तो इनके मारनेमें पातक नहीं है ॥ ४५८ ॥

तथाच–

और देखो–

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी स्त्री चात्रपा दुष्टमतिःसहायः।
प्रेष्यःप्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति॥

अति दयालु राजा, सर्वभक्षी ब्राह्मण, निर्लज्ज स्त्री, दुष्टमति सहायकारी, प्रतिकूल भृत्य, असावधान अधिकारी और जो कार्यको नहीं जानता इनको त्यागना चाहिये ॥ ४५९ ॥

अपिच–

औरभी–

सत्यानृता च पुरुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।

भूरिव्यया प्रचुरवित्तसमागमा च
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४६० ॥

सत्य, झूठ, कठोर, प्रियवादिनी, हिंसायुक्त, दया, भय, कभी स्वार्थयुक्त, पुरस्कारवाली, बहुत व्यय, बहुत धनकी प्राप्तिवाली राजाओंकी नीति वेश्याकी समान अनेकरूपवाली होतीहै ॥ ४६० ॥

अपिच–

और भी–

अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते ।
पूजयन्ति नरा नागान्न तार्क्ष्यं नागघातिनम् ॥ ४६१ ॥

विना उपद्रवकरे कोई महान्‌भी पूजित नहीं होता है मनुष्य सर्पोंको पूजते हैं सर्पघाती गरुडको नहीं पूजते हैं ॥ ४६१ ॥

तथाच–

तैसेही–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ४६२ ॥"

नहीं शोचवालोंका सोच करतेहो, बुद्धिमानोंके वचनोंको बोलते हो पंडितलोग जीते मरे किसीकाभी शोच नहीं करते ॥ ४६२ ॥"

एवं तेन सम्बोधितः पिंगलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत् ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदो नाम
प्रथमं तन्त्रं समाप्तम् ।

इस प्रकार उससे समझाया हुआ पिंगलक संजीवकके शोकको त्यागनकर दमनकको मंत्री बनाय राज्य करता रहा ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पचतंत्रे कामेश्वरसङ्कृतपाठशालायाः मुख्याध्यापकपंडित–ज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां मित्रभेदोनाम प्रथमं तंत्र समाप्तम् । शुभमस्तु ।

अथ

मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रम्।

अथ इदमारभ्यते मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रं तस्य अयमाद्यः श्लोकः-

अब यह आरंभ किया जाता है मित्रसम्प्राप्ति नामवाले दूसरे तंत्रके जिसका-यह पहिला श्लोक है-

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।
साधयन्त्याशु कार्य्याणि काकाखुमृगकूर्मवत्॥ १॥

निरुपायभी विद्वान् बुद्धिमान् बहुत शास्त्रदर्शी शीघ्र अपने कार्यको काक चूहे मृग कच्छपकी समान सिद्ध करते हैं॥ १॥

तद्यथा अनुश्रूयते-

सो यों सुना है-

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य न अतिदूरस्थो महोच्छ्रायवान् नानाविहंगोपभुक्तफलः कीटैरावृतकोटरः छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान्। अथवा युक्तम्-

कि, दक्षिणके देशमें महिलारोप्य नाम नगर है, उसके निकटही बडी छायावाला अनेक पक्षियोंसे फल खाया हुआ, कीटोंसे भरीखखोडलवाला छायामें पथिक जनोंको आश्वासन देनेवाला एक बडा न्यग्रोध (वट) का पेड है।

अथवा कहा है-

छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग् विलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः।
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः।
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः॥ २॥

जिसकी छायामें मृग सोते हैं, पक्षिसमूहोसे जो चारों ओरसे ढके पत्ते-वाला, कीटोसे ढकी खखोडवाला, स्कन्धमें वानरोंसे युक्त, भौंरोंसे बेडर पिये फूलरसवाला, सम्पूर्ण अगोंसे बहुत जीवोके सगका सुख देनेवाला, वहही वृक्ष श्लाघनीय है इसके अतिरिक्त वृक्ष पृथ्वीके भारभूत हैं ॥ २ ॥

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् प्राणयात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत पश्यति तावत् जालहस्तोऽतिकृष्णतनुः स्फुटितचरण ऊर्द्ध्वकेशो यम-किंकराकारो नरः सम्मुखो बभूव । अथ तं दृष्ट्वा शंकितमना व्यचिन्तयत् । "यदयं दुरात्मा अद्य मम आश्रयवटपादपस-म्मुखोऽभ्येति । तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां सङ्क्षयो भविष्यति न वा" । एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्ष-णान्निवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान् विहङ्गमान् प्रोवाच— "भो ! अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति । तत् सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम् । एष जालं प्रसार्य्य तंडु-लान् प्रक्षेप्स्यति । ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि कालकूटस-दृशा द्रष्टव्याः" । एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतले चागत्य जालं प्रसार्य्य सिन्दुवारसदृशान् तण्डुलान् प्रक्षिप्य न अतिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः । अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थि-तास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारितास्तान् तण्डुलान् हालाहलांकुरानिव वीक्षमाणा निभृताः तस्थुः । अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमन् तान् तण्डुलान् दूरतोऽपि पश्यन् लघुपतनकेन निवार्य्यमाणोऽपि जिह्वालौल्यात् भक्षणार्थमपतत् सपरि-वारो निबद्धश्च । साधु इदमुच्यते—

वहा लघुपतनक नाम काक रहता था, वह कभी प्राणयात्राके निमित्त पुरकी ओरको ज्योंही चला, तबतक जाल हाथमे लिये काला शरीर फटे पैर ऊर्ध्व-केश यमदूतकी समान एक मनुष्य सन्मुख हुआ । उसको देख शकित मनसे यह विचार करने लगा । "जो यह दुरात्मा आज मेरे आश्रित वटके सन्मुख

आता है, सो नहीं जानते कि, आज क्या वटनिवासी पक्षियोंका संक्षय होगा या नहीं"। इस प्रकार बहुत प्रकार विचार कर उसी क्षणमें लौटकर उस वटवृक्षपर जाकर सब पक्षियोंसे बोला—"भो! यह दुरात्मा लुब्धक जाल और चावल हाथमें लिये आता है, सो सब प्रकार इसका विश्वास मत करना यह जाल फैलाकर चावल बखेरेगा। वे चावल तुम सब कालकूट विषकी समान जानना"। उसके ऐसा कहनेपर वह लुब्धक वटके तले आय जाल फैलाकर सिन्धुवारकी समान चावलोंको बखेरकर थोडी दूर जाकर एकान्तमें स्थित हुआ, तब वहां स्थित हुये वे पक्षी लघुपतनकके वाक्यरूपी अर्गलासे निवारित हुए उन चावलोंको हलाहल विषके अंकुरोंकी समान देखते हुए एकान्तमें स्थित भये। इसी समय चित्रग्रीव नाम कपोतराजा सहस्रकुटुम्बके सहित प्राणयात्राके निमित्त घूमता हुआ उन चावलोंको दूरसेभी देखता हुआ लघुपतनकसे निवारित होकर भी जिह्वाके चंचलतासे भक्षणके लिये प्राप्त होकर परिवार सहित बन्धनमें पडा। अच्छा कहाभी है—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम्।
अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते ॥ ३ ॥

जिह्वाके लालचमें प्रसक्त हुए जलके मध्यमें रहनेवालों मच्छियोंकी समान अज्ञानियोंका अचिन्तित वध होता है ॥ ३ ॥

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवति एवं, न तस्य दोषोऽस्ति। उक्तञ्च—

अथवा दैवकी प्रतिकूलतासे ऐसा होता है उसका दोष नहीं है। कहा है—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥ ४ ॥

रावणने दूसरेकी स्त्रीके हरनेका दोष क्यों न जाना, रामचन्द्रने सुवर्णके हरिणकी असंभवता क्यों न जानी, युधिष्ठिरने अक्षोंके खेलनेसे एक साथ अनर्थ क्यों न जाना, प्रायः विपत्ति आनेसे मूढमन होजाने वालोंकी बुद्धि क्षीण होजाती है ॥ ४ ॥

तथाच-

और देखो-

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

कृतान्त पाशमे बंधे हुए, दैवसे हतचित्त, महत्पुरुषोंकी बुद्धिभी कुटिलगामिनी होजाती है ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान् विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिः तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽपि आत्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान् कपोतानूचे-"अहो! न भेतव्यम् । उक्तञ्च-

इस अवसरमें वह लुब्धक उनको बँधा हुआ जानकर प्रसन्न मन लकड़ी उठाये हुए उनके वधके निमित्त धावमान हुआ, चित्रग्रीवभी अपनेको बँधा हुआ और लुब्धकको आया हुआ देखकर उन कबूतरोंसे बोला,-"भो! डरना न चाहिये। कहा है-

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥

सब प्रकारके व्यसन प्राप्त होनेमें जिसकी बुद्धि हीन नहीं होती है उसके प्रभावसे वह निःसन्देह उसके पार होजाता है ॥ ६ ॥

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥ ७ ॥

सम्पत्ति और विपत्तिमें महात्मा एकरूप रहते हैं सूर्य उदय और अस्तमेंभी लाल रहता है ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलया उड्डीय सपाशजाला अस्य अदर्शनं गत्वा मुक्तिं प्राप्नुमः, नो चेद्भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ, ततो मृत्युमवाप्स्यथ । उक्तञ्च-

सो हम सब लीलासेही उड़कर पाशजाल सहित इसके अदर्शनको प्राप्त होकर छूटें । और नहीं तो भयसे व्याकुल हो लीलासेही न उड़ोगे तो मृत्युको प्राप्त होंगे। कहाहै-

तन्तवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासात्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥"

तन्तुभी नित्य विस्तीर्ण हैं और बहुतसे तुल्यरूप तन्तु बहुतसे परिश्रमोंको सहन कर लेते हैं, यही महात्माओंकी उपमा है ॥ ८ ॥"

तथानुष्ठिते लुब्धको जालमादाय आकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्य्यधावत । तत ऊर्द्धाननः श्लोकमेनमपठत्–

वैसा करने पर वह लुब्धक जालको लेकर आकाशमें जाते हुए उनके पीछे पृथ्वीमें स्थित हुआभी धावमान हुआ। और ऊपरको मुखकर यह श्लोक पढने लगा–

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी ।
यावच्च विवदिष्यन्ते पतिष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

मिले हुए यह पक्षी मेरे जालको लेकर उडते हैं और जब पतित होंगे तब सब मेरे वशमें हो जांयगे ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा किमत्र भविष्यतीति कुतूहलात् तत्पृष्ठलग्नोऽनुसरति । अथ दृष्टेरगोचरतां गतान् विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठन् निवृत्तश्च ।

लघुपतनकभी आजीविकाको छोड़कर इसमें क्या होगा इस कुतूहलसे उसके पीछे लगा चला। तब उनके दृष्टिपथसे अतीत होनेपर उन्हें गया जानकर लुब्धक यह श्लोक पढता हुआ। निवृत्त हुआ–

न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं प्रयत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति १०॥

"जो नहीं होनहार है यह नहीं होती जो होनहार है वह यत्नसे होतीही है जिसकी भावी (होनहार) नहीं है हाथमें स्थित हुआ भी वह पदार्थ नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

तथाच–

तैसेही

पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथञ्चिद्द्रविणोदयः ।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शंखनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

विधिके पराङ्मुख होनेमें किस प्रकार धनका उदय हो सकता है वह औरकोभी ग्रहण कर शखानिधि (न ठिपाई) की समान नष्ट हो जातीहै ॥११॥

तदास्तां तावत् विहङ्गामिषलोभो यावत् कुटुम्बवर्त्तनोपायभूतं जालमपि मे नष्टम्"। चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच–"भो! निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः। तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे तत्र मम सुहृत् हिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति। उक्तञ्च–

विक्षयोंके मासका लोभ तो अलग रहा कुटुम्बकी आजीविकाका उपायभूत मेरा जालभी नष्ट हुआ"। चित्रग्रीवभी लुब्धकको नेत्रोंसे अलक्षित देखकर उनसे बोला,–"भो! वह दुरात्मा लुब्धक निवृत्त हुआ। सो सब स्वस्थ होकर महिलारोप्यके उत्तर दिशाकी ओर चलो वहा मेरा सुहृत् हिरण्यक नाम मूषकराज सबके पाश छेदन करेगा। कहाहै–

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न सन्दधे॥ १२॥"

सम्पूर्ण मनुष्योको व्यसन उपस्थित होनेमे वाणीमात्रकीभी सहायताको मित्रके विना कौन कर सकता है॥ १२॥"

एवं ते कपोताः चित्रग्रीवेण सम्बोधिताः महिलारोप्ये नगरे हिरण्यकबिलदुर्गं प्रापुः। हिरण्यकोऽपि सहस्रमुखबिलदुर्गं प्रविष्टः सन् अकुतोभयः सुखेन आस्ते, अथवा साधु इदमुच्यते।

इस प्रकार चित्रग्रीवसे कहे हुए वे कबूतर महिलारोप्य नगरमें हिरण्यकके बिलदुर्गको प्राप्त हुए। हिरण्यक भी सहस्र मुखके बिलदुर्गमें प्रविष्ट हुआ निर्भय सुखसे रहताथा। अथवा अच्छा कहाहै कि–

अनागतं भयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः।
अवसन्मूषकस्तत्र कृत्वा शतमुखं बिलम्॥ १३॥

वे आये हुए भयका देखनेवाला नीतिशास्त्रमें पडित मूषिक सौ मुखका बिल बनाकर आनदसे रहताथा॥ १३॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ १४ ॥

डाढसे रहित जैसे सर्प, मदसे हीन जैसे हाथी, इसी प्रकार दुर्गहीन राजा सबके वशीभूत हो जाताहै ॥ १४ ॥

तथाच—
तैसेही—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे ॥ १५ ॥

न सहस्र हाथियोंसे न लाख घोडोंसे वह कार्य सिद्ध होता है जो युद्धमें एक किलेसे सिद्ध होताहै ॥ १५ ॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद्दुर्गं प्रशसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥ १६ ॥"

किलेमें स्थित धनुषधारी एकही सौसे युद्धकर सकता है इस कारण नीतिशास्त्रके ज्ञाता दुर्गकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥"

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—"भो भो मित्र हिरण्यक ! सत्वरमागच्छ । महती मे व्यसनावस्था वर्त्तते" । तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन् प्रोवाच,—"भोः ! को भवान् ? किमर्थमायातः ? किं कारणम् ? कीदृक् ते व्यसनावस्थानम् ? तत् कथ्यताम्" इति । तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह.—"भोः ! चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत् । तत् सत्वरमागच्छ गुरुतरं प्रयोजनमास्ति" । तत आकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनाः त्वरमाणो निष्क्रान्तः । अथवा साधु इदमुच्यते—

तब चित्रग्रीव बिलके निकट जाय ऊंचे स्वरसे बोला,—"भो भो मित्र हिरण्यक ! शीघ्रआओ मुझे बडी कष्टकी अवस्था वर्तमान है" । यह सुनकर हिरण्यकभी बिलदुर्गमें प्राप्त हुआ ही बोला,—"भो आप कौन हो ? क्यों आये हो ? क्या कारण है ? कैसी तुमको विपत्ति है सो कहो" । यह सुनकर

चित्रग्रीव बोला,-"भो ! चित्रग्रीव नामवाला कपोतोका राजा मैं तेरा सुहृद हू। सो शीघ्र आओ। मेरा बहुत बडा कार्य है"। यह सुनकर पुलका-प्रमान शरीर प्रसन्नात्मा स्थिर मन शीघ्रता करता हुआ निकला। अथवा यह अच्छा कहा है-

सुहृदः स्नेहसम्पन्ना लोचनानन्ददायिनः।
गृहे गृहवतां नित्यं नागच्छन्ति महात्मनाम्॥ १७॥

सुहृत् (मित्र) स्नेहसे सम्पन्न नेत्रोंके आनन्द देनेवाले महात्मा गृहस्थियोंके घरोमे नित्य नहीं आते हैं॥ १७॥

आदित्यस्योदयं तात ताम्बूलं भारती कथा।
इष्टा भार्य्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने॥ १८॥

हे तात! सूर्यका उदय, ताम्बूल, महाभारतकी कथा, इष्ट स्त्री, सुन्दर मित्र यह दिन दिन अपूर्वही होते हैं॥ १८॥

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम्॥ १९॥

जिसके घरमें नित्यही सुहृद आते है उसके चित्तमे उसके बराबर और कुछ सुख नहीं है॥ १९॥

अथ चित्रग्रीवं सपरिवारं पाशबद्धमालोक्य हिरण्यकः सविषादमिदमाह-"भोः किमेतत्?" स आह-"भो! जानन्नपि किं पृच्छसि? उक्तञ्च यतः-

तब चित्रग्रीवको परिवारसहित पाशमे बन्धा हुआ देखकर हिरण्यक विषाद-पूर्वक यह वचन बोला,-"भो! यह क्या है?" वह बोला,-"भो! जानकर भी क्या पूछता है? कहा है कि-

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति॥ २०॥

जिससे जिस करके जब जैसा जो जितना जहां शुभ अशुभ अपना कर्म किया है तिससे तिसकरके तब तैसा सो तितना तबतक तहांही कालकी प्रेरणासे प्राप्त होता है ॥ २० ॥

तत् प्राप्तं मया एतद्बन्धनं जिह्वालौल्यात् । साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाशविमोक्षं कुरु"। तदाकर्ण्य हिरण्यक आह-

सो यह मुझे बन्धन जिह्वाकी चंचलतासे प्राप्त हुआ है, इस कारण तू शीघ्र पाश मोक्षण कर" । यह सुनकर हिरण्यक बोला-

"अध्यर्द्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः ।
सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद्बन्धनं न च पश्यति ॥ २१ ॥

आधे (अधिक) १५० सो योजनसे जो पक्षी मांसको देखता है वहभी प्रारब्धसे निकट स्थित हुए बन्धको नहीं देखता है ॥ २१ ॥

तथाच-

तैसेही-

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गविहंगमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ २२ ॥

सूर्य चन्द्रभी ग्रहसे पीडित होते हैं, हाथी सर्प पक्षि बन्धनमें पडते हैं, तथा बुद्धिमानोंको दरिद्र देखकर दैवही बलवान् है यह मेरी बुद्धि है ॥ २२ ॥

तथाच-

औरभी-

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि ।
दुर्णीतं किमिहास्ति किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २३ ॥

एकान्त, आकाशमें विचरनेवाले पक्षीभी आपत्तिको प्राप्त होते हैं, चतुर पुरुषोंद्वारा अगाध जलवाले समुद्रसे मछलीभी बांध ली जाती हैं । इस संसारमें दुर्नय क्या है ? सुकृत क्या है ? स्थान लाभमें भी क्या गुण है ? काल हाथ फैलाये हुए दूरसे सबको ग्रहण करता है ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह-"भद्र मा मैवं कुरु, प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु तदनु ममापि च"। तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह-'भो! न युक्तमुक्तं भवता यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः"। स आह,-"भद्र! मा मैवं वद, मदाश्रयाः सर्वे एते वराकाः, अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः। तत् कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोति। उक्तञ्च-

ऐसा कह चित्रग्रीवके पाश छेदन करनेको उद्यत हुए उससे बोला-"भद्र! ऐसा मतकरो, पहले मेरे भृत्योंके पाश छेदन करो पीछे मेरे भी" यह सुन क्रोध कर हिरण्यक बोला-"भो! आपने युक्त नहीं कहा कारण कि, स्वामीके अनन्तर भृत्य होते हैं"। वह बोला-"भद्र! ऐसा मत कहो यह सब क्षुद्र मेरे वशमे हैं और यह अपना कुटुम्ब त्याग कर मेरे साथ आये हैं। सो कैसे इतनाभी इनका सन्मान न करू। कहा है-

यः सम्मानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम्।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित्॥ २४॥

जो राजा भृत्योंका सदा अधिक सन्मान करता है वे धनके अभावमें भी उसको कभी त्यागन नहीं करते हैं॥ २४॥

तथाच-

और देखो-

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्य्यते॥ २५॥

विश्वासही सम्पत्तियोंकी जड है इससेही हाथी यूथपति कहलाता है सिंह मृगाधिपति होकरभी मृगोंसे परिवारित नहीं होता है॥ २५॥

अपरं मम कदाचित् पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभंगो भवति अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति। तत् नूनं मम नरकपात एव। उक्तञ्च-

और फिर कदाचित् मेरे पाश छेदन करनेमें तेरे दांत भग होजाय अथवा यह दुरात्मा लुब्धकही आजाय तो अवश्य मेरा नरकमें पतन होगा। कहा है-

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः ।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २६ ॥

जो प्रभु सदाचारवाले भृत्योंके दुःखी होनेमें सुखी होता है वह परलोकमें नरकको जाता और यहांभी दुःखी होता है ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह–" भोः ! वेद्मि अहं राजधर्म्मम् । परं मया तव परीक्षा कृता । तत् सर्वेषां पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि । भवानपि अनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति । उक्तञ्च–

यह सुनकर प्रसन्न हो हिरण्यक बोला–"भो ! मैं राजधर्म जानता हूं परंतु मैंने तेरी परीक्षा की थी । सो पहले अन्य सबोंके पाश छेदन करूंगा, आपभी इस विधिसे बहुत कपोतके परिवारवाले होंगे । कहा है–

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा ।
सम्भवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २७ ॥

जिसकी भृत्योंमें सदा करुणा समविभाग है वह राजा त्रिलोकीके रक्षण करनेमें भी समर्थ होता है ॥ २७ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह–"मित्र ! गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्" । इति तान् संप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः । चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत् । अथवा साधु इदमुच्यते–

यह कह सबकेही पाश छेदन करके हिरण्यक चित्रग्रीवसे बोला–"मित्र ! अब अपने स्थानको पधारो फिरभी दुःखप्राप्तिमें आना," इस प्रकार उनको भेजकर अपने दुर्गमें प्रवेश करगया, चित्रग्रीवभी परिवारसहित अपने आश्रयको गया । अथवा यह सत्य कहा है–

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यानपि वै यतः ।
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ॥ २८ ॥

मित्रवान् जिससे कि, कठिन कार्योंको साध लेते हैं इसकारण अपने समान मित्रोंको करना चाहिये ॥ २८ ॥

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्ष-मवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत। "अहो ! बुद्धि-रस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च तत् ईदृगेव विधिः विहंगानां बन्धनमोक्षात्मकः। अहं च न कस्यचित् विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च। तथापि एनं मित्रं करोमि। उक्तञ्च-

लघुपतनक कौआ सम्पूर्ण उस चित्रग्रीवके बन्ध मोक्षणको देख विस्मितमनसे विचार करने लगा, "अहो! इस हिरण्यककी बुद्धि शक्ति और दुर्गसामग्री देखो इस प्रकार बधन मोक्षात्मक विहगमोंकी विधि देखो? मैं किसीका विश्वास नहीं करता चचलप्रकृति हू। तो भी इसको मित्र करूगा। कहा है-

अपिसम्पूर्णतायुक्तैः कर्त्तव्याः सुहृदो बुधैः।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥ २९ ॥

सम्पूर्णता युक्त होकरभी पडितोंको सुहृद बनाने चाहिये परिपूर्ण सागरभी चन्द्रोदयकी अपेक्षा करता है ॥ २९ ॥

एवं सम्प्रधार्य्य पादपादवतीर्य्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्र-ग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान्। "एहि एहि भो हिरण्यक! एहि"। तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्। "किमन्योऽपि कश्चित् कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां व्याहरति"। आह च,-"भोः को भवान्?" स आह,-"अहं लघुपतनको नाम वायसः"। तत् श्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह,-"भोः! द्रुतं गम्यतां अस्मात् स्थानात्" वायस आह-"तव पार्श्वे गुरुकार्य्येण समागतः, तत् किं न क्रियते मया सह दर्शनम्?" हिरण्यक आह,-"न मेऽस्ति त्वया सह सङ्गमेन प्रयोजनम्" इति स आह,। "भोः! चित्र-ग्रीवस्य मया तव सकाशात् पाशमोक्षणं दृष्टं तेन मम महती प्रीतिः सञ्जाता। तत् कदाचित् ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वात् मुक्तिर्भविष्यति। तत् क्रियतां मया सह मैत्री"। हिरण्यक आह-"अहो! त्वं भोक्ता।अहं ते भोज्यभूतः। तत्

कः त्वया सह मम मैत्री तत् गम्यतां, मैत्री विरोधभावात् कथम्? उक्तञ्च-

ऐसा विचार वृक्षसे उतर कर बिलके द्वारे आय चित्रग्रीवकी समान शब्द करके हिरण्यकको बुलाता हुआ "आओ २ भो हिरण्यक! आओ"। उस शब्दको सुनकर हिरण्यक विचार करने लगा "क्या और कोई कबूतर बंधा रहगया, जिससे मुझे बुलाता है"। और बोला-"भो! आप कौन हो?"। वह बोला-"मैं लघुपतनक नाम काकहूं"। यह सुन अन्तर लीन होकर हिरण्यक बोला-"भो! इस स्थानसे बहुत शीघ्र गमन करो" काक बोला,-"बड़े कार्यकेलिये तुम्हारे पास आया हू, फिर मुझे दर्शन क्यों नहीं देते हो"। हिरण्यक बोला-"तुम्हारे साथ मिलनेसे मेरा कुछभी प्रयोजन नहीं है", काक बोला,-"चित्रग्रीवका मैंने तुमसे पाशमोक्षण देखा है उस कारण मुझको बड़ी प्रीति हुई है, सो कदाचित् मेरा बंधन होनेसे तुम्हारे निकटसे छुटकारा होगा, सो मेरे साथ मित्रता करो"। हिरण्यक बोला-"भो! आश्चर्य है कि, तू मेरा भोजन करनेवाला और मैं तेरा भोज्य पदार्थ हूं। सो कैसी तुम्हारे साथ मेरी मित्रता? सो जाओ विरोधभावसे मित्रता कैसी? कहा है-

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ ३०॥

जिनका समान धन, जिनका समान कुलहो उन्हींकी मित्रता और विवाह होना उचित है विरुद्धका नहीं॥ ३०॥

तथाच-

और देखो-

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः।
हीनं वाप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः॥ ३१॥

जो मूढ कुबुद्धि अपने असदृश मित्रोंको करता है हीन वा अधिक करता: है वह हास्यताको प्राप्त होता है॥ ३१॥

तत् गम्यताम्" इति। वायस आह,-"भो हिरण्यक! एषोऽहं तव दुर्गद्वारे उपविष्टः। यदि त्वं मैत्रीं न करोषि ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाग्रे करिष्यामि। अथवा प्रायोपवे-

शनं मे स्यात्" इति। हिरण्यक आह-"भोः! त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि ? उक्तञ्च-

सो जाओ" कौआ बोला-"भो हिरण्यक! यह मैं तुम्हारे बिलद्वारमें पडाहूं। जो तुम मेरे साथ मित्रता न करोगे तो तुम्हारे आगे इसीक्षण प्राण त्यागन करूंगा। अथवा मेरा बैठना प्राण त्यागनेके लिये होगा," हिरण्यक बोला,-"भो! तुझ वैरीके साथ मेरी कैसी मित्रता? कहा है-

वैरिणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ३२ ॥"

मनोहर और सान्धिकी इच्छा करनेवाले वैरीसे सन्धि न करे अच्छा तप्त पानीभी अग्निको शान्त करही देता है॥ ३२॥"

वायस आह,-"भोः! त्वया सह दर्शनमपि नास्ति कुतो वैरं तत् किमनुचितं वदसि," हिरण्यक आह-"द्विविधं वैरं भवति सहजं कृत्रिमञ्च। तत् सहजवैरी त्वमस्माकम्। उक्तञ्च-

काक बोला,-"तुम्हारे साथ दर्शनभी नहीं है वैर कैसे सो कैसे अनुचित कहतेहो"। हिरण्यक बोला,-"दो प्रकारका वैर होता है (एक सहज) स्वाभाविक एक (कृत्रिम) कर्मसे किया, सो तुम हमारे स्वाभाविक वैरीहो। कहा है-

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक्कृत्रिमैर्गुणैः।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥ ३३ ॥"

कृत्रिम वैर झटही कृत्रिम गुणोसे जाता रहता है स्वाभाविक वैर प्राणदानके विना नहीं जाता है॥ ३३॥"

वायस आह,-"भो! द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि। तत् कथ्यताम्"। हिरण्यक आह,-'भोः! कारणे न निर्वृत्तं कृत्रिमम्। तत्तदर्होपकारकरणाद्गच्छति। स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति। तद्यथा नकुलसर्पाणां, शष्पभुङ्नखायुधानां, जलव ह्नयोः-दैत्यानां, सारमेयमार्जाराणाम्, ईश्वरदरिद्राणां, सप-

त्नीनां, लुब्धकहरिणानां, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणां, मूर्खपण्डितानां, पतिव्रताकुलटानां, सज्जनदुर्जनानाम् । न कश्चित् केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान् सन्तापयन्ति ।

काक बोला—"भो ! दो प्रकारके वैरके लक्षण सुननेकी इच्छा करता हूं सो कहो" हिरण्यक बोला,—"भो ! जो कारणसे निष्पन्न होजाय वह कृत्रिम है उसके योग्य साधनोंसे वह निवृत्त हो जाता है । और स्वाभाविक फिर किसी प्रकारसे नहीं जाता है । सो जैसा न्योले सर्पका, तृणभोजी नखायुधोंका, जल अग्निका, देव दैत्योंका, कुत्ते बिल्लोंका, महान् और दरिद्रीका, सौतोंका, लुब्धक हरिणोंका, वेदपाठी और भ्रष्ट क्रियावालोंका, मूर्ख पंडितोंका, पतिव्रता कुलटाओंका, सज्जन दुर्जनोंका । सो किसीको किसीने मार नहीं डाला तोभी प्राणोंको तो सन्ताप देते हैं ।

वायस आह,—

कौआ बोला,—

"कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम् ।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ॥ ३४ ॥

कारणसेही मित्र और कारणसेही शत्रु होजाता है इस कारण बुद्धिमान्को मित्रताही करनी चाहिये वैर नहीं ॥ ३४ ॥

तस्मात् कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम् ।"

हिरण्यक आह,—"भोः ! श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्—

इस कारण मेरे साथ मित्रधर्म अर्थात् मित्रता करो" हिरण्यक बोला,—"भो! नीतिका सर्वस्व सुनो—

सकृद्दुष्टमपीष्टं यः पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३५ ॥

जो एकवारही दुष्ट हुए मित्रके साथ फिर सन्धिकी इच्छा करता है वह मृत्युको ही ग्रहण करता है जैसे गर्भको खच्चरी ॥ ३५ ॥

अथवा गुणवानहं न मे कश्चित् वैरयातनां करिष्यति एतदपि न सम्भाव्यम् । उक्तञ्च—

अथवा मैं गुणवान्हूं मुझको वैर यातना कुछ नहीं करेगी यह सम्भावना न करनी। कहाहै—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिनेः
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलम्
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥३६॥"

सिंहने व्याकरणके निर्माता पाणिनीके प्रिय प्राणोंको नष्ट किया और मीमांसाके बनानेवाले जैमिनि मुनिको सहसा हाथीने मार डाला और छन्दःशास्त्रके ज्ञाता पिंगलक ऋषिको सागरके किनारे नाकेने निगल लिया, अज्ञानसे आवृत्तचित्त अति क्रोधी कीटादिकों गुणोंसे क्या प्रयोजन है ॥ ३६ ॥"

वायस आह,—"अस्त्येतत तथापि श्रूयताम्।

काक बोला,—यह तो योंही है तथापि सुनो—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम्॥ ३७॥

उपकारसे लोकोंकी निमित्तसे मृगपक्षियोंकी, भय और लोभसे मूर्खोंकी और दर्शन करतेही सत्पुरुषोंकी मित्रता होतीहै ॥ ३७ ॥

मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेद्यः सुकरसन्धिश्च॥ ३८॥

मट्टीके घटकी समान सुखसे तोडने योग्य और फिर जुडनेके अयोग्य दुर्जन होता है सुजन सोनेके घडेकी समान दुर्भेद्य और शीघ्र जुड जानेवाला होता है ॥ ३८ ॥

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि यथा रसविशेषः।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानान्तु विपरीता॥ ३९॥

ईखके अग्रभागमें क्रमसे जैसे रसविशेष होता जाता है इसी प्रकार सुजनोंकी मित्रता होती है दुर्जनोंकी इसके विपरीत होती है ॥ ३९ ॥

तथाच—

तैसेही—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।

दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ४० ॥

प्रारम्भमें बहुत फिर क्रमसे न्यून, पहले थोडी क्रमसे बढती हुई दिनके पूर्वार्द्ध और परार्धसे भिन्न हुई छायाकी समान दुष्ट और भलोंकी मित्रता होती है॥४०॥

तत् साधुरहमपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि"। स आह,-"न मे अस्ति ते शपथैः प्रत्ययः। उक्तञ्च-

सो मैं साधु हूं और तुझको शपथादिसे निर्भय करूंगा" वह बोला,-"मुझे शपथका विश्वास नहीं है। कहाहै-

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः॥ ४१ ॥

शपथसे सन्धिको प्राप्त हुए शत्रुके विश्वासमें न जाय सुना जाता है कि, शपथ करकेभी इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला ॥ ४१ ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः॥ ४२ ॥

विश्वासके बिना शत्रु देवताओंकोभी सिद्ध नहीं होता है, विश्वाससेही इन्द्रने दितिका गर्भ नष्ट करादिया ॥ ४२ ॥

अन्यच्च-
औरभी-

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत्।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च॥ ४३ ॥

जो बुद्धिमान् अपनी बुद्धि, आयु और सुखकी इच्छा करे वह बृहस्पतिके विश्वासमेंभी न जाय ॥ ४३ ॥

तथाच-
और देखो-

सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः।
नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत्॥ ४४ ॥

शत्रु बहुत सूक्ष्ममार्गसे भीतर प्रवेश कर शनैः २ नाश करे जिस प्रकार जलका पूर शनैः २ भरकर नावको पूर्ण करता है ॥ ४४ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४५ ॥

अविश्वासीका विश्वास न करे, विश्वासीकाभी वहुत विश्वास न करे, कारण कि, विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मूलसहित नष्ट कर देता है ॥ ४५ ॥

न बध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटैः।
विश्वस्ताश्चाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४६ ॥

अविश्वासी दुर्बलकोभी वलवान् वली नहीं बाध सक्ता, विश्वासी वलवान्भी दुर्बलोंसे बाधलिये जाते हैं ॥ ४६ ॥

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा स्थितः ॥ ४७ ॥

तीन प्रकारकी नीति सधी होती है चाणक्यका सम्यक् कार्यानुष्ठान करना, परशुरामका मित्रलाभ और बृहस्पतिका मत है विश्वास न करना यह तीन प्रकारकी नीतिसधी है ॥ ४७ ॥

तथाच-

तैसेही-

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु।
भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४८ ॥"

वडे अर्थसार परभी शत्रुका जो विश्वास करता है और विरक्त भार्याका जो विश्वास करता है उनके अन्ततक ही उसका जीवन है ॥ ४८ ॥"-

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरः चिन्तयामास। "अहो! बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये। अथवा स एव अस्योपरि मैत्रीपक्षपातः"। स आह-"भो हिरण्यक!

यह सुन लघुपतनकभी निरुत्तरहो विचारने लगा, "अहो नीतिविषयमें कितनी तीक्ष्ण इसकी बुद्धि है, अथवा वह इसपर मित्रताका पक्षपात है" और बोला-"भो हिरण्यक!

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४९ ॥

पंडित जन कहते हैं कि, सत्पुरुषोंकी सातपग संग चलनेसेही मित्रता होती है इस कारण मित्रताको प्राप्त हुआ तू मेरा वचन सुन ॥ ४९ ॥

दुर्गस्थेनापि त्वया मया सह नित्यमेव आलापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथाः सर्वदा कर्त्तव्या यद्येवं न विश्वसिषि"। तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्। "विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनकः सत्यवाक्यश्च, तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। परं कदाचित् मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्य्यः। उक्तञ्च–

दुर्गस्थानमें स्थित हुएही तेरा मेरे साथ नित्यही वार्तालाप, गुणदोष सुन्दर वचन गोष्ठीकी कथा सदा करनी चाहिये। जो इस प्रकार विश्वास नहीं करता है तो" यह सुनकर हिरण्यकभी विचारने लगा। "चतुर वचनवाला यह लघुपतनक दीखता है और सत्यवादी है सो इसके साथ मित्रता करना भला है, परन्तु कभी मेरे दुर्गमें चरणभी न रक्खे. कारण कि,–

भीतभीतः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव ॥ ५० ॥"

प्रथम भयभीत शत्रु भूमिमें मन्द मन्द चलता है पीछे लीलासे शीघ्रतासे गमन करता है जैसे स्त्रियोंके अंगपर जारका हाथ ॥ ५० ॥"

तच्छ्रुत्वा वायस आह–"भद्र! एवं भवतु"। ततः प्रभृति द्वौ तौ अपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः। परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः। लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाणि अन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति। हिरण्यकोऽपि तण्डुलान् अन्यांश्च भक्ष्यविशेषान् लघुपतनकार्थं रात्रौ आहृत्य तत्कालायातस्य अर्पयति। अथवा युज्यते द्वयोरपि एतत्। उक्तञ्च–

यह सुन काक बोला–"भद्र! ऐसाही हो" उस दिनसे लेकर वे दोनों सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव करते स्थित रहे, लघुपतनकभी मांसखण्ड पवित्र

बलिशेष अन्य पदार्थ प्रेमसे लाये हुए विशेष पक्वान्न हिरण्यकके वास्ते लाकर देता, हिरण्यक तन्दुल और भक्ष्यविशेष लघुपतनकके निमित्त रात्रिमें लाकर तत्काल रात्रिमें आये हुएके निमित्त अर्पण करता। अथवा दोनोंकी यह बात युक्त है। कहा है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५१ ॥

देता है, ग्रहण करता है, गुप्त कहता है, पूछता है, भोजन करता खवाता है यह छः प्रकार प्रीतिका लक्षण है ॥ ५१ ॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथञ्चित्कस्यचिद्भवेत्।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५२ ॥

कहीं भी किसीकी प्रीति उपकारके बिना नहीं होती है उपयाचित दान (अर्थात् मेरा यह कार्य सिद्ध होगा तो यह दूगा) से देवता भी अभीष्ट देते हैं ॥ ५२ ॥

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५३ ॥

लोकमें जबतक दान दिया जायगा तभीतक प्रीति होती है बछडा दूधका क्षय देखकर माताको त्याग देता है ॥ ५३ ॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५४ ॥

दानका माहात्म्य तत्काल विश्वास दिलानेवालाहै देखो जिसके प्रभावसे द्वेषी उसी क्षण मित्रताको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य।
दत्ते खले तु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥ ५५ ॥

विवेकवर्जित पशुकोभी दान पुत्रसे अधिकतर प्रिय मानता हूं जिससे कि, नित्य खलके देनेपरभी सपुत्र भेंस पालकको नित्य दूध देती है ॥ ५५ ॥

किं बहुना-

बहुत कहनेसे क्या है-

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ९६ ॥

दुर्भेद्य नख मांसकी समान निरन्तर प्रीति करै देखो मूषक और वायस कृत्रिम मित्रताको प्राप्त हुए ॥ ९६ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितः तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टः तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति । अथ अन्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच,- "भद्र हिरण्यक ! विरक्तिः सञ्जाता मे सांप्रतं देशस्य अस्य उपरि, तदन्यत्र यास्यामि" । हिरण्यक आह,-"भद्र ! किं विरक्तेः कारणम् ?" स आह,-"भद्र ! श्रूयताम् । अत्र देशे महत्या अनावृष्ट्या दुर्भिक्षं सञ्जातम् । दुर्भिक्षत्वात् जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैः विहङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति । अहमपि आयुःशेषतया पाशेन बद्ध उद्धरितोऽस्मि । एतद्विरक्तेः कारणम् । तेनाहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि" । हिरण्यक आह-"अथ भवान् क्व प्रस्थितः?" स आह,-" अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत् कूर्मो मन्थरको नाम । स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति, तद्भक्षणात् तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन् सुखेन कालं नेष्यामि । न अहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि । उक्तञ्च-

इसप्रकार वह मूषक उसके उपकारसे रंजित हुआ ऐसे विश्वासको प्राप्त हुआ कि,उसके सहित सदा गोष्ठी करता। फिर किसी एक दिन काक आंखोंमें आंसूभरे उसके निकट आय गद्गद स्वरसे उससे बोला,-"भद्र हिरण्यक ! इस देशपर अब मुझे वैराग्य हुआहै सो और स्थानमें जाऊंगा", हिरण्यक बोला,-"भद्र ! वैराग्यका कारण क्याहै ?" वह बोला,-"भद्र ! सुनो इस देशमें बड़ी अना-

वृष्टिसे दुर्भिक्ष होगयाहै दुर्भिक्षसे भूखसे पीडित कोई मनुष्य बलिमात्रभी नहीं देताहै और घरघरमें भूखे जनोंने पक्षियोंके बांधनेको पाशे लगा रक्खेहैं मैंभी आयुके शेष रहनेसे पाशसे बधकर निकल आया, यह वैराग्यका कारण है इससे मैं विदेशको चला इसकारण आसू त्यागताहूं" । हिरण्यक बोला,—"तो आप कहां जायगे?" वह बोला—"दक्षिणदिशामें गहनवनके मध्यमें बडा सरोवर है। वहां तुमसेभी अधिक परम सुहृत् कूर्म मन्थरक नामवालाहै, वह मुझे मत्स्योंके मांसखण्ड देगा। उनको भक्षण करता उसके संग सुन्दर आलापका सुख अनुभव करता सुखसे समय बिताऊंगा. मैं यहां पक्षियोंकी पाश बंधनासे क्षय देखनेको असमर्थ हूं। कहाहै—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयं गते ।
धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ५७ ॥

देशके अनावृष्टिसे क्षय होनेमें; धान्यके नष्ट होनेमें, तथा देशभंग और कुलके क्षयको नहीं देखतेहैं वेही हे तात ! धन्यहैं ॥ ५७ ॥

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ ५८ ॥

समर्थ पुरुषोंको क्या महत्कार्य है, व्यापारियोंको क्या दूरहै, विद्वानोंको कौनसा विदेशहै और प्रियवादियोंको कौन दूसराहै कोई नहीं है ॥ ५८ ॥

विद्वत्वञ्च नृपत्वञ्च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५९ ॥ "

विद्वत्ता और राजापन कभी बराबर नहीं होसक्ते राजा अपने देशमें ही पूजित होताहै और विद्वान् सर्वत्र पूजित होताहै ॥ ५९ ॥"

हिरण्यक आह,—"यदि एवं तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि। ममापि महद्दुःखं वर्त्तते"। वायस आह,—"भोः! तव किं दुःखम्? तत्कथय"। हिरण्यक आह,—"भोः! बहुवक्तव्यमस्मिन् अत्र विषये। तत्र एव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि"। वायस आह,—"अहं तावत् आकाशगतिः तत्कथं भवतो मया सह गमनम्"। स आह,—"यदि मे प्राणान् रक्षसि तदा स्वपृष्ठमा-

रोप्य मां तत्र प्रापयिष्यसि। नान्यथा मम गतिः अस्ति"। तत् श्रुत्वा सानन्दं वायस आह,-"यदि एवं तद्धन्योऽहं यद्भवतापि सह तत्र कालं नयामि। अहं सम्पातादिकान् अष्टौ उड्डीनगतिविशेषान् वेद्मि। तत्समारोह मम पृष्ठं, येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि"। हिरण्यक आह,-"उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि"। स आह,

हिरण्यक बोला,-"जो ऐसाहै तो मैं भी तुम्हारे साथ जाऊंगा, मुझे भी बडा दुःखहै" काक बोला,-"भो तुमको क्या दुःखहै। सो कहो" हिरण्यक बोला,-"इस विषयमें बहुत कुछ कहनाहै वहीं जाकर सब विस्तारपूर्वक कहूंगा" काक बोला,-"मैं तो आकाशगतिहूं सो आप कैसे मेरे साथ चलोगे"। वह बोला-"यदि मेरे प्राणोंकी रक्षा करताहै तो मुझे भी पीठपर चढाकर अपने साथ लेचल। अन्यथा मेरी गति नहीं है"। यह सुन आनन्दसे वायस बोला,-"जो ऐसाहै तो मैं धन्यहूं जो आपके साथमें समयको व्यतीत करूं मैं सम्पातादि आठ उडनेकी गतिविशेष जानताहूं। सो मेरी पीठपर चढो जिससे सुखसे तुझे उस सरोवरको प्राप्तकरूं"। हिरण्यकने कहा-"उडनेकी गतियोंके नाम सुननेकी इच्छा करताहूं" वह बोला,-

सम्पातं विप्रपातञ्च महापातं निपातनम्।
वक्रं तिर्यक् तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम्॥ ६०॥"

सम्पात, विप्रपात, महापात, निपात, वक्रगति, तिर्यक्, (तिरछीगति), ऊर्ध्वगति, आठवीं लघुसंज्ञक गति॥ ६०॥"

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकः तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः। सोऽपि शनैः शनैः तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थितक्रमेण तत्सरः प्राप्तः। ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालवित् असामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच,-"भो मन्थरक! आगच्छागच्छ तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसः चिरात्

सोत्कण्ठः समायातः । तदागत्य आलिगय माम् ।
उक्तञ्च-

यह सुनकर हिरण्यक उसी क्षण उसके ऊपर चढ बैठा वहभी शनैः शनैः उसको ले सम्पात उडानकी चालके क्रमसे उस सरोवरमें प्राप्त हुआ । लघुपतनकके ऊपर चूहेको अधिष्ठित देख दूरसेही देशकालका ज्ञाता वह मन्थरक कोई बडा काक है ऐसा मानकर जलमें प्रविष्ट हुआ । लघुपतनक भी तटके वृक्षकी खखोडलमें हिरण्यकको छोडकर शाखाके अग्रभागमें आरोहणकर ऊचेस्वरसे बोला-"भो मन्थरक ! आओ आओ ! तेरा मित्र मैं लघुपतनक नाम वायस हू सो आकर मुझे आलिगनकर । कहाहै-

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किञ्च शीतलैः ।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६१ ॥

चन्दन, कपूर, हिम और शीतल पदार्थसे क्या है वे सब मित्रके शरीरकी सोलहवीं कलाकी बराबर न हैं ॥ ६१ ॥

तथाच-

तैसेही-

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ।
आपदाञ्च परित्राणं शोकसन्तापभेषजम् ॥ ६२ ॥

अमृतकी समान मित्र यह दोनों अक्षर किसने बनायेहैं जो आपत्तिके रक्षक और शोक सन्ताप (नाशक) औषधी हैं ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुः आनन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच,- "एहि एहि मित्र ! आलिङ्ग्य माम्, चिरकालात् मया त्वं न सम्यक् परिज्ञातः, तेन अहं सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तञ्च-

यह सुन अधिकतर निपुणजान जलसे निकल पुलकायमान शरीर आनदके आसू नेत्रमे भर मन्थरक बोला,-"आओ २ मित्र ! मुझे आलिगनकरो चिरकालमें दर्शन होनेसे मैंने तुझको न जाना इसकारण मैं जलमें प्रविष्ट हुआ । कहा है-

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ६३ ॥"

जिसका पराक्रम, कुल और चेष्टा न जाने उसकी संगति नकरे ऐसा बृहस्पतिने कहा है ॥ ६३ ॥"

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षात् अवतीर्य्य तमालिङ्गितवान् अथवा साधु चेदमुच्यते-

ऐसा कहनेपर लघुपतनक वृक्षसे उतरकर उसे आलिंगन करता भया। अथवा अच्छा यह कहा है-

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६४ ॥"

शरीरके धोनेमात्रसे उत्पन्न अमृतके प्रवाहोंसे क्या है, चिरकालमें मित्रका आलिंगन मूल्यवर्जित है ॥ ६४ ॥"

एवं द्वौ अपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुः आत्मचरित्रवृत्तान्तम्। हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्यासे समुपविष्टः। अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह,-"भोः! कोऽयं मूषकः? कस्मात् त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्य आनीतः? तन्न अत्र स्वल्पकारणेन भाव्यम्"। तत् श्रुत्वा लघुपतनक आह,-"भोः! हिरण्यको नाम मूषकोऽयम्, मम सुहृत् द्वितीयमिव जीवितम्। तत् किं बहुना,-

इस प्रकार वे दोनों ही आलिंगनकर परस्पर पुलकित शरीर हो वृक्षके नीच बैठे अपना वृत्तान्त कहने लगे। हिरण्यकभी मंथरको प्रणाम कर वायसके निकट बैठा, तब उसको देखकर मन्थरक लघुपतनकसे बोला-"भो! यह मूषा कोनहै? क्यों यह तुमने भक्ष्य पदार्थ अपनी पीठपर बैठाकर लाया है? सो इसमें लघु कारण न होगा," यह सुनकर लघुपतनक बोला-,"भो! यह हिरण्यक मूषोंका राजा है मेरा मित्र दूसरा प्राण है। बहुत कहनेसे क्या है-

पर्ज्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः।
सिकता रेणवो यद्वत्संख्यया परिवर्जिताः ॥ ६५ ॥

जैसे मेघकी धारा जैसे स्वर्गमें तारे जैसे रेणुकी संख्या नहीं हो सक्ती॥ ६५ ॥

गुणसंख्या परित्यक्ता तद्वदस्य महात्मनः।
परं निर्वेदमापन्नः सम्प्राप्तोऽयं तवान्तिकम् ॥ ६६ ॥"

इसी प्रकार इस महात्माके गुणोंकी सख्या नहीं है यह बहुत निर्वेदको प्राप्त होकर आपके समीप आया है ॥ ६६ ॥"

मन्थरक आह,-"किमस्य वैराग्यकारणम्?" वायस आह,-"पृष्टो मया परमनेन अभिहितम्, यद् बहु वक्तव्यमस्ति तत् तत्र एव गतः कथयिष्यामि। ममापि न निवेदितम्। तत् भद्र हिरण्यक! इदानीं निवेद्यतामुभयोः अपि आवयोः तदात्मनो वैराग्यकारणम्"। सोऽब्रवीत्-

मन्थरक बोला,-"इसके वैराग्यका करण क्या है?" वायस बोला-"मैंने पूछा था परन्तु इसने कहा इसमें बहुत कुछ कहना है इस कारण वहीं जाकर कहूंगा, मुझसेभी न कहा। सो भद्र हिरण्यक! इस समय प्रेमी हम दोनोंसे अपने वैराग्यका कारण वर्णन करो"। वह बोला-

कथा १.

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य। तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसतिस्म। स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति। भिक्षाशेषञ्च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्रं नागदन्ते अवलम्ब्य पश्चात् रात्रौ स्वपिति। प्रत्यूषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने सम्मार्जनोपलेपमण्डनादिकं समाज्ञापयति। अन्यस्मिन् अहनि मम बान्धवैः निवेदितम्,-"स्वामिन्! मठायतने सिद्धमन्नं मूषकभयात् तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदा एव, तद् वयं भक्षयितुं न शक्नुमः। स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति। तत् किं वृथाटनेन अन्यत्र अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे तव प्रसादात्"। तदाकर्ण्य अहं सकलयूथपरिवृतः तत्क्षणादेव तत्र गतः। उत्पत्य च तस्मिन् भिक्षापात्रे समारूढः

तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकेभ्यो दत्त्वा पश्चात् स्वयमेव भक्षयामि, सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि । एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि । परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति । परं यदा एव निद्रान्तरितो भवति, तदा अहं तत्र आरुह्य आत्मकृत्यं करोमि । अथ कदाचित् तेन मम रक्षणार्थं महान् यत्नः कृतः । जर्जरवंशः समानीतः । तेन सुप्तोऽपि मम भयात् भिक्षापात्रं ताडयति । अहमपि अभक्षितेऽपि अन्ने प्रहारभयात् अपसर्पामि । एवं तेन सह सकलां रात्रिं विग्रहपरस्य कालो व्रजति । अथ अन्यस्मिन्नहनि तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकः तस्य सुहृत् तीर्थयात्राप्रसङ्गेन पान्थः प्राघुणिकः समायातः, तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना सम्भाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजितः । ततश्च रात्रौ एकत्र कुशसंस्तरे द्वौ अपि प्रसुप्तौ धर्मकथां कथयितुमारब्धौ । अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयन् तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति तन्मयः न किञ्चित् उदाहरति । अथ असौ अभ्यागतः परं कोपमुपागतः तमुवाच,–भोः ताम्रचूड ! परिज्ञातः त्वं सम्यक् न सुहृत्, तेन मया सह साह्लादं न जल्पसि । तत् रात्रौ अपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वा अन्यत्र मठे यास्यामि । उक्तञ्च–

दक्षिण देशमें एक महिलारोप्य नाम नगर है। उसके थोड़ीही दूर श्रीभगवान् महादेवका मठ है । वहां ताम्रचूड नामक संन्यासी रहताथा । वह नगरमें भिक्षाटन करके प्राणनिर्वाह करता, बची भिक्षा उसी भिक्षा पात्रमें रख उस भिक्षापात्रको खूंटीपर लटका कर फिर रात्रीमें सोजाता । प्रभातमें उसको वहांके कर्मकारोंको देकर भली प्रकार उस देवस्थानमें बुहारी लीपना मंडन आदिकी आज्ञा देता था । किसी एक दिन मेरे बन्धुओंने कहा–"हे स्वामी ! इस मठमें सिद्ध अन्न मूषिकके भयसे उसी भिक्षापात्रमें धरा हुआ खूँटीपर टँगा हुआ सदाही है उसे भक्षण करनेको हम समर्थ नहीं हो सकते । स्वामीको कुछ भी

अगम्य नहीं है । सो आप क्यों वृथा और स्थानमें अटन करते हो । आज हम वहां जाकर आपके प्रसादसे यथेच्छ भोजन करें" यह सुनकर मैं सम्पूर्ण यूथके साथ उसी क्षणमें वहा गया और कूदकर उस भिक्षापात्रमें आरूढ हुआ । उसके भक्ष्य पदार्थ सेवकोंको देकर पीछे मैं भी भक्षण करूं । सबकी तृप्ति होनेमें फिर अपने घरमें आऊं । इस प्रकार नित्यही उस अन्नको खाऊं संन्यासी भी यथाशक्ति रक्षा करता था । परन्तु जब वह सोता, तब मैं उसपर चढकर अपना काम करूं । एक समय उसने मेरी रक्षाके लिये बडा यत्न किया । फटावांस लाया, उससे सोतेमे भी मेरे भयसे भिक्षापात्रको ताडन करता मैंभी विना अन्नके भक्षण कियेही प्रहारके भयसे वहासे चला जाऊं । इस प्रकार सब रातका समय उसके साथ विग्रह करते बीता । किसी दिन उसके मठमें बृहत्स्फिक् नामवाला सन्यासी उसका मित्र तीर्थयात्रा प्रसंगसे पान्थ अतिथि प्राप्त हुआ । उसको देख प्रत्युत्थान विधिसे सम्भावित कर सन्मान पूर्वक अतिथि सत्कारमें नियुक्त किया । फिर रात्रिमें एकही कुशके बिछोनेमें दोनो लेटे हुए धर्मकथा कहने लगे । तब बृहत्स्फिक्की कथा गोष्ठीमें वह ताम्रचूड मूषेके डरानेमें व्याक्षिप्त मनवाला जर्जरवंशसे भिक्षापात्र ताडन करता हुआ उसको शून्य हुंकारा देताथा परन्तु मूषेके ध्यानसे कुछ नहीं कहता, तब यह अभ्यागत परम क्रोधको प्राप्त हुआ उससे बोला,—"भो ताम्रचूड! अच्छी प्रकार मैंने जाना कि तू हमारा सुहृत् नहीं है इसी कारण आनदसे तू हमसे नहीं बोलता है । सो रात्रिमेंही तुम्हारे मठको त्यागनकर और मठमें जाऊंगा । कहा है—

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद्दृश्यसे
कावार्त्ता अतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।
एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६७ ॥

यहा आओ, बैठो, यह आसन है, किसकारण बहुत दिनोंमें दीखेहो ? क्या वार्त्ता है ? बहुत दुबले हो ? कुशल है ? मैं आपके दर्शनसे कुशलहूं इस प्रकार जो प्रेमी आये हुए अपने सुहृदोंको आदरसे आनदित करते हैं उनके घरमें अशंकित मनसे सदा जाना चाहिये ॥ ६७ ॥

गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिशो वीक्षेत वाप्यधः ।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृंगरहिता वृषाः ॥ ६८ ॥

जो गृही अपने यहां अतिथिको आया हुआ देखकर दिशाओंको अथवा नीचेको देखता है उनके घर जो जाते हैं वे विना सींगके बैल हैं ॥ ६८ ॥

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥ ६९ ॥

जहां उठनेकी क्रिया नहीं है (बडेको देख छोटोंका उठना) मधुर अक्षरोंसे बातचीत नहीं है तथा गुण दोषकी कथा जहां नहीं है उनके स्थानमें जाना उचित नहीं है ॥ ६९ ॥

तदेकमठप्राप्त्या अपि त्वं गर्वितः, त्यक्तः सुहृत्स्नेहः । न एतत् वेत्सि यत् त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् । उक्तञ्च-

सो एक मठको प्राप्त होकरभी तू गर्वित हुआ है और सुहृत्का स्नेह त्याग दिया है यह नहीं जानता कि मठ आश्रयके बहानेसे तैंने नरककी प्राप्ति की । कहा है—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचर ।
वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ ७० ॥

नरक जानेकी इच्छा हो तो पुरोहिती कर्म कर सो एकही वर्ष बहुत है और मठपति होनेकी चिन्तासे तीनही दिनमें नरक होता है ॥ ७० ॥

तन्मूर्ख ! शोचितव्यः त्वं गर्वं गतः । तदहं त्वदीयं मठं परित्यज्य यास्यामि" । अथ तत श्रुत्वा भयत्रस्तमनाः ताम्रचूडः तमुवाच,-"भो भगवन् ! न त्वत्समोन्यो मम सुहृत् कश्चिदस्ति, परं तत् श्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्य आरोहति भिक्षाशेषञ्च तत्रस्थं भक्षयति। तदभावात् एव मठे मार्जनक्रिया अपि न भवति । तन्मूषकत्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुः ताडयामि नान्यत् कारणमिति । अपरमेतत् कुतूहलं पश्य अस्य दुरात्मनो यन्मार्जारमर्कटा-

दर्पोऽपि तिरस्कृता अस्य उत्पतनेन"। बृहत्स्फिक् आह-"अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिंश्चित् प्रदेशे ?" ताम्रचूड आह-"भगवन् ! न वेद्मि सम्यक्"। स आह-"नूनं निधानस्य उपरि तस्य बिलम्। निधानोष्मणा प्रकूर्दते। उक्तञ्च-

सो मूर्ख ! गर्वको प्राप्त होनेसे तू शोचनीय है सो मैं तुम्हारे मठको त्याग जाऊंगा"। तब यह सुन भयसे घबडाया हुआ ताम्रचूड उससे बोला-"भो भगवन् ! ऐसा मत कहो तुम्हारा समान मेरा अन्य प्रिय सुहृत् नहीं है। परन्तु सुनो जिस कारणसे तुम्हारे वचनके मुझसे उत्तर नहीं दिये जाते। यह दुरात्मा मूषक ऊंचे स्थानमें धरे हुएभी भिक्षापात्रपर कूदकूद चढ जाता है और उसमें रक्खी हुई शेष भिक्षाको खाजाता है इस कारणसे मठमे मार्जन (बुहारी) भी नहीं लगती, सो मूषकके डरानेको इस वासमे वारवार भिक्षापात्रको ताडन करताहू। और कारण नहीं है। और इस दुरात्माका यह कुतूहल तो देखो जो बिलार वानर आदिभी इसने अपने कूदनेके आगे तिरस्कार कर दिये"। बृहस्फिक् बोला-"किस देशमें उसका बिलहै सो जानते हो ?"। ताम्रचूड बोला-"भगवन् मैं अच्छी प्रकार नहीं जानताहू"। वह बोला-"अवश्यही धनके ऊपर उसका बिल है। धनकी गरमीसे कूदता है। कहा है-

उष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम्।
किं पुनस्तस्य सम्भोगस्त्यागकर्मसमन्वितः॥ ७१॥

धनकी गरमी मनुष्यके तेजको बढाती है और यदि उसका भोग और त्याग हो तो क्या कहना॥ ७१॥

तथाच-

और देखो-

नाकस्माच्छाण्डिलीमातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति॥ ७२॥"

हे मात ! अकस्मात् शाण्डिली ब्राह्मणी धुले तिलोसे काले नहीं बदलती है इसमें अवश्य कोई कारण होगा॥ ७२॥

ताम्रचूड आह,-"कथमेतत् ?" स आह-

ताम्रचूड बोला,-"यह कैसे" वह बोला-

कथा २.

यदा अहं कस्मिंश्चित् स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्तं कश्चित् ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान् । ततश्च तद्वचनात् तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरः तिष्ठामि । अथ अन्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मणब्राह्मणीसंवादे दत्तावधानः शृणोमि। तत्र ब्राह्मण आह,-"ब्राह्मणि! प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्तिः अनन्तदानफलदा भविष्यति। तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्य एकस्य भगवतः सूर्य्यस्य उद्देशेन किंचिद्भोजनं दातव्यम्" । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैः तं भर्त्सयमाना प्राह,-"कुतः ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः ? तत् किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः । अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखं, न मिष्टान्नस्य आस्वादनं, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम्" । तत् श्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह,- "ब्राह्मणि ! न एतद्युज्यते वक्तुम्। उक्तञ्च-

जब म किसी एक स्थानमें वर्षाके समय किसी नियम ग्रहणके निमित्त किसी ब्राह्मणसे निवासकी प्रार्थना करता हुआ। तव उस वचनसे उससेभी शुश्रूषित हुआ सुखसे देवार्चनमें तत्पर रहता था । तब एक दिन प्रातःकालमें जागतेही ब्राह्मण ब्राह्मणीके सम्वादमें मन लगाकर सुनने लगा । तब ब्राह्मण बोला,-"ब्राह्मणि ! प्रभात दक्षिणायन संक्रान्ति है इसमें दान करनेसे अनन्त फल होता है । सो मैं दान लेनेको ग्रामान्तरमें जाताहूं तूभी एक ब्रह्मणको भगवान् सूर्यके उद्देशसे कुछ भोजन देना" । यह सुन ब्राह्मणी उसको कठोर वचनोंसे घुडकती हुई बोली,- "तुझ महादारिद्रसे भोजनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है इस प्रकार कहनेमें तू लज्जित नहीं होता मैंने तो तेरे हाथसे कभी सुख नहीं पाया न कभी मिष्टान्नका स्वाद जाना । न हाथ पैर कण्ठका भूपण पाया" । यह सुन भयभीत हुआ ब्राह्मण मन्द मन्द बोला,-"ब्राह्मणी ऐसा कहना तुमको उचित नहीं है। कहा है-

ग्रासादपि तदर्द्धञ्च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥ ७३ ॥

अपने ग्रासमेंसे भी आधा अतिथियोंको क्यों न दिया जाय सदा इच्छाके अनुसार ऐश्वर्य किसको होसकताहै ॥ ७३ ॥

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥ ७४ ॥

वडे लोग जो फल वडे वडे दानसे पातेहैं दरिद्र वह फल एक कौडीसे प्राप्त करताहै यह श्रुतिहै ॥ ७४ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्ध्या।
कूपोऽन्तः स्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः ॥ ७५ ॥

लघु दाताभी सेवन करना चाहिये समृद्धिमान् कृपणको सेवा न करे कूपके अन्तरका स्वादुजल मनुष्यको प्रसन्न करताहै नकि सागर ॥ ७५ ॥

तथाच-

तैसेंही-

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन।
गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥ ७६ ॥

विनाधन त्याग किये राजराज शब्दसे क्या है ? निधियोंके रक्षा करनेवाले कुवेरको पंडित जन महेश्वर नहीं कहतेहैं ॥ ७६ ॥

अपिच-

औरभी-

सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः।
अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७७ ॥

सदा दानसे परिक्षीण एक करीश्वरही श्लाघनीय है विना दानके पुष्ट गात्रवाले गधेकी निन्दा होतीहै ॥ ७७ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः।
पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥ ७८ ॥

सुवृत्त और सुशील घटभी विनादानके नीचेको जाता है कुवडी कानी ककडी भी दानसे ऊपरही आती है ॥ ७८ ॥

यच्छजलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य ।
नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥ ७९ ॥

जलदानसे भी मेघ सकल लोकका प्यारा होताहै नित्य हाथका फैलानेवाला मित्रभी देखनेको अशक्य होजाताहै ॥ ७९ ॥

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैः अपि स्वल्पात् स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम् । उक्तञ्च–

इस प्रकार जानकर दारिद्र्यसे तिरस्कृत हुएको भी देशकाल पात्रमें किंचित् देना चाहिये । कहाहै–

सत्पात्रं महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते ।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदानन्त्याय कल्पते ॥ ८० ॥

सत्पात्रको बडी श्रद्धासे देश काल पात्रमे ज्ञानियोंद्वारा जो दियाजाताहै वह अनन्त होताहै ॥ ८० ॥

तथाच–

औरभी–

अतितृष्णा न कर्त्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८१ ॥"

अधिक तृष्णा न करे सर्वथा तृष्णाका त्यागभी नकरे । अत्यन्त तृष्णावालेके मस्तकमें शिखा होतीहै ॥ ८१ ॥"

ब्राह्मणी आह–"कथमेतत् ?" स आह–

ब्राह्मणी बोली–"यह कैसे ?" वह बोला–

कथा ३.

अस्ति कस्मिंश्चित् वनोद्देशे कश्चित् पुलिन्दः स च पापर्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः । अथ तेन प्रसर्पता महान् अञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोडः समासादितः । तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहतः, तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुः भूतलेऽपतत् । अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः । एतस्मिन्नन्तरे कश्चित् आसन्नमृत्युः शृगाल इत

स्ततो निराहारतया पीडितः परिभ्रमन् तं प्रदेशमाजगाम। यावत् वराहपुलिन्दौ द्वौ अपि पश्यति तावत् प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्। "भोः! सानुकूलो मे विधिः। तेन एतदपि अचिन्तितं भोजनमुपस्थितम्। अथवा साधु इदमुच्यते–

किसीएक वनमें कोई पुलिन्द पापकी सम्पत्ति करनेको वनमें गया। तब जाते हुए उसने बडे अजन पर्वतके शिखरकी समान एक शूकर प्राप्त किया। उसको देख कर्णपर्यन्त खेंचे हुए सायकसे मारा तब उसने ताडित हो क्रोधित चित्तसे बालचन्द्रवत् कान्तिमान् डाढोंसे उसका पेट फाड डाला जिससे वह म्लेच्छ प्राणरहित हो पृथ्वीपर गिरा। तब लुब्धकको मारकर शूकरभी बाणप्रहारकी वेदनासे पञ्चत्वको प्राप्त हुआ, इसी अवसरमे कोई निकट मृत्युवाला शृगाल इधर उधर निराहार होनेसे पीडित हुआ, घूमता हुआ उस स्थानमें आया। जबतक शूकर और पुलिन्द दोनोंहीको देखता है तबतक प्रसन्नहो विचारनेलगा "अहो मेरे ऊपर विधाता प्रसन्न है इस कारण यह अचिन्तित भोजन प्राप्त हुआहै। अथवा यह अच्छा कहाहै–

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम्।
शुभाशुभं समभ्येति विधिना सन्नियोजितम् ॥ ८२ ॥

विना उद्यम किये भी पुरुषोंको अन्य जन्मका किया हुआ शुभ वा अशुभ फल विधाताके नियोगसे प्राप्त होताहै ॥ ८२ ॥

तथाच–

और देखो–

यस्मिन्देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते ॥ ८३ ॥

जिस देशकालमे जैसी अवस्थामे जिसने जैसा शुभाशुभ कर्म किया है वह वैसाही भोगताहै ॥ ८३ ॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहूनि अहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत् तावदेवं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि। उक्तञ्च–

सो मैं इस प्रकारसे भक्षण करूं जैसे बहुत दिनोंतक मेरे प्राणोंकी यात्रा होगी। सो प्रथम स्नायु बंधन जो इसकी धनुषकोटिमें लगाहै उसे भक्षण करूं। कहाहै—

शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन ॥ ८४ ॥"

बुद्धिमानोंको स्वयं उपार्जन किया धन शनैः शनैः खाना चाहिये जैसे रसायन उसमें खेल करना नहीं चाहिये ॥ ८४ ॥"

इत्येवं मनसा निश्चित्य चापचटितकोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता। सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणात् मृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—

ऐसा मनमें विचारकर चापकी बंधी कोटिको मुखमें डालकर चबाने लगा। तब उस पाशके टूटतेही तालुदेशको विदीर्णकर धनुषका शिरा उसके मस्तकमें निकल आया, वहभी उसकी वेदनासे तत्काल मरगया। इससे मैं कहताहूं—

अतितृष्णा न कर्त्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत्।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८५ ॥

अति तृष्णा नकरे और तृष्णा त्यागन भी न करे अतितृष्णासे अभिभूत हुएकी मस्तकमें शिखा होती है ॥ ८५ ॥

स पुनरपि आह—"ब्राह्मणि! न श्रुतं भवत्या।

वह फिर बोला—"ब्राह्मणी! तुमने न सुना कि—

आयुः कर्मच वित्तञ्च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ ८६ ॥"

आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण यह पांच वस्तु देहीके गर्भमें निर्धारित कीजातीहैं ॥ ८६ ॥"

अथ एवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मणी आह,—"यदि एवं तदस्ति मे गृहे स्तोकं तिलराशिः। ततः तिलान् लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि" इति। ततः तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामं गतः। सापि तिलान् उष्णोदकेन संमर्द्य

कुटित्वा सूर्य्यातपे दत्तवती। अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्राया: तिलानां मध्ये कश्चित् सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार। तं दृष्ट्वा सा चिन्तितवती, "अहो ! नैपुण्यं पश्य पराङ्मुखीभूतस्य विधेः यदेते तिला अभोज्याः कृताः। तदलमेतान्समादाय कस्यचित् गृहं गत्वा लुञ्चितैः अलुञ्चितान् आनयामि। सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति" इति। अथ यस्मिन्गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टः तत्र गृहे सापि तिलान् आदाय प्रविष्टा विक्रयं कर्त्तुम्। आह च,-"गृह्णातु कश्चित् अलुञ्चितैः लुञ्चितान् तिलान्"। अथ तद्गृहगृहिणी गृहं प्रविष्टा यावत् अलुञ्चितैः लुञ्चितान्गृह्णाति तावत् अस्याः पुत्रेण कामन्दकीशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्,-"मातः ! अग्राह्याः खलु इमे तिलाः। न अस्या अलुञ्चितैः लुञ्चिता ग्राह्याः। कारणं किंचित् भविष्यति, तेन एषा अलुञ्चितैः लुञ्चितान्प्रयच्छति" तत् श्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः। अतोऽहं ब्रवीमि-

इसप्रकार उससे प्रबोधित की हुई वह ब्राह्मणी बोली-"जो ऐसा है तो मेरे घरमें कुछ तिल हैं। उनको छडकर (छुकले उतारकर) तिल्के चूर्णसे ब्राह्मण भोजन कराऊगी" तब उसके यह वचन सुन ब्राह्मण गावको गया। वहभी तिलोंको गरमजलमे भिजोय मलकर कूटकर धूपमें सुखाती हुई, इसी समय उसके गृहकर्मंमे लगनेपर तिलोंमें किसी कुत्तेने आकर मूत्र करदिया। यह देखकर वह विचारने लगी। "अहो निपुणता देखो पराङ्मुख हुए विधाताकी जो यह तिल अभोज्य कर दिये। सो जो हो इनको लेकर किसीके घर जाकर इन धुले तिलोसे बेधुले तिल लाऊ। सब मनुष्य इस प्रकारसे देदेंगे"। फिर जिस घरमें मैं भिक्षाके वास्ते प्रविष्ट हुआ था उसी घरमे वहभी तिलोंको लेकर प्रविष्ट हुई बोलीभी-"कोई धुले तिलोंसे बेधुले तिल बदलो हो"। सो उस घरकी स्त्री घरमें प्रवेश कर जबतक कालोंसे धुले तिल बदलती है तबतक उसके पुत्रने कामन्दकी नीतिशास्त्र देखकर कहा-"माता! यह तिल ग्रहण करनेके योग्य नहीं हैं। इसके धुले अपने बेधुलोंसे मत ग्रहण करो कुछ इसमें कारण

होगा इस कारण बिना धुलोंसे यह धुले बदलती है" यह सुनकर उसने वह तिल त्याग दिये । इससे मैं कहताहूं-

"नाकस्माच्छाण्डिली मातः विक्रीणाति तिलैस्तिलान् ।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति ॥ ८७ ॥"

"हे मातः अकस्मात् ही यह शाण्डिली धुले तिलोंसे काले तिल नहीं ग्रहण करती है इसमें कोई कारण होगा ॥ ८७ ॥"

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह,-"अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः" । ताम्रचूड आह,-"भगवन् ! ज्ञायते यत एकाकी न समागच्छति। किन्तु असंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन् इतस्ततः सर्वजनेन सह आगच्छति याति च । अभ्यागत आह,-"अस्ति किंचित् खनित्रकम्?" स आह-"बाढमस्ति, एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका" । अभ्यागत आह,-"तर्हि प्रत्यूषे त्वया मयासह स्थातव्यं येन द्वौ अपि जनचरणमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः" । मया अपि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम् ।"अहो ! विनष्टोऽस्मि यतोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते । नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमपि अस्माकं ज्ञास्यति एतदभिप्रायादेव ज्ञायते । उक्तंच-

यह कह कर फिर वह बोला,-"उसके निकलनेका मार्ग जाना जाय" । ताम्रचूड बोला,-"भगवन् ! जाना जाता है कि वह इकला नहीं आता है । किन्तु असंख्य यूथसे युक्त देखते हुए मेरे घूमता हुआ इधर उधर सब जनोंके साथ आता जाता है"।अभ्यागत बोला,-"है कोई खोदनेका कुदाल?"वह बोला,-"हां है । यह सब लोहमयी खनित्र" । अभ्यागत बोला,-"तो सबेरे तुझे मेरे साथ रहना चाहिये दोनोंही उसके जनचरणसे मलीन हुई भूमिमें उनके पदके अनुसरण करचलें" । मैंनेभी उसके वचन सुनकर विचार किया । "अहो नष्ट हुआ कारण कि इसके वचन अभिप्राय युक्त सुने जाते हैं । निश्चयही जैसे धन जान लिया इसी प्रकार हमारे दुर्गकोभी जानलेगा यह इसके अभिप्रायसे विदित होता है । कहा है-

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य ।
हस्ततुलयापि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ॥ ८८ ॥

एक वारही पुरुषको देखकर पंडित उसकी सारता जानलेते हैं कुशल पुरुष हाथकी तोलसेही पलके प्रमाणको जान लेते हैं ॥ ८८ ॥

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा ।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरसः कलापि ॥ ८९ ॥

चित्तकी इच्छाही पूर्व भविष्यको सूचित करती है जो पुरुषने दूसरे शरीरमें शुभ या अशुभ किया है क्यों कि कलापका चिह्न विना निकलेभी मोरका बच्चा चालसे पहचान लिया जाता है ॥ ८९ ॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्य अन्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः । सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत् सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति । स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसा उत्पपात । अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावितवसुन्धराः तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साधु इदमुच्यते–

तब मैं भयसे व्याकुल मन हुआ परिवारसहित दुर्ग मार्गको छोडकर और मार्गमें जानेको प्रवृत्त हुआ और परिजन सहित जब आगे चला तब तो सामनेसे एक बडे शरीरवाला बिलाव आया । वह मूषकसमूहको देख एक साथ उनपर टूट पडा । तब वे मूषक मुझ कुमार्गगामीको दोष देकर निन्दा करते मरनेसे बचे रुधिरसे गीली वसुन्धराको करते उसी दुर्गमें प्रविष्ट हुए । अथवा यह सत्य कहा है–

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धावन्मृगः
कूपान्तः पतितः करोतु विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ॥ ९० ॥

पाश छेदन कर कूट (कपट) रचनाको त्याग बलसे बन्धनवृत्तिको तोड निकट चारों ओर अग्निशिखाके समूहसे युक्त वनसे दूर जाकर तथा व्याधोके बाणके अगोचर होकरभी दौडता मृग कूपमें गिरगया विधाताके रुष्ट होनेमें पुरुषार्थ क्या कर सकता है ॥ ९० ॥

अथ अहमेकोऽन्यत्र गतः शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः । अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेण आगत्य उपस्थितः । ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः । अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्य उपरि सदा एवाहं कृतवसतिः यस्य उष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि। ततो हृष्टमनाः ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागतः "भो भगवन् ! इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः अस्य उष्मणा मूषकस्ते जागरणं सम्पादयति " एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वौ अपि । अहमपि यावत् निधानरहितं स्थानमागच्छामि तावत् अरमणीयमुद्वेगकारकं तत् स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि अचिन्तयं च । "किं करोमि ! क्व गच्छामि ! कथं मे स्यात् मनसः प्रशान्तिः" एवं चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः । अथ अस्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन् मठे सपरिवारः प्रविष्टः। अथ अस्मत् परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः । अथ असौ अभ्यागतः प्राह-"सखे ! किम् अद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि" । स आह,-"भगवन् ! भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः । तद्भयात् जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि" । ततो विहस्य अभ्यागतः प्राह-"सखे ! मा भैषीः । वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः । सर्वेषामपि जन्तूनाम् । इयमेव स्थितिः । उक्तञ्च-

सो मैं इकलाही अन्यत्र गया शेष मूढतासे उसी दुर्गमें प्रविष्ट हुए । इसीसमय वह दुष्ट परिव्राजक रुधिरकी बूंदोंसे चार्चित पृथ्वीको देख उसी दुर्ग-

मार्गसे आकर उपस्थित हुआ। और फिर अपने हाथसे खोदना प्रारंभ किया। तब खोदते हुए उसने वह निधि पाई जिसके ऊपर मैं अहंकारसे निवास करता था, जिसकी गरमीसे महादुर्गकोभी जा सक्ता था। तब प्रसन्न होकर ताम्रचूडसे अभ्यागत बोला,-"भो भगवन्! अब निश्शङ्क शयन करो। इसीकी गरमीसे यह मूषक आपको जगाताहै"। यह कह दोनो धनको ले मठकी ओरको चले और मैंभी जबतक निधान रहित स्थानको प्राप्त होताहू तबतक अशोभित उद्वेगकारक उस स्थानको देखनेमें भी समर्थ न होकर विचारने लगा" क्या करू कहा जाऊ कैसे मेरे मनकी शान्ति हो?"। इस प्रकार महाकष्टसे वह दिन बीता। फिर सूर्यके अस्तमें उद्वेगसे उत्साहहीन होकर उस मठमें परिवारसहित प्रविष्ट हुआ तब हमारे परिवारके शब्दको सुनकर ताम्रचूड फिरभी भिक्षापात्रको जर्जर बाससे ताडन करने लगा। तब यह अभ्यागत बोला-"सखे! क्यों अब भी निश्शंक होकर नहीं सोता है?"। वह बोला-"भगवन्! फिर भी आया वह दुष्टात्मा मूषक परिवार सहित। उसके भयसे जर्जर बांसमे भिक्षापात्रको ताडन करता हू"। तब हँसकर अभ्यागत बोला,-"सखे! मत डर धनके सहितही इसके कूदनेका उत्साह नष्ट हुआ है सब जन्तुओंकी यही स्थितिहै, कहाहै.।

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान्।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम्॥ ९१॥

जो मनुष्य सदा उत्साही है और मनुष्योंको पराभव करता है जो उद्धत वाक्य कहता है वह सब धनका उत्पन्न हुआ बल जानो॥ ९१॥

अथ अहं तत् श्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तत् श्रुत्वा असौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच-"भोः पश्य पश्य कौतूहलम्"। आह च-

तब मैं यह सुन क्रोधित हो भिक्षापात्रकी ओरको विशेष कूदने लगा पर वहा न पहुचकर भूमिमें गिरा यह सुन यह मेरा शत्रु हँसकर ताम्रचूडसे बोला-"भो! देखो २ कुतूहल-"बोला भी-

अर्थेन बलवान्सर्वो अर्थयुक्तः स पण्डितः ।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं स्वजातेः समतां गतम् ॥ ९२ ॥

धनसे ही सब बलवान् हैं धनवान् ही पंडित हैं अब इस व्यर्थ पुरुषार्थ मूषेको अपनी जातिमें समान हुआ देखो ॥ ९२ ॥

तत् स्वपिहि त्वं गतशंकः । यदस्य उत्पतनकारणं तत् आवयोर्हस्तगतं जातम् । अथवा साधु चेदमुच्यते–

सो तुम निश्शंक होकर शयन करो । जो इसके कूदनेका कारण था सो हमारे हाथमें प्राप्त हुआ है । अथवा यह अच्छा कहा है–

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः ॥ ९३ ॥"

डाढरहित सर्प मदहीन जैसे हाथी इस प्रकार धनके विना पुरुष नाममात्रका है ॥ ९३ ॥"

तत् श्रुत्वा अहं मनसा विचिन्तितवान् । "यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति तत् धिक् अर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम् । उक्तञ्च–

यह सुनकर मैं मनमें विचारने लगा, "कि अब तो अंगुलिमात्र भी कूदनेकी शक्ति नहीं है सो अर्थहीन पुरुषके जीवनको धिक्कार है । कहाहै–

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९४ ॥

अर्थसे हीन अल्पबुद्धिमान् पुरुषकी सब क्रिया ऐसे नष्ट होजाती हैं जैसे ग्रीष्ममें कुनदी ॥ ९४ ॥

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिलाः ।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नराः ॥ ९५ ॥

जैसे काक यव और जैसे वनके तिल नाममात्र हैं उनसे कुछ सिद्धि नहीं इसी प्रकार धनहीन मनुष्य हैं ॥ ९५ ॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः ।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥ ९६ ॥

दरिद्रके दूसरे गुण हों तो भी उनकी शोभा नहीं होती जैसे सूर्यसे पदार्थोंका प्रकाश होता है इसी प्रकार लक्ष्मी गुणोंका प्रकाश करती है ॥ ९६ ॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखे स्थितः ॥ ९७ ॥

प्रकृतिसे निर्धन मनुष्य इस प्रकार नहीं क्लेशित होता है जैसे द्रव्यको प्राप्त होकर फिर उसके बिना दुःखमें स्थित होता है ॥ ९७ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥ ९८ ॥

सूखे कीडके खाये हुए सब प्रकार अग्निमें जले ऊषरमें स्थित वृक्षका भी जन्म सफल है भिक्षुकका नहीं ॥ ९८ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता।
उपकर्त्तुमपि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९९ ॥

प्रतापहीन दरिद्रतासे सदा शंका करनी चाहिये, उपकार करनेको प्रवृत्त हुआ भी निर्धन जनको छोडकर चला जाता है ॥ ९९ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ १०० ॥

निर्धनी पुरुषोंके मनोरथ उठ उठकर वहीं लय हो जाते हैं, अर्थात् विधवाके कुचोकी समान मनोरथ मनमेंही लीन हो जाते हैं ॥ १०० ॥

व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते ॥ १०१ ॥"

प्रगट दिनमेंभी नित्यही दुर्गतिरूपी अंधकारसे आवृत हुआ, आगे स्थित हुआभी किसीको दिखाई नहीं देता ॥ १०१ ॥"

एवं विलप्य अहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः। ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति-"अहो! असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम्। केवलमस्य पृष्ठलग्नानां बिडालादिविपत्तयः तत् किमनेन आराधितेन। उक्तञ्च-

इस प्रकारसे विलापकर मैं भग्नोत्साह होकर उस धनको कंधेके नीचे धरा देखकर प्रभात समय अपने दुर्गमें गया, तब मेरे भृत्य प्रातःकाल जाते हुए परस्पर कहने लगे-"अहो! यह हमारे उदरपूर्ण करनेमें असमर्थ है और अब

इसके पीछे चलनेसे बिडालादिकी विपत्ति होती है सो अब इसकी आराधनासे क्या है । कहा है–

यत्सकाशान्न लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः ॥ १०२ ॥"

जिसके निकट रहनेसे लाभ न हो केवल विपत्तिही हों वह स्वामी दूरसेही त्यागने योग्य है विशेष करके अनुजीवियोंकोभी त्यागने योग्य है ॥ १०२ ॥"

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम् । यावन्न कश्चित् मम सन्मुखे अभ्येति तावत मया चिन्तितम् "धिगियं दरिद्रता । अथवा साधु इदमुच्यते–

तब उनके वचन सुनकर मैं अपने दुर्गमें प्रविष्ट हुआ । जब कोई मेरे सन्मुख न प्राप्त हुआ तब मैं विचारने लगा, "इस दारिद्रताको धिक्कार है । अथवा यह अच्छा कहाहै–

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथनमप्रजम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ १०३ ॥

दरिद्रपुरुष मृतकहै सन्तान नहो ऐसा मैथुन (स्त्रीपुरुष समागम) मृतकहै वेदके विना पढे ब्राह्मणका श्राद्ध कराया मृतवत्है विनादक्षिणाका यज्ञ मृतकहै ॥१०३॥

एवं मे चिन्तयतः ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा विडम्बनां कुर्वन्ति, । अथ मया एकाकिना योगनिन्द्रां गतेन भूयो विचिन्तितम् । "यत् तस्य कुतपस्विनःसमाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानवर्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैः विदार्य तस्य निद्रावशं गतस्य स्वदुर्गे तद्वित्तं आनयामि येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेण आधिपत्यं पूर्ववद्भविष्यति । उक्तञ्च–

इस प्रकार मेरे विचार करनेपर वे मेरे सेवक शत्रुसेवक होगये । वे मुझको इकला देखकर विडम्बना करने लगे । फिर एक समय मुझ इकले योगनिद्राको प्राप्तहुए मैंने विचार किया कि, उस कुतपस्वीके आश्रयको प्राप्त होकर उसके तकियेमें लपेटी हुई वित्तपेटिकाको शनैः २ विदीर्ण करके उसको निद्रामें प्राप्त

हुएभी अपने दुर्गमें उसके धनको ले आऊं जिससे फिरभी मेरे धनके प्रभावसे पूर्ववत् आधिपत्य हो जायगा, कहाहै कि–

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः ।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव ॥ १०४ ॥

सैंकडो मनुष्य मनोरथोंसे चित्तको व्यथित करते हैं, परन्तु धनहीनोंके अनुष्ठान नहीं होतेहैं जैसे अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई विधवा ॥ १०४ ॥

दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम् ।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ १०५ ॥

दुर्गतिही देहधारियोंका परम दुःख और परम अपमान करनेवालीहै जिसके कारण जीते हुएही उसको बन्धु मृतवत् मानते हैं ॥ १०५ ॥

दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम् ।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः ॥ १०६ ॥

दुर्गतिसे प्राप्त हुआ मनुष्य पराभवके स्थान और विपत्तिके परम आश्रयको निरन्तर प्राप्त होताहै ॥ १०६ ॥

लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गोपयन्ति च ।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥ १०७ ॥

उससे बान्धव लज्जित होतेहैं तथा उससे अपने सम्बन्धको छुपातेहैं बहुत क्या उसके मित्र अमित्र होजातेहैं जिसके पास कौडी नहीं होतीहै ॥ १०७ ॥

मूर्त्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।
पर्य्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥ १०८ ॥

दारिद्रकी यही मूर्ति, विपत्तियोंका यही घर है, यही मरणका दूसरा पर्यायहै, जो शरीरधारियोंको निर्धनताहै ॥ १०८ ॥

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः ।
दीपखद्योतछायेव त्यज्यते निर्धनो जनैः ॥ १०९ ॥

बकरीकी धूरिकी समान घबराये हुए तथा बुहारीकी धूरिकी समान दीप और पटबीजनेकी छायाकी समान दारिद्रको सब कोई त्याग देतेहैं ॥ १०९ ॥

शौचावशिष्टयाप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ ११० ॥

शौचसे अवशेष रही मृत्तिकासेभी कुछ कार्य सिद्ध हो सकताहै, परन्तु निर्धन मनुष्य किसी कामका नहीं होता ॥ ११० ॥

अधनो दातुकामोऽपि संप्राप्तो धनिनो गृहम् ।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥ १११ ॥

अधन (दारिद्री) देनेकी इच्छा करके धनियोंके घरमें आवे तोभी वह उसको याचकही मानते हैं देहधारियोंकी अवित्तताको धिक्कारहै ॥ १११ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात् तथापि शोभनम् । उक्तञ्च-

यदि चौर्य्य कर्म करते मेरी मृत्यु हो जाय तोभी अच्छाहै । कहाहै-

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नरः ।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥ ११२ ॥

जो अपने धनको हरण होता देखकर प्राणोंकी रक्षा करताहै उसकी दीहुई अंजलिको पितर ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ११२ ॥

तथाच-

तैसेही-

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा ।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः ॥११३॥"

गौ, ब्राह्मण, स्त्री तथा धनके हरण करनेमे और युद्धमें जो मनुष्य प्राणोंको त्यागता है उसको सनातन लोक प्राप्त होते है ॥ ११३ ॥"

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशं उपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं यावत् तावत् प्रबुद्धो दुष्टतापसः ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथञ्चित् आयुःशेषतया निर्गतोऽहं न मृतश्च । उक्तंच-

यह विचार रात्रिमें उस स्थानमें जाकर ज्यौंहीं मैंने उस गठरीमें छिद्र किया त्योंही वह दुष्टात्मा जाग उठा और उस जर्जर वंशसे मेरे शिरमें प्रहार किया किसी प्रकार आयुके शेष होनेसे निकलगया मरा नहीं । कहा है-

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः ।

तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११४ ॥

प्राप्त होने योग्य धनकोही मनुष्य प्राप्त होताहै देवभी उसको लंघन करनेको समर्थ नहीं है इस कारण न मैं शोच करताहू न मुझे विस्मय है कारण कि, जो हमारा है वह दूसरोंका नहीं है ॥ ११४ ॥

काककूर्मौ पृच्छतः-"कथमेतत् !" हिरण्यक आह-

काक कूर्म बोले,-"यह कैसे ?" वह हिरण्यक बोला-

कथा ४.

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्,तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणः पुस्तको गृहीतः । तस्मिंश्च लिखितमस्ति ।

किसी नगरमें सागरदत्त नामक एक वणिक् रहताथा इसके पुत्रने सौ रुपयेमें बिकती हुई एक पुस्तक खरीदी । उसमे लिखाथा-

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११५ ॥

प्राप्त होनेयोग्य अर्थकोही मनुष्य लेता है उसको उल्लंघन करनेको देवभी समर्थ नहीं है इस कारण न मैं शोच करता हू न मुझको विस्मय है जो हमारा है वह दूसरोका नहीं ॥ ११५ ॥

तद्दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः,-"पुत्र ! कियता मूल्येन एष पुस्तको गृहीतः?" सोऽब्रवीत,-"रूपकशतेन" । तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत,-"धिक् मूर्ख ! त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद्गृह्णासि एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं करिष्यसि । तत् अद्य प्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्" । एवं निर्भर्त्स्य गृहात् निःसारितः । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्य अवस्थितः । अथ कतिपयदिवसैः तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः,-"कुतो भवा-

नागतः किं नामधेयो वा?" इति । असावब्रवीत्,—"प्राप्तव्यम" लभते मनुष्यः" । अथ अन्येनापि पृष्टेन अनेन तथा एव उत्तरं दत्तम् । एवं च नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थ इति तस्य प्रसिद्धं नाम जातम् । अथ राजकन्या चन्द्रवती नाम अभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीया एकस्मिन् महोत्सवदिवसे नगरं निरीक्षमाणा अस्ति । तत्र एव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरे गतः । तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया तया निजसखी अभिहिता,—"सखि ! यथा किल अनेन सह समागमो भवति, तथा अद्य त्वया यतितव्यम् । एवञ्च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—"यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता, भणितश्च त्वां प्रति तया, यन्मम त्वद्दर्शनात् मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता । तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम्" । इति श्रुत्वा तेन अभिहितम्—"यदि अवश्यं मया तत्र आगन्तव्यं तत्कथय केन उपायेन प्रवेष्टव्यम्" । अथ सख्याभिहितम्,—"रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम्" । सोऽब्रवीत,—"यदि एवं निश्चयो भवत्याः तदहमेवं करिष्यामि" इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता । अथ आगतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत "अहो ! महदकृत्यमेतत् । उक्तञ्च—

यह देख सागरदत्तने पुत्रसे पूछा,—"पुत्र ! कितने मूल्यमें यह पुस्तक तुमने खरीदी" । वह बोला—"सौ १०० रुपयेमे" । यह सुनकर सागरदत्त बोला,—"धिक् मूर्ख ! जो तैने लिखे हुए एक श्लोकको सौ रुपयेमें खरीदा इस बुद्धिसे किस प्रकार धन उपार्जन करेगा, सो आजसे तुम हमारे घरमें प्रवेश न करना" । इस प्रकार घुड़ककर घरसे निकाल दिया । वह उससे दुःखी हो दूर देशान्तरमें जाकर स्थित हुआ, तब कितने एक दिनोंमें वहांके निवासियोंने पूछा,—"आप कहांसे आये हो आपका नाम क्या है ?" इस प्रकार यह बोला,—"मनुष्य प्राप्त होने-

योग्य अर्थको प्राप्त होता है" इत्यादि। फिर औरभी किसीके पूछनेपर उसने यही कहा। इस प्रकार नगरमें उसका नाम प्राप्तव्यमर्थ हुआ। तब राजकन्या चन्द्रवतीनाम नये रूपयौवनसे सम्पन्न दूसरी सखीको साथ लिये एक महोत्सवके दिनमें नगरको देखती हुई आई, वहांही कोई राजपुत्र अत्यन्त रूपसम्पन्न मनोहर किसीप्रकार उसके दृष्टिगोचर हुआ, उसके दर्शनकरतेही कुसुमबाणसे हत हुई उसने अपनी सखीसे कहा—"सखि! अवश्यही जिसप्रकार इससे समागम होजाय ऐसा तुम यत्न करो"। यह सुन वह सखी उसके पास जाकर शीघ्र बोली—'मुझे चद्रवतीने तुम्हारे पास भेजाहै और उसने तुमसे कहाहै कि, तुम्हारे दर्शनसेही कामदेवने मेरी मृत्युदशा करदी सो यदि शीघ्रही हमारे निकट न आओगे तो मैं मरणको शरणलूंगी," यह सुनकर उसने कहा—"यदि अवश्य मैं वहा आऊ तो बताओ किस उपायसे आऊ"। तब सखीने कहा—"रात्रिमें महलपरसे लम्बायमान कठिन रस्सीके सहारे तुम यहा चढि आना"। वह बोला,—"जो तुम्हारा यह निश्चय है तो मैं यही करूगा," ऐसा निश्चयकर सखी चन्द्रावतीके समीप गई। तब रात होनेपर वह राजपुत्र अपने मनमें विचारने लगा! "अहो यह बडा कुकर्म है। कहाहै—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम्।
यो गच्छति पुमाँल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥ ११६ ॥

गुरुकन्या, मित्रकी भार्या, स्वामि सेवककी स्त्री इनसे जो पुरुष ससारमें गमन करता है उसे ब्रह्मघाती कहतेहैं॥ ११६॥

अपरञ्च—

औरभी—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म्म न समाचरेत्॥ ११७ ॥"

जिससे अयशहो जिसकर्मसे दुर्गतिहो जिसकर्मसे स्वर्गसे भ्रष्टहो वह कर्म नकरे॥ ११७॥"

इति सम्यग्विचार्य्य तत्सकाशं न जगाम। अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्य्यटन् धवलगृहपार्श्वे रात्रावलम्बितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयः तामालम्ब्य अधिरूढः। तया च राज-

पुत्र्या स एवायमिति आश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना सम्मान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसञ्जातहर्षरोमाञ्चितगात्रया उक्तम्,–"युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया मया आत्मा प्रदत्तोऽयम् । त्वद्वर्जं अन्यो भर्त्ता मनसि अपि मे न भविष्यतीति । तत् कस्मात् मया सह न ब्रवीषि"। सो ब्रवीत–"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः"। इत्युक्तेतयाऽन्योऽयमिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य्य मुक्तः । स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्तः । अथ तत्र कयाचित् स्वैरिण्या दत्तसङ्केतको यावत् दण्डपाशकः प्राप्तस्तावदसौ पूर्वसुप्तः तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणार्थमभिहितश्च–"को भवान् ?" सोऽब्रवीत्,–"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः" । इति श्रुत्वा दण्डपाशकेन अभिहितम्,–"यच्छून्यं, देवगृहमिदम् । तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि" तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्य्यासात् अन्यशयने सुप्तः । अथ तस्य रक्षकस्य कन्या नियमवती नाम रूपयौवनसम्पन्ना कस्यापि पुरुषस्य अनुरक्ता सङ्केतं दत्त्वा तत्र शयने सुप्तासीत् । अथ सा तमायातं दृष्ट्वा स एव अयमस्मद्वल्लभ इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहिता उत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेन आत्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता विकासितवदनकमला तमाह,–"किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान् न ब्रवीति" । सोऽब्रवीत,–"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः" इति श्रुत्वा तया चिन्तितम्, यत्कार्य्यमसमीक्षितं क्रियते तस्य ईदृक्फलविपाको भवति" इति । एवं विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ । स च यावद्वीथीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासी वरकीर्त्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देन आगच्छति । प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः समं गन्तुमारब्धः । अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुता अस्ति तावत् मदमत्तो

हस्ती आरोहकं हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयन् तमेव उद्देशं प्राप्तः। तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः। अथ अस्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य "मा भैषीरहं परित्राता" इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ संगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैः हस्तिनं निर्भर्त्सितवान्। ततः कथमपि दैवयोगादपयाते हस्तिनि ससुहृद्वान्धवेन अतिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्त्तिना आगत्य तावत् तां कन्यामन्यहस्तगतां दृष्ट्वा अभिहितम्-"भोः श्वशुर! विरुद्धमिदं त्वया अनुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्यामन्यस्मै प्रदत्ता" इति। सोऽब्रवीत्,-"भो! अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सह आयातो न जाने किमिदं वृत्तम्"। इति अभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धः, "वत्से! न त्वया सुन्दरं कृतम्। तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः।" साऽब्रवीत्,-"यदहमनेन प्राणसंशयात् रक्षिता तदा एनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणिं ग्रहीष्यति" इति। अनेन वार्त्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा। अथ प्रातस्तत्र सञ्जाते महाजनसमवाये वार्त्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशकसुतापि तत्रैव आगता। अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजा अपि तत्रैव आजगाम।प्राप्तव्यमर्थं प्राह- "भो! विश्रब्धं कथय, कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः," अथ सोऽब्रवीत्,-"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः"इति। राजकन्या स्मृत्वा प्राह,-"देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः"। ततो दण्डपाशकसुता अब्रवीत्,-"तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे" इति। तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताऽब्रवीत्,-"यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्" इति। अभयदानं दत्त्वा राज्ञा पृथक् पृथग् वृत्तान्तान् ज्ञात्वा अवगततत्त्वः तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं सर्वालं-

कारपरिवारयुतां दत्त्वा त्वं मे पुत्रोऽसीति नगरविदितं तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान् । दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना सम्भाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता । अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ । अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेन अवस्थितः। अतोऽहं ब्रवीमि–

यह विचारकर उसके पास न गया, उस समय वह (प्राप्तव्यमर्थवाला) घूमता हुआ श्वेत घरके निकट रात्रिमे लम्बायमान रस्सी (कमन्द) को देखकर कौतुकयुक्त हृदयसे उसको पकडकर गया । उस राजपुत्रीने यह वहीहै इस प्रकार जान सन्तुष्टचित्तसे स्नान भोजन पानाच्छादनादिसे सन्मान किया उसके संग शय्यामें सोती हुई उसके अंगस्पर्शसे प्राप्त हुए हर्षसे रोमांचित शरीर हो उसने कहा–"तुम्हारे दर्शनमात्रसे अनुरक्त हुई मैंने अपना आत्मा तुमको दिया, तुमको छोडकर और स्वामी स्वप्नमेंभी मेरे न होगा, सो मेरे साथ आलाप क्यों नहीं करते" । वह बोला,–"मनुष्य प्राप्त होनेयोग्य अर्थकोही प्राप्त होताहै" । ऐसा कहनेपर यह और है ऐसा उसने विचार अपने धवलगृहसे उतारकर छोडदिया, वह किसी टूटे देवमंदिरमें जाकर सो गया । तब वहां किसी कुलटाका संकेत किया हुआ जबतक नगररक्षक प्राप्त हुआ, उससे पहलेही यह सोगयाथा उसने देखकर इस गुप्तभेद छिपानेके लिये पूछा,–"आप कौनहै " । वह बोला "मनुष्य प्राप्त होने योग्यही अर्थको प्राप्त होताहै" । यह सुनकर वह दण्डपाशक बोला–"यह देवगृह शून्यहै । सो मेरे स्थानमें जाकर सोरह" । "बहुत अच्छा" ऐसा कह बुद्धिकी विपरीततासे अन्य स्थानमें सोगया, उस रक्षककी कन्या नियमवती नामवाली रूपयौवनसे सम्पन्न किसी पुरुषमें अनुरक्त हुई संकेत देकर उस स्थानमें सोगईथी तब यह उसको आया देख यही मेरा प्रियहै ऐसा रात्रीके घने अंधकारसे मोहित हुई उठकर भोजनाच्छादि क्रियाको कराकर गान्धर्वरीतिसे अपना विवाहकर उसके संग शयनमें स्थित हुई खिले मुखकमलसे उससे बोली "अबभी क्यों निडर होकर तुम मुझसे नहीं बोलते" । वह बोला–"मनुष्य प्राप्तव्य अर्थको प्राप्त होताहै" । यह सुन उसने विचार किया, "जो बिना विचारे

कार्य किया जाताहै उसका ऐसाही फल होताहै" । यह विचार दुःखी हो उसनें इसे निकाल दिया, सो वह जबतक मार्गमे जाता है तबतक वरकीर्तिनाम वर और देशका रहनेवाला बडे बाजे गाजेसे आया । प्राप्तव्यमर्थभी उनके साथ जाने लगा, सो जबतक लग्नसमय प्राप्त हो कि, राजमार्गमे स्थित श्रेष्ठीके गृहद्वारमें कि, जहा रत्नमण्डपकी वेदीमें विवाहके निमित्त मगलका वेश किया वणिक्पुत्री स्थित थी, तबतक मदमत्त हाथी आरोहकको मारकर नष्ट होते जनोके कोलाहल-के साथ लोकको व्याकुल करता हुआ उसी स्थानमे प्राप्त हुआ । उसको देखकर सब बराती वरके सग प्रनष्ट होते दिशाओंमें गये । उसी समय भयसे चचल नेत्र-वाली इकली कन्याको देखकर "मतडरो मैं रक्षकहू" इस प्रकार धीरतापूर्वक निश्चय करके दक्षिण हाथ पकडकर महा साहसपनसे प्राप्तव्यमर्थ कठोर वाक्योंसे हाथीको घुडकता हुआ, तब किसी प्रकारसे दैवयोगसे हाथीके हट जानेसे सुहृद्-द्बान्धवोंके साथ लग्नसमय बीत जानेसे वरकीर्तिने आकर तबतक उस कन्याको अन्यके हाथमें प्राप्त हुई देखकर कहा,—"भो श्वशुर ! यह आपने विरुद्ध किया जो मुझको देकरके कन्या औरको दी" वह बोला,—"भो ! मैंभी हाथीके डरसे भागा हुआ, आपके सग आयाहू न जाने यह क्या हुआ" । ऐसा कह बेटीसें पूछने लगा, "वत्से ! यह तैने अच्छा न किया, सो कह यह क्या वृत्तान्त है?" वह बोली—"इसने मेरी प्राणसकटसे रक्षा की है सो इसको छोडकर मुझ जीती हुईका हाथ कोई न ग्रहण करेगा" । इस बातमे रात बीतगई । तब प्रातःकाल होनेपर महाजनोंके समूहमें इस वार्ताका व्यतिकर सुनकर राजदुहिता उस स्थानमें आई । कर्णपरपरासे सुनकर दण्डपाशकी कन्याभी उस स्थानमें आई। तब उस महाजनके समूहको सुनकर राजाभी उस स्थानमें आगया । तब प्राप्तव्यमर्थसे बोला,—"भो ! निडर कहो यह कैसा वृत्तान्त है" । तब वह बोला,—"मनुष्य प्राप्तव्य अर्थको प्राप्त होताहै" राजकन्या बोली,—"दैवभी उसको लघन करनेको समर्थ नहीं है" । तब दण्डपाशकसुता बोली,—"इस कारण न मैं कुछ शोचती हू न कुछ मुझे विस्मय है" इस अखिल लोकके वृत्तान्तको सुन-कर वणिक्सुता बोली,—"जो हमारा है सो दूसरेका नही" । अभयदान देकर राजाने पृथक् २ वृत्तान्त पूछा उस वृत्तान्तको जान प्राप्तव्यमर्थके वास्ते अपनी कन्याको बहुत मानके सहित सम्पूर्ण अलकारसे परिवारसे युक्त देकर "तू

मेरा पुत्र है" ऐसा नगरमें विदित कर उसको युवराज्यमें अभिषिक्त कर दिया। दंडपाशकनेभी अपनी कन्या निजशक्तिके अनुसार वस्त्रपानादिसे सत्कृत कर प्राप्तव्यमर्थको दी प्राप्तव्यमर्थने भी अपने पिता माताको समस्त कुटुम्बके सहित उस नगरमें सम्मानपूर्वक बुलाया, वहभी अपने गोत्रोके सहित अनेक भोगोंको भोगता हुआ सुखसे रहा। इससे मैं कहता हूं—

"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११८ ॥"

मनुष्य प्राप्तव्य अर्थको प्राप्त होता है, उसे देवभी उल्लंघन करनेको समर्थ नहीं, इस कारण न मैं शोच करता हूं, न मुझको विस्मय है, क्यों कि, जो हमारा है वह दूसरोंका नहीं ॥ ११८ ॥"

तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः। तदेतत् मे वैराग्यकारणम्"। मन्थरक आह,—"भद्र! भवति सुहृदयमसन्दिग्धं यत् क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्य आनयति न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तञ्च यतः—

सो यह सम्पूर्ण दुःख सुख अनुभव करके परम विषादको प्राप्त हुए मित्रने मुझे तुम्हारे पास प्राप्त किया है। यह मेरे वैराग्यका कारण है"। मन्थरक बोला,—"भद्र! यह काग असंशय मित्रहीहै, जो भूंखसे व्याकुल भी शत्रुभूत तुमको भक्ष्यस्थानमें स्थितही पीठपर आरोपणकर लाया मार्गमेंभी भक्षण न किया। कारण कहा है—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम् ॥ ११९ ॥

जिसका चित्त कभी धनसे विकारको प्राप्त नहीं होता है वही मित्र है सदैव ऐसे मित्रको करै ॥ ११९ ॥

विद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः ॥ १२० ॥

विद्वान् पंडितोंको इन चिह्नोंसे अवश्यही होमाग्निकी समान सुहृदोंकी परीक्षा करनी कही है ॥ १२० ॥

तथाच-

तैसेही-

आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत् ॥ १२१ ॥

आपत्तिका समय प्राप्त होनेपर जो मित्र है वही मित्र है वृद्धिका समय प्राप्त होनेपर तो दुर्जन भी सुहृद् होजाता है ॥ १२१ ॥

तन्ममापि अद्य अस्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो यतो नीतिविरुद्धा इयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह जलचराणाम्। अथवा साधु इदमुच्यते-

सो आज मेराभी इस विषयमें विश्वास हुआ है कि, नीतिविरुद्ध यह मित्रता मास खानेवाले कौओंके साथ जलचरोंकी है। अथवा अच्छा कहा है-

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत्।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्य्याद्वैरी परीक्षितः ॥ १२२ ॥

कोई किसीका न मित्रहै न अत्यन्त वैरी है मित्रके विपरीत कार्यकी परीक्षासे वैरी दीखता है ॥ १२२ ॥

तत् स्वागतं भवतः। स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे। यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते सञ्जातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्त्तव्यः। उक्तञ्च-

सो आपका सगतहो। अपने घरकी समान इस सरोवरके किनारे स्थित रहो और जो आपका धननाश और विदेशवास हुआ है इस विषयमे सन्ताप करना न चाहिये। कहा है-

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नञ्च योषितः।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १२३ ॥

बादलोंकी छाया,दुष्टोंकी प्रीति,पक्वान्न,स्त्रियें,यौवन और धन यह किंचित्काल पर्यन्त भोग्य होते हैं ॥ १२३ ॥

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति ।
उक्तञ्च-

इसी कारण ज्ञानी और आत्माके जीतनेवाले पुरुष धनमें स्पृहा नहीं करते हैं । कहा है-

सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितै
र्निजेऽपि देहे न वियोजितैः क्वचित् ।
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरै-
रेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ॥ १२४ ॥

अति कष्टसे संचित किये प्राणकी समान रक्षित अपनी देहसे किसी प्रकारभी न नियुक्त किये निष्ठुरधन यमलोकको जाते मनुष्यके पीछे पांच पदभी गमन नहीं करते हैं ॥ १२४ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२५ ॥

जैसे मांस जलमें मच्छोंसे, पृथ्वीमें हिंसक जीवोंसे, आकाशमें पक्षियोंसे खाया जाता है । इसी प्रकार सर्वत्र धनवान् खाया जाता है ॥ १२५ ॥

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२६ ॥

निर्दोषी धनीकोभी राजा दोषसे दूषित करता है, और निर्धनी दोषको प्राप्त होकरभी सदा उपद्रवसे हीन रहता है ॥ १२६ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२७ ॥

धनके इकट्ठा करनेमे दुःख, इकट्ठा कियेके रक्षा करनेमें दुःख, नाशमें दुःख, खर्चेमें दुःख, कष्टके आश्रयवाले धनको धिक्कार है ॥ १२७ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १२८ ॥

यह मूढमनुष्य धनके निमित्त जितना कष्ट सहता है मोक्षकी इच्छावाला उसके सौ वें अंश परिश्रम करे तो मुक्त होजाय ॥ १२८ ॥

अपरं च-

औरभी-

विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्य्यम् । यतः-

विदेशके निवास करनेसे उत्पन्न हुआ वैराग्यभी तुमको करना न चाहिये । क्यों कि-

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलांगुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्यात्मनः ॥१२९॥

धीर बुद्धिमान्को अपना देश क्या है ? विदेश क्या है ? वह जिस देशमें निवास करता है उसीको भुजाओंके प्रतापसे जीत लेता है जो कि, डाढ नख पूछके प्रहारसे सिंह वनमें फिरता है, उसी वनमें मारे हुए हाथीके रुधिरसे अपनी तृष्णाको दूर करता है ॥ १२९ ॥

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान् भवति स कथ-ञ्चिदपि न सीदति । उक्तञ्च-

धनहीन परदेशमें गया हुआभी यदि बुद्धिमान् हो तो किसी प्रकार दुःखी नहीं होता है । कहा है-

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३० ॥

शक्तिमानोंको अतिभार क्या है ? व्योपारियोंको दूर क्या है ? विद्यावानोंको विदेश क्या है ? प्रियवादियोंको पर क्या है ? ॥ १३० ॥

तत् प्रज्ञानिधिर्भवान् न प्राकृतपुरुषतुल्यः, अथवा-

सो आप तो बुद्धिके सागर हैं साधारण मनुष्यके तुल्य नहीं हैं । अथवा-

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च
लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥ १३१ ॥

उत्साहसे युक्त, आलस्यरहित, क्रियाविधिका ज्ञाता, व्यसनमें न लगनेवाले, शूर, कृत्यको जाननेवाले, दृढ सौहार्दवाले पुरुषको लक्ष्मी निवासके लिये स्वयं ढूंढती है ॥ १३१ ॥

अपरं प्राप्तोऽपि अर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति । तद् एतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत् । मुहूर्त्तमपि अनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते । स्वयमागतमपि विधिनापह्रियते ।

औरभी यह कि, प्राप्त हुआ धन कर्मवशसे नष्ट होजाता है सो इतने दिन-तक तुम्हारे निकट धन रहना था, पराया धन कोई एक मुहूर्त नहीं भोग सक्ता । स्वयं आया हुआ भी प्रारब्धसे हरण होजाता है ।

अर्थस्योपार्ज्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १३२ ॥"

कोई धन उपार्जन करकेभी उसको नहीं भोग सकता जैसे महाधनको प्राप्त होकर मूढ सोमिलक ॥ १३२ ॥"

हिरण्यक आह,–"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

हिरण्यकने कहा,–"यह कैसी कथा ?" वह बोला–

कथा ६.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म । स च अनेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदा एव वस्त्राणि उत्पादयति । परं तस्य च अनेकविधपट्ट-रचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमपि अर्थमात्रं सम्पद्यते । अथ अन्ये तत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः तानवलोक्य स स्वभार्यामाह,–" प्रिये ! पश्य एतान् स्थूलपट्टकार-कान् धनकनकसमृद्धान् । तद्धारणकं मम एतत्स्थानं तद-न्यत्र उपार्जनाय गच्छामि" । सा आह–"भोः प्रियतम ! मिथ्याप्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति, स्वस्थाने न भवति । उक्तञ्च–

किसी स्थानमें सोमिलक नाम कौलिक रहता था, वह अनेक प्रकार पटरचनासे रंजित राजाओंके योग्य वस्त्र सदा बनाता था और उसके अनेकविध पटरचनामें निपुण होकरभी भोजनाच्छादनसे अधिकधन न प्राप्त होता और दूसरे साधारण जुलाहे मोटे वस्त्र बुनना जानने वाले बडे धनवाले थे। उनको देखकर यह अपनी भार्यासे बोला,–"प्रिये! इन मोटे कपडे बनाने वालोंको देखो जो धन सुवर्णसे सम्पन्न हैं। सो यह स्थान हमको लेना फागना नहीं है। सो और स्थानमें धन उपार्जनके निमित्त जाताहू"। वह बोली,–"भो प्रियतम! यह सब मिथ्या प्रलाप है जो और स्थानमे जाकर धन होता है अपने स्थानमे नहीं होता। कहा है–

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले।
पक्षिणां तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठति॥ १३३॥

जो आकाशमें उडते पृथ्वीमे गिरते हैं उन पक्षियोंकोभी बिनादिया अन्न प्राप्त नहीं होता है॥ १३३॥

तथाच–

तैसेही–

न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति॥१३४॥

जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है जो होनहार है वह यत्नके विनाही होजाता है जिसकी प्राप्ति नहीं है वह हाथमे प्राप्त हुआ भी नष्ट होजाता है॥१३४

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुरा कृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥ १३५॥

जैसे सहस्र धेनुओंमें बछडा माताको पहचानता है इसी प्रकार पूर्व किया कर्म कर्ताको पहुचता है॥ १३५॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना॥ १३६॥

सोतेके साथ सोता है, चलतेके साथ चलता है, बहुत क्या मनुष्योंका किया कर्म आत्माके साथ रहता है॥ १३६॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ परस्परम्।
एवं कर्म च कर्त्ता च संश्लिष्टावितरेतरम्॥ १३७॥

जैसे छाया और धूप परस्पर सम्बद्ध हैं इसी प्रकार कर्म और उसका कर्ता परस्पर संघटित हैं ॥ १३७ ॥

तस्मादत्र एव व्यवसायपरो भव "। कौलिक आह– " प्रिये ! न सम्यगभिहितं भवत्या, व्यवसायं विना कर्म न फलति । उक्तञ्च–

इस कारणसे यहीं रोजगार करो " कौलिक बोला,–"प्रिये ! तुमने अच्छा नहीं कहा । रोजगारके बिना कर्मसिद्धि नहीं होती । कहा है–

यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥ १३८ ॥

जैसे एक हाथसे ताली नहीं बजती इसी प्रकार उद्यम त्यागनेसे कर्मफल नहीं होता है ॥ १३८ ॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथञ्चन ॥ १३९ ॥

देखो भोजनके समय प्राप्त हुआभी अन्न हाथके उद्यमके विना मुखमें किसी प्रकार प्रवेश नहीं करसक्ता ॥ १३९ ॥

तथाच–

तैसेही–

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १४० ॥

उद्योगी पुरुषसिंहको लक्ष्मी प्राप्त होती है दैव देता है यह कायर कहते हैं दैवको पृथक् कर आत्मशक्तिसे पुरुषार्थकर यत्न करनेसेभी यदि सिद्धि न हो तो किसका क्या दोष है ॥ १४० ॥

तथाच–

औरभी–

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्य्याणि न मनोरथैः ।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १४१ ॥

काम उद्यमसेही सिद्ध होते हैं मनोरथोंसे नहीं। सोते हुए सिंहके मुखमें मृग प्रवेश नहीं करते हैं ॥ १४१ ॥

उद्यमेन विना राजन्न सिद्ध्यंति मनोरथाः।
कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥ १४२ ॥

हे राजन्! उद्यमसेही मनोरथ सिद्ध होते है जो होनहार है सो होगा यह कायर कहा करते हैं ॥ १४२ ॥

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः ॥ १४३ ॥

जो कर्म अपनी शक्तिसे करनेपरभी सिद्ध नहो उसमे पुरुषका तिरस्कार नहीं होता कारण कि, वह पुरुषार्थ तो दैवसे हत होगया है ॥ १४३ ॥

तन्मया अवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्" । इति निश्चित्य वर्द्धमानपुरं गतः। तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः। अथ अर्द्धपथे गच्छतः तस्य कदाचिदटव्यां पर्य्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागतः। तदा असौ व्यालभयात् स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत् प्रसुप्तः तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तौ अशृणोत्। तत्रैक आह,-"भोः कर्त्तः! त्वं किं सम्यक् न वेत्सि? यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति। तत् किं त्वया अस्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम्"। स आह-"भोः कर्मन्! मया अवश्यं दातव्यं व्यवसायिनां तत्र च तस्य परिणतिः त्वदायत्ता इति।"

सो अवश्यही मैं देशान्तरको जाऊंगा।" । यह विचार वर्द्धमानपुरको गया। वहा तीन वर्ष रहकर तीनसौ अशरफी उत्पन्न कर फिर अपने घर आया, आधे मार्गमें आते हुए उसके एक समय वनमें चलते २ भगवान् भास्कर अस्त होगये। तब यह सर्पके भयसे स्थूलवटवृक्षके स्कंधपर चढकर जबतक सोता है कि, तबतक अर्धरात्रिके समय स्वप्नमें दो पुरुष रौद्र आकारवाले परस्पर बात करते सुने गये। उनमें एक बोला,-"भो प्रभो! क्या तू भली प्रकारसे नहीं नता कि, इस जुलाहेके भाग्यमे भोजनाच्छादनसे अधिक धन नहीं है सो

तैने कैसे इसको तीनसौ मुद्रा दीं" । वह बोला—"भो कर्मन् ! रोजगारियोंको मैं अवश्य देता हूं उसकी स्थिति तुम्हारे अधीन है" ।

अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति, तावत् रिक्तं पश्यति । ततः साक्षेपं चिन्तयामास,—"अहो ! किमेतत् ! महता कष्टेन उपार्जितं वित्तं हेलया क्वापि गतम् । तद्व्यर्थश्रमोऽकिंचनः कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि" । इति निश्चित्य तदेव पत्तनं गतः । तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपंचकमुपार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः । यावत् अर्द्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान् भानुरस्तं जगाम । अथ सुवर्णनाशभयात सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति । अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ च शृणोति । तत्रैकः प्राह,—"भो कर्त्तः ! किं त्वया एतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम् । तत किं न वेत्सि ? यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किञ्चित् नास्ति" । स आह—"भोः कर्मन् ! मया अवश्यं देयं व्यवसायिनाम् । तस्य परिणामः त्वदायत्तः । तत किं मामुपालम्भयसि ?" तत श्रुत्वा सोमिलको यावद्ग्रन्थिमवलोकयति तावत् सुवर्णं नास्ति । ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत् ।"अहो ! किं मम धनरहितस्य जीवितेन । तदत्र वटवृक्षे आत्मानमुद्बध्य प्राणान् त्यजामि" । एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत् प्रक्षिपति तावदेकः पुमान् आकाशस्थ एव इदमाह,—"भो भोः सोमिलक ! मा एवं साहसं कुरु । अहं ते वित्तापहारको, न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि । तद्गच्छ स्वगृहं प्रति । अन्यच्च भवदीयसाहसेन अहं तुष्टः । तथा मे न स्यात् व्यर्थं दर्शनम् । तत् प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित्" । सोमिलक आह—"यदि एवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम्" । स आह—"भोः ! किं करिष्यसि

भोगरहितेन धनेन? यतः तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति। उक्तञ्च-

सो जबतक यह कौलिक जागकर उस मोहरोंकी गांठको देखता है तबतक रीती देखकर खेदसे विचारने लगा। "अहो यह क्या है? बडे कष्टसे उपार्जन किया धन लीलासेही कहां गया। सो व्यर्थ श्रमवाला निर्धनी मैं किस प्रकारसे अपनी स्त्री और मित्रोको मुख दिखलाऊगा"। ऐसा निश्चय कर उसी स्थानको गया। वहा तीन वर्षमें पाचसौ अशरफी उत्पन्न कर फिरभी आपने स्थानको चला। जब कि, जाते हुए अर्धमार्गमें सूर्य अस्त हुए तब सुवर्णके नाश होनेके भयसे थककर भी वह न सोया और केवल घरमे मन लगाये शीघ्रतासे चला। तब दो पुरुष सामनेसे आते वार्ता करते उसने सुने। उनमेसे एक बोला-"भो प्रभो! तुमने क्यो इसको पाचसौ सुवर्ण दिये। सो क्या तू नहीं जानता है कि, भोजनाच्छादनसे अधिक इसके भाग्यमे कुछ नहीं है"। वह बोला-"भो कर्मन्! उद्योगियोंको मैं अवश्य देताहू। उसका परिणाम तुम्हारे अधीनहै। सो क्यों मेरा तिरस्कार करते हो"। यह सुनकर सोमिलक जबतक गाठको देखता है तबतक सुवर्ण नहीं पाया, तब तो परम दुःखको प्राप्त होकर विचारने लगा, "अहो धनहीन मेरे जीवनसे क्या है? सो इस बटवृक्षमें अपनेको बाधकर प्राणत्यागन करू"। ऐसा विचार कुशकी रस्सी बनाय अपने कठमे पाश डाल शाखामे अपनेको बाध जबतक अपनेको छोडता है तबतक एक पुरुष आकाशमें स्थित हुआ यह बोला,-"भो भो सोमिलक! इस प्रकारका साहस मत कर मैं तेरे धनका हरण करनेवाला। भोजनाच्छादनसे अधिक एक कौडी भी तेरेपास नहीं रहने देता। सो अपने घरको जा, तुम्हारे साहससे मैं सतुष्ट हुआहूं। मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता सो कोई अभीष्ट वर माग," सोमिलक बोला-"जो ऐसा है तो मुझको बहुत धन दो"। वह बोला,-"भोगरहित धनको लेकर क्या करेगा क्यों कि तुझको भोजनाच्छादनसे अधिक प्राप्ति नहीं है। कहा है-

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या च वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १४४ ॥

उस सम्पत्तिसे क्या है जो पुत्रवधकी समान केवल अभोग्य है जो साधारण वेश्याकी समान पथिकोंसे भोगी जाती है वही अच्छी है ॥ १४४ ॥"

सोमिलक आह–"यद्यपि भोगो नास्ति तथापि तद्भवतु । उक्तश्च–

सोमिलक बोला–"यद्यपि भोगनहीं है तथापि धनहो । कहा है–

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा ।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसञ्चयः ॥ १४५ ॥

कृपण, अकुलीन, सज्जनोंसे सदा वर्जितभी धनी मनुष्यको लोकमें सब कोई सेवन करते हैं ॥ १४५ ॥

तथाच–

और देखो–

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १४६ ॥

हे भद्रे ! मैंने पन्द्रहवर्षतक शिथिल दृढ पातित होते अपतित वृषण देखे हैं ॥ १४६ ॥

पुरुष आह–"किमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

पुरुष बोला,–"यह कैसी कथा ?" वह बोला–

कथा ६.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म, स च मदातिरेकात् परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन् स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन् अरण्यचरो बभूव । अथ तत्र एव वने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टः तिष्ठति । अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः । ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणौ अवलोक्य शृगाल्या शृगालोऽभिहितः– "स्वामिन् ! पश्य अस्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ । तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः । एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठमनुयायिना भाव्यम्" । शृगाल आह– "प्रिये ! न ज्ञायते कदा एतयोः पतनं भविष्यति वा न वा ।

तत् किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि । अत्रस्थः तावज्जलार्थमागतान् मूषकान् भक्षयिष्यामि समं त्वया मार्गोऽयं यतः तेषाम् । अपरं यदि त्वां मुक्त्वा अस्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि तदा आगत्य अन्यः कश्चिदेतत् स्थानं समाश्रयिष्यति । न एतत् युज्यते कर्तुम् । उक्तञ्च—

किसी एक स्थानमें तीक्ष्ण शृंगनामवाला बैल रहता था वह मदकी अधिकतासे अपने यूथको त्यागन किये शृंगोंसे नदीतटको विदीर्ण करता हुआ अपनी इच्छासे मरकतमणिकी समान घास खाता वनचारी भया । उसी वनमें प्रलोभक नाम शृगाल रहता था । वह कभी अपनी भार्य्याके सहित नदीके किनारे सुखसे बैठाथा, इसी समय तीक्ष्णशृंग जलपानके निमित्त नदीके तटपर आया । तब उसके लम्बायमान अण्डकोष देखकर शृगालीने शृगालसे कहा,— "स्वामिन् ! इस वृषभके मांसपिण्ड लम्बायमान होते हुए देखो । सो यह एकही क्षणसे अथवा प्रहारसे गिर जायगे । ऐसा विचार कर तुम इसके पीछे फिरो" । शृगाल बोला—"प्रिये ! नहीं जाना जाता कि, कब इन दोनोंका पतन होगा वा नहीं । सो क्यों वृथा श्रममें मुझको नियुक्त करती है । यहीं पर स्थित हुआ जलपानके निमित्त आये हुए मूषकोंको तेरे साथ भक्षण करूंगा कारण कि, यह उनका मार्ग है । और यदि तुझको छोडकर इस तीक्ष्णशृंगवाले वृषके पीछे जाऊंगा तो, आनकर और कोई इस स्थानको ग्रहण कर लेगा, सो यह करना उचित नहीं । कहा है—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥ १४७ ॥"

जो विद्यमानको छोड़कर अविद्यमानका सेवन करता है उसके ध्रुव कार्य नष्ट होते हैं और अध्रुव नष्ट हैं हीं ॥ १४७ ॥"

शृगाली आह—"भोः कापुरुषस्त्वं यत्किञ्चित् प्राप्तं तेनापि सन्तोषं करोषि । उक्तञ्च—.

शृगाली बोली,—"भो ! कापुरुष (डरपोक) तू जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीसे सन्तोष करता है । कहा है—

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ १४८ ॥

कुनदी जल्दी पूरी होजाती है, मूषिकको अंजली शीघ्र भर जाती है, कापुरुष शीघ्र थोड़ेहीसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ १४८ ॥

तस्मात् पुरुषेण सदा एव उत्साहवता भाव्यम् । उक्तञ्च-

इस कारण पुरुषको सदा उत्साहसे रहना चाहिये । कहा है-

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता ।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥ १४९ ॥

जहां उत्साहसे आरम्भ होता है, जहां आलस्य हीनता होती है, जहां नीति और विक्रमका संयोग है वहां अचल लक्ष्मी रहती है ॥ १४९ ॥

तदैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगं विना तैलं तिलानां नोपजायते ॥ १५० ॥

योंही होगा ऐसा विचार कर अपना उद्योग त्यागन करना नहीं चाहिये अनुद्योगके विना तिलोंमेंसे तेलभी नहीं निकलता है ॥ १५० ॥

अन्यच्च-

औरभी-

यःस्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः ।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते ॥ १५१ ॥

जो मन्दबुद्धि पुरुष थोड़ेमेंही सन्तोष करता है उस भाग्यहीनकी दूसरोंकी दी हुई लक्ष्मीभी नष्ट हो जाती है ॥ १५१ ॥

यच्च त्वं वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेति, तदपि अयुक्तम् । उक्तञ्च-

और जो तुम कहते हो कि, यह गिरेंगे या नहीं सोभी अयुक्त है । कहाहै-

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते ।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥ १५२ ॥

कारण, कि कार्यसिद्धिमें उत्साहवाले पूजनीय हैं हमारी उच्चाभिलाषा प्रशंसाको प्राप्त होती है यह चातक दीन क्या वस्तु है जिसके उत्साहसे देवराज जल देता है (इस क्षुद्रके निश्चयको जानकर देवराजभी उसके मनोरथको पूर्ण करता है) ॥ १५२ ॥

अपरं मूषकमांसस्य निर्विण्णा अहम्, एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते, तत्सर्वथा नान्यथा कर्त्तव्यम्" इति। अथ असौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत् । अथवा साधु इदमुच्यते–

औरभी मूषकमांस खाते २ मेरा जी उकता गया है और यह मांसपिण्डप्रायः गिरजायगे ऐसा विदित होता है । सो सब प्रकारसे अन्यथा करना उचित नहीं" । तब यह ऐसे वचन श्रवण कर मूत्रकप्राप्ति स्थानको त्यागन कर तीक्ष्णविषाणके पीछे पीछे गया । अथवा यह अच्छा कहा है–

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः ।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नोद्ध्रियते बलात् ॥ १५३ ॥

तभीतक यह पुरुष सम्पूर्ण कार्योंमें स्वाधीन होता है जबतक बलपूर्वक स्त्रीके वाक्यरूपी अंकुशसे ताडित नहीं होता ॥ १५३ ॥

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम् ।
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १५४ ॥"

स्त्रीके वाक्यसे प्रेरित हुआ मनुष्य अकार्यको कार्य, अगम्य (दुर्गम) को सुगम और अभक्ष्यको भक्ष्य मानता है ॥ १५४ ॥"

एवं स तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमन् चिरकालमनयत् । न च तयोः पतनमभूत् । ततश्च निर्वेदात् पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह,–

इस प्रकार वह उसके पीछे स्त्रीसहित परिभ्रमण करता २ बहुत समय बिताता हुआ परन्तु अण्डकोशोंका पतन न हुआ तब वैराग्यसे पन्द्रहवें वर्ष अपनी भार्यासे बोला,–

"शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १५५ ॥

"शिथिल हैं सुदृढ हैं गिरेंगे वा नहीं भद्रे १५ वर्षतक मैं बराबर देखता रहा ॥ १५५ ॥

तयोः तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति । तद् तदेव स्वस्थानं गच्छावः । अतोऽहं ब्रवीमि–

इन दोनोंका इसके पीछे भी पात न होगा । सो आओ अपने स्थानको चलें । इससे मैं कहता हूं—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १९६ ॥"

शिथिल और सुदृढ हैं गिरेंगे वा नहीं हे भद्रे ! यह मैंने बराबर पन्द्रह वर्ष-तक देखे ॥ १९६ ॥"

पुरुष आह—"यदि एवं तद्गच्छ भूयोऽपि वर्द्धमानपुरम् । तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः, एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः । ततः तयोः स्वरूपं बुद्ध्वा एकस्य वरः प्रार्थनीयः । यदि ते धनेन प्रयोजनम् अभक्षितेन ततः त्वामपि गुप्तधनं करोमि । अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि" इति । एवमुक्त्वा अदर्शनं गतः । सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्द्धमानपुरं गतः । अथ सन्ध्यासमये श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छ्रात् लब्ध्वा अस्तमितसूर्य्ये प्रविष्टः । अथ असौ भार्य्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठात्गृहं प्रविश्य उपविष्टः । ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं दत्तम् । ततश्च भुक्त्वा तत्र एव यावत् सुप्तो निशीथे पश्यति तावत् तौ अपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः । तत्र एक आह—"भोः कर्त्तः ! किं त्वया अस्य गुप्तधनस्य अन्योऽधिको व्ययो निर्म्मितो यत् सोमिलकस्य अनेन भोजनं दत्तम् । तदयुक्तं त्वया कृतम्" । स आह—"भोः कर्म्मन् ! न मम अत्र दोषः मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या । तत्परिणतिः पुनः त्वदायत्ता" इति । अथ असौ यावदुत्तिष्ठति तावत् गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभिभूतः क्षणं तिष्ठति । ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवासः सञ्जातः । सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहात् निष्क्रम्य उपभुक्तधनगृहं गतः । तेनापि च अभ्युत्थानादिना

सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसंमानः तस्य एव गृहे भव्य-शय्यामारुह्य सुष्वाप। ततश्च निशीथे यावत्पश्यति तावत् तौ एव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयतः। अथ तयोः एक आह-"भोः कर्त्तः! अनेन सोमिलकस्य उपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः, तत् कथय कथमस्य उद्धारकविधिः भविष्यति। अनेन सर्वमेतद्व्यवहारकगृहात् समानीतम्"। स आह-"भोः कर्म्मन् मम कृत्यमेतत। परिणतिः त्वदायत्ता" इति। अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तम् आदाय समायात उपभुक्तधनाय समर्पयामास। तद् दृष्ट्वा सोमिलकः चिन्तयामास।"सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपभुक्तधनो न असौ गुप्तधनः। उक्तञ्च-

पुरुष बोला-"जो ऐसा है तो फिर वर्द्धमान पुरको जा वहा दो वणिक्पुत्र रहते हैं एक गुप्तधन दूसरा उपभुक्तधन (धनका भोगनेवाला) है उन दोनोंका आशय देखकर पीछे वर मांगना, और जो केवल तेरा भी गुप्तधन (धनरक्षा) से प्रयोजन होगा तो तुझे भी गुप्तधन करदूगा। अथवा दत्तभोग्य धनसे तेरा प्रयोजन होगा तो वैसा करदूगा"। यह कहकर वह अन्तर्हित हुआ। सोमिलक आश्चर्ययुक्त होकर फिर वर्द्धमानपुरको गया, सन्ध्या समय थका हुआ किसी प्रकार उस पुरमें प्राप्त हो गुप्तधनके घरको पूछता हुआ कठिनतासे प्राप्त होकर सूर्यास्तमें प्रविष्ट हुआ तब यह भार्या पुत्रके सहित हुए गुप्तधनसे घुड-काया हुआ भी हठसे उसके घरमें प्रवेश कर बैठगया, तब भोजनके समय उसको भी भक्तिसे हीन कुछ भोजन दिया, तब यह भोजन कर जबतक सो कर आधी रातमे देखता है कि, वही दोनों पुरुष परस्पर मत्रणा करते हैं। तब एक बोला- "भो प्रभो क्यों तुमने इस गुप्तधनका अधिक व्यय किया, जो सोमिलकको इसने भोजन दिया, सो यह तुमने अयुक्त किया"। वह बोला-"भो कर्मन् इसमें मेरा दोष नहीं मुझे तो पुरुषको लाभ प्राप्ति देनी है। उसका परिणाम तुम्हारे आधीन है"। सो यह जबतक उठता है तबतक गुप्तधन विषूचिका (उवान्त) रोगसे खेदको प्राप्त हुआ प्राणहीं क्षणमात्रको स्थित हुआ। सो दूसरे दिन उस दोषसे उसने लघन किया। सोमिलक भी प्रभात

समय उसके घरसे निकल उपभुक्तधनके घरको गया । उसने अभ्युत्थानादिसे सत्कार कर भोजनाच्छादनका सम्मान करा और उसीके घरमें मनोहर सेजपर सोगया । सो रात्रिमें जबतक देखता है तबतक दोनों पुरुष सम्मति करते हैं उन दोनोंमें एक बोला,—"भो ! स्वामिन् ! उसने सोमिलकका उपकार करके बहुत व्यय किया । सो कहो कैसे इसका उद्धार होगा इसने यह सब व्योपारीके घरसे प्राप्त किया है" । वह बोला—"भो ! कर्म्मन् ! यह सब मेरा कृत्य है । परिणाम आपके आधीनहै" । तब प्रभात समय राजपुरुष राजाकी प्रसन्नता (इनाम) के धनको लेकर उपभुक्तधनको समर्पण करते भये । यह देखकर वह सोमिलक विचारने लगा—"संचयसे रहित यह उपभुक्तधन अच्छा है न कि यह गुप्तधन । कहा है—

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवित्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५७ ॥

वेद यज्ञानुष्ठानके फलवाले हैं,शास्त्रपढना देखनेका फल शील धन सुना है, स्त्रियें रति पुत्रफलके निमित्त हैं, धनका दान और भोगही फल है ॥ १५७ ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तधनं करोतु, न कार्य्यं मे गुप्तधनेन" । ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जातः । अतोऽहं ब्रवीमि— ।

सो विधाता मुझको दत्तभुक्त धन करे । गुप्तधनसे मेरा कुछ कार्य नहीं है"। तब सोमिलक दत्तभुक्तधन होगया । इससे मैं कहता हूं—

"अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १५८ ॥"

"अर्थ उत्पन्न करके भी उसको भोग नहीं सकता जैसे बडे वनमें प्राप्त होकर मूढ सोमलिक न भोगसका ॥ १५८ ॥"

तद्भद्र हिरण्यक ! एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्य्यः । अथ विद्यमानमपि धनं भोज्यबन्ध्यतया तत् अविद्यमानं मन्तव्यम् । उक्तञ्च—

सो हे भद्र ! हिरण्यक ! ऐसा जानकर धनके विषयमें सन्ताप मतकरो । सो विद्यमान भी धन भोगनेकी अशक्यतासे उसको नहीं की बराबर मानना चाहिये । कहा है—

"गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि।
भवाम किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५९ ॥

"घरमे गाडे हुए धनसे ही यदि धनवान् धनी हो तो उसी धनसे हम क्यों न धनी गिने जायँ ? ॥ १५९ ॥

तथाच-

तैसेही-

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १६० ॥

उपार्जन किये धनोंका त्याग ही रक्षा है जैसे सरोवरके मध्यमे स्थित जलोंका निकलना ॥ १६० ॥

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्त्तव्यः।
पश्येह मधुकरीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १६१ ॥

देना चाहिये, भोगना चाहिये, परन्तु धनका सचय न करना देखो मधुमक्खियोंका सञ्चित शहत अन्य जन हरण करते हैं ॥ १६१ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१६२॥

दान, भोग और नाश यह धनकी तीन गति होती हैं जो न देता न खाता है उसकी तीसरी गति (धनका नाश) होती है ॥ १६२ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्त्तव्यं यतो दुःखाय तत्। उक्तञ्च--

ऐसा जानकर ज्ञानियोंको जोडनेके निमित्त धन उपार्जन करना न चाहिये जिससे कि वह दु खके निमित्त होताहै। कहाहै-

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशयाः।
तप्तग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १६३ ॥

सुखकी आशासे जो महामूर्ख धनादिमे विद्यमान रहतेहैं, वे तप्त गरमीसे आतेहुए शीतके निमित्त अग्निकी खोज करतेहैं ॥ १६३ ॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥ १६४ ॥

सर्प पवन पीतेहैं परन्तु वे दुर्बल नहीं हैं सूखे तृण खाकरही वनके हाथी बली होतेहैं, मुनिश्रेष्ठ कन्द और फलसे समयको बितातेहैं इससे सन्तोषही पुरुषोंका परम निधान (आश्रय) है ॥ १६४ ॥

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १६५ ॥

सन्तोषरूपी अमृतसे तृप्त हुए शान्त चित्तवालोंको जो सुखहै वह धनके लोभसे इधर उधर धावमान होते हुए पुरुषोंको कहां है ॥ १६५ ॥

पीयूषमिव सन्तोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसन्तोषवतां पुनः ॥ १६६ ॥

अमृतकी समान सन्तोषको पान करनेसे परम शान्ति होतीहै असन्तोषी पुरुषोंको निरन्तर दुःख होताहै ॥ १६६ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥ १६७ ॥

चित्तके रुकनेसे सब इन्द्रिय रुक जातीहैं जैसे मेघके ढकनेसे सूर्यकी किरणेंभी ढकजातीहैं ॥ १६७ ॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
वाञ्छा निवर्त्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनैः ॥ १६८ ॥

शान्त चित्तवाले महर्षि वासनाके विच्छेदको सुख कहतेहैं अग्निके सेवनसे प्यास जैसे निवृत्त नहीं होती ऐसेही धनसे वांछा निवृत्त नहीं होती ॥ १६८ ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ॥ १६९ ॥

मनुष्य धनके निमित्त अनिन्दितकी भी निन्दा करते हैं स्तुतिके अयोग्यकी भलीप्रकार स्तुति करतेहैं बहुत क्या ? क्या क्या नहीं करतेहैं ॥ १६९ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा ।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १७० ॥

जिस मनुष्यका धर्मके निमित्त धन उपार्जन करनाहै वह चेष्टा भी भली नहीं है क्योंकि कीचके धोनेसे तो दूरसे उसका न छूनाही भला है ॥ १७० ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्
सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥ १७१ ॥

दानकी तुल्य दूसरा निधि नहींहै, लोभसे अधिक पृथ्वीमें कोई शत्रु नहीं है, शीलकी समान दूसरा गहना नहीं और सन्तोषकी समान दूसरा धन नही है॥ १७१॥

दारिद्र्यस्य परा भूतिर्यन्मानद्रविणाल्पता ।
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥ १७२ ॥

मानरूपी धनकी अल्पताही दारिद्र्यका ऐश्वर्य है । शिव जीर्ण वृषभक धन-वाले होकरभी परमेश्वरहैं (मानमे उन्नतहैं) ॥ १७२ ॥

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ १७३ ॥

श्रेष्ठ मनुष्य गेंदकी समान गिरकरभी फिर ऊपरको उछलताहै और मूर्ख तो ऐसे पतित होताहै कि जैसे मृत्पिण्ड गिरकर फिर नहीं उठताहै ॥ १७३ ॥

एवं ज्ञात्वा भद्र ! त्वया सन्तोषः कार्यः" इति । मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह–"भद्र ! मन्थरको यत् एवं वदति तत् त्वया चित्ते कर्त्तव्यम् । अथवा साधु इदमुच्यते–

ऐसा जानकर हे भद्र ! आपको सन्तोष करना चाहिये" । मन्थरकके वचन सुनकर वायस बोला–"भद्र ! मन्थरक जो कहताहै वह तुझको चित्तमे करना चाहिये । अथवा यह सत्य कहाहै–

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७४ ॥

हे राजन् ! निरन्तर प्रियबोलनेवाले पुरुष बहुत हैं परन्तु सुननेमें अप्रिय वास्तवमें हितकारी वचनके कहने सुननेवाले दुर्लभहैं ॥ १७४ ॥

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥ १७५ ॥"

इस संसारमें जो मनुष्य अप्रिय तथा हितकारी वाक्योंको कहतेहैं वेही सुहृद्हैं दूसरे नामधारीहैं ॥ १७५ ॥"

अथ एवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितः तस्मिन् एव सरसि प्रविष्टः । अथ आयान्तं ससम्भ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः । हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः । मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः । अथ लघुपतनको मृगं सम्यक् परिज्ञाय मन्थरकं उवाच,—"एहि एहि सखे मन्थरक ! मृगोऽयं तृषार्त्तोऽत्र समायातः सरसि प्रविष्टः । तस्य शब्दोऽयं न मानुषसम्भवः" इति । तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह,—"भो लघुपतनक ! यथा अयं मृगो दृश्यते प्रभूतं उच्छ्वासं उद्वहन् उद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति तन्न तृषार्त्त एष नूनं लुब्धकत्रासितः । तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा इति । उक्तञ्च—

इस प्रकार उनके वचन कहनेपर चित्राङ्ग नामक एक हरिण लुब्धकसे घबडाया हुआ उस सरोवरमे प्रविष्ट हुआ । तब उसको भयसे व्याकुल आया हुआ देखकर लघुपतनक वृक्षपर चढा, हिरण्यक समीपवर्ती शरके स्तम्बमे प्रविष्ट हुआ, मन्थरक सरोवरमे घुस गया । तब लघुपतनक मृगको अच्छी प्रकार जानकर मन्थरकसे बोला,—"आओ आओ सखे मन्थरक ! यह मृग तृषासे व्याकुल यहां आकर सरोवरमें प्रविष्ट हुआहै । यह उसीका शब्दहै यहां मनुष्यका सम्भव नहींहै" । यह सुनकर मन्थरक देशकाल उचित वचन बोला,—"भो लघुपतनक ! जिसप्रकार यह मृग दीखताहै, बडे श्वास लताहुआ चकित दृष्टिसे पीछेको देखताहै सो यह प्यासा नहींहै अवश्यही व्याधेसे भीतहै । सो जानाजाय कि इसके पीछे लुब्धक आते हैं या नहीं । कहा है—

भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः ।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित् ॥ १७६ ॥

भयसे व्याकुल हुआ मनुष्य वारंवार श्वास लेताहै चारों ओर दिशाओंको देखता रहता है और स्वास्थ्यको प्राप्त नहीं होताहै ॥ १७६ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह,–"भो मन्थरक ! ज्ञातं त्वया सम्यक् मे त्रासकारणम् । अहं लुब्धकशरप्रहाराद्द्राद्रितः कृच्छ्रेण अत्र समायातः । मम यूथं तैः लुब्धकैः व्यापादितं भविष्यति । तत् शरणागतस्य मे दर्शय किञ्चित् अगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्" । तदाकर्ण्य मन्थरक आह,– "भोः चित्राङ्ग श्रूयतां नीतिशास्त्रम्–

यह सुन चित्राग बोला,–"भो मन्थरक ! तैने मेरे त्रासका कारण भलीप्रकार जानलिया । मैं व्याधेके शरप्रहारसे बचकर कठिनतासे यहा आयाहू मेरा यूथ उन लुब्धकोंने मारडाला होगा । सो शरणमें आये हुए मुझे कोई स्थान बताओ जहा लुब्धक न पहुचसके" । यह सुनकर मन्थरक बोला,–"भो चित्राग ! नीतिशास्त्र सुनो–

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने ।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः ॥ १७७ ॥

शत्रुके दीखनेमें छूटनेकेलिये दोही उपाय है एक हाथ चलाना दूसरा चरणोंमें वेग होना ॥ १७७ ॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनं, यावत् अद्यापि न आगच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः" । अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्य उवाच,–"भो मन्थरक ! गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमांसपिण्डधारिणः । तत् चित्राङ्ग ! त्वं विश्रब्धो वनात् बहिर्भव" ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात् सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति । अथवा युक्तमेतदुच्यते–

सो शीघ्र सघन वनको चले जाओ जबतक अब वे लोभी दुरात्मा न आपहुचे" । इसी अवसरमें लघुपतनक शीघ्रतासे आकर बोला–"भो मन्थरक ! गये वे व्याधे अपने घरकी ओर बहुतसे मास पिण्डको लिये हुए । सो चित्राङ्ग ! निर्भय होकर तू वनसे बाहरहो" तब ये चारोंही मित्रभावको प्राप्त हुए उस सरोवरमे दुपहरके समय वृक्षकी छायाके नीचे सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव करते हुए सुखसे समय बिताने लगे । अथवा यह युक्त कहा है–

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः ।
विनापि संगमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ॥ १७८ ॥

सुभाषित गोष्ठीके रसरूपी स्वादसे जिनके रोमाञ्चरूप बखतर बंधे हुए हैं वे बुद्धिमान् स्त्रियोंके संगके विनाही सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १७८ ॥

सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः ।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७९ ॥

जो सुन्दर वचनरूप द्रव्यका संग्रह नहीं करता है वह परस्पर आलापके यज्ञमें किस दक्षिणाको देगा (अर्थात् सभ्योंको किस प्रकार सन्तुष्ट कर सकेगा) ॥ १७९ ॥

तथाच-

तैसेही-

सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वयं वा न करोति यः ।
यस्य सम्पुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥ १८० ॥

जो एकही वार उच्चारण किये वचनको नहीं ग्रहण करलेता वा स्वयं नहीं करता है और जिसको (१) आवरण भेद नहीं है उसको सुभाषित किस प्रकार आ सकता है ॥ १८० ॥

अथ एकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो न आयातः । अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुं आरब्धाः-"अहो ! किमद्य सुहृन्न समायातः ? किं सिंहादिभिः क्वापि व्यापादितः ? उत लुब्धकैः ? अथवा अनले प्रपतितो गर्त्ताविषमे वा नवतृणलौल्यादिति । अथवा साधु इदमुच्यते-

तब एक दिन गोष्ठीके समय चित्रांग न आया तब वे सब व्याकुल हो परस्पर कहने लगे-"अहो ! आज हमारा सुहृद् क्यों न आया ? क्या कहीं सिंहादिने मारडाला वा व्याधोंने अथवा अग्नि वा कठिन गड्ढेमें गिरगया वा नव तृणके लोभसे (कहीं गिरा) ? अथवा सत्य कहा है-

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात् ।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ॥ १८१ ॥"

१ धारणा-सावधानीतियावत् ।

प्रिय सुहृद् स्नेहके कारण घरके उद्यान (बगीचे) में गयेभी प्रियमें अनिष्टकी शंका करते हैं और बहुत आपत्तिवाले भययुक्त दारुण वनमें जानेसे तो क्या कहे ॥ १८१ ॥"

अथ मन्थरको वायसमाह–"भो लघुपतनक ! अहं हिरण्यकश्च तावद् द्वौ अपि अशक्तौ तस्य अन्वेषणं कर्तुं मन्दगतित्वात् । तद्गत्वा त्वं अरण्यं शोधय यदि कुत्रचित् तं जीवन्तं पश्यसि" इति।तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत् पल्वलतीरे चित्राङ्गः कूटपाशनियन्त्रितः तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनाः तमवोचत्–"भद्र ! किमिदं ?" चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत्–

तब मन्थरक वायससे बोला,–"भो लघुपतनक ! मैं और हिरण्यक दोनोंही उसके ढूंढनेमें असमर्थ हैं कारण कि हम मन्दगति हैं । सो जाकर तू वनमें शोधन कर यदि कहीं उसको जीता देखे (उपायहो) तो" । यह सुनकर लघुपतनक थोड़ीही दूर गया तो छोटे सरोवरके किनारे चित्राङ्ग कपट जालसे बँधा मिला । उसे देख शोकसे व्याकुल मन होकर उससे बोला,–"भद्र ! यह क्या है ?" चित्राङ्गभी वायसको देखकर बड़ा दुःखी हुआ । अथवा यह युक्तही है–

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १८२ ॥

लघुताके प्राप्त होनेपर वा नष्ट होनेमें अपने सुहृदोंके देखनेसे प्राणियोंको दुःखवेग अधिक होजाता है ॥ १८२ ॥

ततश्च वाक्यावसाने चित्रांगो लघुपतनकमाह–"भो मित्र ! सञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः । तत् युक्तं सम्पन्नं यद् भवता सह मे दर्शनं सञ्जातम् । उक्तञ्च–

उसके वचनके अन्तमें चित्राङ्ग लघुपतनकसे बोला–"भो ! मित्र यह मेरी मृत्यु उपस्थित हुई है सो अच्छाही हुआ जो आपका दर्शन मुझे हुआ । कहा है–

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
तद्द्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १८३ ॥

प्राण नाश उपस्थित होनेमें जो मित्रका दर्शन हो जाय तो दोनोंही प्रकारसे अर्थात् मित्रके कौशलसे जीवन और मृतक होनेसे उसके संस्कारसे सद्गति दोनोंही सुख होते हैं ॥ १८३ ॥

तत् क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात् सुभाषितगोष्ठीषु अभिहितम् । तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ–

सो क्षमा करना जो मन प्रणयसे वार्तालापमें यदि कुछ (अनुचित) कहा हो और हिरण्यक मन्थरकसेभी मेरी ओरसे कहना–

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्तं यदुदाहृतम् ।
तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥ १८४ ॥"

अज्ञान वा ज्ञानसे जो मैंने कभी तुम्हारे वचनको लौट दिया हो सो मेरे ऊपर प्रीति करके तुमको क्षमा करना चाहिये ॥ १८४ ॥"

तत् श्रुत्वा लघुपतनक आह–"भद्र ! न भेतव्यं अस्मद्विधैर्मित्रैर्विद्यमानैः, यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वा आगच्छामि । अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति । उक्तञ्च–

यह सुनकर लघुपतनक बोला.–"भद्र हमसरीखे मित्रोंके विद्यमान होनेमें भय मतकरो । जबतक मैं शीघ्रतासे हिरण्यकको लेकर आऊं । और जो सत्पुरुष होते हैं वे व्यसन उपस्थित होनेमें घवडाते नहीं हैं । कहा है–

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्॥१८५॥"

जो सम्पत्तिमें हर्ष, विपत्तिमें दुःख, युद्धमें भीरुता नहीं करता है उस तीनों भुवनके तिलक किसी एकही पुत्रको कोई माता उत्पन्न करती है॥१८५॥"

एवमुक्त्वा लघुपतनकः चित्राङ्गं आश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्रांगपाशपतनं कथितवान् । हिरण्यकश्च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्रांगसमीपे गतः । सोऽपि मूषकमवलोक्य किञ्चित् जीविताशया संश्लिष्ट आह–

यह कह लघुपतनक चित्रांगको समझाकर जहा हिरण्यक मन्थरक थे वहा जाकर सम्पूर्ण चित्रागके पाशका बंधन कथन किया। चित्रागके पाश छेदनमें निश्चय करे हुए हिरण्यकको पीठपर चढा कर बहुत शीघ्र चित्रागके समीप गया। वहभी मूषकको देख कुछ जीनेकी आशासे युक्त हो बोला—

"आपन्नाशाय विबुधैः कर्त्तव्याः सुहृदोऽमलाः।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः॥ १८६॥"

"पंडितोको आपत्तिके नाश करनेको निर्मल सुहृद् करने चाहिये जो मित्रोंसे वर्जित है वह कभी आपत्तिको नहीं तर सक्ता है॥ १८६॥"

हिरण्यक आह,—"भद्र! त्वं तावत् नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः। तत् कथमत्र कूटपाशे पतितः" स आह,—"भो न कालोऽयं विवादस्य। तन्न यावत् स पापात्मा लुब्धकः समभ्येति तावत् द्रुततरं कर्त्तय इमं मत्पादपाशम्"। तदाकर्ण्य विहस्य आह,—हिरण्यकः—"किं मयि अपि समायाते लुब्धकात् बिभेषि। ततः शास्त्रं प्रति महती मे विरक्तिः सम्पन्ना यद्भवद्विधा अपि नी शास्त्रविदः एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति। तेन त्वां पृच्छामि"। स आह—"भद्र! कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते। उक्तञ्च—

हिरण्यक बोला—"भद्र तुम तो नीतिशास्त्रके ज्ञाता चतुर बुद्धिवाले हो। सो किस प्रकार इस कूटपाशमें फसगये" वह बोला,—"भो! यह समय विवादका नहीं है सो जबतक वह पापात्मा लुब्धक नहीं आता तबतक शीघ्रतासे मेरे चरणोंकी पाशी काटो"। यह सुन हिरण्यक हँसकर बोला—"क्या मेरे आने पर भी लुब्धकसे डरता है। अब शास्त्रसे मुझे बडा भारी विराग प्राप्त हुआ। जो आप सरीखे नीतिशास्त्रके ज्ञाता इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं इस कारण तुझसे पूछताहूं"। वह बोला—"भद्र! कर्मसे बुद्धि क्षीण होजाती है। कहा है—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि॥ १८७॥

कालपाशमें बँधेहुओंकी दैवसे हत चित्तवाले महात्माओंकी बुद्धि भी कुटिलगामिनी होती है॥ १८७॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका ।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याप्यतिपण्डिताः ॥१८८॥"

विधाताने जो अक्षरमाला मस्तकमें लिखदी है पंडित जन उसको अपनी बुद्धिसे कोई मेट नहीं सकता है ॥ १८८ ॥"

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्व्यसनसन्तप्तहृदयो मन्थरकः शनैः शनैः तं प्रदेशमाजगाम । तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह–"अहो ! न शोभनमापतितं" । हिरण्यक आह–"किं स लुब्धकः समायाति ?" । स आह–"आस्तां तावत् लुब्धकवार्त्ता । एष मन्थरकः समागच्छति । तत् अनीतिः अनुष्ठिता अनेन यतो वयमपि अस्य कारणात् नूनं व्यापादनं यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति, तदहं तावत् खमुत्पतिष्यामि । त्वं पुनर्बिलं प्रविश्य आत्मानं रक्षयिष्यसि । चित्रांगोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति । एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यति इति व्याकुलोऽस्मि" । अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः । हिरण्यक आह–"भद्र ! न युक्तं अनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः तद् भूयोऽपि द्रुततरं गम्यतां, यावत् असौ लुब्धको न समायाति" । मन्थरक आह–"भद्र ! किं करोमि ? न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्निदाहं सोढुम् । तेनाहमत्रागतः। अथवा साधु इदमुच्यते ।

इस प्रकार उन दोनोंके कथनमें मित्रके दुःखसे तापित हृदय मन्थरकभी शनैः २ उस स्थानमें आया । उसे देख लघुपतनक हिरण्यकसे बोला,–"अहो ! यह अच्छा न हुआ" हिरण्यक बोला,–"क्या वह लुब्धक आया ?" । वह बोला– "व्याधेकी बात तो रहने दो । यह मन्थरक आरहा है । सो अनुचित किया इसने, हम भी इसके कारणसे अवश्य नाशको प्राप्त होंगे यदि वह पापात्मा लुब्धक आगया तो । सो मैं तो आकाशमें उड जाऊंगा, तू बिलमें प्रवेश कर जायगा, चित्राङ्ग दिशान्तरमें पलायन कर जायगा, इस जलचरकी स्थलमें क्या दशा होगी इस कारण मैं व्याकुल हो रहाहूं" । इसी समय मन्थरक प्राप्त हुआ । हिरण्यक बोला–"भद्र आपने अच्छा नहीं किया, जो यहां आगये,

सो बहुत शीघ्रतासे चले जाओ जबतक वह लुब्धक न आवे" मन्थरक बोला,– "भद्र मैं क्या करूं ? वहा स्थित हुआ मैं मित्रके दुःखरूपी अग्निदाह सहनेको समर्थ नहीं हूं । इस कारणसे मैं यहा आगया । अथवा अच्छा कहा है–

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सह्याः स्युः ।
यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसंगमो न स्यात् ॥१८९॥

प्रिय जनोंका वियोग और धनका वियोग कौन सह सकता है । जो यह महौषधिकी समान मित्र जनका सगम न हो ॥ १८९ ॥

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः ।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधाः ॥ १९० ॥"

प्राण त्यागन करना अच्छा है परन्तु आपसरीखोंका वियोग अच्छा नहीं है । प्राण तो जन्मान्तरमे भी हो सक्ते हैं परन्तु आपसरीखे सुहृद् नहीं मिलते है ॥ १९० ॥"

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽपि उपागतः, तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात् खण्डितः । अत्रान्तरे चित्रांगः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन् प्रधावितः । लघुपतनको वृक्षमारूढः । हिरण्यकश्च समीपवर्त्ति बिलं प्रविष्टः, अथ असौ लुब्धको मृगगमनात् विषण्णवदनो व्यर्थश्रमः तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान् अचिन्तयच्च । "यद्यपि कुरंगो धात्रा अपहृतः तथापि अयं कूर्म आहारार्थं सम्पादितः । तदद्य अस्य आमिषेण मे कुटुम्बस्य आहारनिवृत्तिः भविष्यति" एवं विचिन्त्य तं दर्भैः संच्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति प्रस्थितः, अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्य्यदेवयत् । "कष्टं भोः ! कष्टमापतितम्–

इस प्रकार उनके वचन कहते कर्णपर्यन्त धनुष चढाये लुब्धक भी आया । उसको देखकर मूषकने उसके तातके बधन उसी क्षण छेदन कर दिये । उसी समय चित्राग बहुत शीघ्र पीछे देखता हुआ धावमान हुआ । लघुपतनक पेड़

पर चढगया । हिरण्यक समीपवर्ती बिलमें प्रविष्ट हुआ । तब यह लुब्धक मृगके गमनसे दुःखीमुख व्यर्थश्रम होनेसे उस मन्थरकको मन्द मन्द स्थलमें जाता देखकर विचारने लगा । "यद्यपि विधाताने हरिणको हरण कर लिया है तथापि यह कूर्म भोजनके निमित्त प्राप्त हुआ है । सो आज इसीके मांससे हमारे कुटु-म्बकी आहारवृत्ति होगी" । ऐसा विचार उसको कुशोंसे बांधकर धनुषपर आरोपण कर कंधेपर रख घरकी ओरको चला । इसी समय उसको ले जाता हुआ देख हिरण्यक दुःखसे व्याकुल हो विलाप करने लगा । "भो ! बड़ा कष्ट आपड़ा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १९१ ॥

सागरकी समान जबतक एक दुःखके पारको प्राप्त नहीं होता हूं तबतक दूसरा मुझे उपस्थित हुवाहै विपत्तिमें अनर्थकी प्राप्ती बहुत करके होती है॥१९१॥

तावदस्खलितं यावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमञ्च पदे पदे ॥ १९२ ॥

तभीतक नहीं गिरता है जबतक समान मार्गमें गमन करता है और पतन होनेमें पद पदमें विषम मार्गही उपस्थित होता है ॥ १९२ ॥

यन्नम्रं सरलञ्चापि तच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १९३ ॥

जो नम्र और सरल है वह आपत्तिमें भी विकारको प्राप्त नहीं होता है, पवित्र कुल (शुद्धवंश) से उत्पन्न धनु, मित्र और स्त्री दुर्लभ हैं (यह आपदामें भी विकृत नहीं होते) ॥ १९३ ॥

न मातरि न दारेषु न सौदर्य्ये न चात्मजे ।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥ १९४ ॥

माता, स्त्री, सगेभाई, पुत्रमें भी पुरुषका ऐसा विश्वास नहीं होता जैसा निरन्तर मित्रमें होता है ॥ १९४ ॥

यदि तावत् कृतान्तेन मे धननाशो विहितः तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मात् अपहृतम् ? अपरमपि मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात् । उक्तञ्च-

जो दैवने मेरा धन नाश कर दियाहै तो मार्गमें थके हुए मेरे विश्रामभूत मित्रको क्यों हरण किया? और भी मन्थरककी समान कोई दुसरा मित्र न होगा। कहाहै-

असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा ।
आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥ १९५ ॥

निर्धनतामें धनका महान् लाभहै, गुह्य (रहस्य) बातका कथन और आपत्ति दूरकरना यहही मित्रताके तीन फलहै ॥ १९५ ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृत् मेतत् किं मम उपरि अनवरतं व्यसनशरैर्वर्षति हन्त विधिः ? यत आदौ तावद्वित्तनाश, ततः परिवारभ्रंशः, ततो देशत्यागः, ततो मित्रवियोग इति । अथवा स्वरूपमेतत् सर्वेषामेव जन्तूनां जीवितधर्मस्य । उक्तंच-

सो इससे अधिक श्रेष्ठ मेरा और कोई मित्र नहीं है सो क्यो मेरे ऊपर निरन्तर दुःखरूपी बाणोकी वर्षा विधाता करताहै ? (हन्त) खेदहै । जो आदिमें धनका नाश, फिर परिवारभ्रंश, फिर देशत्याग, पीछे मित्रवियोग हुआ । अथवा सम्पूर्ण जन्तुओंको जीवित धर्मका यह लक्षणहीह । कहाहै-

कायः सन्निहितापायः सम्पदः क्षणभंगुराः ।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ १९६ ॥

शरीर क्षणमात्रमें विध्वंस होनेवाला है, सम्पत्ति क्षणमात्रमे नाश होनेवाली हैं, सम्पूर्ण देहधारियोंके संयोग वियोगवाले हैं ॥ १९६ ॥

तथाच-

तैसेही-

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं
धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १९७ ॥

घाववाले स्थानमें वारंवार प्रहार पडते हैं, धनक्षय होनेसे जठरानल (भूंख) दीप्त हो जाताहै, आपत्तिमें वैर प्रगट होतेहै, छिद्रमें अनेक अनर्थ होतेहैं॥ १९७॥

अहो ! साधु उक्तं केनापि-

अहो किसीने अच्छा कहाहै-

प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥"

भय प्राप्तिमें रक्षा, प्रीति विश्रामके पात्र मित्र यह रत्नरूपी दो अक्षर किसने निर्माण कियेहैं ॥ १९८ ॥"

अत्रान्तरे च आक्रन्दपरौ चित्रांगलघुपतनकौ तत्र एव समायातौ । अथ हिरण्यक आह,-"अहो ! किं वृथा प्रलपितेन । तद्यावदेष मन्थरको दृष्टिगोचरात् न नीयते तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम् । इति ।

इसी समय रुदन करते हुए चित्रांग और लघुपतनक उस स्थानमें आये । तब हिरण्यक बोला-"वृथा रुदन करनेसे क्या है सो जबतक यह मन्थरक दृष्टिके सामनेसे न जाय तबतक इसके छुडानेका उपाय करो ।

व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत् ।
क्रन्दनं वर्द्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥ १९९ ॥

जो दुःखको प्राप्त होकर मोहसे केवल रुदनही करताहै उसका रोनाही बढता है वह दुःखके अन्तको प्राप्त नहीं होता ॥ १९९ ॥

केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः ।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ २०० ॥

नीतिमें कुशल पंडितोंने विपत्तिकी एकही मुख्य औषधि कही है उस दुःखके नाश करनेका उपाय करना और विषाद त्यागना ॥ २०० ॥

अन्यच्च-

औरभी-

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं
भविष्यलाभस्य च संगमार्थम् ।

आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं
यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः ॥ २०१ ॥"

उपार्जित धनकी रक्षाके निमित्त और भविष्य लाभकी प्राप्तिके निमित्त प्राप्त आपत्तिके दूरकरनको जो सम्मति करताहै वही परम मन्त्रहै ॥ २०१ ॥"

तच्छ्रुत्वा वायस आह,-"भो! यदि एवं तत् क्रियतां मद्वचः। एष चित्रांगोऽस्य मार्गे गत्वा किञ्चित् पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु। अहमपि अस्य शिरसि समारुह्य मन्दैः चंचुप्रहारैः शिर उल्लेखयिष्यामि। येन असौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा मम चंचुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थ परिधाविष्यति। अत्रान्तरे त्वया दर्भमयाणि पाशानि खण्डनीयानि। येन असौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति"। चित्रांग आह,-"भो! भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्य इति। उक्तञ्च-

यह सुनकर काक बोला-"भो! यदि ऐसाहै तो मेरा वचन मानो।यह चित्रांग इसके मार्गमें प्राप्त होकर किसी अल्प सरोवरके निकट प्राप्त हो उसके किनारे चेतनारहित हो गिरजाय। मैं भी इसके शिरपर चढ मन्द २ चंचु प्रहारसे शिरको (कुरेदू) खुजाऊ। जिससे यह दुष्ट लुब्धक इसको मराहुआ मानकर मेरी चोंचप्रहारके विश्वाससे (कि यह मरगया है) मन्थरकको पृथ्वीपर छोडकर मृगके निमित्त धावमान होगा। इसी अवसरमें तुम कुशके पाश खंडित कर देना। जिससे यह मन्थरक शीघ्रतासे छोटे सरोवरमें प्रवेशकर जायगा"। चित्रांग बोला-"भो! अच्छा यह तुमने मन्त्र विचारा अवश्य ही अब मन्थरकको छुटा हुआ जानो। कहाहै-

"सिद्धं वा यदि वासिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत्।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः ॥ २०२ ॥

सिद्ध या असिद्ध कार्यको चित्तका उत्साहही पहले सब प्राणियोंको सूचना दे देताहै बुद्धिमान् उसको जान लेतेहैं अन्य पुरुष नहीं ॥ २०२ ॥

तत् एवं क्रियताम्'' इति । तथा अनुष्ठिते स लुब्धकः तथा एव मार्गासन्नपल्वलतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत् । तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचिन्तयत् । "नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा कथमपि एतद्वनान्तरं यावत् प्रविष्टः तावन्मृतः तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात् । तदेनमपि तावद्गृह्णामि'' इति । इति अवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत् । एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनं खण्डशः कृतम् । मन्थरकोऽपि तृणमध्यात् निष्क्रम्य समीपवर्त्तिनं पल्वलं प्रविष्टः । चित्राङ्गोऽपि अप्राप्तस्यापि तस्य तले उत्थाय वायसेन सह पलायितः । एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत् पश्यति तावत् कच्छपोऽपि गतः । ततश्च तत्र उपविश्य इमं श्लोकमपठत्—

सो ऐसाही करो'' । ऐसा करनेपर वह लुब्धक वैसेही मार्गमें आते हुए छोटे सरोवरके किनारे चित्रांगको कौए सहित देखता भया । उसको देख प्रसन्नहो विचारने लगा । "अवश्यही पाशबंधनके दुःखसे यह क्षुद्रमृग कुछ अवशेष जीवनवाला पाश छेदनकर किसी प्रकार इसी वनान्तरमें ज्योंही प्राप्त हुआ कि, त्योंही मरगया सो सम्यक् बद्ध होनेसे यह कच्छप तो मेरे वशमेंहै । सो अब इस (मृग) को भी ग्रहण करूं'' । ऐसा विचार कछुएको पृथ्वीमें पटक मृगकी ओर धावमान हुआ । इसी समय हिरण्यकने वज्रकी समान डाढोंके प्रहारसे वह कुशाका बंधन खण्ड खण्ड करदिया । मन्थरकभी तृणके मध्यसे निकलकर समीपवर्ती अल्पसरोवरमें प्रविष्ट हुआ । चित्रांगभी उसके न पहुंचते २ पृथ्वीतलसे उठकर काकके साथ पलायन करगया । इसी प्रकार विलक्ष (विस्मित, वा लज्जित) विषादको प्राप्त हुआ लुब्धक लौटकर जबतक देखताहै तबतक कच्छपभी गया । तब वहां बैठकर यह श्लोक पढने लगा—

प्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे हृतः
सम्प्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टस्तवादेशतः ।

क्षुत्क्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः समं भार्य्यया
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त कुरु ते तच्चापि सह्यं मया ॥२०३॥"

हे कृतान्त! बन्धनमे प्राप्त हुआभी बडा मृग तैने मेरा हरण कर लिया, और प्राप्त आ यह कच्छपभी तुम्हारी आज्ञासे निश्चित नष्ट होगया। अब क्षुधासे घबराया हुआ इस वनमें भार्य्यापुत्रसे त्यागन किया हुआ भ्रमण करता हू जो और अनिष्ट नहीं किया सोभी कर वह मैं तेरा सब सहन करलूगा ॥ २०३ ॥

एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः। अथ तस्मिन्व्याधे दूरतरं गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषकाः परमानन्दभाजः परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिव आत्मानं मन्यमानाः तदेव सरः सम्प्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति स्म। एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसंग्रहः कार्य्यः। न च मित्रेण सह व्याजेन वर्त्तितव्यम्। इति। उक्तञ्च यतः–

इस प्रकार अनेक विधि विलाप कर अपने घर गया। तब उस व्याधेके अति दूर जानेपर वे काक कूर्म मृग मूषक परमानन्दको प्राप्त हुए परस्पर आलिगन कर अपनेको पुनः जन्मवाला मानकर उसी अपने सरोवरको प्राप्तहो महासुखपूर्वक सुवचन कथा गोष्ठीके आनन्दसे समयको बिताते भये। ऐसा जानकर बुद्धिमान्को मित्रोंका सग्रह करना चाहिये मित्रके सग कपटसे वर्तना न चाहिये। कहा है कारण–

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्त्तते।
तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन ॥ २०४ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीयं तन्त्रं समाप्तम्।

जो इस ससारमे मित्र करता है और उनके साथ कुटिलतासे नहीं वर्त्तता हैं वह उनके साथ कभी पराभवको प्राप्त नहीं होता है ॥ २०४ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां
मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रं सम्पूर्णम् ॥

अथ काकोलूकीयं तृतीयं तन्त्रम् ।

अथ इदमारभ्यते काकोलूकीयं नाम तृतीयं तन्त्रम् । तस्य अयमाद्यः श्लोकः—

भाषाटीकासहित यह तीसरा तंत्र काकोलूकीय नामक प्रारंभ किया जाता है जिसकी आदिमें यह श्लोक है—

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।
दग्धां गुहां पश्य उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥१॥

प्रथम विरोध किये और पीछे मित्रताको प्राप्त हुए शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये उलूकसे पूर्ण गुहाको काकद्वारा अग्नि दी हुई देखो ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते । अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य समीपस्थः अनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छदो न्यग्रोधपादपोऽस्ति, तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवारः प्रतिवसति स्म । स तत्र विहितदुर्गरचनः सपरिजनः कालं नयति स्म । तथा अन्योऽरिमर्दनो नाम उलूकराजोऽसंख्योलूकपरिवारो गिरिगुहादुर्गाश्रयः प्रतिवसति स्म । स च रात्रौ अभ्येत्य सदा एव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात् परिभ्रमति । अथ उलूकराजः पूर्वविरोधवशाद्यं कश्चिद्वायसं समासादयति तं व्यापाद्य गच्छति । एवं नित्याभिगमनात् शनैः शनैः तत् न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तात् निर्वायसं कृतम् । अथवा भवत्येवम् । उक्तञ्च—

सो ऐसा सुना जाता है । दक्षिण देशमें एक महिलारोप्य नाम नगरहै । उसके निकट अनेक शाखावाला अति घने पत्रोंसे व्याप्त न्यग्रोधका वृक्ष है । वहां मेघवर्णनाम काकोंका राजा अनेक काकोंके साथ रहताथा । वह वहां दुर्ग रचना किये कुटुम्बसहित समय बितताथा । और दूसरा अरिमर्दन नाम उलूकराज असंख्य उलूकोंके सहित पर्वतकी गुहाके दुर्गमे आश्रय किये रहताथा । वह

रात्रिमें आकर सदाही उस न्यग्रोधके चारों ओर घूमताथा। और यह उलूकराज पूर्व विरोधके वशसे जिस किसी वायसको पाता उसे मार जाता इस प्रकार नित्यके आगमनसे शनैः २ वह न्यग्रोधका वृक्ष सब ओरसे उसने वायसरहित कर दिया अथवा ऐसा होताही है, यह कहा भी है-

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते॥ २॥

जो अपनी इच्छासे वृद्धिको प्राप्त हुए शत्रु और रोगकी उपेक्षा करताहै। आलस्य युक्त रहता है वह शनै. २ उससे हनन होता है॥ २॥

तथाच-

तैसेही-

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत्।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते॥ ३॥

जो उत्पन्न होतेही शत्रु और व्याधीको शान्त नहीं करता है अति पुष्ट अग होकरभी पीछे वह उसीसे मारा जाता है॥ ३॥

अथ अन्येद्युः स वायसराजो सर्वान् वायससचिवानाहूय प्रोवाच-"भो! उत्कटः तावदस्माकं शत्रुः उद्यमसम्पन्नश्च कालवशात् नित्यमेव निशागमे समेत्य अस्मत्पक्षकदनं करोति, तत् कथमस्य प्रतिविधानम्? वयं तावद्रात्रौ न पश्यामः। न च तस्य दिवा दुर्गं विजानीमः येन गत्वा प्रहरामः। तदत्र विषये किं युज्यते, सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावानामेकतमस्य क्रियमाणस्य। तद्विचार्य्य शीघ्रं कथयन्तु भवन्तः" अथ ते प्रोचुः-"युक्तमभिहितं देवेन यदा एष प्रश्नः कृतः। उक्तञ्च-

तब और दिन वह काकराज सम्पूर्ण वायस मन्त्रियोंको बुलाकर बोला,-"भो हमारा शत्रु तो बडा बली और उद्यमसम्पन्न है। कालवशसे नित्यही रात्रिमें आकर हमारी जातिका नाश करताहै, सो किस प्रकार इसका प्रतिकार करें। हम तो रात्रिमें देख नहीं सक्ते और दिनमें उसके दुर्गको नही जानते जिससे

जाकर प्रहार करें । सो इस विषयमें क्या करें सन्धि, विग्रह, यान (चढाई), आसन, संश्रय, द्वैधीभावमेंसे कोई एकका आश्रय करो । सो विचार कर आप शीघ्र कहो" तब वे बोले—"आपने युक्तही कहा है जो ऐसा प्रश्न किया। कहाहै—

अपृष्टेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन ।
पृष्टेन तु ऋतं पथ्यं वाच्यञ्च प्रियमप्रियम् ॥ ४ ॥

इस जगत्में श्रेष्ठमंत्रीको बिना पूछे भी कुछ कहना चाहिये और पूछनेपर सत्य हितकारक प्रिय अप्रिय कहनाही चाहिये ॥ ४ ॥

यो न पृष्टो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम् ।
सुमन्त्री प्रियवक्ता च केवलं स रिपुः स्मृतः ॥ ५ ॥

जो पूछनेपर परिणाममें सुखदायक हितके वचन नहीं कहता है वह सुमन्त्री प्रियवक्ता केवल शत्रु जानना ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपतेः ।
येन तस्य वयं कुर्मो निर्णयं कारणं तथा ॥ ६ ॥"

इस कारण एकान्त स्थानको प्राप्त होकर राजाको सम्मति करनी चाहिये जिससे हम उस मंत्रका निर्णय तथा कारण कर सकें ॥ ६ ॥"

अथ स मेघवर्णः अन्वयागतोज्जीवि-सञ्जीवि-अनुजीवि-प्रजीवि-चिरञ्जीविनाम्नः पंच सचिवान् प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धः। तत्र एतेषामादौ तावदुज्जीविनं पृष्टवान्—"भद्र ! एवं स्थिते किं मन्यते भवान्?"। स आह—"राजन्!बलवता सह विग्रहो न कार्यः । यथा स बलवान् कालप्रहर्त्ता च । उक्तञ्च-यतः—

तब वह मेघवर्ण वंशक्रमसे प्राप्त हुए उज्जीवि, संजीवि, अनुजीवि, प्रजीवि, और चिरंजीवि नामवाले पांच मंत्रियोंमें प्रत्येकसे पूछने लगा। तहां पहिले उज्जीविसे पूछा—" हे भद्र ! ऐसा उपस्थित होनेमे आप क्या मानते हो?"। वह बोला—"राजन् बलवानके साथ विग्रह करना उचित नहीं, क्यों कि वह बलवान् समयपर प्रहार करता है । कहा है कि—

बलीयसे प्रणमतां काले प्रहरतामपि ।
सम्पदो नापगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ॥ ७ ॥

बलवान् शत्रुको प्रणामसे सान्त्वना करनेवाले तथा समयपर प्रहार करनेवाले मनुष्योंकी सम्पत्ति निम्नवाहिनी नदीकी समान प्रतिकूल होकरभी नष्ट नहीं होतीहै ॥ ७ ॥

तथाच–

तैसेही–

सन्त्याज्यो धार्मिकश्चार्य्यो भ्रातृसंघातवान्बली।
अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत् ॥ ८ ॥

धर्मात्मा श्रेष्ठ बहुत भाइयोंसे युक्त बली बहुतसे संग्रामका जीतनेवाला शत्रु त्यागना चाहिये अर्थात् उससे विग्रह न करे ॥ ८ ॥

सन्धिः कार्य्योऽप्यनार्य्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्।
प्राणैः संरक्षितैः सर्वं यतो भवति रक्षितम् ॥ ९ ॥

प्राणसंशय प्राप्त होनेपर अनाडीके साथभी संधि करना उचित है क्योंकि प्राणरक्षासे सबकी रक्षा होती है ॥ ९ ॥

येन अनेकयुद्धविजयी स तेन विशेषात् सन्दधनीयः।

उक्तञ्च–

जिससे कि वह अनेक युद्ध विजयी है इस कारण उससे संधि करलो। कहाहै कि–

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति।
तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः ॥ १० ॥

अनेक युद्धविजयीकी जिससे संधि होजातीहै उसके प्रभावसे बहुतसे शत्रु उसके आधीन होजाते हैं ॥ १० ॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि।
न हि सांशयिकं कुर्य्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

जो युद्धके विजयमें सन्देह हो तो समानसेभी संधि करले परन्तु संदिग्ध कार्य न करे ऐसा बृहस्पतिने कहा है ॥ ११ ॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे जनानामिह युध्यताम्।
उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १२ ॥

युद्ध करनेवाले जनोंको युद्धमें संदेह रहता है इसकी योजना साम, दान, भेद तीन उपायोंके पश्चात्ही करे ॥ १२ ॥

असन्दधानो मानाद्यः समेनापि हतो भृशम् ।
आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसंक्षयम् ॥ १३ ॥

जो अभिमानसे संधि न करके समानसे अत्यन्त ताडित होताहै, वह कच्चे घडेकी समान दोनों (मान और प्राण) सेही ध्वंस होताहै ॥ १३ ॥

समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।
दृषत्कुम्भं यथा भित्त्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान् ॥ १४ ॥

समर्थके साथ दुर्बलको युद्ध मृत्युके लियेही होताहै शक्तिमान् पाषाण घटकी समान दुर्बलको तोडकर आप स्थित रहता है ॥ १४ ॥

अन्यच्च–

औरभी–

भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषां विग्रहं न समाचरेत् ॥ १५ ॥

पृथ्वी मित्र वा सुवर्ण यह विग्रहके तीन फल हैं जो इनमेंसे एकभी न हो तो विग्रह न करे ॥ १५ ॥

खनन्नाखुबिलं सिंहः पाषाणशकलाकुलम् ।
प्राप्नोति नखभङ्गं वा फलं वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥

सिंह यदि पत्थरसे निर्मित चूहेकी बिल खोदे तो नख टूटनेको प्राप्त होता है वा मूषिक लाभका फल होता है ॥ १६ ॥

तस्मान्न स्यात्फलं यत्र दुष्टं युद्धन्तु केवलम् ।
न तत्स्वयं समुत्पाद्यं कर्त्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥

इस कारण जहां कुछ फल नहो और केवल दुष्ट युद्धही हो तो उस कार्यको स्वयं उठाना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाचरेत् ।
वाञ्छन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजङ्गीं कदाचन ॥ १८ ॥

बलवान्से आक्रान्त होनेमें वेतसम्बन्धी वृत्तिको अवलम्बन करे जो अक्षय लक्ष्मीकी इच्छा करे न कि सर्पकी समान चंचल ॥ १८ ॥

कुर्वन्हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम् ॥ १९ ॥

वेतसी वृत्तिको प्राप्त होकर बडी लक्ष्मीको प्राप्त होता है, भुजगवृत्तिको प्राप्त होकर केवल वधके योग्य होता है ॥ १९ ॥

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥

संकोचको प्राप्त होकर कूर्मवृत्तिके समान प्रहारोंकोभी सहन करे समय २ पर कृष्ण सर्पकी समान बुद्धिमान् उठे ॥ २० ॥

आगतं विग्रहं मत्वा सुसाम्ना प्रशमं नयेत ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसञ्च समुत्सृजेत् ॥ २१ ॥

आये हुए विग्रहको देखकर बुद्धिमान् सामउपायसे शान्त करे विजयके अनित्य होनेमें वेग (युद्धके उद्योग) को त्याग दे ॥ २१ ॥

तथाच–

तैसेही–

वलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥"

वलवान्के संग युद्ध करना चाहिये इसमें दृष्टान्त नहीं है कभी मेघ पवनके सामने नहीं आते हैं ॥ २२ ॥"

एवमुज्जीवी साममन्त्रं सन्धिकारं कृतवान् । अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह,–"भद्र ! तव अभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि" । स आह,–"देव ! न मम एतत् प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह सन्धिः क्रियते । उक्तश्च यतः–

इस प्रकार उज्जीवीने साममन्त्रसे सम्मति करनेको समर्थन किया । यह सुनकर सजीवीसे बोला,–"भद्र ! तुम्हारे अभिप्रायके सुननेकी इच्छा करता हूं" । वह बोला–" देव ! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती जो शत्रुके साथ संधि कीजावे । कारण कहा है–

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

सुमधुर संधिकी इच्छा करनेवाले शत्रुसेभी संधि न करे क्योंकि तत्ता पानीभी अग्निको शान्तही कर देता है ॥ २३ ॥

अपरं च स क्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः । तत् त्वया विशेषात् न सन्धेयः । उक्तञ्च यतः-

औरभी वह क्रूर अत्यन्त लोभी धर्मरहित है विशेषकर सन्धिके योग्य नहीं । कारण कहा है-

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।
सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

सत्य धर्मसे हीनके साथ कभी सन्धि नहीं करनी चाहिये अच्छी प्रकार संधी किया हुआ असाधु होनेसे शीघ्र विकारको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

तस्मात् तेन सह योद्धव्यमिति मे मतिः । उक्तञ्च यतः-

इस कारण उसके साथ युद्ध करना चाहिये ऐसी मेरी मति है। कहा है कि-

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो युद्धावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्रिपुः ॥ २५ ॥

खोटा, लोभी, आलसी, असत्यवादी, प्रमादी, डरपोक, चंचल, मूढ, युद्धमें उत्साह न करनेवाला शत्रु सुखसे नाशके योग्य होता है ॥ २५ ॥

अपरं तेन पराभूता वयम् । तद्यदि सन्धानकीर्त्तनं करिष्यामः स भूयोऽत्यन्तं कोपं करिष्यति । उक्तञ्च-

और उसने हमारा तिरस्कार किया है । सो यदि संधि होनेकी बात करेंगे तो वह फिर अत्यन्त क्रोध करेगा । कहा है-

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिंचति ॥ २६ ॥

जो शत्रु चौथे उपाय (युद्ध) से साध्य होनके योग्यहो उससे साम प्रयोग करना कोपवृद्धिका कारण है, पसीनेसे साध्य नवीन ज्वरको कौन बुद्धिमान् जलसे सींचता है ? ॥ २६ ॥

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ २७ ॥

क्रोधित शत्रुसे साम वचन कहना उसके क्रोधका बढाना है, और तपे घृतमें एक साथ जल बिन्दु डालनेकी समान है ॥ २७ ॥

यदेव एतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम् । उक्तञ्च यतः—
जो ऐसा है यह कहते हैं कि शत्रु बलवान् है यहभी अकारण है। कहा है कि-

सोत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम् ।
यथा कण्ठीरवो नागे सुसाम्राज्यं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

उत्साह शक्तिसे सम्पन्न क्षुद्र मनुष्यभी बडे शत्रुको मार सकता है, जैस छोटे देहवाला सिंह बडे देहवाले हाथीपर स्वामित्व कर लेता है ॥ २८ ॥

मायया शत्रवो बध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।
यथा स्त्रीरूपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ २९ ॥

जो शत्रु बलसे अवध्यहो तो मायासे उनको वशमें करे जैसे स्त्रीरूप धारण कर भीमसेनने कीचकको मारा ॥ २९ ॥

तथाच—
तैसेही—

मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः ।
शष्पतुल्यं हि मन्यन्ते दयालुं रिपवो नृपम् ॥ ३० ॥

मृत्युकी समान उग्रदडवाले राजाके वशमें शत्रु होजाते है और दयालु राजाको शत्रु तृणकी समान मानते हैं ॥ ३० ॥

न याति शमनं यस्य तेजस्तेजस्वितेजसा ।
वृथा जातेन किं तेन मातुर्यौवनहारिणा ॥ ३१ ॥

जिसके तेजस्वी तेजसे तेजशत्रुका तेज शान्त नहीं होजाता है उस माताके यौवन हरनेवालेको वृथा उत्पन्न होनेसे क्या लाभ है ? ॥ ३१ ॥

या लक्ष्मीर्नानुलिप्तांगी वैरिशोणितकुंकुमैः ।
कान्तापि मनसः प्रीतिं न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३२ ॥

जो लक्ष्मी शत्रुओंके रुधिररूपी कुमकुमसे अनुलिप्त अगवाली नहीं है वह मनोहर होकरभी वीरोंके मनको आनद नहीं देती ॥ ३२ ॥

रिपुरक्तेन संसिक्तारिस्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।
न भूमिर्यस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीवने ॥ ३३ ॥"

शत्रुके रुधिरसे तथा शत्रुओकी स्त्रियोंके नेत्रोंके जलसे जिस राजाकी भूमि नहीं सींची गई उसके जीनेसे क्या श्लाघा है ॥ ३३ ॥"

एवं सञ्जीवी विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामास । अथ तच्छ्रुत्वा अनुजीविनमपृच्छत्–"भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं निवेदय" । सोऽब्रवीत–"देव ! दुष्टः स बलाधिको निर्मर्य्यादश्च तत् तेन सह सन्धिविग्रहौ न युक्तौ केवलं यानमर्हं स्यात्।उक्तञ्च–

इस प्रकार संजीवीने विग्रह मंत्रकी सम्मति कही । यह सुन (उसने) अनुजीविसे पूछा । "भद्र ! तुमभी अपने अभिप्रायको कहो" । वह बोला–"देव ! वह दुष्ट अधिक बली और मर्यादा रहित है । उसके साथ संधि विग्रह युक्त नहीं केवल यानही योग्य है । कहा है–

बलोत्कटेन दुष्टेन मर्य्यादारहितेन च ।
न सन्धिविग्रहौ नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

बलसे उत्कट, दुष्ट मर्यादा रहित शत्रुसे यानके विना संधि विग्रह पूजित नहीं हैं ॥ ३४ ॥

द्विधाकारं भवेद्यानं भयत्रस्तपरक्षणम् ।
एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ॥ ३५ ॥

दो प्रकारका यान होता है एक तो भयसे व्याकुल हुएकी रक्षा करनी दूसरे जीतनेकी इच्छा करनेवालेको शत्रुके प्रति यात्रा करनी ॥ ३५ ॥

कार्तिके वाथ चैत्रे वा विजिगीषोः प्रशस्यते ।
यानमुत्कृष्टवीर्य्यस्य शत्रुदेशे न चान्यदा ॥ ३६ ॥

कार्तिक अथवा चैत्रमें जीतनेवालेको यात्रा करनी श्रेष्ठ है बलवान्कोही शत्रुके देशमें गमन करना उचित है अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥

अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्त्तिताः ।
व्यसने वर्त्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ॥ ३७ ॥

व्यसनमें प्राप्त हुए और छिद्रताको प्राप्त हुए शत्रुपर आक्रमण करनेके सम्पूर्ण काल कहे हैं ॥ ३७ ॥

स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा शूरैश्चाप्तैर्महाबलैः ।
परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रतः ॥ ३८ ॥

अपने स्थानको विश्वस्त शूर महाबलियोंसे दृढ करके आगे दूतोंको करके परदेशको गमन करे ॥ ३८ ॥

अज्ञातविविधासारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः।
परराष्ट्रं स नो भूयः स्वराष्ट्रमधिगच्छति ॥ ३९ ॥

सुहृद्बल, जल, खेती इनको बिना जाने जो परपुरुषके राज्यमें चढ जाता है वह फिर अपने राज्यमें नहीं आता है ॥ ३९ ॥

तत्ते युक्तं कर्तुमपसरणम्।

सो तुम्हारा यहांसे पयानही करना युक्त है।

अन्यच्च-

औरभी-

न विग्रहं न सन्धानं बलिना तेन पापिना।
कार्यलाभमपेक्ष्यापसरणं क्रियते बुधैः ॥ ४० ॥

उस पापी बलीके संग विग्रह और संधि करनी नहीं चाहिये कार्यके लाभको देखकर पंडितको अपसरण करना चाहिये ॥ ४० ॥

उक्तश्च यतः-

कारण कहा है-

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं
मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः।
हृदयविहितवैरा गूढमन्त्रोपचाराः
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥ ४१ ॥

जो मेष अपसरण करता है इसमें शत्रुको प्रहार करनेकाही कारण है, सिंहभी क्रोधसे जब हाथीके ऊपरको धावमान होता है तब संकुचित होता है, हृदयमें वैर रखनेवाले गूढ मंत्रके उपचारवाले महात्मा बुद्धिमान् कुछ विचारसेही शत्रुओंके उपद्रव सहन करते हैं ॥ ४१ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा देशत्यागं करोति यः।
युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन्स मेदिनीम् ॥ ४२ ॥

बलवान् शत्रुको देखकर जो देश त्यागन करता है वह युधिष्ठिरकी समान जीतेहीजी पृथ्वीको प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

युद्ध्यतेऽहंकृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा ।
स तस्य वाञ्छितं कुर्य्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४३ ॥

जो दुर्बल अहंकारसे प्रबल शत्रुके साथ युद्ध करता है वह उस (शत्रु) का मनोरथ पूर्ण और अपना कुलक्षय करता है ॥ ४३ ॥

तद्बलवताभियुक्तस्य अपसरणसमयोऽयं न सन्धेर्विग्रहस्य च । एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य" । अथ तस्य वाक्यं समाकर्ण्य प्रजीविनमाह–"भद्र ! त्वमपि आत्मनोऽभिप्रायं वद ?"। साऽब्रवीत्,–"देव ! मम सन्धिविग्रहयानानि त्रीणि अपि न प्रतिभान्ति विशेषतश्च आसनं प्रतिभाति ।" उक्तञ्च यतः–

सो बलवान्से अभियुक्त होनेसे यह तुम्हारे पयानका समय है । सन्धि विग्रहका नहीं इस प्रकार अनुजीविका मन्त्र अनुसरणका है" । तब उसके वाक्य सुनकर (वायसराज) प्रजीवीसे बोला,–"भद्र ! तू भी अपने अभिप्रायको कथन कर"। वह बोला,–"देव ! मुझको सन्धि, विग्रह, यान (समयकी प्रतीक्षा करनेको आसन कहते हैं) (१) तीनोंही नहीं रुचते हैं विशेष कर आसन अच्छा विदित होता है । कारण कहा है कि–

नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ ४४ ॥

अपने स्थानमें स्थित नक्र गजेन्द्रकोभी खैंचलेता है और अपने स्थानसे च्युत हुआ वही कुत्तेसे भी तिरस्कृत हो जाताहै ॥ ४४ ॥

अन्यच्च–

औरभी–

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ।
तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीतात्ममुक्तये ॥ ४५ ॥

जो बलवान्से अभियुक्त होकर यत्नसे अपने दुर्गमें स्थित रहता है और वहीं स्थित होकर अपने छुटकारेके निमित्त सुहृदोंको बुलावे ॥ ४५ ॥

---

१ शत्रुके प्रति यात्रा करना ।

यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसन्त्रस्तमानसः।
स्वस्थानं सन्त्यजेत्तत्र न स भूयो वसेन्नरः॥ ४६॥

जो शत्रुका आगमन सुनकर भयसे सन्त्रस्तमन होकर अपने स्थानको त्यागन कर देता है वह वहा फिर नहीं वस सकता है॥ ४६॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्यात्सर्वजन्तुषु॥ ४७॥

डाढसे हीन जैसे सर्प, मदसे हीन जैसे हाथी तैसेही स्थानभ्रष्ट राजा सब जन्तुओंके गम्य होता है॥ ४७॥

निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेन्नरः।
शक्तानामपि शत्रूणां तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत्॥ ४८॥

अपने स्थानमें स्थित हुआ एकही सौ समर्थ शत्रुओंको युद्धमें सहन कर सकता है इस कारण अपना स्थान त्याग न करे॥ ४८॥

तस्माद्दुर्गं दृढं कृत्वा सुभटासारसंयुतम्।
प्राकारपरिखायुक्तं शस्त्रादिभिरलंकृतम्॥ ४९॥

इस कारण किलेको दृढ अपने योधाओंके बलसे सयुक्त पर कोटा खाईसे युक्त शस्त्रादिसे अलङ्कृत कर॥ ४९॥

तिष्ठ मध्यगतो नित्यं युद्धाय कृतनिश्चयः।
जीवन्सम्प्राप्स्यसि क्ष्मान्तं मृतो वा स्वर्गमेष्यसि॥ ५०॥

युद्धके निमित्त निश्चय करके उसके मध्यमें नित्यही स्थित हो जीनेसे सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्ति और मरनेपर स्वर्ग प्राप्त होगा॥ ५०॥

अन्यच्च–

औरभी–

बलिनापि न बध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयाः।
विपक्षेणापि मरुता यथैकस्थानवीरुधः॥ ५१॥

कहा है कि, यदि लघु एकताको प्राप्त हो जावै तो बलवानसे नहीं बध सक्ते-जैसे प्रतिकूल वायुसे एक स्थानके वृक्ष॥ ५१॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य इव वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः॥ ५२॥

महान् इकला वृक्ष बलवान् और प्रतिष्ठित हो उसको भी बलसे वायु सहसा घर्षण कर सकती है ॥ ५२ ॥

अथ ये संहता वृक्षाः सर्वतः सुप्रतिष्ठिताः ।
न ते शीघ्रेण वातेन हन्यन्ते ह्येकसंश्रयात् ॥ ५३ ॥

और जो मिले हुए वृक्ष सब ओरसे प्रतिष्ठित हैं उन्हे इकट्ठे होनेसे एक साथ वायु प्रहार नहीं कर सकती ॥ ५३ ॥

एवं मनुष्यमेकं च शौर्य्येणापि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ॥ ५४ ॥

इसी प्रकार शूरतासे युक्त इकले मनुष्यको शत्रु तिरस्कारके योग्य मानते हैं और उसका वधभी करलेते हैं ॥ ५४ ॥

एवं प्रजीविमन्त्र इदमासनसंज्ञकम्" । एतसमाकर्ण्य चिरञ्जीविनं प्राह,–"भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं वद!" । सोऽब्रवीत्–"देव ! षाड्गुण्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति । तत् तस्य अनुष्ठानं कार्य्यम् । उक्तञ्च–

इस प्रकार प्रजीवीका यह मंत्र आसनसंज्ञक है" । यह सुनकर वह चिरंजीवीसे बोला,–"भद्र ! तुम भी अपना अभिप्राय कहो" । वह बोला,–"देव! (सन्धी आदि) छः गुणोंके बीचमें मुझे (१) संश्रयही भला विदित होता है । सो उसकाही अनुष्ठान करना चाहिये । कहा है–

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ।
निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ ५५ ॥

समर्थ तेजस्वी यदि असहाय हो तो क्या कर सकता है वातरहित स्थानमें प्रज्वलित अग्नि आपही शान्त हो जायगी ॥ ५५ ॥

सङ्गतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः ।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ५६ ॥

पुरुषोंको अपने पक्षकी संगति करनी विशेष कर कल्याणकारक है भूसेसे रहित हुए चावल उगनेको समर्थ नहीं होते ॥ ५६ ॥

---

१ बलवानसे अभियुक्त हो प्रबलका आश्रय करना ।

तदत्रैव स्थितेन त्वया कश्चित् समर्थः समाश्रयणीयः। यो विपत्प्रतीकारं करोति। यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं त्यक्त्वा अन्यत्र यास्यसि, तत् कोऽपि ते वाङ्मात्रेणापि सहायत्वं न करिष्यति। उक्तञ्च यतः-

सो यहीं स्थित होकर तुम किसी. समर्थका आश्रय करो जो विपत्तिका प्रतीकार करे। और जो तुम अपने स्थानको त्यागनकर अन्यत्र चले जाओगे। तो कोई तुम्हारी वाणी मात्रसे भी सहाय न करेगा। कहा है-

वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥ ५७॥

अग्निके वन जलानेमें पवन उसका सखा होता है और दीपका वही नाश करता है दुर्बलतामें कौन किसका मित्र होता है॥ ५७॥

अथवा न एतत् एकान्तं यद्बलिनमेकं समाश्रयेत्। लघूनामपि संश्रयो रक्षायै एव भवति। उक्तञ्च यतः-

और यही सिद्धान्त नहीं कि, बलीका आश्रय किया जाय लघुओंका भी आश्रय रक्षाके निमित्त होता है। कारण कहा है-

संघातवान्यथा वेणुर्निबिडो वेणुभिर्वृतः।
न शक्यः स समुच्छेत्तुं दुर्बलोऽपि तथा नृपः॥ ५८॥

बासोंसे आकीर्ण समूहका अवलम्बी सघन वेणु जैसे उच्छेदन नहीं हो सकता तैसेही दुर्बल राजा॥ ५८॥

यदि पुनरुत्तमसंश्रयो भवति तत्किमुच्यते। उक्तञ्च-

और जो फिर उत्तम पुरुषका आश्रय हो तो क्या कहना। कहा है-

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम्॥ ५९॥

महाजनोंका सम्पर्क किसको उन्नति नहीं करता है पद्मपत्रमें रक्खा हुआ जलभी मोतीकी समान कान्ति धारण करता है॥ ५९॥

तदेवं संश्रयं विना न कश्चित् प्रतीकारो भवति। तस्मात् संश्रयः कार्यं इति मेऽभिप्रायः। एवं चिरञ्जीविमन्त्रः"। अथ एवमभिहिते स मेघवर्णो राजा चिर-

न्तनं पितृसचिवं दीर्घायुषं सकलनीतिशास्त्रपारङ्गतं स्थिरजीविनामानं प्रणम्य प्रोवाच–"तात ! यत एते मया: पृष्टाः सचिवाः तावदत्र स्थितस्यापि तव परीक्षार्थं, येन त्वं सकलं श्रुत्वा यदुचितं तन्मे समादिशसि। तत यद्युक्तं भवति तत्समादेश्यम्" । स आह–"वत्स ! सर्वैरपि एतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्तं सचिवैः । तदुपयुज्यते स्वकालोचितं सर्वमेव, परमेष द्वैधीभावस्य कालः । उक्तञ्च–

सो संश्रयके विना किसीका प्रतीकार नहीं होता । इस कारण संश्रय करना चाहिये ऐसा मेरा अभिप्राय है । यह चिरञ्जीवीका मंत्र है" ऐसा कहनेपर वह मेघवर्ण राजा पुराने पिताके मंत्री दीर्घआयुवाले सकल नीतिशास्त्रके पारगामी स्थिरजीविनामवालेको प्रणाम कर बोला,–"तात ! इतने मंत्रियोंसे जो आपके स्थितमें मैंने पूछाहै, सो परीक्षाके निमित्त जिससे तुम सब सुनकर जो ... हो सो कहो जो युक्त हो सो तुम आज्ञादो" वह बोला–"वत्स! इन सबों मंत्रियोंने ही नीतिशास्त्रका आश्रय कहाहै । सो अपने कालके अनुसार सबही उचित है। परन्तु यह द्वैधी (१) भावका समय है । कहाहै–

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च ।
द्वैधीभावं समाश्रित्य नैव शत्रौ बलीयसि ॥ ६० ॥

संधि और विग्रहसे सदा अविश्वाससे स्थित रहे किन्तु प्रबल शत्रुमें द्वैधीभावको प्राप्त होकर अविश्वासमें स्थित नरहे (द्वैधीभावसे शत्रु) जीते जाते हैं॥६०॥

तच्छत्रुं विश्वास्य अविश्वस्तैर्लोभं दर्शयद्भिः सुखेन उच्छिद्यते रिपुः । उक्तञ्च–

सो शत्रुको विश्वास देकर लोभको दिखानेवाले अविश्वासियोंसे शत्रु सुखसे उच्छेदको प्राप्तहोताहै, कहाहै–

उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्द्धयन्त्यरिमेकदा ।
गुडेन वर्द्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते ॥ ६१ ॥

---

१ संदिग्धहोकर स्थित रहना ।

पंडित जन नाश करने योग्य शत्रुकोभी बढाते हैं कारण कि, गुडसे वृद्धिको प्राप्त हुआ कफ सुखसे निपातन किया जाताहै (इसी प्रकार प्रथम विश्वासको उत्पन्न कर शत्रुको बढावे पीछे मार डाले) ॥ ६१ ॥

तथाच-

तैसेही-

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।
यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः ॥ ६२ ॥

स्त्रीका, शत्रुका, कुमित्रका विशेषकर वेश्याओंका जो मित्र होता है वह मनुष्य जीता नही है ॥ ६२ ॥

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।
एकभावेन कर्त्तव्यं शेषं द्वैधं समाश्रितम् ॥ ६३ ॥

देवता द्विज अपना और गुरु इनसे निरन्तर एकभावसे रहना चाहिये और शेष कृत्य द्वैधीभावसे करना चाहिये ॥ ६३ ॥

एको भावः सदा शस्तो यतीनां भावितात्मनाम् ।
स्त्रीलुब्धानां न लोकानां विशेषेण महीभृताम् ॥ ६४ ॥

ज्ञानीयतियोंको सदा एकभावसे रहना चाहिये और विशेषकर स्त्री लुब्धक तथा राजाओंको एकभाव नहीं करना चाहिये ॥ ६४ ॥

तद्द्वैधीभावं संश्रितस्य तव स्वस्थाने वासो भविष्यति लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि। अपरं यदि किञ्चित् छिद्रं तस्य पश्यसि तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि" मेघवर्ण आह-"तात! मया सोऽविदितसंश्रयः, तत् कथं तस्य छिद्रं ज्ञास्यामि"। स्थिरजीवी आह-"वत्स न केवलं स्थानं छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिष्यामि प्रणिधिभिः। उक्तञ्च-

सो द्वैधीभावको प्राप्त होकर तुम्हारा इसी स्थानमे निवास होगा लोभके आश्रयसे शत्रुको उच्चाटन करसकोगे। और यदि किसी प्रकार उसका छिद्र देखो तो जाकर मार डालना"। मेघवर्ण बोला-'तात मुझे उसके आश्रयकी

खबर नहीं । सो कैसे उसका छिद्र जानूं"। स्थिरजीवी बोला-"वत्स ! स्थानहीं नहीं उसका छिद्रभी दूतोंद्वारा प्रगट करूंगा । कहाहै-

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ६९ ॥

गो गन्धसे देखती हैं, ब्राह्मण वेदसे देखते हैं, राजा दूतोंसे देखते हैं, दूसरे जन नेत्रोंसे देखते हैं ॥ ६९ ॥

उक्तञ्चात्र विषये,-
इस विषयमें कहाहै-

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः ।
गुप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ ६६ ॥

जो दूतों द्वारा अपने पक्षके तीर्थ (अठारह स्थान) जानता है वह राजा दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ६६ ॥"

मेघवर्ण आह-"तात ! कानि तीर्थानि उच्यन्ते कति संख्यानि च, कीदृशाः गुप्तचराः, तत्सर्वं निवेद्यताम्" इति । स आह-"अत्र विषये भगवता नारदेन युधिष्ठिरः प्रोक्तः।यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि स्वपक्षे पञ्चदश । त्रिभिः त्रिभिः गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि । तैः ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति । उक्तञ्च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति-

मेघवर्ण बोला,-"तात ! तीर्थ किनको कहते हैं ? उनकी कितनी संख्या है ? गुप्तचर कैसे होते हैं सो आप कहिये" वह बोला-"इस विषयमे भगवान् नारदने युधिष्ठिरसे कहाहै । कि, शत्रुपक्षमें अठारह तीर्थ अपने पक्षमें पन्द्रह होते हैं । तीन २ गुप्त चरोंसे जानने चाहिये । उनके ज्ञानसे अपना पराया पक्ष वशमें होता है । नारदने युधिष्ठिरसे कहा है-

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दशपंच च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ६७ ॥

तीन २ गूढ दूतोंसे शत्रुपक्षमें अठारह और अपने पक्षमें पन्द्रह तीर्थ जानना ॥ ६७ ॥

तीर्थशब्देन अयुक्तकर्माभिधीयते तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति तत्स्वामिनोऽभिघाताय भवति । प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति । तद्यथा—मन्त्री पुरोहितः सेनापतिर्युवराजो दौवारिकोऽन्तर्वासिकः प्रशासकः समाहर्तृसन्निधातृप्रदेष्टृज्ञापकाः साधनाध्यक्षो गजाध्यक्षः कोशाध्यक्षो दुर्गपालकरपालसीमापालप्रोत्कटभृत्याः एषां भेदेन द्राक् रिपुः साध्यते स्वपक्षे च देवी जननी कंचुकी मालिकः शय्यापालकः स्पर्शाध्यक्षः सांवत्सरिको भिषग्जलवाहकः ताम्बूलवाहकः आचार्योऽङ्गरक्षकः स्थानचिन्तकः छत्रधरो विलासिनी एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः । तथा च—

तीर्थशब्दसे शत्रुके जय करनेका उपायरूप कर्म जानना । सो यदि वह कर्म उनका कुत्सितहो तो स्वामीके नाशके निमित्त होताहै । प्रधान हो तो उसकी वृद्धिके निमित्त होता है । सो जैसे मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, अन्त पुरचारी, शासनकर्ता, करसंग्रहकर्ता, सदा निकटवर्ती, प्रदेष्टा (प्रदर्शक), ज्ञापक (संवादलेजानेवाला), साधनाध्यक्ष (सेनापति), गजाध्यक्ष, खजानची, दुर्गरक्षक, कररक्षक, सीमापालक, प्रबल कर्मचारी इनके भेदसे शीघ्रही शत्रु वशीभूत होजाताहै। और अपने पक्षमें रानी, माता, कंचुकी, अन्त.पुरचारी वृद्ध, (विप्रगुणोंसे युक्त), मालाकार, सेजकी रक्षाकरनेवाला, स्पर्शाध्यक्ष (सुगंधि लगानेवाला), ज्योतिषी, वैद्य, पनिहारा, ताम्बूलदाता, गुरु, शरीररक्षक, स्थानके सद् असद्का ज्ञाता, छत्रधारण करनेवाला, वेश्या इनके वैरविरोधसे निजपक्षका घात होताहै । तथाच—

वैद्यसांवत्सरिकाचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः ।
यथाहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु ॥ ६८ ॥

वैद्य, ज्योतिषी, गुरु, अपने पक्षके अधिकारी चर, आहितुण्डिकासे उन्मत्त विपवैद्य गूढचारी शत्रुका सब भेद जानतेहैं ॥ ६८ ॥

तथाच—

तैसेही—

कृत्याकृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तःप्रणिधयः पदम् ।
विदांकुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ ६९ ॥"

कार्यके जाननेवाले गूढचर उक्त मंत्रादि अठारह स्थानोंमें अन्तर पदकरके महान् शत्रुरूपी जलके तलको जाने ॥ ६९ ॥"

एवं मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्य अत्रान्तरे मेघवर्ण आह,–"तात! अथ किं निमित्तमेवंविधं प्राणान्तिकं सदैव वायसोलूकानां वैरम् ?"। स आह,–"वत्स! कदाचित् हंसशुकबककोकिलचातकोलूकमयूरकपोतपारावतविष्किरप्रभृतयः सर्वेऽपि पक्षिणः समेत्य सोद्वेगं मन्त्रयितुमारब्धाः। "अहो ! अस्माकं तावद्वैनतेयो राजा–स च वासुदेवभक्तः न कामपि चिन्तामस्माकं करोति। तत् किं तेन वृथा स्वामिना यो लुब्धकपाशैः नित्यं निबध्यमानानां न रक्षां विधत्ते। उक्तञ्च–

इसप्रकार मंत्रिके वाक्यको सुनकर इसी समय मेघवर्ण बोला,–"तात! किस निमित्त इसप्रकार प्राणहारी सदाका वायस उलूकोंका वैरहै ?" वह बोला,–"वत्स! एक समय हंस, तोते, बगले, कोकिल, चातक, उल्लू, मयूर, कपोत, पारावत, विष्किर (चिड़िया), आदि सब पक्षी मिलकर उद्वेग सहित सम्मति करने लगे "अहो! हमारे गरुड़ राजाहैं, वह वासुदेवके भक्तहैं हमारी कुछभी चिन्ता नहीं करतेहै, सो उस वृथा स्वामीसे क्याहै जो लुब्धकोंके जालसे नित्य बंधेहुए हमारी रक्षा नहीं करते। कहाहै–

यो न रक्षति वित्रस्तान्पीड्यमानान्परैः सदा ।
जन्तून्पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥ ७० ॥

जो शत्रुसे पीडित हुए भृत्योंकी रक्षा नहीं करताहै तथा भयभीत जनोंकी जो रक्षा नहीं करता इसमें सन्देह नहीं वह राजा कालरूपहै ॥ ७० ॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजाः ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ ७१ ॥

जो राजा भलीप्रकार शिक्षाकरनेवाला न हो तो प्रजा बिना मल्लाहके सागरमें नावकी समान पीडित होतीहै ॥ ७१ ॥

षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥ ७२॥
अरक्षितारं राजानं भार्य्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥ ७३॥

पुरुष सागरमें टूटी हुई नावकी समान इन छःको त्यागदे प्रकृष्ट वाक्यसे रहित आचार्य, अध्ययनसे रहित ऋत्विज, अरक्षिता राजा, अप्रिय वचन बोलनेवाली भार्या, ग्रामलुब्ध गोपाल और वनकी इच्छा करनेवाले नापित ये अवश्य त्याज्य हैं॥ ७२॥ ७३॥

तत् सञ्चिन्त्य अन्यः कश्चित् राजा विहङ्गमानां क्रियताम्'' इति। अथ तैः भद्राकारमुलूकमवलोक्य सर्वैरभिहितम्। "यत् एष उलूको राजा अस्माकं भविष्यति तदानीयन्तां नृपाभिषेकसम्बन्धिनः सम्भाराः'' इति। अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽष्टोत्तरशतमूलिकासंघाते, प्रदत्ते सिंहासने, वर्त्तिते सप्तद्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे धरित्रीमण्डले, प्रसारिते व्याघ्रचर्मणि, आपूरितेषु हेमकुम्भेषु दीपेषु वाद्येषु च सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु बन्दिमुख्येषु, वेदोच्चारणपरेषु समुदितमुखेषु ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतीजने, आनीतायामग्रमहिष्यां कृकालिकायामुलूकोऽभिषेकार्थं यावत् सिंहासने उपविशति तावत् कुतोऽपि वायसः समायातः। सोऽचिन्तयत, "अहो! किमेष सकलपक्षिसमागमो महोत्सवश्च"। अथ ते पक्षिणः तं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः–"पक्षिणां मध्ये वायसः चतुरः श्रूयते। उक्तञ्च–

सो विचारकर और कोई विहगमोका राजा करो"। तब उन सबने शोभन अगवाले उलूकको देखकर कहा–"कि यह उलूक हमारा राजा होगा, सो राज्याभिषेक सम्बन्धी सामग्री लाओ"। तब अनेक तीर्थोंके जल लानेपर और १०८ एकसौ आठ औषधियोंके प्राप्त होनेपर, दिये सिंहासनमें वर्तनेमें, सात द्वीप समुद्र पर्वतके विचित्र धरणीमण्डलमें व्याघ्रचर्मके फैलानेमें, भरे सुवर्ण कुम्भोंके धरे जाने तथा दीपक बलने और बाजोंके बजनेमें, तथा दर्पण आदि

मंगल वस्तुओंके सजनेमें, वंदी मुख्य जनोंके पढने, वेदोच्चारणमें तत्पर उदित मुख ब्राह्मणोंके होनेमें, स्त्रीजनोंके गीत गानेमें, प्रधान पटरानी कृकालिकाके लानेमें, उलूक अभिषेकके निमित्त जबतक सिंहासनपर बैठताहै, तबतक कहींसे एक वायस आगया वह विचारनेलगा। "अहो! क्या यह सम्पूर्ण पक्षियोंके समागमका महोत्सवहै" । तब यह पक्षी उसे देखकर परस्पर कहनेलगे-"पक्षियोंके मध्यमे वायस चतुर सुना जाताहै । कहाहै-

नराणां नापितो धूर्त्तः पक्षिणां चैव वायसः ।
दंष्ट्रिणाञ्च शृगालस्तु श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥ ७४ ॥

नरोंमे नाई, पक्षियोंमे वायस, डाढवालोंमें शृगाल, तपस्वियोंमें श्वेतभिक्षु धूर्तहै ॥ ७४ ॥

तदस्यापि वचनं ग्राह्यम् । उक्तञ्च-

सो इसका वचनभी ग्रहणकरना चाहिये । कहाहै-

बहुधा बहुभिः सार्द्धं चिन्तिताः सुनिरूपिताः ।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ७५ ॥"

अनेक प्रकार बहुतोंके साथ विचारकर निरूपण की तथा विद्वानोंसे विचारी हुई नीति किसी प्रकारसेभी विकारको प्राप्त नहीं होती ॥ ७५ ॥"

अथ वायसः समेत्य तानाह,-"अहो! किं महाजनसमागमोऽयं परममहोत्सवश्च" । ते प्रोचुः-"भो! नास्ति कश्चिद्विहङ्गानां राजा । तदस्य उलूकस्य विहङ्गराज्याभिषेको निरूपितास्तिष्ठति समस्तपक्षिभिः । तत् त्वमपि स्वमतं देहि, प्रस्तावे समागतोऽसि" । अथ असौ काको विहस्य आह-"अहो! न युक्तमेतत् यन्मयूरहंसकोकिलचक्रवाकशुकुकारण्डवहारीतसारसादिषु पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्य अस्य करालवक्त्रस्य अभिषेकः क्रियते । तन्न-एतत मम मतम् । यतः-

तब काक मिलकर उनसे बोला-"अहो! यह क्या महाजनोंका समागम परम महोत्सवहै?" । वे बोले-"भो! कोई पक्षियोंका राजा नहीं है । सो इस उलूकको विहंगमोंके राज्यमें अभिषेक निरूपण किया है समस्त पक्षियोंसे

(सत्कृत) स्थित है । सो तूभी अपना मतदे । कारण कि, प्रसगके प्रारभमें आयाहै" । तब यह काक हँसकर बोला-"अहो ! यह तो बात ठीक नहीं जो मोर, हस, कोकिला, चक्रवाक, शुक, कारण्डव, हरियल, सारस आदि प्रधान पक्षियोंकी विद्यमानतामे दिनमें अन्धे इस भयकर मुखको अभिषेक करतेहो । सो मेरी इसमें सम्मति नहीं ।

वक्रनासं सुजिह्माक्षं क्रूरमप्रियदर्शनम् ।
अक्रुद्धस्येदृशं वक्त्रं भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम् ॥ ७६ ॥

कुटिल नासिका, क्रूरनेत्र, स्वभावसे कुटिल, अप्रियदर्शन, विना क्रोध किये भी इसका मुख ऐसाहै, क्रोध करेगा तो कैसा होगा ॥ ७६ ॥

तथाच-
तैसेही-

स्वभावरौद्रमत्युग्रं क्रूरमप्रियवादिनम् ।
उलूकं नृपतिं कृत्वा का नः सिद्धिर्भविष्यति ॥ ७७ ॥

स्वभावसे रौद्र, अतिउग्र, क्रूर, अप्रियवादी उलूकको राजा करके हमारी क्या सिद्धि होगी ? ॥ ७७ ॥

अपरं वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्धः क्रियते राजा, तत् यद्यपि गुणवान् भवति तथापि एकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूपः प्रशस्यते ।

और फिर स्वामी गरुडके स्थित होनेमे क्यों यह दिनका अधा राजा किया जाता है, यदि गुणवान्भी हो तथापि एक स्वामीके स्थित होनेमें दूसरा राजा नहीं श्लाघनीय होसकता-

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः ।
युगान्त इव भास्वन्तो बहवोऽत्र विपत्तये ॥ ७८ ॥

तेजस्वी राजा एकही पृथ्वीके हितकरनेमें नियुक्त होताहै बहुतोंके परस्पर द्वेषसे प्रजाका उच्छेद होताहै ॥ ७८ ॥

तत् तस्य नाम्नापि यूयं परेषामगम्या भविष्यथ । उक्तञ्च-
सो तुम उनके नामसे शत्रुओंको दुर्धर्ष होरहे हो । कहा है-

गुरूणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे ।
दुष्टानां पुरतः क्षेमं तत्क्षणादेव जायते ॥ ७९ ॥

स्वामी सम्बन्धी बडे पुरुषोंका नाममात्र ग्रहण करनेमेंभी दुष्टोंके आगे उसी समय क्षेम होजातीहै ॥ ७९ ॥

तथाच-

तैसेही-

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा ।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ ८० ॥"

तथा बडे पुरुषोंके व्याजसे बडी सिद्धि होतीहै चन्द्रमाके नामसे खरगोश प्रसन्न (सुखी) रहते हैं ॥ ८० ॥"

ते ऊचुः-"कथमेतत् ?" स आह-

वे बोले-"यह कैसी कथाहै ?" वह बोला-

कथा १.

कस्मिंश्चित् वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिपः प्रतिवसति स्म । तत्र कदाचित् महती अनावृष्टिः सञ्जाता प्रभूतवर्षाणि यावत् । तया तडागह्रदपल्वलसरांसि शोषमुपगतानि । अथ तैः समस्तगजैः स गजराजः प्रोक्तः-"देव ! पिपासाकुला गजकलभा मृतप्राया अपरे मृताश्च । तत् अन्विष्यतां कश्चित् जलाशयो यत्र जलपानेन स्वस्थतां व्रजन्ति" । ततश्चिरं ध्यात्वा तेन अभिहितम्-"अस्ति महान् ह्रदो विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगङ्गाजलेन सदैव पूर्णः । तत् तत्र गम्यताम्" इति । तथानुष्ठिते पञ्चरात्रमुपसर्पद्भिः समासादितः तैः स ह्रदः । तत्र स्वेच्छया जलमवगाह्य अस्तमनवेलायां निष्क्रान्तास्तस्य च ह्रदस्य समन्तात् शशकबिला असंख्याः सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति । तेऽपि समस्तैरपि तैर्गजैरितस्ततो भ्रमद्भिः परिभग्नाः। बहवः शशका भग्नपादशिरोग्रीवा विहिताः केचिन्मृताः केचिज्जीवशेषा जाताः । अथ गते तस्मिन् गजयूथे शशकाः सोद्वेगा गजपादक्षुण्णसमावासाः केचिद्भग्नपादा अन्ये जर्जरितकले-

वरा रुधिराप्लुता अन्ये हतशिशवो बाष्पपिहितलोचनाः समेत्य मिथो मन्त्रं चक्रुः। "अहो! विनष्टा वयम्, नित्यमेव एतद्गजयूथमागमिष्यति यतो नान्यत्र जलमस्ति। तत सर्वेषां नाशो भविष्यति। उक्तञ्च-

किसी एक वनमें चतुर्दन्त नामक महागज यूथाधिपति रहताथा। वहा कभी बडी अनावृष्टि कितने वर्षोंतक रही। उससे तडाग, ह्रद छोटे सरोवर सूखगये। तब उन सम्पूर्ण हाथियोंने उस गजराजसे कहा—"देव! प्याससे व्याकुल हाथियोंके बचे मृतवत् हो गये हैं और कुछ मरगये हैं। सो कोई जलाशय खाजा जहा जल पानकर स्वस्थताको प्राप्त हो जाय। तब चिरकालतक ध्यानकर उसने कहा—"है एक महान् ह्रद एकान्त स्थानमें स्थलके मध्यदेशमें पातालगगाके जलसे सदा पूर्ण रहताहै सो वहा चलो" ऐसा करने पर पाच रातमें उस सरोवरमे प्राप्तहुए। वहा स्वेच्छासे जलमें अवगाहन कर सन्ध्यासमय उसमेंसे निकले। उस ह्रदके चारो ओर शशकोके असख्य बिल कोमल भूमिमें स्थितहैं। वे सपूर्ण इधर उधर घूमते हुए भग्न होगये बहुतसे खरगोश भग्नपाद शिर गर्दनवाले होगये कोई मरगये कोई जीवनशेषवाले होगये। तब उस गजयूथके जानेमें खरगोश उद्वेगयुक्त हाथीके पैरोसे दलित सश्रयवाले कोई भग्नचरण कोई जर्जरित शरीरवाले रुधिरसे व्याप्त कोई बालकोके मरनेसे नेत्रोंमे आसूभरे मिलकर परस्पर सम्मति करने लगे। "अहो! हम नष्ट हुए जो नित्यही यह गजसमूह यहा आवेगा क्योंकि और जगह जल नहींहै। कहाहै—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः॥ ८१॥

हाथी स्पर्श करते ही मारता है, सर्प सूघतेही मारता है, हँसतेही राजा मारता है मान करतेही दुर्जन मारता है॥ ८१॥

तच्चिन्त्यतां कश्चिदुपायः," तत्रैकः प्रोवाच—"गम्यतां देशत्यागेन, किमन्यत्, उक्तञ्च मनुना व्यासेन च—

सो कोई उपाय विचारो" उसमेसे एक बोला,—"देशत्याग कर चले जाओ और क्या है। मनु और व्यासने कहा है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८२ ॥

कुलके वास्ते एकको त्यागन करे, ग्रामके वास्ते कुलको त्यागदे देशके वास्ते ग्रामको त्यागदे अपने निमित्त पृथ्वीको त्यागदे ॥ ८२ ॥

क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ ८३ ॥

कल्याणवाली, शस्य देनेवाली, नित्य पशुकी वृद्धि करनेवाली भी भूमिको राजा विना विचारे अपने निमित्त त्यागदे ॥ ८३ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ८४ ॥

आपत्तिके निमित्त धनकी रक्षा करै, धनोंसेभी स्त्रीकी रक्षा करै, अपनी आत्माको सदा स्त्री और धनसे रक्षाकरै ॥ ॥ ८४ ॥"

ततश्च अन्ये प्रोचुः-"भोः ! पितृपैतामहं स्थानं न शक्यते सहसा त्यक्तुम् । तत क्रियतां तेषां कृते काचित् विभीषिका यत् कथमपि दैवात् न समायान्ति । उक्तञ्च-

तब और बोले-" भो ! पितृ पितामहका स्थान एक साथ त्यागन नहीं हो सक्ता है सो उनके निमित्त कोई भय देना चाहिये जो किसी प्रकार भाग्यसे न आवे । कहा है-

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा ।
विषं भवतु मा वास्तु फणाटोपो भयङ्करः ॥ ८५ ॥"

निर्वीर्य सर्पकोभी बडा फग करना चाहिये विष हो या नहो फणाटोप भयंकर है ॥ ८५ ॥"

अथ अन्ये प्रोचुः-"यदि एवं ततः तेषां महद्भिर्भीषिकास्थानमस्ति येन न आगमिष्यन्ति । सा च चतुरदूतायत्ता विभीषिका । यतो विजयदत्तो नाम राजा अस्मत्स्वामी शशकः चन्द्रमण्डले निवसति तत् प्रेष्यतां कश्चित् मिथ्यादूतो यूथाधिपसकाशं यत् "चन्द्रस्त्वामत्र ह्रदे आगच्छतं निषेधयति यतोऽस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ताद्वसति" एवमभि-

हिते श्रद्धेयवचनात् कदाचिन्निवर्तते "। अथ अन्ये प्रोचुः–
" यदि एवं तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशकः। स च वचनरचनाचतुरो दूतकर्मज्ञः। स तत्र प्रेष्यताम् इति। उक्तञ्च–

तब और बोला–" जो ऐसा है तो उनको महा विभीषिकका स्थान है जिससे वह न आवेंगे वह भय चतुर दूतक आधीन है जो कि, विजयदत्त नामक राजा हमारा स्वामी खरगोश चन्द्रमण्डलमें निवास करता है। सो भेजो कोई मिथ्या-दूत यूथपतिके पास कि, " चन्द्रमा तुमको इस ह्रदमें आनेका निषेध करता है, जिस कारण कि, हमारे आश्रित इसके चारों ओर निवास करते हैं"। ऐसा कहनेपर श्रद्धावाले वचनसे कदाचित् निवृत्त हो जाय"। और बोले–" जो ऐसा है तो यहा लम्बकर्ण नामवाला खरगोश रहता है, वह वचनरचनामें चतुर दूतके कर्मका जाननेवाला है, इसीको वहा भेजो। कहा है–

साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥ ८६ ॥

सुन्दर, अवयवसम्पन्न, लोभरहित वाक्पटु नाना शास्त्रमें चतुर पराये चित्तकी बात जाननेवाला दूत राजाओंको करना चाहिये ॥ ८६ ॥

अन्यच्च–

औरभी–

यो मूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत्।
मिथ्यावादं विशेषेण तस्य कार्यं न सिद्ध्यति ॥ ८७ ॥

जो मूर्ख लुब्ध मिथ्यावादी दूतको करता है उसका कार्य सिद्ध नहीं होता ॥ ८७ ॥

तदन्विष्यतां यदि अस्माद्व्यसनादात्मनां सुनिर्मुक्तिः"। अथ अन्ये प्रोचुः,–" अहो! युक्तमेतत्। न अन्यः कश्चिदुपायोऽस्माकं जीवितस्य, तथा एव क्रियताम्"। अथ लम्बकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो गतश्च। तथानुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गमासाद्य अगम्यं स्थलमारुह्य तं गजमुवाच–
"भो भो दुष्ट गज! किमेवं लीलया निःशङ्कतया अत्र चन्द्रह्रदे आगच्छसि। तन्न आगन्तव्यं निवर्त्यताम्" इति। तदाकर्ण्य विस्मितमना गज आह–" भोः! कस्त्वम्!" स आह–

अहं लम्बकर्णो नाम शशकः चन्द्रमण्डले वसामि । साम्प्रतं भगवता चन्द्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूतो जानाति एव भवान्, यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः दूतमुखाः हि राजानः सर्व एव, उक्तञ्च–

सो इस दुखःसे अपना छुटकारा विचारा जावै" । तब और बोले,–"अहो ! यह तो सत्य है और कोई हमारे जीनेका उपाय नहीं है सो यही करो" । तब लम्बकर्ण हस्तियूथपतिके निकट जानेमें नियुक्त कियागया और गयाभी । तैसा करनेपर लम्बकर्णभी हाथीके मार्गको प्राप्त होकर दुर्गम स्थानमें चढकर उस हाथीसे बोला–"रे दुष्टगज ! क्यों इस प्रकार लीलासे निश्शंक हो इस चन्द्रह्रदमें आता है सो अब मतआना लौटजा" यह सुन विस्मित मन हो हाथी बोला–"भो ! तू कौन है ?" वह बोला,–"मैं लम्बकर्ण नाम खरगोश चन्द्रमण्डलमें रहताहूं । इस समय भगवान् चन्द्रमाने तुम्हारे पास दूत बनाकर भेजा है सो तुम जानते हो । यथार्थवादी दूतका दोष नहीं होता है । सब राजा दूतमुखवाले होते हैं । कहा है–

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि ।
परुषाण्यपि जल्पन्तो वध्या दूता न भूभुजा ॥ ८८ ॥"

शस्त्रके उठानेपर, बन्धुवर्गके वध होनेपर, कठोर वाक्य कहते हुएभी दूतोंको राजा न मारे ॥ ८८ ॥"

तत् श्रुत्वा स आह–"भोः शशक ! तत्कथय भगवतश्चन्द्रमसः सन्देशं, येन सत्वरं क्रियते"। स आह–"भवता अतीतदिवसे यूथेन सह आगच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः। तत् किं न वेत्ति भवान्, यत् मम परिग्रहोऽयम् ? तद्यदि जीवितेन ते प्रयोजनं तदा केनापि प्रयोजनेन अत्र ह्रदे न आगन्तव्यमिति सन्देशः"। गज आह–"अथ क्व वर्त्तते भगवान् स्वामी चन्द्रः" । स आह "अत्र ह्रदे साम्प्रतं शशकानां भवद्यूथमथितानां हतशेषाणां समाश्वासनाय समायातः तिष्ठति । अहं पुनः तत्सान्तिकं प्रेषितः" । गज आह–"यदि एवं तद्दर्शय मे तं स्वामिनं येन प्रणम्य अन्यत्र गच्छामि"

शशक आह,-"भो ! आगच्छ मया सह एकाकी येन दर्शयामि" । तथानुष्ठिते शशको निशासमये तं गजं ह्रदतीरे नीत्वा जलमध्ये स्थितं चन्द्रबिम्बमदर्शयत् । आह च,-भो ! एष नः स्वामी जलमध्ये समाधिस्थः तिष्ठति तत् निभृतं प्रणम्य सत्वरं व्रजेति, नोचेत् समाधिभङ्गाद्भूयोऽपि प्रभूतं कोपं करिष्यति" । अथ गजोऽपि त्रस्तमनाः तं प्रणम्य पुनरनागमनाय प्रस्थितः । शशकाश्च तद्दिनात् आरभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म । अतोऽहं ब्रवीमि-

यह सुनकर वह बोला,-"भो शशक ! सो भगवान् चन्द्रमाका सदेशा कहो जिससे शीघ्र किया जाय" । वह बोला,-"आपने कल दिन यूथके सहित आकर बहुतसे खरगोश मार दिये, सो आप क्या नहीं जानते कि, यह मेरा परिग्रह है? । सो यदि जीवनसे तुम्हारा प्रयोजन है तो फिर इस ह्रदमें न आना यही सन्देशा है" । हाथी बोला,-"अब स्वामी चन्द्रमा कहा है"। वह बोला,-"इसी ह्रदमें इस समय तुम्हारे यूथसे मर्दित हुए खरगोशोंके जो मरनेसे शेष रहे हैं उनको समझानेको यहा आये स्थित हैं। और मुझे तुम्हारे निकट भेजा है"।गज बोला;-"जो ऐसाहै तो मुझे उन स्वामीको दिखाओ जिससे प्रणाम करके मैं अन्यत्र जाऊं"। खरगोश बोला-"भो ! मेरे साथ इकले आइये जिससे मैं दिखाऊं" तैसा करनेपर खरगोश रात्रिके समय उस यूथपतिकू ह्रदके निकट लेजाकर जलमें चन्द्रबिम्बको दिखाता हुआ । और बोलाभी-"भो ! यह हमारा स्वामी जलके मध्य समाधिमें स्थित है सो एकान्तमें प्रणाम कर शीघ्र जाओ । नहीं तो समाधिके भगसे फिर बडा क्रोध करेगा" । तब हाथी व्याकुल मनसे उसे प्रणाम कर चला गया । खरगोश उस दिनसे लेकर परिवारसहित सुखसे अपने स्थानोंमें रहने लगे, इससे मैं कहता हू कि-

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा ।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ ८९ ॥

बडोंके नामसे बडी सिद्धि होती है, देखो चन्द्रमाके नामसे खरगोश सुखसे रहने लगे ॥ ८९ ॥

अपिच-
औरभी-

अकृतज्ञं कापुरुषं व्यसनिनमलसं तथा सदा क्षुद्रम् ।
पृष्ठप्रलपनशीलं स्वामित्वे नाभियोजयेज्जातु ॥ ९० ॥

क्षुद्र आलसी कायर व्यसनी अकृतज्ञ (उपकारका न माननेवाला) पीछे निन्दाका करनेवाला हो ऐसे पुरुषको स्वामी न करे (जिसको जीनेकी इच्छा है) ॥ ९० ॥

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ ९१ ॥"

न्यायकी खोजकरनेवाले शश कपिञ्जल नामक दोनों पाक्षि क्षुद्र अर्थपतिको प्राप्त होकर दोनोही मरगये ॥ ९१ ॥"

ते प्रोचुः,-"कथमेतत् ?" स आह-
वे बोले,-"यह कैसी कथा है ?" वायस बोला-

कथा २.

कस्मिंश्चिद्वृक्षे पुरा अहं अवसम् । तत्र अधस्तात् कोटरे कपिञ्जलो नाम चटकः प्रतिवसति स्म । अथ सदैव अस्तमनवेलायामागतयोः द्वयोः अनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षिपुराणचरितकीर्त्तनेन च पर्य्यटनदृष्टानेककौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो व्रजति । अथ कदाचित् कपिञ्जलः प्राणयात्रार्थमन्यैः चटकैः सह अन्यं पक्वशालिप्रायं देशं गतः । ततो यावत् निशासमयेऽपि न आयातः तावदहं सोद्वेगमनाः तद्वियोगदुःखितः चिन्तितवान् । "अहो ! किमद्य कपिञ्जलो न आयातः । किं केनापि पाशेन बद्धः । उताहो स्वित् केनापि व्यापादितः । सर्वथा यदि कुशलो भवति तन्मां विना न तिष्ठति" । एवं मे चिन्तयतो बहूनि अहानि व्यतिक्रान्तानि । ततश्च तत्र कोटरे कदाचित् शीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलायामागत्य प्रविष्टः। मया अपि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारितः । अथ

अन्यस्मिन्नहनि कपिञ्जलः शालिभक्षणादतीव पीवरतनुः स्वमाश्रयं स्मृत्वा भूयोऽपि तत्रैव समायातः । अथवा साधु इदमुच्यते-

प्रथम किसी वृक्षके नीचे मैं रहता था। उसके नीचेकी खखोडलमे कपिंजल नाम चटक रहता था । सदाही सूर्यके अस्तसमय आये हुए हम दोनोकी अनेक सुभाषित गोष्ठीमें देवर्षि ब्रह्मर्षि राजर्षियोंके पुराण चरित कीर्तनसे तथा पर्य्यटनके समय देखे हुए अनेक कौतूहलके कथनसे परम सुख अनुभव करते समय बीतता । तब एक समय कपिजल प्राणयात्राके निमित्त दूसरे पक्षियो (चटक) के साथ और पके हुए धान्यके देशमे गया । सो जबतक यह रात्रि समयमे भी नहीं आया, तबतक मैं उद्विग्नमनसे उसके वियोगसे दुःखी हुआ विचारने-लगा। "अहो ! आज कपिंजल क्यों नआया, क्या कहीं पाशसे बन्ध गया, या कहीं किसीने मारडाला ? सर्वथा यदि कुशल होती तो मेरे विना न रहता" । इसप्रकार मेरे विचार करने पर बहुत दिन बीतगये । तब उसकी खखोडलमे कदाचित् शीघ्रगनामक खरगोश सन्ध्यासमय आकर प्रविष्ट हुआ । मैनेभी कपिंजलसे निराश होनेके कारण निवारण न किया तब और दिन कपिञ्जल शालिभक्षणसे अतिपुष्टशरीर होकर अपने आश्रयको यादकर फिरभी वहां आया. अथवा यह अच्छा कहाहै-

न तादृग्जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।
दारिद्र्येऽपि हि यादृक् स्यात्स्वदेशे स्वपुरे गृहे ॥ ९२ ॥"

शरीरधारियोंको ऐसा सुख स्वर्गमे भी नहीं है जैसे दरिद्री अपने पुर देश घरमें सुखी होताहै ॥ ९२ ॥"

अथ असौ कोटरान्तर्गतं शशकं दृष्ट्वा साक्षेपमाह-"भोः शशक ! न त्वया सुन्दरं कृतं यत् मम आवसथस्थाने प्रविष्टोऽसि, तत् शीघ्रं निष्क्रम्यताम्" । शशक आह,-"न तव इदं गृहं किन्तु मम एव । तत् किं मिथ्या परुषाणि जल्पसि। उक्तञ्च-

तब यह कोटरके अन्तर्गत शशकको देख आक्षेपपूर्वक बोला,-"भो शशक ! तुमने अच्छा नहीं किया, जो मेरे रहनेके स्थानमें तुम प्रविष्ट हुए । सो शीघ्र

निकल जाओ" शशक बोला,-"यह तेरा नहीं किन्तु मेरा घर है । सो क्यों मिथ्या कठोर वचन कहता है । कहा है-

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम् ।
उत्सर्गात्परतः स्वाम्यमपि कर्त्तुं न शक्यते ॥ ९३ ॥

बावडी कुए तडागोंको देवालय तथा वृक्षोंको छोडकर फिर इनपर कोई अपना प्रभुत्व नहीं कर सक्ता ॥ ९३ ॥

तथाच-

तैसेही-

प्रत्यक्षं यस्य यद्भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान् ।
तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्यान्न साक्षी नाक्षराणि वा ॥ ९४ ॥

दश वर्षतक जिसने प्रत्यक्ष क्षेत्रादिका भोग किया है उसमें भोगही प्रमाण २ साक्षी और लेखकी आवश्यकता नहीं है ॥ ९४ ॥

मानुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्त्तितः ।
तिरश्चाञ्च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः ॥ ९५ ॥

मनुष्योंका यह न्याय मुनियोंने कहा है पशु और पक्षियोंकी जबतक जहां स्थिति है तबतक वह वहांका अधीश्वर है ॥ ९५ ॥

तन्मम एतद्गृहं न तव" इति । कपिञ्जल आह,-" भो ! यदि स्मृतिं प्रमाणीकरोषि तदागच्छ मया सह येन स्मृतिपाठकं पृष्ट्वा स यस्य ददाति स गृह्णातु । तथानुष्ठिते मया अपि चिन्तितम् । "किमत्र भविष्यति । मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः" । ततः कौतुकादहमपि तावनु प्रस्थितः । अत्रान्तरे तीक्ष्णदंष्ट्रो नाम अरण्यमार्जारः तयोर्विवादं श्रुत्वा मार्गासन्नं नदीतटमासाद्य कृतकुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुरर्द्धपादस्पृष्टभूमिः श्रीसूर्य्याभिमुख इमां धर्मोपदेशनामकरोत् । "अहो ! असारोऽयं संसारः क्षणभंगुराः प्राणाः । स्वप्नसदृशः प्रियसमागमः । इन्द्रजालवत् कुटुम्बपरिग्रहोऽयम् । तत् धर्मं मुक्त्वा नान्या गतिः अस्ति । उक्तञ्च-

सो यह घर मेराहै तेरा नहीं"। कपिंजल बोला-"भो! यदि स्मृति प्रमाण करता है, तो मेरे साथ आओ जो स्मृति पाठकसे पूछकर वह जिसको दे वह उससे ग्रहण करे। ऐसा अनुष्ठान करनेपर मैंने भी विचार किया "इसमें क्या होगा। मैंभी यह न्याय देखूंगा"। सो कौतुकसे मैंभी उनके पीछे चला। इसी समय तीक्ष्णदंष्ट्रावाला वनका विलाव उनका विवाद सुनकर नदीके किनारे प्राप्त होकर कुशा बिछाये आखे मीचे ऊपरको भुजा किये आधे चरणसे पृथ्वीको छूटे हुए सूर्यकी ओर मुख किये इस धर्मकी वार्ताको करताथा "अहो! यह ससार असार है। प्राण क्षणभगुर हैं। प्रियसमागम स्वप्नकी समान हैं। इन्द्र जालकी (मायावत) यह कुटुम्बका परिग्रह है। सो धर्मको छोडकर और गति नहीं है। कहा है-

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ ९६॥

शरीर अनित्य है ऐश्वर्य भी सदा नहीं रहेंगे मृत्यु सदैव निकट स्थित है इस कारण धर्मका संग्रह करना चाहिये॥ ९६॥

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥ ९७॥

धर्मके विना जिसके दिन आते जाते हैं वह लुहारकी धोंकनीकी समान श्वासलेता हुआभी नहीं जीता है॥ ९७॥

आच्छादयति कौपीनं यो दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थ पाण्डित्यं धर्मवर्जितम्॥ ९८॥

जो मनुष्य [इन्द्रिय दमन न कर केवल] दश मशक निवारणकेलिये कौपीनका आवरण करते हैं उनका कुत्तेकी पूछकी समान धर्मवर्जित पाण्डित्य वृथा है॥ ९८॥

अन्यच्च-

औरभी-

पुलका इव धान्येषु पूतिका इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम्॥ ९९॥

धान्योंमें तुच्छ धान्य जैसे पक्षियोंमें पुत्तिका (क्षुद्र) पक्षि जैसे मरण धर्मियोंमें मशक जैसे हैं इसी प्रकार जो मनुष्य धर्मका प्रमाण करके व्यवहार नहीं करते हैं वे हैं ॥ ९९ ॥

श्रेयः पुष्पं फलं वृक्षाद्दध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम् ।
श्रेयस्तैलञ्च पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु मानुषात् ॥ १०० ॥

वृक्षसे पुष्प फल श्रेष्ठ है दहीसे घृत अच्छा है तिलचूर्णसे तेल अच्छा है मनुष्यसे धर्म अच्छा है ॥ १०० ॥

सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम् ।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा ॥ १०१ ॥

जिस प्रकार केवल मूत्र पुरीष करने और भोजन करनेवालेपर प्रयोजनके लिये विधाताने पशु बनाये हैं इसी प्रकार धर्महीन पुरुष हैं ॥ १०१ ॥

स्थैर्य्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः ।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०२ ॥

राजनीतिके पंडित सब कार्योंमें स्थिरताकी प्रशंसा करते हैं बहुत विघ्नोंसे युक्त धर्मकी बडी शीघ्र गति है (अर्थात् धर्मका शीघ्रही अनुष्ठान करना चाहिये) ॥ १०२ ॥

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ १०३ ॥

हे मनुष्यो ! तुमसे संक्षेपमे धर्म कहते हैं विस्तारसे क्या है परोपकार पुण्य के निमित्त है । और दूसरेको पीडा देनी पापके निमित्त है ॥ १०३ ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्य्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १०४ ॥

धर्मका सर्वस्व सुनकर मनमें उसको धारण करो अपने और दूसरोंके क्लेश कर काम नकरे ॥ १०४ ॥

अथ तस्य तां धर्मोपदेशनां श्रुत्वा शशक आह,–"भो भो कपिञ्जल ! एष नदीतीरे तपस्वी धर्मवादी तिष्ठति । तदेनं पृच्छावः" । कपिञ्जल आह,–"ननु स्वभावतोऽस्माकं शत्रुभूतोऽयमस्ति । तद्दूरे स्थितौ पृच्छावः । कदाचिदस्य व्रतवैकल्यं

सम्पद्यते"। ततो दूरस्थितावूचतुः-"भो भोः तपस्विन् धर्मोपदेशक ! आवयोर्विवादो वर्त्तते। तद्धर्मशास्त्रद्वारेण अस्माकं निर्णयं कुरु यो हीनवादी स ते भक्ष्य इति"। स आह,-"भद्रौ ! मा मैवं वदतम्। निवृत्तोऽहं नरकपातकमार्गादहिंसैव धर्ममार्गः। उक्तञ्च-

इस प्रकार उसके धर्मोपदेशको सुनकर खरगोश बोला,-"भो कपिजल ! यह नदीके किनारे धर्मवक्ता तपस्वी स्थित है। सो इससे पूछे"। कपिंजल बोला,-"यह तो स्वभावसे हमारा शत्रुभूत है। सो दूरसे स्थित होकर पूछे। कदाचित् इसका व्रतभग होजाय"। यह दोनों दुर स्थित होकर बोले,-"भो भो तपस्वी धर्मोपदेशक ! हम दोनोंका विवाद हो रहा है। सो धर्मशास्त्रके द्वारा हमारा निर्णय करो जो हारे वह तेरा भक्ष्य होगा"। वह बोला,-"भद्रो ! ऐसा मत कहो। अब मै नरकपातके मार्गसे निवृत्त हू अहिंसाही परम धर्म है। कहा है-

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात्सद्भिरुदाहृतः।
यूकमत्कुणदंशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत् ॥ १०५ ॥

जिस कारण कि, महात्मा पुरुषोंने अहिंसा प्रधान धर्म कहा है इस कारण जू, खटमल, डासादिकीभी रक्षा करे ॥ १०५ ॥

हिंसकान्यपि भूतानि यो हिंसति स निर्घृणः।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ॥ १०६ ॥

जो हिंसक प्राणियोंको मारता है वहभी निर्दयी है वहभी घोर नरकको जाता है और जो अच्छे (अहिंसक) जीवोंको मारता है उसकी तो क्या कहैं ॥ १०६ ॥

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किल एतदुक्तमजैर्यष्टव्यम्। अजा व्रीहयः तावत् सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषाः। उक्तञ्च-

और जो यह यज्ञ करनेवाले यज्ञमे पशुओंको मारते हैं वे मूर्ख हैं यथार्थसे

श्रुतिका अर्थ नहीं जानते । वहां तो ऐसा कहा है अजोंसे यज्ञ करना चाहिये । सो अज नाम सप्तवर्षीय व्रीहिधान्यका है नकि पशुविशेषका । कहा है–

वृक्षांश्छित्त्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येव गम्यते स्वर्गे नरकः केन गम्यते ॥ १०७ ॥

वृक्षोंका छेदन, पशुओंका मारण कर उनके रुधिरकी कीच करनेसे यदि स्वर्ग होता है तो नरक कौनसे कर्मोंसे होता है ॥ १०७ ॥

तत्र अहं भक्षयिष्यामि । परं जयपराजयनिर्णयं करिष्यामि । किन्तु अहं वृद्धो दूराद्युवयोः भाषान्तरं सम्यक् न शृणोमि । एवं ज्ञात्वा मम समीपवर्त्तिनौ भूत्वा मम अग्रे न्यायं वदतम् । येन विज्ञाय विवादपरमार्थं वचो वदतो मे परलोकबाधो न भवति । उक्तञ्च यतः–

सो मैं भक्षण नहीं करूंगा । परन्तु जय पराजयका निर्णय कर दूंगा । किन्तु मैं वृद्ध हूं दूरसे तुम दोनोके भाषणको भली प्रकार नहीं सुन सकता । ऐसा जानकर मेरे निकटवर्ती होकर मेरे आगे अपना न्याय कहो जिसको जानकर विवादका परमार्थ वचन कहते हुए मुझे परलोककी बाधा नहो । कहाहै–

मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः ॥ १०८ ॥

मान, लोभ, क्रोध या भयसे जो न्यायको अन्यथा कहताहै वह मनुष्य नरकको जाता है ॥ १०८ ॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतं कन्यानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ १०९ ॥

मनुष्यके पशु विषयक झूंठ बोलनेमें पांच पुरुषकी, गौके निमित्त दशकी, कन्याके निमित्त सौकी, पुरुष विषयक मिथ्या कहनेमें सहस्र पुरुषकी हत्या लगतीहै ॥ १०९ ॥

उपविष्टः सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वचः ।
तस्माद्दूरेण स त्याज्यो न्यायो वा कीर्त्तयेद्दृतम् ॥ ११० ॥

सभाके बीचमें स्थित होकर जो पुरुष स्पष्ट वचन नहीं बोलता है उसको वहांसे निकालदे अथवा वह सत्य कहदे ॥ ११० ॥

तस्माद्विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम्" । किं बहुना, तेन क्षुद्रेण तथा तौ तूर्णं विश्वासितौ, यथा तस्य उत्सङ्गवर्तिनौ सञ्जातौ ततश्च तेनापि समकालमेव एकः पादान्तेन आक्रान्तः, अन्यो दंष्ट्राक्रकचेन च । ततो गतप्राणौ भक्षितौ इति । अतोऽहं ब्रवीमि-

इस कारण निडर होकर मेरे कानके निकट स्फुट वचन कहो" । बहुत कहनेसे क्या उस क्षुद्रने उन दोनोंको शीघ्र इस प्रकार विश्वासमें कर लिया कि, वे उसकी गोदीमें आ बैठे । तब उसनेभी एकही समय एकको चरणमे आक्रमण किया और दूसरेको डाढरूपी कैंचीमे । इस प्रकार प्राणरहित कर दोनोंको खागया । इससे मैं कहता हू-

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ १११ ॥

क्षुद्र अर्थपतिको प्राप्त होकर न्यायकी खोजमे तत्पर शशक और कपिंजल दोनोंही क्षयको प्राप्त हुए ॥ १११ ॥

भवन्तोऽपि एनं दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य रात्र्यन्धाः सन्तः शशकपिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तद्विधेयमतःपरम्" अथ तस्य तत् वचनमाकर्ण्य "साधु अनेन अभिहितम्"। इति उक्त्वा भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे" इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथाभितं जग्मुः केवलमवशिष्टो भद्रासनोपविष्टः अभिषेकाभिमुखो दिवान्धः कृकालिकया सह आस्ते । आह च-" कः कोऽत्र भोः ! किमद्यापि न क्रियते ममाभिषेकः "? इति श्रुत्वा कृकालिकया अभिहितम्-"भद्र! तव अभिषेके कृतोऽयं विघ्नो वायसेन । गताश्च सर्वेऽपि विहगा यथेप्सितासु दिक्षु केवलमेकोऽयं वायसोऽवशिष्टः केनापि हेतुना तिष्ठति तत् त्वरितमुत्तिष्ठ येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि" । तत् श्रुत्वा सविषादमुलूको वायसमाह,-"भो भो दुष्टात्मन् ! किं मया ते अपकृतम् ?

यत् राज्याभिषेको मे विघ्नितः । तत् अद्य प्रभृति सान्वयमावयोर्वैरं सञ्जातम् । उक्तञ्च—

तुमभी इस दिनके अन्धे क्षुद्र अर्थपतिको प्राप्त हो रात्रिके अन्धे होकर शशक कापिंजलके मार्गको जाओगे । ऐसा जानकर जो उचित हो सो करो" तब उसके इस वचनको सुनकर कि "इसने अच्छा कहा" ऐसा कह "फिरभी राजाके निमित्त मिलकर सम्मति करेंगे" ऐसा कह कर सब पक्षि यथेष्ट स्थानमें गये, केवल यही भद्रासनमें बैठा अभिषकमें अभिमुख कृकालिकाके साथ रहगया । बोलाभी—"भो ! कोई यहां है ? क्यों अबतक मेरा अभिषेक नहीं करते ?" यह सुनकर कृकलाने कहा—"भद्र ! तुम्हारे अभिषेकमें काकने विघ्न किया है । गये सब पक्षी येथेच्छ दिशाओंमें । केवल यह एक वायसही किसी निमित्तसे यहां स्थित है । सो जलदी उठो जिससे मैं तुम्हारे आश्रयमें तुमको प्राप्त करूं" । यह सुन विषादपूर्वक उलूक वायससे बोला—"भो ! भो ! दुष्टात्मन् ! मैंने तेरा क्या अपकार किया है ? जो मेरे राज्याभिषकमे तैने विघ्न किया सो आजसे हमारा तेरे वशके सहित वैर हुआ। कहा है—

रोहति सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना ।
वचोदुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥ ११२ ॥ "

शरसे विद्धहुए वृक्षादि फिर जमते हैं तलवारसे छिन्न हुआभी फिर उत्पन्न होताहै (अथवा इन दोनोंके घाव भर जातेहै) परन्तु वाणीके वेध अथवा घृणित वचनके वेध फिर नही भरतेहै ॥ ११२ ॥"

इति एवमभिधाय कृकालिकया सह स्वाश्रयं गतः । अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत् । "अहो ! अकारणं वैरमासादितं मया । किमिदं व्याहृतम् । उक्तञ्च—

यह कह कृकलाके साथ अपने आश्रयको गया । तब भयसे व्याकुल हो वायस विचारने लगा । "अहो मैंने अकारण वैर किया । यह क्या कहा । कहा है—

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं
यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः ।
योऽत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वचो
न तद्वचः स्याद्विषमेव तद्वचः ॥ ११३ ॥

देशकालके न जाननेवाले परिणाममें कटु जो अप्रिय अपनेको लघु करनेवाला कारण रहित वचन बोलता है वह वचन नहीं किन्तु विष है ॥ ११३ ॥

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः
परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम्।
भिषङ्ममास्तीति विचिन्त्य भक्षये-
दकारणात्को हि विचक्षणो विषम् ॥ ११४ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य बलको प्राप्त हुआभी स्वय दूसरेको अपना शत्रु न बनाले मेरा चिकित्सक है ऐसा विचार कोई अकारण विषको नहीं खाता है॥ ११४ ॥

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित्पण्डितेन वक्तव्यः।
सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ॥ ११५ ॥

सभामें पराई निन्दा पंडितको किसी प्रकार कहनी उचित नहीं है जो कहनेसे दूसरेको बूरी लगे वह सत्य हो तो भी न कहे॥ ११५ ॥

सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं
स्वयञ्च बुद्ध्या प्रविचारिताश्रयम्।
करोति कार्य्यं खलु यः स बुद्धिमान्
स एव लक्ष्म्या यशसाञ्च भाजनम् ॥ ११६ ॥ "

सुहृद् और आप्त पुरुषोंसे वारवार विचार किये हुए तथा अपनी बुद्धिसे विचार कर जो कार्य करता है वही बुद्धिमान् है वही लक्ष्मी और यशका पात्र होता है॥ ११६ ॥"

एवं विचिन्त्य काकोऽपि प्रयातः। तदा प्रभृति अस्माभिः सह कौशिकानाम् अन्वयगतं वैरमस्ति ?" मेघवर्ण आह- "तात ! एवं गते अस्माभिः किं कृत्यमस्ति"। स आह,- "वत्स ! एवं गतेऽपि षाड्गुण्यात् अपरः स्थूलोऽभिप्रायोऽस्ति तमङ्गीकृत्य स्वयमेव अहं तद्विजयाय यास्यामि रिपून् वञ्चयित्वा वधिष्यामि। उक्तञ्च यतः-

ऐसा विचार कर काकभी चलागया। उस दिनसे हमारे साथ उलूकोंका वंशक्रमागत वैर है"। मेघवर्ण बोला,-"तात ऐसा होनेमे हमको क्या कर्तव्य है"। वह बोला-"वत्स ऐसा होनेमें भी षट् सन्धि आदिके सिवाय एक महान् अन्य

कौशल है । उसको अंगीकार करके स्वयंही मै उसके विजयके निमित्त जाऊंगा और शत्रुको वञ्चित कर वध करूंगा । कहा है कि–

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्त्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ ११७ ॥"

बहुत बुद्धिसे युक्त, अच्छे विज्ञानवाले बलसे उत्कट पुरुषोंको वंचन करनेमें समर्थ होते हैं जैसे धूर्तोंने ब्राह्मणको ठग उससे बकरा हरण किया ॥ ११७ ॥"

मेघवर्ण आह,–"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

मेघवर्ण बोला,–"यह कैसी कथा है ?" वह बोला–

कथा ३.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मणः कृताग्निहोत्रपरिग्रहः प्रतिवसति स्म । कदाचित् माघमासे सौम्यानिले प्रवाति, मेघाच्छादिते गगने, मन्दं मन्दं प्रवर्षति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनाय किञ्चिद् ग्रामान्तरं गत्वा कश्चिद् यजमानो याचितः । "भो यजमान ! आगामिन्याममावस्यायामहं यक्ष्यामि यज्ञम् । तत् देहि मे पशुमेकम्" । अथ तेन तस्य शास्त्रोक्तः पीवरतनुः पशुः प्रदत्तः । सोऽपि तं समर्थमितश्चेतश्च गच्छन्तं विज्ञाय स्कन्धे कृत्वा सत्वरं स्वपुराभिमुखः प्रतस्थे । अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्त्ताः क्षुत्क्षामकण्ठाः सम्मुखा बभूवुः । तैश्च तादृशं पीवरतनुं स्कन्धे आरूढमवलोक्य मिथोऽभिहितम्,-"अहो ! अस्य पशोः भक्षणात् अद्यतनीयो हिमपातो व्यर्थतां नीयते तत् एनं वञ्चयित्वा पशुम् आदाय शीतत्राणं कुर्मः" । अथ तेषामेकतमो वेशपरिवर्तनं विधाय सम्मुखो भूत्वा अपमार्गेण तं आहिताग्निम् ऊचे–"भो ! भो ! बालाग्निहोत्रिन् ! किमेवं जनविरुद्धं हास्यकार्य्यमनुष्ठीयते । यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धाधिरूढो नीयते । उक्तञ्च यतः–

किसी स्थानमें मित्रशर्मा ब्राह्मण अग्निहोत्री रहताथा । वह एकवार माघके महीनेमें मन्द पवनके बहन करते मेघाच्छादित आकाशसे मन्द मन्द वर्षाके

होनेमें पशु लेनेके लिये किसी ग्रामान्तरमें जाकर किसी यजमानसे याचना की "भो यजमान ! आनेवाली अमावास्याको मैं यज्ञ करूंगा सो मुझे एक पशु दो"। तब उसने उसको शास्त्रोक्त पुष्ट शरीर एक पशु दिया। वह भी उसे समर्थ इधर उधर जाता देखकर कन्धेपर रख शीघ्र अपने पुरकी ओरको चला। तब उसके मार्गमें जाते तीन धूर्त भूखसे व्याकुल सन्मुख हुए। उन्होंने इस प्रकार पुष्ट शरीर स्कन्धेपर आरूढ उसको देखकर परस्पर कहा,—"अहो ! इस पशुके भक्षणसे आजका जाडा व्यर्थ किया जाय। सो इसको वंचित कर पशुले शीतसे (अपनी) रक्षाकरें"। तब उनमेंसे एक अपना वेश बदलकर सामने उसकीओर कुमार्गसे आकर उस अग्निहोत्रीसे बोला,—"भो भो निर्बोध अग्निहोत्री ! क्यों यह सज्जनोंके विरुद्ध हास्यका कार्य करते हो जो यह अपवित्र सारमेय कन्धेपर चढाये लिये जाते हो। कहा है कि—

श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्त्तिताः।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्तान्नैव संस्पृशेत् ॥ ११८ ॥"

श्वान, कुक्कुट, चाण्डाल यह समान स्पर्शवाले हैं विशेष कर गधा और ऊटभी, इस कारण इनको स्पर्श न करे ॥ ११८ ॥"

ततश्च तेन कोपाभिभूतेन अभिहितम्,—"अहो! किमन्धो भवान्? यत् पशुं सारमेयं प्रतिपादयसि"। सोऽब्रवीत्,—"ब्रह्मन् ! कोपः त्वया न कार्यः। यथेच्छया गम्यताम्"इति। अथ यावत् किञ्चित् अध्वनोऽन्तरं गच्छति, तावत् द्वितीयो धूर्त्तः सम्मुखे समुपेत्य तमुवाच,—"भो ब्रह्मन् ! कष्टं कष्टं यद्यपि वल्लभोऽयं ते मृतवत्सः, तथापि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम्। उक्तञ्च यतः—

तब उसने क्रोध कर कहा—"अरे ! क्या तू अन्धा है ? जो पशुको कुत्ता कहता है"। वह बोला,—"ब्रह्मन् आप क्रोध न करो यथेच्छ जाइये"। जबतक वह कुछ और दूर गये तबतक दूसरा धूर्त सामनेसे आकर उससे बोला,—"भो ब्रह्मन् ! खेद है २ यद्यपि यह मरा हुआ गौका बच्चा तुम्हारा प्रियहै तो भी कन्धेप रखना अयुक्त है। कहा भी है—

तिर्य्यञ्चं मानुषं वापि यो मृतं संस्पृशेत्कुधीः ।
पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा ॥ ११९ ॥"

पशु मनुष्य आदि मृतक हुएको जो कुबुद्धि स्पर्श करता है उसकी शुद्धि पंचगव्य वा चन्द्रायणसे होतीहै ॥ ११९ ॥"

अथ असौ सकोपमिदमाह—"भोः! किमन्धो भवान्? यत् पशुं मृतवत्सं वदसि ?" । सोऽब्रवीत्—भगवन् ! मा कोपं कुरु अज्ञानात् मया अभिहितं तत् त्वमात्मरुचिं समाचर" इति। अथ यावत् स्तोकं वनान्तरं गच्छति तावत् तृतीयोऽन्यवेशधारी धूर्त्तः सम्मुखः समुपेत्य तमुवाच—"भो ! अयुक्तमेतत् । यत् त्वं रासभं स्कन्धाधिरूढं नयसि तत् त्यज्यताम् एषः। उक्तञ्च—

तब यह क्रोध करके बोला—"भो ! क्या तुम अन्धे हो ! जो पशुको मृतवत्स कहते हो !" वह बोला—"भगवन् ! क्रोध मत करो। अज्ञानसे मैंने कहाथा सो जो तुम्हारी इच्छाहो सो करो" । सो जबतक कुछ और दूर वनमें जाताहै तबतक और तीसरा धूर्त सामनेसे आकर बोला,—"भो ! यह अयुक्त है । जो तू गधेको कंधेपर रखकर लिये जाता है । कहाहै—

यः स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा ।
सचैलं स्नानमुद्दिष्टं तस्य पापप्रशान्तये ॥ १२० ॥

जो गधेको ज्ञानसे वा अज्ञानसे स्पर्श करता है उस पापकी शान्तिके लिये वस्त्रोंके सहित स्नान करना उचित है ॥ १२० ॥

तत् त्यज एनं यावदन्यः कश्चित् न पश्यति" । अथ असौ तं पशुं रासभं मन्यमानो भयात् भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुद्दिश्य प्रपलायितः। ततः ते त्रयो मिलित्वा तं पशुमादाय यथेच्छया भक्षितुमारब्धाः । अतोऽहं ब्रवीमि—

सो इसे त्याग जबतक कोई दूसरा इसे न देखे" तब यह उस पशुको गधा मानकर भयसे पृथ्वीमे डालकर अपने घरकी ओरको चला । तब यह तीनो मिलकर उस पशुको लेकर यथेच्छ खाने लगे। इससे मैं कहताहूं—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्त्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ १२१ ॥"

"कि—बहुत बुद्धिसे युक्त, विज्ञानवाले, बलसे उत्कट शत्रुके वचन करनेमें समर्थ होजाते हैं जैसे ब्राह्मणसे छाग लेलिया ॥ १२१ ॥"

अथवा साधु इदमुच्यते–

अथवा यह साधु कहाहै कि–

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्त्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवञ्चितो नास्ति ॥ १२२ ॥

नये सेवकोंकी विनयसे, आगन्तुकके वचनोंसे, स्त्री जनोंके रोनेसे, धूर्त जनोंके वाक् प्रपचसे इस जगतमें कौन नहीं वंचित हुआ है ॥ १२२ ॥

किञ्च, दुर्बलैः अपि बहुभिः सह विरोधो न युक्तः। उक्तञ्च–

किंच बहुत दुर्बलोंके साथभी विरोध करना उचित नहीं है। कहाहै–

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ १२३ ॥"

कि बहुतोंके साथ विरोध नहीं करना चाहिये महाजन दुर्जय होते हैं क्यों कि चींटीं तेजस्वी सर्पकोभी भक्षण करगई ॥ १२३ ॥"

मेघवर्ण आह–"कथमेतत् ?" स्थिरजीवी कथयति–

मेघवर्ण बोला–"यह कैसे ?" स्थिरजीवी कहने लगा–

कथा ४.

अस्ति कस्मिंश्चित् वल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम। स कदाचित् बिलानुसारिमार्गमुत्सृज्य अन्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितुमारब्धः। निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वात् दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रणः समुत्पन्नः। अथ व्रणशोणितगन्धानुसारिणीभिः पिपीलिकाभिः सर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च। कति व्यापादयति कति वा ताडयति। अथ प्रभूतत्वात् विस्तारितबहुव्रणः क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्पः पञ्चत्वमुपागतः। अतोऽहं ब्रवीमि–

किसी वल्मीकमें महा कायावाला काला सांप अतिदर्प नामवाला है। वह एक समय बिलानुसारी मार्गको छोड़कर और लघुद्वारसे निकलने लगा। निकलते

हुए उसके महाकाय होनेसे दैव वशसे लघु विवर होनेसे उसके शरीरमें (छिलनेसे) व्रण होगये । तब व्रणके और शोणितकी गन्धके अनुसरण करनेवाली चींटियोंने सबओरसे व्याप्त कर उसको व्याकुल करादिया । किनको मारे किनको ताडन करे । तब उनके अधिक होनेसे व्रण बढगये सर्वाङ्गमें घाव होनेसे अतिदर्प पंचत्वको प्राप्त होगया । इससे मैं कहता हूं कि–

" बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ १२४ ॥"

"बहुतोंके साथ विरोध न करे महाजन दुर्जय होते हैं चीटियां तेजस्वी सर्पको भक्षण करगई ॥ १२४ ॥"

तत अत्रास्ति किञ्चित् मे वक्तव्यमेव । तदवधार्य्य यथोक्तमनुष्ठीयताम् "। मेघवर्ण आह–"तत् समादेशय–तवादेशो नान्यथा कर्त्तव्यः" । स्थिरजीवी प्राह–" वत्स ! समाकर्णय तर्हि सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो निरूपितः। तन्मां विपक्षभूतं कृत्वा, अतिनिष्ठुरवचनैः निर्भर्त्स्य, यथा विपक्षप्रणिधीनां प्रत्ययो भवति, तथा समाहृतरुधिरैः आलिप्य, अस्यैव न्यग्रोधस्य अधस्तात् प्रक्षिप्य मां गम्यतां पर्वतम् ऋष्यमूकं प्रति, तत्र सपरिवारास्तिष्ठ । यावदहं समस्तान् सपत्नान् सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्य अभिमुखान् कृत्वा कृतार्थो ज्ञातदुर्गमध्यः दिवसे तान् अन्धतां प्राप्तान् ज्ञात्वा व्यापादयामि, ज्ञातं मया सम्यक्, नान्यथा अस्माकं सिद्धिरिति । यतो दुर्गमेतत् अपसाररहितं केवलं वधाय भविष्यति । उक्तञ्च यतः ।

सो इस विषयमें मुझे कुछ वक्तव्य है । सो यह निश्चय करके यथोक्त अनुष्ठान करो" । मेघवर्ण बोला–"तुम्हारा आदेश अन्यथा नही होगा" स्थिरजीवी बोला–"वत्स ! सुनो जो सामादि उपायोको छोड़कर मैंने पांचवा उपाय निरूपण किया है । तू मुझे अपना शत्रुरूप कर निठुर वचनोंसे घुडक जिससे शत्रुपक्षी दूतोंके विश्वास होजाय । और कहींसे लाये हुए रुधिरसे आलिप्तकर इसी न्यग्रोधके नीचे

मुझको डालदे। और तू ऋष्यमूक पर्वतके निकट जाकर वहा परिवारके सहित स्थित हो। जबतक मै सब शत्रुओंको अपने आचरणकी विधिसे विश्वासी कर सन्मुख कर कृतार्थहो दुर्गको जानकर दिनके मध्यमें अधताको प्राप्त हुए उनको जानकर मार डालूं। जाना है मैंने भली प्रकार। हमारी सिद्धि अन्यथा न होगी। कारण कि हमारा आवास दुर्गम निकलनेके उपायसे शून्य केवल वधके लिये होगा। कारण कहा है कि–

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते।
अपसारपरित्यक्तं दुर्गं व्याजेन बन्धनम् ॥ १२५ ॥

नीति जाननेवालोंने निकलनेके उपायसे युक्त ही दुर्गकी प्रशसा की है (१) अपसारके विना दुर्ग कारावासकी समान है ॥ १२५ ॥

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्य्या। उक्तञ्च–

तुझे मेरे निमित्त कृपा करनी नहीं चाहिये। कहाहै–

अपि प्राणसमानिष्टान्पालितांल्लालितानपि।
भृत्यान्युद्धे समुत्पन्ने पश्येच्छुष्कमिवेन्धनम् ॥ १२६ ॥

प्राणोंकी समान प्यारे पालित और लालित भृत्योंको युद्धके उत्पन्न होनेमें सूखे काठको अग्निमे जैसे प्रेरण करे ॥ १२६ ॥

तथाच–

और देखो–

प्राणवद्रक्षयेद्भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत्।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसंगमः ॥ १२७ ॥

भृत्योंको प्राणकी समान रक्षा करे अपने कायाकी नाईं पुष्ट करे यह उसी एक दिनके निमित्त है जब शत्रुका सगमहो ॥ १२७ ॥

तत् त्वया अहं न अत्रविषये प्रतिषेधनीयः"। इत्युक्त्वा तेन सह शुष्ककलहं कर्तुमारब्धः। अथ अन्ये तस्य भृत्याः स्थिरजीविनमुच्छृंखलवचनैर्जल्पन्तमवलोक्य तस्य वधाय उद्यताः मेघवर्णेन अभिहिताः–"अहो! निवर्तध्वं यूयम्। अहमेव अस्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मनः स्वयं निग्रहं करिष्यामि"।

१–निकलनेका मार्ग।

इत्यभिधाय तस्योपरि समारुह्य लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्तं प्रहृत्य आहतरुधिरेण प्लावयित्वा तदुपदिष्टं ऋष्यमूकपर्वतं सपरिवारो गतः । एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषतप्रणिधिभूतया तत् सर्वं मेघवर्णस्य अमात्यस्य व्यसनमुलूकराजस्य निवेदितम् । "तत् तव अरिः सम्प्रति भीतः क्वचित् प्रचलितः सपरिवार इति" । अथ उलूकाधिपः तदाकर्ण्य अस्तमनवेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलितः प्राह च,–"त्वर्य्यताम् त्वर्य्यताम् । भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यै र्लभ्यते । उक्तञ्च–

सो तुम इस विषयमें मुझे निषेध मतकरो" । ऐसा कह उसके साथ सूखा क्लेश करना प्रारम्भ किया ? तब दूसरे उसके भृत्य स्थिरजीवीको उच्छृंखलवचनोंसे जल्पना करते देखकर उसके वधके निमित्त उद्यतहुए मेघवर्ण द्वारा कहेगये "अहो! तुम निवृत्त हो मैं इस शत्रुपक्षपाती दुरात्माका आपही निग्रह करूंगा" ऐसा कह उसके ऊपर चढ, लघुचोंचके प्रहारोंसे उसको प्रहार कर लाये हुए रुधिरसे रंगकर उसके उपदेश किये ऋष्यमूक पर्वतमें परिवार सहित गया । इसी समय शत्रुके प्रणिधिभूत दूती हुई कृकालिकाने उस सब मेघवर्णके अमात्यका दुःख उलूक राजाके आगे कह दिया । कि, "तुम्हारा शत्रु इस समय डरा हुआ परिवार सहित कहीं चलागया" । तब उलूकराज यह सुनकर अस्तके समय अमात्य परिजन सहित वायसके वधके निमित्त चला । और बोला–"शीघ्रता करो । शीघ्रता करो । डराहुआ शत्रु भागनेमें तत्पर पुण्यसेही प्राप्त होता है। कहाहै–

शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च संश्रयम् ।
कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम् ॥ १२८ ॥"

शत्रुके पलायनमें एक छिद्रका अवलम्बन होनेसे तथा राजसेवियोंके व्यग्रहोनेसे उनके वशीभूत होजाताहै (राजा प्रियकारी सेवकोंके आधीन होजाताहै) १२८

एवं ब्रुवाणः समन्तात् न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्ट्य व्यवस्थितः । यावत् न कश्चित् वायसो दृश्यते । तावत् शाखाग्रमधिरूढो हृष्टमना वन्दिभिः अभिष्टूयमानोऽरिमर्दनः तान् परि-

जनान् प्रोवाच-"अहो! ज्ञायतां तेषां मार्गः। कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः। तत् यावत् न दुर्गं समाश्रयन्ति, तावत् एव पृष्ठतो गत्वा व्यापादयामि। उक्तञ्च-

ऐसा कह चारों ओरसे न्यग्रोध वृक्षके नीचे घेरकर स्थितहुआ। जब कि, कोई कौआ न देखा तब शाखाके आगे आरूढ होकर प्रसन्न मन बन्दी जनोंसे स्तुतिं को प्राप्त होकर शत्रुमर्दन वह उन परिजनोंको बोला,-"अहो! उनका मार्ग जाना जावे किस मार्गसे वे काक भागे हैं। सो जबतक वे किसी दुर्गका आश्रय नकरें तबतक उनके पीछे जाकर उन्हे नष्ट करूं, कहाहै-

वृतिमप्याश्रितःशत्रुरवध्यः स्याज्जिगीषुणा।
किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्र्या परया युतम्॥ १२९॥"

आवरणमे स्थित हुआ शत्रु जीतनेकी इच्छा करनेवालेको अवध्य होता है फिर सम्पूर्ण सामग्रीसे युक्त दुर्गमे स्थित हुआ तो (अवध्य हैही)॥ १२९॥"

अथ एतस्मिन् प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास "यत एते अस्मत शत्रवोऽनुपलब्धास्मद्वृत्तान्ता यथागतमेव यान्ति ततो मया न किंचित् कृतं भवति। उक्तंच-

तब इस प्रस्तावके होनेमें स्थिरजीवी विचारने लगा "जो यह हमारे शत्रु हमारे वृत्तान्तको न जाननेवाले यथेच्छ गमनकरेंगे तो मेरा कुछ भी कृत्य न हुआ। कहाहै-

अनारम्भो हि कार्य्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥ १३०॥

कार्यका आरम्भ न करनाही प्रथम बुद्धिकी चिन्हहै और आरम्भ कर उसके अन्तमें गमनकरना यह दूसरा बुद्धिका चिन्हहै (बुद्धिमान् प्रथम तो कार्य आरम्भ नहीं करते और आरभकर पूरा करते हैं यह भावहै)॥ १३०॥

तद्वरमनारम्भो न च आरम्भविघातः। तदहमेतान् शब्दं संश्राव्य आत्मानं दर्शयामि" इति। विचार्य्य मन्दं मन्दं शब्द-मकरोत्। तत् श्रुत्वा ते सकला अपि उलूकाः तद्वधाय प्रजग्मुः अथ तेनोक्तम्-"अहो! अहं स्थिरजीवी नाम मेघवर्णस्य मन्त्री। मेघवर्णेन एव ईदृशीमवस्थां नीतः। तन्निवेदयत

आत्मस्वाम्यग्रे,तेन सह बहु वक्तव्यमस्ति"।अथ तैःनिवेदितः स उलूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात् तस्य सकाशं गत्वा प्रोवाच-"भो भोः! किमेतां दशां गतस्त्वम्? तत्कथ्यताम्"। स्थिरजीवी प्राह-" देव ! श्रूयतां तदवस्थाकारणम् । अतीतदिने स दुरात्मा मेघवर्णो युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसानां पीडया युष्माकमुपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत् । ततो मया अभिहितम्-"स्वामिन् ! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुं बलवन्त एते, बलहीनाश्च वयम् । उक्तञ्च-

सो आरंभ न करना अच्छा परन्तु आरंभ कर उसका विघात करना अच्छा नहीं । सो मैं इनको शब्द सुना कर अपनेको दिखाऊं" ऐसा विचार कर मन्द मन्द शब्द करता हुआ । यह सुनकर वे सब उलूक उसके मारनेको आये । तब उसने कहा-"अहो ! मैं स्थिरजीवीनाम मेघवर्णका मंत्रीहूं । मेघवर्णने मेरी यह [illegible] करदी । सो अपने स्वामीके आगे निवेदन करो । उससे बहुत कुछ कहना है" । तब उनसे कहा हुआ वह उलूकराज विस्मयको प्राप्त हो उसी समय उसके निकट जाकर बोला-"भो ! तू क्यों ऐसी दशाको प्राप्त हुआहै ? सो कहो" । स्थिरजीवी बोला-"देव ! इस अवस्थाका कारण सुनो । पिछले दिन वह दुरात्मा मेघवर्ण तुम्हारे मारे हुए बहुत वायसोंकी पीडासे तुमपर क्रोध शोकसे ग्रस्त होकर युद्ध करनेको चला । तब मैंने कहा-"स्वामिन् ! तुमको उनपर चढाई करनी उचित नहीं यह बलीहै और हम बलहीनहैं । कहाहै-

बलीयसा हीनबलो विरोधं
न भूतिकामो मनसापि वाञ्छेत् ।
न वध्यतेऽत्यन्तबलो हि यस्मात्
व्यक्तं प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः ॥ १३१ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले हीनबल बलवान्के साथ मनसे भी विरोध नकरें कारणकि अत्यन्त बलवाला नष्टतो नहीं होता परंतु पतंगवृत्तिकी समान हीनबलकाही प्रणाश होताहै ॥ १३१ ॥

तत् तस्य उपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः । उक्तञ्च-

सो भेट देकर उससे सन्धि करनाही युक्त है । कहाहै कि-

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान्।
दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान् रक्षितैस्तैर्धनं पुनः॥ १३२॥

बुद्धिमान्को उचित है कि, बलवान् शत्रुको सर्वस्व देकर प्राणोंकी रक्षा करे कारणकि उनके रक्षा करनेसे धन फिर होजाताहै॥ १३२॥

तच्छ्रुत्वा तेन दुर्जनप्रकोपितेन त्वत्पक्षपातिनं माम् आशङ्कमानेन इमां दशां नीतः। तत् तव पादौ साम्प्रतं मे शरणम्, किं बहुना विज्ञप्तेन। यावत् अहं प्रचलितुं शक्नोमि, तावत् त्वां तस्य आवासे नीत्वा सर्ववायसक्षयं विधास्यामि इति"। अथ अरिमर्दनः तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्द्धं मन्त्रयाञ्चक्रे। तस्य च पञ्च मन्त्रिणः। तद्यथा रक्ताक्षः-क्रूराक्षो-दीप्ताक्षो-वक्रनासः-प्राकारकर्णश्चेति। तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छत्-"भद्र! एष तावत् तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः। तत् किं क्रियताम्" इति। रक्ताक्ष आह-"देव! किमत्र चिन्त्यते। अविचारितमयं हन्तव्यः। यतः-

यह सुन उस दुर्जनने क्रोधकर मुझे तुम्हारे पक्षपातीकी शंका जानकर मेरी यह दशा करदी। सो इस समय तुम्हारे चरणही मेरे शरण हैं बहुत कहने से क्या है जबतक मैं चलनेको समर्थ हूं तब तुमको उसके स्थानमें लेजाकर सपूर्ण वायसोका क्षय कराऊगा"। तब अरिमर्दन यह वचन सुन पिता दादाके क्रमसे आये हुए मैंत्रियोंके साथ मत्रणा करने लगा। उसके पाच मत्री थे रक्ताक्ष, क्रूराक्ष, दीप्ताक्ष, वक्रनास और प्राकारकर्ण, आदिमे रक्ताक्ष से पूछा-"भद्र! यह उसके शत्रुका मत्री मेरे हस्तगत हुआ है। सो क्या किया जाय?"। रक्ताक्ष बोला-"देव! क्या विचार कियाजाय। विना विचारे इसे मारडालो। जिससे-

हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान् भवेत्।
प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्भवति दुर्जयः॥ १३३॥

हीन शत्रु जबतक वह बलवान् न हो मारडाला जाय, पुरुषार्थ, बल प्राप्त होने पर पीछे शत्रु दुर्जय हो जाता है॥ १३३॥

किञ्च-स्वयमुपागता श्रीस्त्यज्यमाना शपतीति लोके प्रवादः। उक्तञ्च-

और–स्वयं आई हुई लक्ष्मी त्यागन की जायतो शाप देती है यह लोकमें प्रसिद्ध है । कहा है कि–

कालो हि सकृदभ्येति यन्नरं कालकाङ्क्षिणम् ।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालकर्माचिकीर्षता ॥ १३४ ॥

जो समय सुसमयके चाहने वाले मनुष्यको एक वार प्राप्त होता है उसकाल कर्मके समान कृत्य न करनेपर वह समय दुर्लभ होजाता है ॥ १३४ ॥

श्रूयते च यथा–

ऐसा सुना भी है कि–

चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्द्धते ॥ १३५ ॥

(हे ब्राह्मण) जलती हुई इस चिता और फटे हुए इस मेरे फनको देखो (तेरे पुत्रने मेरे फण पर प्रहार किया उससे फटा मेरा फण देख और मेरे काटेसे मरे अपने पुत्रकी चिताको देख) इससे अलग होकर फिर जोडी हुई प्रीति स्नेहसे नहीं बढती ॥ १३५ ॥

अरिमर्दनः प्राह,–"कथमेतत् ?" रक्ताक्षः कथयति–

अरिमर्दन बोला–"यह कैसे ?" रक्ताक्ष बोला–

कथा ९.

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः तस्य च कृषिं कुर्वतः सदा एव निष्फलः कालोऽतिवर्त्तते अथ एकस्मिन् दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने घर्मार्त्तः स्वक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायायां प्रसुप्तः अनतिदूरे वल्मीकोपरि प्रसारितं बृहत्फटायुक्तं भीषणं भुजङ्गमं दृष्ट्वा चिन्तयामास । "नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता । तेन इदं मे कृषिकर्म विफलीभवति । तदस्या अहं पूजामद्य करिष्यामि" इति अवधार्य्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा, शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपागम्य उवाच–"भो क्षेत्रपाल ! मया एतावन्तं कालं न ज्ञातं यत् त्वं अत्र वससि, तेन पूजा न कृता, तत् साम्प्रतं क्षमस्व" इत्येवमुक्त्वा, दुग्धञ्च निवेद्य,

गृहाभिमुखं प्रायात्। अथ प्रातः यावत् आगत्य पश्यति, तावत् दीनारं एकं शरावे दृष्टवान्। एवं च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीरं ददाति, एकैकञ्च दीनारं गृह्णाति। अथ एकस्मिन् दिवसे वल्मीके क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तरं जगाम। पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं समायातः। दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारमेकञ्च दृष्ट्वा गृहीत्वा च चिन्तितवान्। "नूनं सौवर्णदीनारपूर्णोऽयं वल्मीकः। तत् एनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि" इत्येवं सम्प्रधार्य्य अन्येद्युः क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पो लगुडेन शिरसि ताडितः ततः कथमपि दैववशात अमुक्तजीवित एव रोषात् तमेव तीव्रविषदशनैः तथा अदशत्, यथा सद्यः पञ्चत्वमुपागतः। स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसञ्चयैः संस्कृतः। अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः। स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान्। अब्रवीच्च-

किसी स्थानमे हरदत्त नाम ब्राह्मण रहताथा। खेती करते हुए उसको सदा निष्फल समय वीतता। एक दिन वह ब्राह्मण उष्ण कालके अन्तमे धूपसे घबडाया हुआ अपने खेतमे वृक्षकी छायाके नीचे सोया थोडीदूर बॅबईके ऊपर फैलाये हुए बडे फणासे युक्त भीषण सर्पको देखकर विचारने लगा। अवश्यही यह क्षेत्रकी देवता है मैंने यह कभी नहीं पूजी। इस कारण मेरी खेतीका फल नष्ट होता है। सो इसकी आज मैं पूजा करूगा। ऐसा विचार कहींसे दूध लाकर सिकोरेमें डालकर वल्मीकके निकट पहुच कर बोला,—"भो! क्षेत्रपाल मैंने इतने समयतक न जाना कि तुम यहा रहते हो इससे पूजा न की। सो अब क्षमा करो ऐसा कह दूध निवेदन कर घरकी ओर आया फिर प्रात.काल जब आकर देखा तो एक सुवर्ण मुद्रा सिकोरेमें देखी। तब प्रतिदिन इकला आकर उसको दूध देता और एक दीनार ग्रहण करता। तब एक दिन बॅबईमे क्षीरले जानेके लिये पुत्रसे कहकर ब्राह्मण ग्रामान्तरको गया। पुत्रभी क्षीरको वहा लेजाय स्थापन

कर फिर घर आया दूसरे दिन वहां जाय एक दीनार देखकर ग्रहण कर विचारने लगा—"अवश्यही यह बांबी सुवर्णके दीनारसे पूर्ण है । सो इसे मारकर सबको एकही बार ग्रहण करूं" । ऐसा विचार दूसरे दिन दूध देते हुए ब्राह्मणपुत्रने सर्पके शिरमें लकडीसे प्रहार किया । वह किसी प्रकार दैववशसे प्राणसे विमुक्त नहोकर रोषसे उसे तीव्र दांतोंसे इस प्रकार काटता हुआ कि वह शीघ्र पंचत्वको प्राप्त हुआ । स्वजनोंने थोडीही दूर खेतमें काष्ठ संचय कर संस्कार किया । दूसरे दिन उसका पिता आया । अपने जनोंसे पुत्रके नाशका कारण सुनकर वैसाही समर्थन करता हुआ । बोला भी—

"भूतान्यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान् ।
भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥ १३६ ॥"

जो प्राणियोंपर अनुग्रह नहीं करता और जो अपने शरणमे आये हैं उनको नहीं रखता उसके निश्चित अर्थ इस प्रकार नष्ट होजाते हैं जैसे पद्मवनमें हंस १३६

पुरुषैरुक्तम्—"कथमेतत् ?" ब्राह्मणः कथयति—

पुरुषोंने कहा—"यह कैसे ?" ब्राह्मण कहने लगा—

कथा ६.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा । तस्य योधैः सुरक्ष्यमाणं पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति । तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया हंसास्तिष्ठन्ति । षण्मासे षण्मासे पिच्छमेकैकं परित्यजन्ति । अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत् पक्षी समायातः तैश्चोक्तः—"अस्माकं मध्ये त्वया न वस्तव्यम् । येन कारणेन अस्माभिः षण्मासान्ते पिच्छैकैकदानं कृत्वा गृहीतमेतत्सरः" । एवं च किं बहुना परस्परं द्वैधमुत्पन्नम् । स च राज्ञः शरणं गतोऽब्रवीत्—"देव ! एते पक्षिण एवं वदन्ति—"यत् अस्माकं राजा किं करिष्यति ? न कस्यापि आवासं दद्मः" । मया च उक्तं,—"न शोभनं युष्माभिः अभिहितम् । अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि । एवं स्थिते देवः प्रमाणम्" ततो राजा भृत्यान् अब्रवीत,—"भो भो ! गच्छत, सर्वान्

पक्षिणो गतासून् कृत्वा शीघ्रमानयत" । राजादेशानन्तरमेव प्रचेलुस्ते । अथ लगुडहस्तान् राजपुरुषान् दृष्ट्वा तत्र एकेन पक्षिणा वृद्धेन उक्तं,—"भोः स्वजनाः! न शोभनमापतितम् । ततः सर्वैः एकमतीभूय शीघ्रमुत्पतितव्यम्" । तैश्च तथानुष्ठितम् । अतोऽहं ब्रवीमि—

किसी स्थानमें एक चित्ररथ नाम राजा था। उसके योधाओंसे रक्षित पद्मसरनाम एक सरोवर था वहां बहुतसे सुवर्णमय हंसथे । छठे २ महीनेसे एक एक पख त्यागते रहे तब उस सरोवरमें सुवर्णमय बडा पक्षी आया । उन्होंने कहा,—"हमारे बीचमें तुमको रहना न चाहिये । जिस कारणसे कि हमने छःमहीनेमें एक २ पखदान करके यह सरोवर प्राप्त किया है । ऐसा बहुत कहनेसे परस्पर उनका द्वेष उत्पन्न हुआ । वह राजाकी शरणमें जाकर कहने लगा,—"देव यह पक्षी इस प्रकारसे कहते हैं कि,—"हमारा राजा क्या करेगा ? । किसीको हम स्थान न देंगे" मैंने कहा—"तुमने अच्छा नहीं कहा । मैं जाकर राजासे कहूंगा" । इस कार्यमें स्वामीही प्रमाणहैं" । तब राजा भृत्योंसे बोला—"भो भो ! जाओ सब पक्षियोंको प्राणरहित करके शीघ्र लाओ " । वे राजाकी आज्ञा पातेही चले । तब लगुड हाथमें लिये राजपुरुषोंको देख एक वृद्ध पक्षीने कहा,—"भो सुजनो भलीबात न हुई सो सब एकमत होकर शीघ्र उडो" और उन्होंने वैसाही अनुष्ठान किया इससे मैं कहताहूं—

भूतान्यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान् ।
भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥ १३७ ॥"

कि अपनी शरणमें आये हुए भृत्योंपर जो अनुग्रह नहीं करताहै उसके भूत अर्थ नष्ट हो जातेहैं जैसे पद्मवनमें हंस ॥ १३७ ॥"

इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्यूषे क्षीरं गृहीत्वा, तत्र गत्वा तारस्वरेण सर्पमस्तौत् । तथा सर्पश्चिरं वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच त्वं लोभादत्र आगतः पुत्रशोकमपि विहाय । अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता । तव पुत्रेण यौवनोन्मदेन अहं ताडितः । मया स दष्टः । कथं मया लगु

डप्रहारो विस्मर्त्तव्यः, ? त्वया पुत्रशोकदुःखं कथं विस्मर्त्तव्यम् ?" । इत्युक्त्वा बहुमूल्यं हीरकमणिं तस्मै दत्त्वा "अतः परं पुनस्त्वया न आगन्तव्यम्" इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गतः। ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन् स्वगृहमागतः । अतोऽहं ब्रवीमि-

यह कह फिरभी ब्राह्मण प्रातःकाल दूध ग्रहण कर वहां जाकर ऊंचे स्वरसे सर्पकी स्तुति करने लगा । तब सर्प अधिक वल्मीकके भीतर लीन हुआही ब्राह्मणसे बोला-"तू लोभसे यहां आया है पुत्रशोक भी छोड दिया ? अब तेरी और मेरी प्रीति उचित नहीं । यौवनके मदसे तेरे पुत्रने मुझे ताडन किया है । मैंने उसे काट लिया । किस प्रकार मै लगुडप्रहार भूल जाऊंगा ? और तू पुत्रशोकका दुःख किस प्रकार भूल सकता है ?" । ऐसा कह एक बहुत मोलका हीरा उसे देकर "बस अब तू यहां न आना" यह फिर कह विवरके भीतर गया । ब्राह्मणभी मणिको ले पुत्रकी बुद्धिकी निन्दा करता अपने घर आया । इससे मैं कहता हूं-

"चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्द्धते ॥ १३८ ॥"

"प्रज्वलित चिता और फटा हुआ मेरा फन देखकर जानले कि भिन्न होकर जुडी प्रीति स्नेहसे नहीं बढती ॥ १३८ ॥"

तदस्मिन् हते यत्नादेव राज्यमकण्टकं भवतो भवति" । तस्य एतद्वचनं श्रुत्वा क्रूराक्षं पप्रच्छ,-"भद्र ! त्वं तु किं मन्यसे ?" सोऽब्रवीत,-"देव ! निर्दयमेतत, यदनेन अभिहितम् । यत् कारणं शरणागतो न वध्यते । सुष्ठु खलु इदमाख्यातम्-

सो इसके मारनेसे यत्नपूर्वक तुम्हारा अकंटक राज्यहो" उसके यह वचन सुन क्रूराक्षसे पूछा-"भद्र ! तुम इसमें क्या मानते ?" । वह बोला-"देव यह निर्दयता है जो इस मन्त्रीने कहा है । कारण कि शरणमें आया हुआ नहीं मारा जाता । यह सत्य कहा गया है कि-

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ १३९ ॥"

सुना है कि, कबूतरने शरणमें आये हुए शत्रुको यथायोग्य पूजन कर अपने मांससे निमंत्रित किया ॥ १३९ ॥"

अरिमर्दनोऽब्रवीत–"कथमेतत ?" । क्रूराक्षः कथयति–

अरिमर्दन बोला–"यह कैसे ?" क्रूराक्ष कहने लगा–

कथा ७.

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १४० ॥

कोई क्षुद्र आचारवाला प्राणियोंको कालकी समान घोर पक्षियोका लुब्धक वनमें विचरता था ॥ १४० ॥

नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः ।
स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १४१ ॥

न कोई उसका सुहृत्, न सम्बन्धी, न बाधव था, उसके क्रूर कर्मसे सबने उसे त्याग दिया ॥ १४१ ॥

अथवा–

अथवा–

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः ।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४२ ॥

जो क्रूर दुरात्मा प्राणियोंके प्राण नाशक हैं वे भूतोंके उद्वेगकारक कालकी समान होते हैं ॥ १४२ ॥

स पञ्जरकमादाय पाशं च लगुडं तथा ।
नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १४३ ॥

वह सब प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला पिंजरा पाश और लगुड लेकर नित्यही वनको जाता ॥ १४३ ॥

अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने कापि कपोतिका ।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥ १४४ ॥

एक दिन उसके वनमें घूमते हुए कोई कबूतरी हाथ आई उसने उसे पिंजरेमें डाल लिया ॥ १४४ ॥

अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याभवन्घनैः ।
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाभवत ॥ १४५ ॥

तब उस वनकी सब दिशा मेघोंसे श्याम होगई क्षय कालकी समान बडी पवन चली और वर्षा हुई ॥ १४५ ॥

ततः सन्त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः ।
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद वनस्पतिम् ॥ १४६ ॥

तब संत्रस्त हृदय होकर वारम्वार काम्पित हुआ वह परित्राण (रक्षा) खोजता हुआ वृक्षके नीचे प्राप्त हुआ ॥ १४६ ॥

मुहूर्त्तं भ्रश्यते यावद्वियद्विमलतारकम् ।
प्राप्य वृक्षं वदत्येव योऽत्र तिष्ठति कश्चन ॥ १४७ ॥

जब मुहूर्त मात्रमें आकाश निर्मल तारेवाला हुआ तब वृक्षको प्राप्त होकर बोला,–"जो कोई यहां स्थितहो ॥ १४७ ॥

तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।
शीतेन भिद्यमानश्च क्षुधया गतचेतसम् ॥ १४८ ॥

उसीकी मैं शरणमे प्राप्त हूं मेरी वह रक्षा करे मैं शीतसे भेदित और भूंखसे व्याकुल हूं ॥ १४८ ॥

अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः ।
भार्य्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥ १४९ ॥

उसी वृक्षकी शाखामें कबूतर बहुत कालसे रहताथा वह उस समय स्त्रीके बिना विलाप कर रहा दुःखी था ॥ १४९ ॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
तया विरहितं ह्येतच्छून्यमद्य गृहं मम ॥ १५० ॥

बडी बात और वर्षा हुई है अभतिक मेरी प्यारी नहीं आई उसके बिना आज यह मेरा घर सूना है ॥ १५० ॥

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता ।
यस्य स्यादीदृशी भार्य्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥१५१॥

पतिव्रता पतिकी प्राण पतिके प्रिय और हितमे तत्पर जिसके ऐसी भार्या है वह पुरुष पृथ्वीमें धन्य है ॥ १९१ ॥

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ १९२ ॥

घरका नाम घर नहीं किन्तु स्त्रीका नाम गृह है, गृहणीके विना घर वनकी समान है ॥ १९२ ॥

पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः।
कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यञ्चेदमथाह सा ॥ १५३ ॥

तब पींजरेमें स्थित हुई कबूतरी उसके दुःखभरे वचन सुनकर इस प्रकार सन्तुष्ट होकर कहने लगी ॥ १९३ ॥

न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्त्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्त्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ १९४ ॥

उसमें स्त्रीपन मत मानो जिससे कि स्वामी प्रसन्न नहीं होता नारियोंके पति प्रसन्न होनेमें सब देवता उसपर प्रसन्न होजाते हैं ॥ १९४ ॥

दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तवका लता।
भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्त्ता न तुष्यति ॥ १९५ ॥

दावाग्निसे दग्ध हुई फल गुच्छेवाली लताकी समान वह स्त्री भस्म होजातीहै जिसपर स्वामी प्रसन्न नहीं होता ॥ १९५ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत् ॥ १९६ ॥

पिता माता पुत्र परिमित सुख देते हैं, इससे अमित दान देनेवाले भर्ताका पूजन कौन न करे ॥ १९६ ॥

पुनश्च अब्रवीत्-

फिरभी बोली-

शृणुष्वावहितः कान्त यत्ते वक्ष्याम्यहं हितम्।
प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १९७ ॥

हे स्वामी ! सावधान होकर सुनो जो मैं तुमको हितकर वचन कहतीहूं शरणमें आया पुरुष प्राणोंसे अधिक रक्षा करना चाहिये ॥ १९७ ॥

एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्त्तश्च क्षुधार्त्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥ १५८ ॥

यह पक्षीका पकडनेवाला तुम्हारे स्थानमें प्राप्त हुआ सोता है और भूखसे व्याकुल है तू इसका सत्कार कर ॥ १५८ ॥

श्रूयते च-
सुना है कि-

यः सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत् ।
तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चापकर्षति ॥ १५९ ॥

संध्याके समय प्राप्त हुए अतिथिको जो यथाशक्ति पूजन नहीं करता है उसको यह अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १५९ ॥

मा चास्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धानेनेति मत्प्रिया ।
स्वकृतैरेव बद्धाहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥ १६० ॥

इसने मेरी प्रिया बांधली है इस कारण इससे द्वेष मत करो मैं अपने किये पूर्व जन्मके कर्मानुसारही बन्धी हूं ॥ १६० ॥

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १६१ ॥

दरिद्र, रोग, दुःख, बन्धन, व्यसन यह आत्माअपराधवृक्षके फल देह धारियोंको होते हैं ॥ १६१ ॥

तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम् ।
धर्मे मनः समाधाय पूजयैनं यथाविधि ॥ १६२ ॥

इस कारण तू मेरे बंधनसे उत्पन्न हुए द्वेषको त्यागन कर धर्ममें मनको लगाय यथाविधिसे इसको पूजनकर ॥ १६२ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोतः प्राह लुब्धकम् ॥ १६३ ॥

उसके धर्म और युक्तिके वचन सुनकर लुब्धकके पास जाय नम्रतासे कपोत बोला ॥ १६३ ॥

सुखागतं भद्र तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्त्तव्यः स्वगृहे वर्त्तते भवान् ॥ १६४ ॥

हे भद्र! आपका शुभागमनहो कहो मै तुम्हारा क्या प्रिय करू दु ख मत मानना तुम अपने घरमेंही प्राप्त हो ॥ १६४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहंगमम्।
कपोत खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम् ॥ १६५ ॥

उसके यह वचन सुन (वह व्याधा) पक्षीसे बोला हे कबूतर, मुझे जाडा बहुत लगता है जाडेसे बचाओ ॥ १६५ ॥

स गत्वाङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम्।
ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १६६ ॥

तब वह जाकर (चोंचमें) अगारेकी लकडी लाकर अग्निको गिराता हुआ और फिर सूखे पत्तोंमे उसको जलाता हुआ ॥ १६६ ॥

सुसन्दीप्तं ततः कृत्वा तमाह शरणागतम्।
सन्तापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः।
न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६७ ॥

अग्निको दीप्तकर उस शरणमे आये हुएसे बोला अब निर्भय होकर तुम अपने गात्रको तपाओ और कुछ वैभव तो है नहीं जिससे तुम्हारी क्षुधा निवृत्त करूं ॥ १६७ ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः।
मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्मापि दुर्भरः ॥ १६८ ॥

कोई सहस्रको, कोई सौको, कोई दशको पालन करताहै अपुण्यकारी मुझ क्षुद्रका शरीर तो एकको तृप्तिके निमित्त भी पूर्ण नहींहै ॥ १६८ ॥

एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातुं न शक्तिमान्।
तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम् ॥ १६९ ॥

जो एक अतिथिको भी अन्नदेनेकी सामर्थ्य नहीं रखता उसका अनेक क्लेशवाले घरमे रहनेसे क्या फलहै ? ॥ १६९ ॥

तत्तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम्।
यथा भूयो न वक्ष्यामि नास्तीत्यर्थिसमागमे ॥ १७० ॥

सो इस दु.ख जीवित शरीरको इस प्रकारसे साधन करूगा कि जो फिर अर्थीके समीप मेरे पास कुछ नहीं ऐसा न कहसकू ॥ १७० ॥

स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्त्तं प्रतिपालय ॥ १७१ ॥

वह अपनी ही निन्दा करके न कि उस लुब्धककी इस प्रकार वह (कबूतर) लुब्धकसे बोला एक मुहूर्ततक तू ठहर ॥ १७१ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तमग्निं सम्परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १७२ ॥

ऐसा कह वह धर्मात्मा प्रसन्न मनसे उस अग्निकी परिक्रमाकर अपने घरकी समान उसमें प्रवेश करगया ॥ १७२ ॥

ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥ १७३ ॥

तब यह लुब्धक उसको देख कृपासे अत्यन्त पीडितहो अग्निमें गिरते कबूतरसे यह वचन बोला ॥ १७३ ॥

यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।
आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते १७४ ॥

जो मनुष्य पाप करता है अवश्यही उसको आत्मा प्रिय नहीं है आत्माके लिये पापको आत्माही भोगता है ॥ १७४ ॥

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरतः सदा ।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र संशयः ॥ १७५ ॥

वह मैं पापमति पापकर्ममें सदा रत महाघोर नरकमें पडूंगा इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ १७५ ॥

नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः सुदर्शितः ।
प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥ १७६ ॥

अवश्यही अपना मांस देते हुए इस महात्मा कपोतने मुझ निर्दयीको शिक्षा दी है ॥ १७६ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम् ।
तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं पुनः ॥ १७७ ॥

आजसे सम्पूर्ण भोगरहित इस देहको गरमीमें थोडे जलकी समान सुखा डालूंगा ॥ १७७ ॥

शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ १७८ ॥

शीत वात गरमीका सहनेवाला कृश अंग मलीन मैं अनेक उपवास कर धर्म करूंगा ॥ १७८ ॥

ततो यष्टिं शलाकाश्च जालकं पञ्जरं तथा ।
बभञ्ज लुब्धकोपीमां कपोतीञ्च मुमोचह ॥ १७९ ॥

तब वह लुब्धक लकडी शलाका जाल पींजरा तोडकर उस दीन कपोतीको भी छोड देता हुआ ॥ १७९ ॥

लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाग्नौ पतितं पतिम् ।
कपोती विललापार्त्ता शोकसन्तप्तमानसा ॥ १८० ॥

वह लुब्धकसे छोडी हुई कपोती अग्निमें पतिको गिरा देख शोक सन्ताप मनसे व्याकुल हो विलाप करने लगी ॥ १८० ॥

न कार्य्यमद्य मे नाथ जीवितेन त्वया विना ।
दीनायाः पतिहीनायाः किं नार्य्या जीविते फलम् ॥ १८१ ॥

हे नाथ ! तुम्हारे बिना मुझे जीनेसे अब काम नहीं है दीन पतिहीन स्त्रीके जीनेसे क्या फल है ? ॥ १८१ ॥

मनोदर्पस्त्वहङ्कारः कुलपूजा च बन्धुषु ।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ॥ १८२ ॥

मनका हर्ष, अहंकार, बन्धुओंमें कुल गौरव, दास तथा भृत्यजनोंमें आज्ञा यह सब वैधव्य होनेमें नष्ट होजाता है ॥ १८२ ॥

एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।
पतिव्रता सुसन्दीप्तं तमेवाग्निं विवेश सा ॥ १८३ ॥

इस प्रकार बहुत विलाप कर दीन दुखी हो वह पतिव्रता उस प्रदीप्त अग्निमें प्रवेश कर गई ॥ १८३ ॥

ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।
भर्त्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥ १८४ ॥

तब दिव्य वस्त्र पहरे दिव्य गहनोंसे भूषित वह कपोती विमानमें अपने स्वामीको देखने लगी ॥ १८४ ॥

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे त्वया ॥ १८५ ॥

और वह भी दिव्य शरीर हो यथार्थ ऐसा कहने लगा हे शुभे ! मेरे पीछे आई यह तुमने अच्छा किया ॥ १८५ ॥

तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥ १८६ ॥

साढेतीन करोड जितने रोम मनुष्यके हैं इतने समयतक वह स्त्री स्वर्गमें निवास करती है जो अपने स्वामीके पीछे अनुगमन करतीहै ॥ १८६ ॥

कपोतदेवः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेहवत्सासीत्प्राक्पुण्यप्रभवं हि तत् ॥ १८७ ॥

वह कपोतदेव सूर्यास्तमें प्रतिदिन सुख अनुभव करता था और वह कपोती पूर्वजन्मके पुण्यप्रभावसे कपोत देहवत् होगई ॥ १८७ ॥

हर्षाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान्भृशम् ॥ १८८ ॥

तब प्रसन्न हो वह व्याधा गहन वनमें प्रवेश करगया । और प्राणीकी हिंसा त्यागन कर बहुत निर्वेदवाला होकर ॥ १८८ ॥

तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥ १८९ ॥

वहां दावानल लगी देखकर उसमें प्रवेश करगया और पापरहित होकर स्वर्गका सुख भोगने लगा ॥ १८९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि–

इससे मैं कहता हूं–

"श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ १९० ॥"

"सुनाहै कि, कपोतने शरणमें आये शत्रुको यथायोग्य पूजन कर अपने मांससे निमंत्रित किया ॥ १९० ॥"

तत् श्रुत्वा अरिमर्दनो दीप्ताक्षं पृष्टवान्–" एवमवस्थिते किं भवान् मन्यते?" सोऽब्रवीत्,–"देव ! न हन्तव्य एवायम् ।

यह सुन अरिमर्दनने दीप्ताक्षसे पूछा—"ऐसा कहनेपर आप क्या मानते हो ?" । वह बोला—"देव ! इसको मत मारो—

यतः—

जिससे—

या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्यावगूहते ।
प्रियकारक भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ १९१ ॥

जो निरन्तर मुझसे क्लेश मानती थी वह आज मुझे आलिंगन करती है हे प्रियकारक ! तुम्हारा मगल हो जो मेरा है उसे ग्रहण कर (चोरके प्रति गृहस्थीका वचन है) ॥ १९१ ॥

चौरेण चापि उक्तम्—

तब चोरने भी कहा—

"हर्त्तव्यं ते न पश्यामि हर्त्तव्यं चेद्भविष्यति ।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते ॥ १९२ ॥"

तेरे हरने योग्य धनको नहीं देखता हू जो हरने योग्य होगा तो फिर भी आऊगा जो यह स्त्री आलिंगन न करेगी ॥ १९२ ॥"

अरिमर्दनः पृष्टवान्,—" का च नावगूहते ? । कश्चायं चौर इति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि" । दीप्ताक्षः कथयति—

अरिमर्दन पूछने लगा—"कौन नहीं आलिंगन करती ? कौन यह चोर है ? यह विस्तारसे सुननेकी इच्छा करता हू" । दीप्ताक्ष कहने । लगा—

कथा ८.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम वृद्धवणिक्, तेन च कामोपहतचेतसा मृतभार्य्येण काचिन्निर्द्धनवणिक्सुता प्रभूतं धनं दत्त्वा उद्वाहिता । अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक । युक्तश्चैतत्—

किसी एक स्थानमें कामातुर नाम वृद्ध वणिक् रहता था, उसने कामसे उपहत चित्त हो भार्याके मृत होजानेसे कोई निर्धन वणिकपुत्री बहुतसा धन देकर विवाही । वह दुःखसे व्याकुल हुई उस वृद्ध वणिकको देखनेको भी समर्थ न हुई । यह युक्तही है—

श्वेतं पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां
स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम् ।
आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥ १९३ ॥

जो कि शिरपर श्वेत बालोंका स्थान है यह पुरुषोंके तिरस्कारका परम स्थान है तरुणी चाण्डालके कूपकी समान आरोपित अस्थिखण्डकी समान उसे त्यागकर चली जाती हैं ॥ १९३ ॥

तथाच–

और देखो–

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमप्युपहतं वक्त्रञ्च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
धिक् कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ १९४ ॥

शरीरमें झिल्ली पडी, गति हीन हुई, दांत नाशको प्राप्त हुए, दृष्टि घूमने लगी, रूप नष्ट हुआ, मुखसे लार गिरने लगी, बन्धुजन उसके वचन नहीं मानते तथा पत्नी भी नहीं सुनती । जरासे तिरस्कृत पुरुषको धिक् तथा कष्ट है कि जिसकी पुत्र भी अवज्ञा करता है ॥ १९४ ॥

अथ कदाचित् सा तेन सह एकशयने पराङ्मुखी यावत तिष्ठति, तावद्गृहे चौरः प्रविष्टः । सा अपि तं चौरं दृष्ट्वा भयव्याकुलिता वृद्धमपि तं पतिं गाढं समालिलिङ्ग । सोऽपि विस्मयात् पुलकांकितसर्वगात्रः चिन्तयामास । "अहो! किमेषा मामद्य अवगूहते" । यावत निपुणतया पश्यति, तावत गृहकोणैकदेशे चौरं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत् । "नूनं एषा अस्य भयात मामालिङ्गति" इति ज्ञात्वा तं चौरमाह–

एक समय जब वह उसके साथ एक ही शयनमें मुख फेरे स्थित थी उसके घरमें उस समय चोर घुसा । वह भी उस चोरको देख भयसे व्याकुल चित्त हो उस वृद्धकोही आलिंगन करती हुई । वह भी विस्मयसे सब शरीर पुलकित हो विचारने लगा । " अहो ! आज यह कैसे मुझे आलिंगन करती है" । जब

अच्छी प्रकारसे देखा तो घरके एक कोनेमें चोरको देख विचारने लगा। "अवश्यही यह इसके भयसे मुझे आलिंगन करती है" ऐसा विचार चोरसे बोला–

या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्यावगूहते।
प्रियकारक भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत्॥ १९५॥"

जो मुझसे सदा क्लेश मानती थी वह आज मुझे आलिंगन करती है हे प्रियकरनेवाले! जो मेरा है उसे हरण कर॥ १९५॥"

तत् श्रुत्वा चौरोऽपि आह–

यह सुनकर चोर भी बोला–

हर्त्तव्यं ते न पश्यामि हर्त्तव्यं चेद्भविष्यति।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते॥ १९६॥

तेरे हरने योग्य नहीं देखताहूं जो हरने योग्य होगा तो फिर आऊंगा जो यह न आलिंगन करेगी॥ १९६॥

तस्मात् चौरस्यापि उपकारिणः श्रेयः चिन्त्यते, किं पुनर्न शरणागतस्य। अपि च अयं तैः विप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्ट्यै भविष्यति तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेति। अनेन कारणेन अयमवध्य" इति। एतदाकर्ण्य अरिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनासं पप्रच्छ,–"भद्र! साम्प्रतमेवं स्थिते किं कर्त्तव्यम्?" सोऽब्रवीत,–"देव! अवध्योऽयम्। यतः–

इस कारण उपकारी चोरका भी मंगल विचारा जाता है फिर शरण आयेका तो क्या। और फिर यह उनसे तिरस्कृत हुआ हमारी पुष्टिके निमित्त ही होगा उसका रन्ध्र दिखानेको। इन कारणोंसे यह अवध्य है"। यह सुनकर अरिमर्दन दूसरे मन्त्री वक्रनाससे पूछने लगा–"भद्र! इस स्थितिमें क्या करना चाहिये" वह बोला–"यह अवध्य है। क्यों कि–

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम्।
चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम्॥ १९७॥"

परस्पर विवाद करते हुए शत्रुभी हितके निमित्त होते हैं चोरने जीवन और राक्षसने दो गौ दीं॥ १९७॥

अरिमर्दनः प्राह,—"कथमेतत्?" वक्रनासः कथयति—

अरिमर्दन बोला,—"यह कैसे ?" वक्रनास कहने लगा—

कथा ९.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणःप्रतिग्रहधनः सततविशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जितः प्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचितः शीतोष्णवातवर्षादिभिः परिशोषितशरीरः। तस्य च केनापि यजमानेन अनुकम्पया शिशुगोयुगं दत्तम्। ब्राह्मणेन च बालभावात् आरभ्य याचितघृततैलयवसादिभिः संवर्द्धय सुपुष्टं कृतम्। तच्च दृष्ट्वा सहसा एव कश्चित् चौरः चिन्तितवान्, "अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि"। इति निश्चित्य निशायां बन्धनपाशं गृहीत्वा यावत् प्रस्थितःतावदर्द्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपंक्तिः उन्नतनासावंशो प्रकटरक्तान्तनयन उपचितस्नायुसन्ततिर्नतगात्रःशुष्ककपोलःसुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीरः कश्चित् दृष्टः। दृष्ट्वा च तं तीव्रभयत्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्—"को भवानिति?" स आह—"सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः। भवान् अपि आत्मानं निवेदयतु" सोऽब्रवीत्—"अहं क्रूरकर्मा चौरः। दरिद्रब्राह्मणस्य गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि"। अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्—"भद्र! षष्ठाह्नकालिकोऽयं, अतः तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयिष्यामि। तत् सुन्दरमिदमेककार्य्यौ एव आवाम्"। अथ तौ तत्र गत्वा एकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ। प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—"भद्र! नैष न्यायः, यतो गोयुगे मया अपहृते पश्चात् त्वमेनं ब्राह्मणं भक्षय"। सोऽब्रवीत्—"कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत, तदा अनर्थकोऽयं मम आरम्भः स्यात्"। चौरोऽपि अब्रवीत्—"तव अपि यदि भक्षणाय उपस्थितस्यान्तर एकोपि

अन्तरायः स्यात् तदाहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम्। अतः प्रथमं मया अपहृते गोयुगे पश्चात् त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः"। इत्थं च अहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशाद् ब्राह्मणो जजागार।अथ तं चौरोऽब्रवीत्- "ब्राह्मण! त्वामेव अयं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति"। राक्षसोऽपि आह-"ब्राह्मण ! चौरोऽयं, गोयुगं ते अपहर्तुमिच्छति"। एवं श्रुत्वा उत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वा इष्टदेवतामन्त्राध्यायेन आत्मानं राक्षसादुद्गूर्णलगुडेन चौरात् गोयुगं ररक्ष। अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी स्थानमें दरिद्र द्रोणनाम ब्राह्मण प्रतिग्रह मात्र जीविकावाला निरन्तर श्रेष्ठ वस्त्रानुलेपन गंध माला अलकार ताम्बूलादि भोगसे हीन बढेहुए केश डाढी मूछ नखरोमसे युक्त शीत उष्ण वात वर्षासे शोषित शरीर था । उसको किसी यजमानने कृपाकर दो बछडे दिये। ब्राह्मणने उन दोनो बछडोंको बालकपनसेही मागे हुए घी तेल घास आदिसे बढाकर पुष्ट किया । उनको देख सहसाही कोई चोर विचारने लगा-"मैं इस ब्राह्मणके दोनो बछडे चुराऊगा" । ऐसा विचार रात्रिमें बन्धनरज्जु लेकर जब चला तब तक आधे मार्गमें पृथक् तीक्ष्ण दातोंकी पक्तिवाला, ऊचे नासिका वशसे युक्त, उज्ज्वल लाल नेत्र, पुष्ट है नाडीसमूह जिसका ऐसा, नत शरीर, सूखे कपोल, सम्यक् हुत हुए अग्निके सदृश पिङ्गल डाढी मूछों और शरीरवाला कोई देखा । देखतेही उसको बडे भयसे व्याकुल हुआभी चोर बोला,-"तुम कोनहै ?" वह बोला-" मैं सत्य वचन ब्रह्मराक्षस हू । तुमभी अपनेको कहो"। वह बोला-"मैं क्रूर कर्मा चोर हूं। दरिद्र ब्राह्मणके दो बैल चुराने जाता हू" । तब विश्वासको प्राप्तहो राक्षस बोला- "भद्र ! मैं छठे समय भोजन करनेवाला हू । इस कारण आज उसी ब्राह्मणको भक्षण करूगा । यह अच्छी बात है जो हम तुम दोनो एकही कार्यमें हैं" । तब वे दोनो वहा जाकर एकान्तमें समय देखते स्थित रहे । ब्राह्मणके सोनेपर उसके भक्षणके निमित्त जाते हुए राक्षसको देखकर चोर बोला,-"भद्र ! यह न्याय नहीं है । जो कि मेरे बैलोंको हरण करनेके पीछे तुम इस ब्राह्मणको भक्षण

कर जाना" । वह बोला—"जो यह ब्राह्मण गौके शब्दसे जाग जाय तो यह मेरा आरम्भ अनर्थक होजायगा"। चोर बोला,—"यदि तुम्हारे भक्षणमें कोई विघ्न उपस्थित होजावे तो मैं भी दोनो बछडोंके हरणको समर्थ न हूंगा । तब पहले मेरे गोयुगके हरण करनेके पीछे तुम ब्राह्मणको भक्षण करना" । इस प्रकार मैं पहले मैं पहले ऐसे परस्पर विवाद करते उन दोनोंके क्लेश उत्पन्न होनेमें शब्द होनेके कारण ब्राह्मण जाग उठा । तब उससे चोर बोला—"ब्राह्मण ! यह राक्षस तुझे खानेकी इच्छा करता है" राक्षस बोला,—"ब्राह्मण ! यह चोर तेरे दोनो बछडे चुराना चाहता है" यह सुनकर ब्राह्मण उठ सावधान हो इष्ट देवताके मन्त्र उच्चारणसे अपनेको राक्षससे और लकडी उठाकर चोरसे दोनो बछडोंकी रक्षा करता भया । इसमें मैं कहता हूं—

"शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम् ।
चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम् ॥ १९८ ॥"

"परस्पर विवाद करते शत्रुभी हितके निमित्त होते हैं चोरने जीवित और राक्षसने इस प्रकार दो बछडे दिये ॥ १९८ ॥"

अथ तस्य वचनमवधार्य्य अरिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णमपृच्छत्,—"कथय किमत्र मन्यते भवान् ? " सोऽब्रवीत्, " देव! अवध्य एवायं, यतो रक्षितेन अनेन कदाचित् परस्परप्रीत्या कालः सुखेन गच्छति । उक्तञ्च—

तब उसके वचनको सुन अरिमर्दन फिर प्राकारकर्णसे पूछने लगा—" कहो तुम इसमें क्या मानते हो ?" वह बोला,—"देव ! यह अवध्य है । जो इसकी रक्षा करनेसे कदाचित् प्रीतिसे सुखसे समय बीतेगा । कहा है—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥ १९९ ॥

जो प्राणी परस्पर एक दूसरेके मर्मकी रक्षा नहीं करते वह वल्मीकके और पेटके भीतर सर्पकी समान नष्ट होते हैं ॥ १९९ ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्,—"कथमेतत् ? " प्राकारकर्णः कथयति—

अरिमर्दन बोला,—"यह कैसे ?" प्राकारकर्ण कहता है—

कथा १०.

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे देवशक्तिर्नाम राजा, तस्य च पुत्रो जठरवल्मीकाश्रयेण उरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते। अनेकोपचारैः सद्वैद्यैः सच्छास्त्रोपदिष्टौषधयुक्त्यापि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमाप्नोति। अथ असौ राजपुत्रो निर्वेदात् देशान्तरं गतः। कस्मिंश्चिन्नगरे भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति। अथ तत्र नगरे बलिर्नाम राजा आस्ते, तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः। ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कारं चक्रतुः। तत्र च एका अब्रवीत्,–"विजयस्व महाराज यस्य प्रसादात् सर्वं सुखं लभ्यते"। द्वितीया तु,–"विहितं भुङ्क्ष्व महाराज!" इति ब्रवीति। तच्छ्रुत्वा प्रकुपितो राजा अब्रवीत्,–"भो मन्त्रिन्! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद् वैदेशिकस्य प्रयच्छत येन निजविहितमियमेव भुङ्क्ते"। अथ तथेति प्रतिपद्य अल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रिभिः तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता। सा अपि प्रहृष्टमानसा तं पतिं देववत् प्रतिपद्य आदाय च अन्यविषयं गता। ततः कस्मिंश्चिद्दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रमावासरक्षार्थे निरूप्य, स्वयं च घृततैललवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता। कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति, तावत् स राजपुत्रो वल्मीकोपरिकृतमूर्धा प्रसुप्तः। तस्य च मुखात् भुजगः फणां निष्क्राम्य वायुमश्नाति। तत्र एव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथा एव आसीत्। अथ तयोः परस्परदर्शनेन क्रोधसंरक्तलोचनयोः मध्यात् वल्मीकस्थेन सर्पेण उक्तं,–"भोभो दुरात्मन्! कथं सुन्दरसर्वाङ्गं राजपुत्रमित्थं कदर्थयसि?" मुखस्थोऽहिरब्रवीत्,–"भो भोः! त्वया अपि दुरात्मना अस्य वल्मीकस्य मध्ये कथमिदं दूषितं हाटकपूर्णं कलशयुगलम्" इति। एवं पर-

स्परस्य मर्माणि उद्घाटितवन्तौ। पुनः वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्-"भो दुरात्मन् ! भेषजमिदं ते किं कोऽपि न जानाति। यत् जीर्णोत्कालितकाञ्जिकाराजिकापानेन भवान् विनाशमुपयाति" । अथ उदरस्थोऽहिरब्रवीत्-" तवापि एतद्भेषजं किं कश्चिदपि न वेत्ति ? यत् उष्णतैलेन वा महोष्णोदकेन तव विनाशः स्यादिति " । एवञ्च सा राजकन्या विटपान्तरिता तयोः परस्परालापान् मर्ममयान् आकर्ण्य तथा एव अनुष्ठितवती । विधाय अव्यङ्गं नीरोगं भर्त्तारं निधिञ्च परममासाद्य स्वदेशाभिमुखं प्रायात् । पितृमातृस्वजनैः प्रतिपूजिता विहितोपभोगं प्राप्य सुखेन अवस्थिता । अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी नगरमें देवशक्ति नामवाला राजा रहता था उसका पुत्र उदरस्थ (१) वल्मीकमें रहनेवाले सर्पसे प्रतिदिन प्रत्यंगसे दुबला होता था, अनेक उपायोंसे सद्वैद्यों द्वारा सच्छास्त्रोंमें कही औषधीसे युक्तभी चिकित्सा करा हुआ स्वस्थताको न प्राप्त होता । तब यह राजपुत्र निर्वेदसे देशान्तरको गया किसी एक नगरमें भिक्षाटन कर बडे देवालयमें समय बिताता था । उस नगरमे बलिनाम राजा है उसकी दो कन्या जवानथीं । वो प्रतिदिन सूर्योदयमें पिताके निकट आकर नमस्कार करती हुई। उनमेंसे एक बोली-"महाराजकी जय हो। जिसके प्रसादसे सब सुख प्राप्त होता है" । दूसरी-"महाराज ! अपने कर्मसे उत्पन्न हुआ भोगो," ऐसा बोली। यह सुन क्रोध कर राजा बोला,-"भो ! मंत्रिन् इस दुष्ट बोलनेवाली कुमारिकाको किसी विदेशी पुरुषको दे दो। जिससे अपना किया हुआ यही भोगे" । तब "बहुत अच्छा" कहकर थोडी सखियोंके सहित वह कुमारी मत्रियोंने उस देवमंदिरमें रहनेवाले राजपुत्रको देदी । वह भी प्रसन्नमनसे उस पतिको देववत् प्राप्त हो लेकर और देशको गई । तब किसी अत्यन्त दूर नगर देशमें सरोवरके तट राजपुत्रको स्थान रक्षाके लिये नियुक्तकर स्वयं घी तेल लवण तण्डुलादिक लेनेके निमित्त परिवार सहित गई । क्रय विक्रय कर जब आने लगी तबतक वह राजपुत्र वल्मीकके

१ उसके पेटमें सर्प रहताथा ।

ऊपर शिर धरकर सो गया। उसके मुखसे सर्प फण निकालकर वायुभक्षण करता था। उसी बॅबईसे दूसरा सर्प निकल कर भी इसी प्रकार करता। तब उनके परस्पर दर्शनसे क्रोधसे लाल नेत्र कर वल्मीकमे स्थित सर्पने कहा—"भो भो दुरात्मन्! किस प्रकार सर्वांगसुन्दर इस राजपुत्रको क्लेश देता है?" मुखमें स्थित सर्प बोला,—"भो! भो! तुम दुरात्माने भी इस वल्मीकके मध्यमें किस प्रकार यह सुवर्णसे पूर्ण दो कलश दूषित किये है?" इस प्रकार परस्पर दोनों भेद खोलते भये। फिर वल्मीकमे स्थित सर्प बोला,—"भो दुरात्मन्! यह तेरी औषधी क्या कोई नहीं जानता है? जो कि पुरानी आलोडित राजकांजीके पानसे तू नाशको प्राप्त होगा"। तब वह मुखके भीतरका सर्प बोला—"क्या तेरी यह औषधी कोई नहीं जानता है? जो गरम जल वा गरमतेलसे तेरा नाश होगा"। इस प्रकार वह राजकन्या वृक्षकी ओरसे उन दोनोंके परस्पर भेदके वचन सुनकर, वैसाही करती हुई अव्यग और निरोग स्वामीको करके परम धनको प्राप्त हो अपने देशको चली। पिता माता सुजनोंसे पूजित हो यथेच्छ भोगोंको प्राप्त होकर सुखसे रही। इससे मैं कहता हू—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत्॥ २००॥"

जो प्राणी परस्परमर्मोंकी रक्षा नहीं करते हैं वह वल्मीक और उदरके सर्पकी समान नष्ट होते हैं॥ २००॥"

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिमर्दनोऽपि एवं समर्थितवान्। तथाच अनुष्ठितं दृष्ट्वान्तर्लीनं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीत्,—"कष्टम्! विनाशितोऽयं भवद्भिः अन्यायेन स्वामी। उक्तञ्च—

यह सुनकर स्वय अरिमर्दन भी इस वातको पुष्ट करता हुआ इस प्रकार (शरणागत रक्षा) के अनुष्टानको देखकर अस्पष्ट स्वरसे हँसकर रक्ताक्ष फिर बोला,—"कष्ट है कि तुमने अन्यायसे स्वामीका नाश किया। कहा है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानान्तु विमानना।
त्रीणि तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥ २०१॥

जहा अपूज्य पूजे जाते हैं पूज्योंका निरादर होता है वहा तीन होते हैं दुर्भिक्ष, मरण और भय॥ २०१॥

तथाच-
और देखो-

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।
रथकारः स्वकां भार्य्यां सजारां शिरसाऽऽवहत् ॥२०२॥"

प्रत्यक्ष दोष होनेपर भी (पापीकी) विनयसे मूर्ख शान्त होता है रथकारने अपनी भार्याको जारसहित शिरपर उठाया ॥ २०२ ॥"

मन्त्रिणः प्राहुः-"कथमेतत् ?" रक्ताक्षः कथयति-
मंत्री बोले,-"यह कैसे ?" रक्ताक्ष कहता है-

कथा ११.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने वीरधरो नाम रथकारः, तस्य भार्य्या कामदमनी । सा च पुंश्चली जनापवादसंयुक्ता । सोऽपि तस्याः परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत् ।-"अथ मया अस्याः परीक्षणं कर्त्तव्यम् । उक्तश्च यतः-

किसी एक स्थानमें वीरधर नामवाला बढई रहता है । उसकी भार्या कामदमनी । वह व्यभिचारिणी लोकापवादसे युक्तथी । वह भी उसकी परीक्षा करनेका विचार करताथा कि"किस प्रकारमें इसकी परीक्षा करूं । कहाहै-

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः ।
स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद्यदि स्याद्दुर्जनो हितः ॥२०३॥

यदि अग्नि शीतल होजाय वा चन्द्रमा गरम होजाय वा दुर्जन हित होजाय तो स्त्रियोंके सतीपनका विश्वास हो ॥ २०३ ॥

जानामि च एनां लोकवचनात् असतीम् । उक्तञ्च-
लोकप्रवादसे मैं इसको असती जानता हूं । कहा है-

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम् ।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद्ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ २०४ ॥

जो वेदशास्त्रमें न देखा न सुना है और जो कुछ इस संसारके मध्यमें स्थित है उसको स्त्री लोक सब जानते हैं ॥ २०४ ॥

एवं सम्प्रधार्य्य भार्य्यामवोचत्-"प्रिये ! प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि । तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति । तत

त्वया किमपि पाथेयं मम योग्यं विधेयम्" । सापि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्ता औत्सुक्यात् सर्वकार्य्याणि सन्त्यज्य सिद्धमन्नं घृतशर्कराप्रायमकरोत् । अथवा साधु इदमुच्यते-

ऐसा विचार कर भार्यासे बोला—"प्रिये ! प्रभात समयमें ग्रामान्तरको जाऊंगा वहा कुछ दिन लगेंगे सो तू कुछ भोजनादि बनादे"। वह भी यह वचन सुन बडे हर्षित चित्तसे उत्कंठासे सब कार्य त्याग कर सिद्ध अन्न (पूरी आदि) घृत शर्करासे युक्त बनाती हुई । अथवा यह अच्छा कहा है—

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ २०९ ॥

दुर्दिन घने अन्धकारमें मेघके वर्षनेमें महाजगलमें पतिके विदेश जानेमें चपल जघावाली (कामिनी) परम सुख मानती है ॥ २०९ ॥

अथ असौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहात् निर्गतः । सापि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदना अङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथञ्चित् तद्दिवसमत्यवाहयत्। अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती । स दुरात्मा मे पतिर्ग्रामान्तरं गतः । तत् त्वया अस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम्। तथा अनुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहेऽपरद्वारेण प्रविश्य शय्याधस्तले निभृतो भूत्वा स्थितः । एतस्मिन्नन्तरे स देवदत्तः समागत्य तत्र शयने उपविष्टः । तं दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत् "किमेनं उत्थाय हन्मि, अथवा हेलया एव प्रसुप्तौ द्वौ अपि एतौ व्यापादयामि । परं पश्यामि तावदस्याः चेष्टितम्। शृणोमि च अनेन सह आलापान्"। अत्रान्तरे सा गृहद्वारं निभृतं विधाय शयनतलमारूढा । अथ तस्यास्तत्र आरोहन्त्या रथकारशरीरे पादो विलग्नः । ततः सा व्यचिन्तयत् । "नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् । ततः स्त्रीचारित्रविज्ञानं किमपि करोमि"। एवं तस्याः चिन्तयन्त्या स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको बभूव। अथ तया कृताञ्जलिपुटया भणितं—"भो महानुभाव! न मे शरीरं त्वया

स्पर्शनीयं यतोऽहं पतिव्रता महासती च। न चेत् शापं दत्त्वा त्वां भस्मसात करिष्यामि"। स आह-"यदि एवं तर्हि त्वया किमहमाहूतः?" सा अब्रवीत्,-"भो! शृणुष्व एकाग्रमनाः। अहमद्यप्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता, तत्र अकस्मात् खे वाणी सञ्जाता-"पुत्रि! किं करोमि, भक्तासि मे त्वं, परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद् विधवा भविष्यसि"। ततो मया अभिहितं,-"भगवति! यथा त्वम् आपदं वेत्सि, तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि। तत् अस्ति कश्चिदुपायो येन मे पतिः शतसंवत्सरजीवी भवति?"। ततः तया अभिहितम्-"वत्से! सन्नपि नास्ति। यतः तव आयत्तः स प्रतीकारः" तच्छ्रुत्वा मया अभिहितम्,-"देवि! यदि तत् मम प्राणैर्भवति, तत् आदेशय येन करोमि"। अथ देव्या अभिहितम्,-"यदि अद्यदिने परपुरुषेण सह एकस्मिन् शयने समारुह्य आलिङ्गनं करोषि, तत् एव भर्तृसक्तोऽपमृत्युः तस्य सञ्चरति भर्त्तापि पुनः वर्षशतं जीवति"। तेन त्वं मया अभ्यर्थितः। तद्यत किञ्चित् कर्तुमनाः तत् कुरुष्व। न हि देवतावचनमन्यथा भविष्यति। इति निश्चयः"। ततोऽन्तर्हासविकाशमुखः स तदुचितमाचचार। सोऽपि रथकारो मूर्खः तस्याः तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाङ्किततनुः शय्याधस्तलात् निष्क्रम्य तामुवाच,-"साधु पतिव्रते! साधु कुलनन्दिनि अहं दुर्जनवचनशंकितहृदयः त्वत्परीक्षानिमित्तं ग्रामान्तरव्याजं कृत्वा अत्र खट्वाधस्तले निभृतं लीनः। तत एहि आलिङ्गय मां, त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणां यत् एव ब्रह्मव्रतं परसङ्गेऽपि पालितवती। मदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशार्थञ्च त्वमेवं कृतवती"। तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिङ्गितवान्। स्वस्कन्धे तां आरोप्य तमपि देवदत्तमुवाच,-"भो महानुभाव! मत्पुण्यैः त्वमिह आगतः, त्वत्प्रसादात् मया प्राप्तं वर्षशतप्रमाणमायुः। तत् त्वमपि मामालिंग्य मत-

स्कन्धे समारोह" । इति जल्पन् अनिच्छन्तमपि देवदत्त-मालिंग्य बलात् स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान्। ततश्च नृत्यं कृत्वा,-"हे ब्रह्मव्रतधराणां धुरीण ! त्वयापि मयि उपकृतं" इत्यादि उक्त्वा स्कन्धात् उत्तार्य्य, यत्र यत्र स्वजनगृहद्वारादिषु बभ्राम, तत्र तत्र तयोः उभयोरपि तद्गुणवर्णनमकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि-

तब यह सबेरेही उठकर अपने घरसे निकला। वहभी उसको गया जान शृंगारकर किसी प्रकार दिन बिताती हुई और पूर्वपरिचित जारके घर जाकर उससे मिली (बोली) -"वह दुरात्मा मेरा पति ग्रामान्तरको गया है तू हमारे घर जनोंके सोजानेपर आजाना" । वैसाही हुआ । और वह रथकार वनमेंही दिन व्यतीतकर रात्रिको अपने घरमें दूसरे द्वारसे प्रवेश कर सेजके नीचे मौन होकर स्थित हुआ । इसी समय देवदत्त (जार) आकर उस सेजपर आया । उसको देख क्रोधपूर्णचित्त वढई विचारने लगा "क्या इसको उठकर मारू अथवा लीलासे सोते हुए दोनोंहीको मारू । अच्छा इनकी चेष्टा तो देखू । इनके साथकी बात सुनू" । इसी समय वह घरका दरवाजा मूदकर सेजपर आरूढ हुई । तब उसके उसपर चढनेमे रथकारके शरीरमें पाव लगा । तब वह विचारने लगी "अवश्य यह दुरात्मा रथकार मेरी परीक्षाके निमित्त स्थित है सो कोई स्त्रीचरित्रका कौशल करू" । इस प्रकार उसके विचारनेपर वह देवदत्त उसके स्पर्शमें उत्कंठित हुआ । तब उसने हाथ जोडकर कहा-"भो ! महानुभाव ! तुम मेरा शरीर मत छुओ, जो कि मैं पतिव्रता महा सती हू । नहीं तो शाप देकर तुमको भस्म कर दूंगी" । वह बोला,-"जो ऐसा है तो तैने मुझे क्यों बुलाया ?"। वह बोली-"भो ! एकाग्र मनसे सुनो । मैं आज सबेरे देवता दर्शनको चण्डीके मन्दिरमें गई वहां अकस्मात् आकाशवाणी हुई-"पुत्री ! मैं क्या करू तू मेरी भक्त है परन्तु छः महीनेके बीचमें प्रारब्धके कारण तू विधवा होगी" तब मैंने कहा-"भगवति ! जो तू आपत्तिको जानती है, तो उसका निवारणभी जानती है क्या है ऐसा कोई उपाय है जिससे मेरा पति सौ वर्षतक जिये ?"। तब उसने कहा-"वत्से ! होता हुआभी नहीं है । क्यों कि उसका उपाय तेरे अधीन है" । यह सुनकर मैंने कहा,-"देवि ! यदि

वह मेरे प्राणोंसेभी हो, तो आज्ञा दे जिससे मैं करूं" । तब देवीने कहा जो आजके दिन परपुरुषके साथ एक खाटपर आरूढ हो आलिंगन करे तो तेरे भर्ताकी अपमृत्यु उस परपुरुषमें चली जाय तेरा भर्ताभी फिर सौवर्षतक जिये " । इस कारण मैंने तुमको बुलाया है । सो जो कुछ करनेकी इच्छा हो सो कर । देवताका वचन अन्यथा न होगा यह निश्चय है," तब भीतर हँसीसे खिले मुखवाला यह उससे उचित आचरण करता हुआ । वह मूर्ख रथकारभी उसके वचन सुन पुलकित शरीर हो शय्याके नीचेसे निकल उससे बोला,—"धन्य पतिव्रते धन्य ! कुलकी आनन्द देनेवाली धन्य ! मैं दुर्जनोंके वचनोंसे शंकित हृदयहो तेरी परीक्षाके निमित्त ग्रामान्तर जानेका बहाना करके इस खाटके नीचे एकान्तमें छिपगया था । सो आ मुझे आलिंगन कर, तू अपने स्वामीकी भक्ति करनेवाली स्त्रियोंमें मुख्य है ऐसा तप-रूप व्रत परपुरुषके संग करती हुई । मेरी आयुके बढानेके निमित्त तथा अप-मृत्यु नाशके निमित्त तैने ऐसा किया" । उससे ऐसा कह स्नेहसे आलिंगन करता हुआ अपने कन्धेपर उसे चढाकर उस देवदत्तसे बोला—"भो महा-नुभाव ! मेरे पुण्यसे तुम यहां आये तुम्हारे प्रसादसे मैंने सौ वर्षकी आयु प्राप्त की । सो तू भी मुझे आलिंगन कर मेरे कन्धेपर चढ" । ऐसा कह नहीं इच्छा करनेपरभी देवदत्तको आलिंगन कर बलसे अपने कन्धेपर चढाता हुआ । फिर नृत्य करके हे ब्रह्मव्रत धारण करनेवालोंमें अग्रणी तुमनेभी मेरा उपकार किया ऐसा कह कर कन्धेसे उतार जहां तहां अपने स्वजनोंके गृहद्वारमें घूमने लगा । वहां वहां उन दोनोंके ही उन गुणोंका वर्णन करता भया । इससे मैं कहताहूं कि—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।
रथकारः स्वकां भार्य्यां सजारां शिरसावहत् ॥ २०६ ॥

कि पाप देखकर भी मूर्ख साम उपायसे शान्त हो जाता है रथकारने (इस प्रकार) जारसहित अपनी भार्याको शिरपर उठाया ॥ २०६ ॥

तत सर्वथा मूलोत्खाता वयं विनष्टाः स्मः । सुष्ठु खलु इदमुच्यते—

सो सर्वथा मूल उखडनेसेही हम नष्ट हुए। यह अच्छा कहा है-

मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः॥ २०७॥

जो मनुष्य हित वाक्य छोडकर विपरीत सेवन करते हैं चतुर पुरुषों द्वारा वे यथार्थमें बधुरूपधारी शत्रु माने आते हैं॥ २०७॥

तथाच-

और देखो-

सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः।
अप्राज्ञान्मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा॥२०८॥"

देश कालके विरुद्ध आचरण करनेवालोंके प्रज्ञारहित मंत्रियोंको प्राप्त होकर विद्यमान वस्तु भी ऐसे नष्ट होती हैं जैसे सूर्योदयमें अंधकार॥२०८॥"

ततः तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुत्क्षिप्य स्वदुर्गमानेतुमारब्धाः। अथ आनीयमानः स्थिरजीवी आह- "देव! अद्य अकिञ्चित्करेण एतदवस्थेन किं मया उपसंगृहीतेन यत्कारणमिच्छामि दीप्तं वह्निमनुवेष्टुं तत अर्हसि मामग्निप्रदानेन समुद्धर्त्तुम्"। अथ रक्ताक्षः तस्य अन्तर्गतभावं ज्ञात्वा अब्रवीत्-"किमर्थमग्निपतनमिच्छसि"। सोऽब्रवीत्,-"अहं तावद् युष्मदर्थे इमामापदं मेघवर्णेन प्रापितः। तदिच्छामि तेषां वैरयातनार्थमुलूकताम्" इति। तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्षः प्राह-"भद्र! कुटिलस्त्वं कृतकवचनचतुरश्च। तत् त्वमुलूकयोनिगतोऽपि स्वकीयामेव वायसयोनिं बहुमन्यसे। श्रूयते च एतदाख्यानकम्-

तब उसके वचनोंको अनादर करके सबही स्थिरजीवीको उठाकर अपने दुर्गमें लेजाने लगे। तब लेजाया हुआ स्थिरजीवी बोला-"देव! अब कुछ भी करनेमें असमर्थ मेरे ग्रहण करनेसे क्या है। इस कारणसे अब मैं प्रदीप्त अग्निमें प्रवेशकी इच्छा करता हूं। सो मुझे अग्नि प्रदानसे उद्धार करनेको आप योग्य हो"। तब रक्ताक्ष उसके अन्तर्गत भावको जानकर बोला-"क्यों

अग्निपतनकी इच्छा करता है ?" । वह बोला—"मेरी तो तुम्हारे निमित्त मेघवर्णने यह आपत्ति की । सो मैं उससे वैर निकालनेको उलूकत्वकी इच्छा करता हूं" । यह सुन राजनीतिमें चतुर रक्ताक्ष बोला,—"भद्र ! तुम कुटिल और बनावटी वचन कहनेमें चतुर हो । जो तू उलूक योनिमें प्राप्त हुआ भी अपनी वायस योनिकोही बहुत मानेगा । इसमें यह आख्यान सुना जाता है—

सूर्य्यं भर्त्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।
स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ २०९॥"

मूषिका सूर्य मेघ वायु पर्वत भर्ताको छोड़ त्यागनेके अयोग्य अपनी जातिको प्राप्त हुई (जातिका स्वभाव अतिक्रम नहीं हो सकता) ॥ २०९ ॥ "

मन्त्रिणः प्रोचुः,—"कथमेतत् ?" रक्ताक्षः कथयति—

मंत्री बोले—"यह कैसी कथा है ?" रक्ताक्ष कहने लगा—

कथा १२.

अस्ति विषमशिलातलस्खलिताम्बुनिर्घोषश्रवणसन्त्रस्तमत्स्यपरिवर्त्तनसञ्जनितश्वेतफेनशबलतरङ्गाया गङ्गायाः तटे जपनियमतपःस्वाध्यायोपवासयोगक्रियानुष्ठानपरायणैः परिपूतपरिमितजलजिघृक्षुभिः कन्दमूलफलशैवलाभ्यवहारकदर्थितशरीरैः वल्कलकृतकौपीनमात्रप्रच्छादनैः तपस्विभिः आकीर्णमाश्रमपदम् । तत्र याज्ञवल्क्यो नाम कुलपतिः आसीत् । तस्य जाह्नव्यां स्नात्वा उपस्प्रष्टमारब्धस्य करतले श्येनमुखात् परिभ्रष्टा मूषिका पतिता । तां दृष्ट्वा न्यग्रोधपत्रेऽवस्थाप्य, पुनः स्नात्वा उपस्पृश्य च, प्रायश्चित्तादिक्रियां कृत्वा च, मूषिकां तां स्वतपोबलेन कन्यकां कृत्वा समादाय स्वाश्रमं आनिनाय । अनपत्याश्च जायामाह,—"भद्रे ! गृह्यतामियं तव दुहितोत्पन्ना प्रयत्नेन संवर्द्धनीया" इतिततः तया संवर्द्धिता लालिता पालिता च यावत् द्वादशवर्षा संजाता । अथ विवाहयोग्यां तां दृष्ट्वा भर्त्तारमेव जाया उवाच,—"भो भर्त्तः ! किमिदं न अवबुध्यसे यथा अस्याः स्वदुहितुर्विवाहसमयातिक्रमो भवति" असौ आह— । " साधु उक्तम् । उक्तञ्च—

ऊंचे नीचे शिलातलमें गिरनेके जलसे शब्दायमान, उसके श्रवणमात्रसे व्याकुल मत्स्योंके कूदने आदिसे प्रगट श्वेतफेनसे मिश्रित तरंगवाली गंगाके तटमें जप नियम तप स्वाध्याय व्रत योग क्रिया अनुष्ठानमें परायण विशुद्ध अल्प जलोंके ग्रहणकी इच्छावाले कन्द मूल फल शैवल (सिवार) के भक्षण से क्लेशित शरीरवाले वल्कल (वृक्षकी छाल) की बनाई कौपीन मात्रसे शरीर ढकनेवाले तपस्वियोंसे युक्त आश्रम (तपोवन) स्थान है । वहां याज्ञवल्क्यनाम कुलपति (तपस्वियोंके स्वामी) रहते थे । उनके गंगाजीमें स्नानकर आचमन करनेको आरम्भ करते हुए हाथमें श्येनके मुखसे गिरी एक मूषिका आपडी । उसे देख वटपत्रमें रखकर फिर स्नान आचमन कर (अपवित्र स्पर्शसे उत्पन्न हुई) प्रायश्चित्त क्रियाको कर, उस मूषिकाको अपने तपोबलसे कन्या बनाय अपने आश्रममें लेआये । और सन्तान रहित अपनी स्त्रीसे बोले—"भद्रे ? ग्रहण करो यह तुम्हारी पुत्री उत्पन्न हुई है यत्नसे इसे बढाओ " । तब उससे बढाई लालन पालन की हुई वह जब बारह वर्षकी हुई तब विवाहके योग्य उसको देखकर वह जाया स्वामीसे बोली—"भो स्वामिन् ! आप क्या नहीं जानते ? कि यह इस कन्याके विवाहका समय बीतता है । यह (याज्ञवल्क्य) बोले—"तुमने सत्य कहा । कहाभी है—

स्त्रियः पूर्वं सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।
भुञ्जते मानुषाः पश्चात्तस्माद्दोषो न विद्यते ॥ २१० ॥

पहले स्त्रियें देवतोंसे भोगी जाती हैं, जो सोम गंधर्व और अग्नि नामवाले देवता हैं, पीछे मनुष्य भोगते हैं इस कारण दोष नहीं है (१) ॥ २१० ॥

सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाः शिक्षितां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥ २११ ॥

चन्द्रमाने उनको भोगमें पवित्रता, गन्धर्वोंने शिक्षित वाणी और अग्निने सर्वाङ्गमें उनको पवित्रता दीहै, इस कारण स्त्रियें पापरहित हैं ॥ २११ ॥

असम्प्राप्तरजा गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी ।
अव्यञ्जना भवेत्कन्या कुचहीना च नग्निका ॥ २१२ ॥

१ हमारा बनाया दयानन्द तिमिरभास्कर देखो ।

जिसके रज प्राप्त नहो वह गौरी, रज प्राप्त होनेमें रोहिणी जबतक चिन्ह प्रगट न हुएहों वह कन्या, कुच उदय न होनेतक नग्निका कहाती है ॥२१२॥

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुंक्ते हि कन्यकाम् ।
पयोधराभ्यां गन्धर्वा रजस्यग्निः प्रतिष्ठितः ॥ २१३ ॥

चिन्होंके उत्पन्न होनेपर चन्द्रमा कन्याको भोगता है पयोधर होनेपर गंधर्व और रज उत्पन्न होने पर अग्नि उसको भोगता है ॥ २१३ ॥

तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।
विवाहश्चाष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥ २१४ ॥

इस कारण जबतक ऋतुमती नहो तबतक कन्याको विवाह दे आठ वर्षकी कन्याका विवाह करना अच्छा है ॥ २१४ ॥

व्यञ्जनं हन्ति वै पूर्वं परं चैव पयोधरौ ।
रतिरिष्टांस्तथा लोकान्हन्याच्च पितरं रजः ॥ २१५ ॥

स्त्रीचिन्ह प्रगट होनेपर पूर्व पुण्यको नाशते हैं, स्तनप्राप्तिपरभी विवाह न होने पर परत्र लभ्य पुण्यका नाश होता है सुरत योग्य होनेसे स्वर्गादिलोकोंको और रजोवती होनेसे पितरोको नरकमे डालती है स्त्री व्यंजन (चिन्ह) से पहलेही कन्यादान करना चाहिये ॥ २१५ ॥

ऋतुमत्यां तु तिष्ठन्त्यां स्वेच्छादानं विधीयते ।
तस्मादुद्वाहयेन्नग्नां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ २१६ ॥

ऋतुमती कन्याके होनेमें कन्याकी अनुमतिसे दान करे इस कारण नग्ना (रजोरहित) कन्याको विवाह करे ऐसा स्वायंभुमनुने कहा है ॥ २१६ ॥

पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।
अविवाह्या तु सा कन्या जघन्या वृषली स्मृता ॥ २१७ ॥

जो कन्या पिताके घर बिनाविवाहित हुई रज दर्शन करती है वह कन्या विवाहके अयोग्य शूद्रावत् होती है ॥ २१७ ॥

श्रेष्ठेभ्यः सदृशेभ्यश्च जघन्येभ्यो रजस्वला ।
पित्रा देया विनिश्चित्य यतो दोषो न विद्यते ॥ २१८ ॥

रजस्वला कन्या जिस प्रकार दोष नहो सो विचार कर श्रेष्ठ सदृश और अधमोंमें (नहीं) जो श्रेष्ठ हों उनको देनी चाहिये (१) ॥ २१८ ॥

१ एक नव युवकाभ्यासी वृथा उपाधि धारीने ऐसे श्लोकोका आशय और तत्व न जानकर वृथाही जल्पना प्रकाशकी है सो त्याज्य है ।

अतोऽहमेनां सदृशाय प्रयच्छामि न अन्यस्मै।

उक्तञ्च-।

सो मैं इसको समानके लिये दूंगा न और किसीको। कहा है-

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ २१९॥

जिन दोनोंका समान धन और जिन दोनोंका समान कुलहो उन्हीका विवाह और मित्रभाव होना चाहिये धनी निर्धनीका नहीं॥ २१९॥

तथाच-

और देखो-

कुलञ्च शीलञ्च सनाथता च
विद्या च वित्तञ्च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त विचिन्त्य देया
कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥ २२०॥

कुल, शील (चरित्र), सनाथता (सहाय), विद्या, धन, शरीर, अवस्था यह सात गुण विचार कर बुद्धिमान्को कन्या देनी चाहिये इसके उपरान्त भवितव्यका विचार न करे॥ २२०॥

तत यदि अस्या रोचते तदा भगवन्तमादित्यमाहूय तस्मै प्रयच्छामि"। सा प्राह,-"इह को दोषः? क्रियतामेतत्"। अथ मुनिना रविराहूतः। वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच,-"भगवन्! किमहमाहूतः?" सोऽब्रवीत,-" एषा मदीया कन्यका तिष्ठति। यदि एषा त्वां वृणोति तर्हि उद्वहस्व" इति। एवमुक्त्वा स्वदुहितरमुवाच,-"पुत्रि! किं तव रोचते एष भगवान् त्रैलोक्यदीपको भानुः?" पुत्रिका अब्रवीत,-"तात! अतिदहनात्मकोऽयं न अहमेनमभिलषामि। तस्मात् अन्यः प्रकृष्टतरः कश्चित आहूयताम्"। अथ तस्याः तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः भास्करमुवाच,-"भगवन्! त्वत्तोऽधिकोऽस्ति कश्चित्?" भास्करः प्राह,-"अस्ति मत्तोऽपि अधिको मेघो येन आच्छादितोऽ-

ह्यमदृश्यो भवामि" । अथ मुनिना मेघमपि आहूय कन्या अभिहिता,–"पुत्रिके ! अस्मै त्वां प्रयच्छामि ?" । सा प्राह,–"कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च । तदस्मात् अन्यस्य प्रधानस्य कस्यचित् मां प्रयच्छ" । अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्टः–"भो भो मेघ ! त्वत्तोऽपि अधिकोऽस्ति कश्चित् ?" मेघेनोक्तं, "मत्तोऽपि अधिकोऽस्ति वायुः । वायुना हतोऽहं सहस्रधा यामि" । तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुराहूतः । आह च,–"पुत्रिके ! किमेष वायुस्ते विवाहाय उत्तमः प्रतिभाति ?" सा अब्रवीत्–"तात ! अतिचपलोऽयं तदस्मादपि अधिकः कश्चित् आनीयताम्" । मुनिराह,–"वायो ! त्वत्तोऽपि अधिकोऽस्ति कश्चित् ?" पवनेन उक्तं,–"मत्तोऽपि अधिकोऽस्ति पर्वतो येन संस्तभ्य बलवानपि अहं ध्रियें" । अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्यामुवाच–"पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि?" । सा प्राह,–"तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च । तत् अन्यस्मै देहि मां" । मुनिना पर्वतः पृष्टः–"भोः पर्वतराज ! त्वत्तोऽपि अधिकोऽस्ति कश्चित" । गिरिणा उक्तम्–"मत्तोऽपि अधिकाः सन्ति मूषिका ये मच्छरीरं बलात् विदारयन्ति" । ततो मुनिः मूषिकमाहूय तस्या अदर्शयत् । आह च–"पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि किमेष प्रतिभाति ते मूषिकराजः ?" । सापि तं दृष्ट्वा स्वजातीय एष इति मन्यमाना पुलकोद्भूषितशरीरोवाच–"तात ! मां मूषिकां कृत्वा अस्मै प्रयच्छ । येन स्वजातिविहितं गृहधर्मम् अनुतिष्ठामि" । ततः सोऽपि स्वतपोबलेन तां मूषिकां कृत्वा तस्मै प्रादात् । अतोऽहं ब्रवीमि–

सो यदि इसको अच्छा लगे तो भगवान् सूर्यको बुलाकर उन्हें प्रदान करूं" । वह बोली–"इसमें क्या दोष है । यही करो" तब मुनिराजने सूर्यको बुलाया । वेदमंत्रके उच्चारणप्रभावसे उसी क्षणमें सूर्य आनकर बोले–"भगवन्, मुझे क्यों बुलाया है ?" । वह बोले–"यह मेरी कन्या है । जो यह तुमको वरण करे तो

इसके सग विवाह करो" । ऐसा कह अपनी कन्यासे बोले-"पुत्रि ! क्या यह त्रिलोकीके प्रकाशक भगवान् सूर्य तुमको रुचते हैं?" । पुत्रिका बोली-"पित. ! यह अधिक प्रज्वलित है । मैं इनकी अभिलाषा नहीं करती । सो इनसे अधिक उत्कृष्ट कोई बुलाओ" तब उसके यह वचन सुन मुनि सूर्यसे बोले-"भगवन् ! कोई तुमसे भी अधिक शक्तिमान् है ?" सूर्य बोले-"मुझसे भी अधिक मेघ है जिससे ढक कर मैं अदृश्य होता हू" । तब मुनिने मेघदेवताको बुलाकर कन्यासे कहा-"पुत्रिके ! इसके निमित्त तुझे दू ?" । वह बोली । "-यह कृष्णवर्ण जडात्मा है । सो इससे अधिक किसी प्रधानके निमित्त मुझे दो" । तब मुनिने मेघसे पूछा-"भो मेघ ! तुझसे भी अधिक कोई है ?"। मेघने कहा मुझसे भी अधिक वायुहै वायुसे हत हुआ मैं सहस्रधा हो जाता हू"। यह सुनकर मुनिने वायुको बुलाया । बोले भी-"पुत्रिके ! क्या यह वायु विवाहके निमित्त तुझे अच्छा लगता है ?" वह बोली-"तात ! यह अधिक चपल है । सो इससे अधिक कोई और बुलाओ" । मुनिने कहा-"वायो ! क्या कोई तुमसे भी अधिक है ?" । वायुने कहा-"मुझसे अधिक पर्वत है जिससे निश्चल होकर बलवान् भी मैं धारित होता हू" । तब मुनि पर्वतको बुलाकर कन्यासे बोले-"पुत्रिके ! तुमको इसके निमित्त दू ?" । वह बोली-"तात ! यह कठिनात्मा और निश्चल है, सो और किसीके निमित्त मुझे दो" । मुनिने पर्वतसे पूछा,-"भो पर्वतराज ! कोई तुमसे भी अधिक है ?"। पर्वतने कहा-"मुझसे अधिक मूषे हैं जो मेरे शरीरको बलसे विदीर्ण करते हैं" । तब मुनिने मूषकराजको बुलाय उसे दिखाया और बोले-"पुत्रिके ! क्या इसके निमित्त तुझे दू यह मूषिकराज तुझको अच्छा लगता है ?" वह भी उसको देख यह स्वजातीय है ऐसा मानकर पुलकावलीसे अलकृत शरीरवाली उससे बोली,-"तात ! मुझे मूषिका करके इसके निमित्त दो । जिससे अपनी जातिके योग्य गृहधर्मका अनुष्ठान करू" । तब वह भी अपने तपोबलसे उसे मूषिका करके उस (मूषकराज) को देते भये । इससे मैं कहता हू-

सूर्य्यं भर्त्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।
स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ २२१ ॥"

सूर्य, मेघ, पवन, पर्वतको (इस प्रकार) भर्ता बनाना छोडकर मूषिका अपनी जातिको प्राप्त हुई जाति अपनी नहीं छोडी जाती ॥ २२१ ॥"

अथ रक्ताक्षवचनमनादृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपनीतः । नीयमानश्च अन्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्-

तब रक्ताक्षके वचनको अनादरकर उन्होंने अपने वंशको नाश निमित्त ही उस (वायस मंत्री) को अपने दुर्गमें प्राप्त किया । लेजाया हुआ भीतर बैठ हँसकर स्थिरजीवी मनमें सोचने लगा--

"हन्यतामिति येनोक्तं स्वामिनो हितवादिना ।
स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ २२२ ॥

स्वामीका हित करनेवाले जिसने कहाथा कि इसे मारडालो वही एक इन सबमें नीतिशास्त्रके तत्वका जाननेवाला है ॥ २२२ ॥

तद्यदि तस्य वचनमकरिष्यन् एते, ततो न स्वल्पोऽपि अनर्थोऽभविष्यत् एतेषाम्" । अथ दुर्गद्वारं प्राप्य अरिमर्दनोऽब्रवीत्,-"भो ! भोः! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथा समीहितं स्थानं प्रयच्छत" । तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्, "मया तावत एतेषां वधोपायः चिन्तनीयः, स मया मध्यस्थेन न साध्यते । यतो मदीयमिङ्गितादिकं विचारयन्तः तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति, तद्दुर्गद्वारमाधिश्रितोऽभिप्रेतं साधयामि" इति निश्चित्य उलूकपतिमाह,-"देव ! युक्तमिदं यत् स्वामिना प्रोक्तं परमपि नीतिज्ञस्ते अहितश्च । यद्यपि अनुरक्तः शुचिस्तथापि दुर्गमध्ये आवासो न अर्हः । तत् अहमत्र एव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजःपवित्रीकृततनुः सेवां करिष्यामि" । तथेति प्रतिपन्ने प्रतिदिनमुलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहारं कृत्वा उलूकराजादेशात् प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति । अथ कतिपयैः एव अहोभिः मयूर इव स बलवान् संवृत्तः । अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं पोष्यमाणं दृष्ट्वा सविस्मयो मन्त्रिजनं राजानञ्च

प्रत्याह-"अहो ! मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवांश्च इति एवमहमवगच्छामि । उक्तञ्च-

सो यदि यह उनका वचन करते तो थोडासा भी अनर्थ इनका न होता"। तब दुर्गद्वारको प्राप्त होकर अरिमर्दन बोला-"भो ! हितकारी इस स्थिरजीवीको जहा चाहे वहा स्थान दो" । यह सुनकर स्थिरजीवी विचारने लगा । "मुझे तो इनके वधका उपाय करना है । सो मध्यमें रहनेसे वह मुझसे सिद्ध न होगा, कारण कि यह मेरी चेष्टादिकका विचार कर सावधान हो जायगे । सो दुर्गद्वारमें स्थित होकर अपना अभिप्राय सिद्ध करू" । ऐसा विचार उलूकपतिसे बोला-"देव युक्त ही है यह जो स्वामीने कहा है । परन्तु मैंभी नीतिशास्त्रका ज्ञाता तुम्हारा अहित हू । यद्यपि तुममे प्रीतिमान् और पवित्र हू तथापि दुर्गके मध्यमें रहना उचित नहीं । सो मैं यहा दुर्गके द्वारमें स्थित हुआही प्रतिदिन स्वामीके चरणकमलकी रजसे पवित्र शरीरवाला सेवा करूगा" । बहुत अच्छा ऐसा कहने पर प्रतिदिन उलूकपतिके सेवक वे सम्यक् आहार करके उलूक राजकी आज्ञासे प्रचुर मास भोजन स्थिरजीवीको देते । तब कितने एक दिनोंमें मयूरकी समान बलवान् हुआ । तब रक्ताक्ष स्थिरजीवीको पुष्ट देखकर विस्मयपूर्वक मन्त्रिजन और राजासे बोला-"अहो ! मन्त्रिजन और तुम सब मूर्ख हो ऐसा मैं जानता हू । कहा है-

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशबन्धकः ।
ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २२३ ॥

पहले तो मैं मूर्ख, दूसरे पाशबधक, फिर राजा और मन्त्री सबही मूर्ख मडल है ॥ २२३ ॥"

ते प्राहुः,-"कथमेतत् ?" रक्ताक्षः कथयति-

वे बोले-"यह कैसी कथा ?" । रक्ताक्ष कहने लगा-

कथा १३.

अस्ति कस्मिंश्चित् पर्वतैकदेशे महान् वृक्षः । तत्र च सिन्धुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म । तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते । अथ कदाचित् तमुद्दिश्य व्याधः कोऽपि समाययौ । स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषमुत्ससर्ज । अथ पातस-

मकालमेव तत् सुवर्णीभूतं दृष्ट्वा व्याधो विस्मयमगमत् । "अहो ! मम शिशुकालात् आरभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनः अशीतिवर्षाणि समभूवन् । न च कदाचित् अपि पक्षिपुरीषे सुवर्णं दृष्टम्" । इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध । अथ असौ अपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टः । तत् कालमेव पाशेन बद्धः । व्याधस्तु तं पाशादुन्मुच्य पञ्जरके संस्थाप्य निजावासं नीतवान् । अथ चिन्तयामास । "किमनेन सापायेन पक्षिणा अहं करिष्यामि, यदि कदाचित्कोऽपि अमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेदयिष्यति, तत् नूनं प्राणसंशयो मे भवेत्, अतः स्वयमेव पक्षिणं राज्ञे निवेदयामि" । इति विचार्य्य तथैव अनुष्ठितवान् । अथ राजापि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपागतः, आह च एवं- "हंहो ! रक्षापुरुषाः ! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत अशनपानादिकं च अस्य यथेच्छं प्रयच्छत" । अथ मन्त्रिणा अभिहितम्,- "किमनेन अश्रद्धेयव्याधवचनप्रत्ययमात्रपरिगृहीतेन अण्डजेन । किं कदाचित् पक्षिपुरीषे सुवर्णं सम्भवति ? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी" । इति मन्त्रिवचनात् राज्ञा मोचितोऽसौ पक्षी उन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय, 'पूर्वं तावत् अहं मूर्ख' इति श्लोकं पठित्वा यथासुखमाकाशमार्गेण प्रायात् । अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी एक पर्वतके एक देशमें महान् वृक्ष है । वहां सिन्धुक नामक कोई पक्षी रहता था । उसकी बीटमें सुवर्ण उत्पन्न होता था । एक समय उसके उद्देश्यसे कोई व्याधा वहां आया वह पक्षी उसके सन्मुख ही पुरीष करता भया उसे सोना हुआ देख व्याधा विस्मयको प्राप्त हुआ । "अहो ! मुझे बालकपनसे लेकर पक्षि पकडनेका कार्य करते अस्सी वर्ष बीतगये । परन्तु कभी पक्षीके पुरीषमें सुवर्ण न देखा" ऐसा विचार उस वृक्षमें पाशको बांधता हुआ । तब यह मूर्ख पक्षी विश्वस्त चित्तसे वहां पूर्वकी समान बैठा रहा । और उसी समय पाशमें बंधगया। व्याधाभी उसको पाशसे खोलकर पींजरेमें डाल अपने घर लाया और

विचार करने लगा इस विपतयुक्त पक्षीको लेकर मैं क्या करू । जो कदाचित् कोई इसको ऐसा जानकर राजासे निवेदन करे तो अवश्यही मेरा प्राण सदेह उपस्थित होगा । इससे स्वयही पक्षीको राजाके पास लेजाकर निवेदन करू" । ऐसा विचार कर वही करता हुआ । राजाभी उस पक्षीको देख खिले नयनकमल मुखवाला परमसतोषको प्राप्त हुआ बोला, भो–"अहो रक्षा पुरुषो ! इस पक्षीको यत्नसे रक्षा करो भोजनपानादिक इसको यथेच्छ दो" । तब मत्रीने कहा–"यह विश्वासके अयोग्य व्याधके वचनसे इस पक्षीको ग्रहण करनेसे क्या है । क्या कहीं पक्षीके पुरीषमें सुवर्ण हो सक्ता है? सो पंजरके बधनसे इस पक्षीको छोडदे" । इस प्रकार मत्रीके वचनसे छोडा हुआ यह पक्षी ऊची द्वारकी तोरण पर बैठकर सुवर्णमयी बीट करके " पहले मैं मूर्ख " इस श्लोकको पढता हुआ यथासुख आकाशमें चलागया । इससे मैं कहताहू कि–

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशबन्धकः ।
ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २२४ ॥ '

पहले मैं मूर्ख दूसरा पाशबधक फिर राजा और मत्री सबही मूर्खका मंडल है ॥ २२४ ॥ "

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादि विविधाहारेण पोषयामासुः। अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच,–"अहो ! एतावदेव अस्मद् भूपतेः कुशलं दुर्गश्च । तदुपदिष्टं मया यत् कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते । तद्वयमन्यत् पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः । उक्तश्च यतः–

वे फिरभी प्रतिकूल दैवत होनेसे रक्ताक्षके वचन अनादर करके फिरभी उसको अनेक मासके आहारसे पुष्ट करते हुए । तब रक्ताक्ष अपने ओरके (उलूकों) को बुलाकर एकान्तमें बोला,–"अहो ! यहींतक हमारे राजाकी कुशल और दुर्गकी स्थितिहै । वह उपदेश दिया जो कुल क्रमसे आया हुआ मत्री उपदेश करता है । सो इस समय हम दूसरे पर्वत दुर्ग का आश्रय करेंगे कहा है कि–

अनागतं यः कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता ॥ २२९ ॥ "

नहीं उपस्थित हुई (भावि) विपदका प्रतिकार जो करता है वह शोभित होता है और जो न आई विपतका प्रतिकार नहीं करता वह कष्ट पाता है इस वनमें रहते २ मैं बूढा होगया परन्तु बिलकी वाणी कभी मैंने न सुनी ॥ २२९ ॥"

ते प्रोचुः-, "कथमेतत् ?" रक्ताक्षः कथयति-

वे बोले-"यह कैसे ?" रक्ताक्ष कहने लगा-

कथा १४.

कस्मिंश्चित् वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् इतश्चेतश्च परिभ्रमन् क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वं आससाद । ततश्च अस्तमनसमये महतीं गिरिगुहां आसाद्य प्रविष्टः चिन्तयामास । "नूनं एतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेन आगन्तव्यम् । तत् निभृतो भूत्वा तिष्ठामि" । एतस्मिन्नन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः, स च यावत् पश्यति, तावत् सिंहपदपद्धतिर्गुहायां प्रविष्टा न च निष्क्रमणं गता । ततश्च अचिन्तयत्, "अहो ! विनष्टोऽस्मि । नूनमस्यामन्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम् । तत् किं करोमि ? कथं ज्ञास्यामि ?" एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्तुमारब्धः-"अहो बिल ! अहो बिल !" इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथा एव प्रत्यभाषत,-"भोः ! किं न स्मरसि यत् मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति । यत् मया बाह्यात् समागतेन त्वं वक्तव्यः। त्वया च अहमाकारणीय इति । तद् यदि मां न आह्वयसि ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि" । अथ तच्छ्रुत्वा सिंहः चिन्तितवान् "नूनं एषा

गुहा अस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति । परं अद्य मद्भयात् न किञ्चिद् ब्रूते । अथवा साधु इदमुच्यते-

किसी एक वनके निकट तीक्ष्ण नखवाला सिंह रहताथा । वह कदाचित् इधर उधर घूमता क्षुधासे शुष्ककंठ किसी जीवको भी प्राप्त न करता हुआ । तब सूर्यास्तके समयमें बडी गिरिगुहाको प्राप्त हो उसमें प्रवेश कर विचारने लगा । "अवश्य इस गुहामें रात्रीके समय कोई जीव आवेगा । सो निस्तब्ध होकर बठूं" । इसी समय उसका स्वामी दधिपुच्छ (दहीकी समान श्वेत पूंछ-वाला) नामक शृगाल आया, वह ज्योंही देखता है त्योंही सिंहके पगचिन्ह गुहामें प्रवेश कर गये हैं नाकि निकलेके । तब विचारने लगा । "अहो मैं नष्ट हुआ । अवश्यही इसके भीतर सिंह है । मो क्या करूं ? कैसे जानूं ?" ऐसा विचार कर द्वारसे पुकारने लगा "अहो बिळ! अहो बिळ !" ऐसा कह मौन हो फिर भी उसी प्रकार बोला-"भो ! क्या भूलगई जो मेरे साथ तैने प्रतिज्ञा की थीं । जो कि मैं बाहरसे आकर तुझको पुकारा करूंगा । तब तू मुझे बुलाया करना । सो यदि मुझको नहीं बुलाती है तो मैं दूसरे बिलको जाताहूं" । यह सुनकर सिंह विचारने लगा "अवश्य यह गुहा इसके आनेपर सदा बुलाया करती है परन्तु आज मेरे भयसे कुछ नहीं बोलती । अथवा अच्छा कहा है-

भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत् ॥ २२६ ॥

भयसे व्याकुल मनवालोंकी हस्त पादादिक क्रिया तथा वाणी प्रवृत्त नहीं होती और कंप अधिक होता है ॥ २२६ ॥

तत् अहमस्य आह्वानं करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां यास्यति । एवं सम्प्रधार्य्य सिंहः तस्याह्वानमकरोत् । अत्र सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णा अन्यान् अपि दूरस्थान् अरण्यजीवान् त्रासयामास । शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकमपठत्-

सो मैं इसको पुकारूं । जिससे यह उसका-अनुसरण कर इसमें प्रवेश कर मेरे भोजनको प्राप्त होगा । सो ऐसा विचार कर सिंहने उसका आह्वान किया।

तब सिंहके शब्द और उसकी प्रतिध्वनिसे वह गुहा पूर्ण होकर अन्य भी वनके स्थित जीवोको त्रास देती हुई । शृगाल भी यह श्लोक पढता भागा–

अनागतं यः कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता ॥ २२७ ॥"

कि जो अनागत विपत्तिका उपाय करता है वह सुखी होता है जो अनागतका विचारही नहीं करता वह कष्ट पाता है, इसी वनमें रहते मैं बूढा होगया परन्तु बिलकी वाणी मैंने कभी नहीं सुनी ॥ २२७ ॥"

तदेवं मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यम्"इति । एवमभिधाय आत्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम ।

सो ऐसा विचार कर तुमको मेरे साथ चलना चाहिये" ऐसा कह अपने अनुगामी परिवारके साथ रक्ताक्ष दूर देशको चलगया ।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिरजीवी अतिहृष्टमनाः व्यचिन्तयत, "अहो ! कल्याणमस्माकमुपस्थितं यत् रक्ताक्षो गतः ! यतः स दीर्घदर्शी, एते च मूढमनसः ततो मम सुखघात्याः सञ्जाताः । उक्तञ्च यतः–

रक्ताक्षके जानेपर स्थिरजीवी प्रसन्न हो विचारने लगा "अहो ! कल्याण उपस्थित हुआ है जो रक्ताक्ष गया । जो कि वह दीर्घदर्शी है और यह मूढ मनवाले हैं सो मेरे सुखसे घातके निमित्त हुए हैं । कहाहै कि–

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
क्रमायाता ध्रुवं तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षयः ॥ २२८ ॥

जिस राजाके यहां दीर्घदर्शी मंत्री नहीं होते हैं और वंशक्रमके नहीं हैं उसका शीघ्रही विनाश हो जाता है ॥ २२८ ॥

अथवा साधु इदमुच्यते–

अथवा यह अच्छा कहा है–

मन्त्रिरूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः ।
ये सन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः ॥ २२९ ।"

जो श्रेष्ठ नीतिको छोडकर प्रतिकूल सेवन करते हैं वे बुद्धिमानोंने मन्त्रिरूप शत्रु कहे हैं ॥ २२९ ॥"

एवं विचिन्त्य स्वकुलाये एकैकां वनकाष्ठिकां गुहादीपनार्थं दिने दिने प्रक्षिपति । न च ते मूर्खा उलूका विजानन्ति । यत् एष कुलायमस्मद्दाहाय वृद्धिं नयति । अथवा साधु इद-मुच्यते-

ऐसा विचार कर अपने घोंसलेमें एक एक वनकी लकडी गुहा प्रदीप्त करने को दिन दिन डालता । उसको उन मूर्ख उलूकोंने न जाना । कि यह हमारे जलानेकोही घोसला बढाता है । अथवा यह अच्छा कहा है-

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
शुभं वेत्त्यशुभं पापं भद्रं दैवहतो नरः ॥ २३० ॥

जो अमित्रको मित्र करता है मित्रसे द्वेष करता तथा उसे मारता है शुभको अशुभ जानता है पापको भला मानता है वह पुरुष भाग्यसे नष्ट हुआ जानना ॥ २३० ॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये सञ्जाते सूर्य्यो-दयेऽन्धतां प्राप्तेषु उलूकेषु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रं गत्वा मेघवर्णं माह, "स्वामिन् ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा । तत् सपरिवारः समेत्य एकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलंतीं गृहीत्वा गुहाद्वारे अस्म-त्कुलाये प्रक्षिप येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते" । तत श्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्ण आह-"तात ! कथय आत्मवृत्तान्तम् । चिरात् अद्य दृष्टोऽसि?।" स आह-"वत्स ! नायं कथनस्य कालः । यतः कदाचित् तस्य रिपोः कश्चित् प्रणिधिर्मम इह आगमनं निवेदयिष्यति । तज्ज्ञानात् अन्धोऽन्यत्र अपसरणं करिष्यति । तत् त्वर्य्यताम् । उक्तञ्च-

घोंसले बढानेके छलसे दुर्ग द्वारमें काष्ठसमूह होनेपर सूर्योदयमे उलूकोंके अन्धे होनेमें स्थिरजीवी शीघ्र गतिसे जाकर मेघवर्णसे बोला । "स्वामिन् !

पर्वत गुहा जलानेसे जीतने योग्य करदी । सो अब परिवार सहित मिलकर एक एक वनकी लकडी जलती हुई लेकर गुहाके द्वार मेरे घोंसलेमें डालदो जिससे वे सब शत्रु कुम्भीपाक नरककी समान दुःखसे मरजायंगे" । यह सुनकर प्रसन्न हो मेघवर्ण बोला,–"तात ! अपना वृत्तान्त तो कहो ? । बहुत दिनोंमें आज देखा" । वह बोला–"वत्स यह कथनका समय नहीं है जो कदाचित् उस शत्रुका कोई प्रणिधी मेरा यहां आगमन कहदे । सो जानकर अन्धा भी कहीं अन्य स्थानमें चलाजाय सो शीघ्रता करो । कहा है–

शीघ्रकृत्येषु कार्य्येषु विलम्बयति यो नरः ।
तत्कृत्यं देवतास्तस्य कोपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २३१ ॥

शीघ्रकरने योग्य कार्योंमें जो मनुष्य विलम्ब करता है देवता उस कोपसे उसके कृत्यको अवश्य नष्ट कर देते हैं ॥ २३१ ॥

तथाच–

और देखो–

यस्य यस्य हि कार्य्यस्य फलितस्य विशेषतः ।
क्षिप्रमक्रियमाणत्वं कालः पिबति तत्फलम् ॥ २३२ ॥

जिस जिस विशेष फलवाले कार्यको शीघ्र नहीं किया जाय तो विलम्बरूप काल उसका फल पानकर जाता है ॥ २३२ ॥

तद्गुहायां आयातस्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तारं निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि" । अथ असौ तद्वचनमाकर्ण्य सपरिजन एकैकां ज्वलंतीं वनकाष्ठिकां चञ्च्वग्रेण गृहीत्वा तद्गुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत् । ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्य आवृतत्वात् अनिःसरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्ना मृताश्च । एवं शत्रून् निःशेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णः तदेव न्यग्रोधपादपदुर्गं जगाम । ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिरजीविनमपृच्छत्–"तात ! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेन एतावत् कालो नीतः ? तदत्र कौतुकमस्माकं वर्त्तते । तत् कथ्यताम् । यतः–

सो गुहासे लौटनेपर शत्रु मारनेवाले आपसे सब वृत्तान्त विस्तारपूर्वक व्याकुलतारहित होकर कहूगा"। तब यह उसका वचन सुन परिजनसहित एक एकजलती बनकी लकडी चोचमें ग्रहण कर उस गुहाके द्वारमें प्राप्त हो स्थिरजीवीके घोंसलेमें डालते हुए। तब वे सब दिनके अन्धे रक्ताक्षके वचनोंको स्मरण करते द्वार रुकनेसे न निकलनेके कारण गुहाके मध्यमें कुम्भीपाककी समान दग्ध होकर मरगये। इस प्रकार शत्रुओंको निश्शेष कर फिरभी मेघवर्ण उस न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्गमे प्राप्त हुआ। तब सिंहासनपर स्थित हो सभाके मध्यमें प्रसन्न मन हुआ स्थिरजीवीसे पूछने लगा—"तात! किसप्रकार तुमने शत्रुओंके मध्यमें जाकर इतना समय विताया? सो इसमें हमको कौतुक है। सो कहिये कारण—

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणाम् ।
न चारिजनसंसर्गो मुहूर्त्तमपि सेवितः ॥ २३३ ॥"

पुण्यकर्मी पुरुष एक साथ अग्निमें गिरजाना अच्छा जानते हैं परन्तु शत्रुसंग एक मुहूर्त मात्रभी अच्छा नहीं ॥ २३३ "

तत आकर्ण्य स्थिरजीवी आह,--"भद्र ! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि सेवको न जानाति । उक्तञ्च यतः--

यह सुन स्थिरजीवी बोला—"भद्र! आनेवाले फलकी आकांक्षासे सेवक कष्टको कुछ नहीं गिनता। कहा है--कारण कि,

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवे-
त्स स निपुणया बुद्ध्या सेव्यो महान्कृपणोऽपि वा ।
करिकरनिभौ ज्याघाताङ्कौ महार्थविशारदौ
रचितवलयैः स्त्रीवद्बद्धौ करौ हि किरीटिना ॥ २३४ ॥

भयके प्राप्त होनेमें जो जो मार्ग हितकारी होवे, चतुराई बुद्धिसे वह वह मार्ग उत्कृष्ट वा अधमहो सेवन करना चाहिये, जिस कारणसे कि अर्जुनने हाथीकी सूडकी समान ज्याघातके चिन्हवाली विपुल अर्थके साधनमें विख्यात दोनों भुजा स्त्रीकी समान कपटनिर्मित कंकण पहरनेवाली कीथीं (अज्ञात वास विराटके यहा रहनेके समयकी कथा है हरिणीवृत्त है) ॥ २३४ ॥

शक्तेनापि सदा नरेन्द्रविदुषा कालान्तरापेक्षिणा
वस्तव्यं खलु वाक्यवज्रविषमे क्षुद्रेऽपि पापे जने ।

दर्व्यग्रकरेण धूममलिनेनायासयुक्तेन च
भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने किं नोषितं सूदवत् ॥ २३५ ॥

हे राजन् ! समयकी अपेक्षा करनेवाले समर्थ विद्वानकोभी वाणीरूपी वज्रसे विषम क्षुद्र पापी जनके समीप वसना चाहिये कारण कि पाकसाधन द्रव्य हाथमें लिये धूमसे मलिन परिश्रमसे युक्त महाबली भीमसेनने रसोईयेकी समान विराटके घरमें क्या निवास न किया ? किन्तु किया (अर्थान्तर न्यास अलंकार शार्दूलविक्रीडित वृत्त) ॥ २३५ ॥

यद्वा तद्वा विषमपतितं साधु वा गर्हितं वा
कालापेक्षी हृदयनिहितं बुद्धिमान्कर्म कुर्य्यात् ।
किं गाण्डीवस्फुरदुरुघनास्फालनक्रूरपाणि-
र्नासील्लीलानटनविलसन्मेखली सव्यसाची ॥ २३६ ॥

विषम आपत्ति पडनेपर समयकी प्रतीक्षा करता हुआ बुद्धिमान् जैसा होवे सो भला या बुरा मनके कर्तव्यसे निरूपित कर्म करे, क्या अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे स्फुरायमान बडी सघन मौर्वी चढानेसे कठिन हाथवाला होकरभी कौंधनी (मेखला) धारण कर लीला नाट्यका विलास न किया ? कियाही (मन्दाक्रान्ता वृत्त) ॥ २३६ ॥

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं
सत्त्वोत्साहवतापि दैवविधिषु स्थैर्य्यं प्रकार्य्यं क्रमात् ।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः
किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहच्छ्रीमान्न धर्मात्मजः २३७॥

सिद्धिकी प्रार्थना करनेवाले चतुर पुरुष अपना तेज ग्रहण कर बल और उत्साह होनेपरभी दुर्विपत्तिमें धैर्यका आश्रय करते हैं कारण कि श्रीमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर इन्द्र कुबेर यमकी समान बली भाइयोंसे युक्त होकरभी दीर्घकालतक विपत्तिमें पडकर क्या त्रिदण्डधारी (वनवासी) न हुए । (शार्दूल वि०अर्थान्तरन्यास अलंकार है) ॥ २३७ ॥

रूपाभिजनसम्पन्नौ कुन्तीपुत्रौ बलान्वितौ ।
गोकर्मरक्षाव्यापारे विराटप्रेष्यतां गतौ ॥ २३८ ॥

रूपवान् अतिबली कुन्तीपुत्र (नकुल सहदेव) गोपालनके कर्ममें क्या विराट नगरमें दास न हुए ?॥ २३८ ॥

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना
कान्त्या श्रीरिव यात्र सापि विदशां कालक्रमादागता।
सैरन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमज्ञातया
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम् २३९॥"

इस जगतमें जो लक्ष्मीकी समान अप्रतिमरूप, स्थिर यौवन गुण, तथा श्रेष्ठ कुलके जन्म और कान्तिसे प्रकाशित थी, वहभी नारी कालवशसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त होगई (मत्स्यराजके भवन) की गर्वीली स्त्रियोंके अहकारभरे सैरन्ध्री (नायन) ऐसे तिरस्कारके वचन अज्ञातवासवाली द्रौपदीने विराटभवनमें सुनते हुए क्या चदन नहीं घिसा (किन्तु घिसाही) ॥ २३९ ॥"

मेघवर्ण आह,–" तात ! असिधाराव्रतमिदं मन्ये यत अरिणा सह संवासः" । सोऽब्रवीत्–" देव ! एवमेतत् परं न तादृङ्मूर्खसमागमः क्वापि मया दृष्टः । न च महाप्रज्ञमनेकशास्त्रेषु अप्रतिमबुद्धिं रक्ताक्षं विना धीमान् यत्कारणं तेन मदीयं यथावस्थितं चित्तं ज्ञातव्यम् । ये पुनः अन्ये मन्त्रिणस्ते महामूर्खा मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशला यैः इदमपि न ज्ञातम् । यतः–

मेघवर्णबोला,–"तात ! यह तो मैं असिधारा व्रत मानताहू जो शत्रुके संग निवास करना है" वह बोला,–" देव ! ऐसेही है परन्तु ऐसा मूर्ख समागम मैंने कहीं नहीं देखा और न महापण्डित अनेक शास्त्रोंमें अलौकिक बुद्धिमान् रक्ताक्षके विना कोई विद्वान् देखा । कारण कि उसने ज्योंकी त्यों मेरे चित्तकी अवस्था जानली । और जो उसके मत्री थे वे महामूर्ख मन्त्रिमात्रके व्यपदेशसे जीनेवाले तत्त्वज्ञानसे हीन थे जिन्होंने यह भी न जाना । जिससे–

अरितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्सङ्गतत्परः ।
अपसर्प्यः स धर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषितः ॥ २४० ॥

शत्रुपक्षसे आयाहुआ भृत्य तथा शत्रुके साथ रहनेमें उत्साही दुष्ट नीतिके

धर्मानुसार उसका सम्बन्ध नहीं करना चाहिये तथा सदा उदासीन और अधर्मा-चरणसे दूषित मनुष्यसे अलग रहना चाहिये ॥ २४० ॥

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु ।
दृष्टादृष्टप्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु ॥ २४१ ॥

आसन, शयन, यान, पान, भोजनकी वस्तुमें तथा दृष्ट अदृष्टमें प्रमत्त हुए शत्रुमें शत्रु प्रहार करतेहैं ॥ २४१ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलयं बुधः ।
आत्मानमादृतो रक्षेत्प्रमादाद्धि विनश्यति ॥ २४२ ॥

इसकारण पंडित यत्नवान् होकर सब प्रकार धर्म अर्थ कामके आश्रयवाले आत्माकी रक्षाकरै कारण कि असावधानतासे नाश होता है ॥ २४२ ॥

साधु चेदमुच्यते-

यह अच्छा कहाहै-

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगा
दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः
कं स्त्रीकृता न विषयाः परिपीडयन्ति ॥ २४३ ॥

किस अपथ्य भोजी (बद परहेजी) को रोग नहीं सन्ताप देते ? किस कुमं-त्रिको नीतिके दोष प्राप्त नहीं होते? लक्ष्मी किसको दर्प(गर्व) वाला नहीं करती? मृत्यु किसको नहीं मारती? स्त्रीके किये व्यापार किसको पीडित नहीं करते?२४३

लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ २४४ ॥

लोभीका यश, चुगलकी मित्रता, नष्ट क्रियावालेका कुल, लोभीका धर्म, कामासक्त पुरुषका विद्याफल, कृपणका सुख तथा प्रमत्तमंत्रीवाले राजाका राज्य नष्ट होजाताहै ॥२४४॥

तत् राजन् ! असिधाराव्रतं मया आचरितमरिसंसर्गा-दिति, यद्भवता उक्तं तन्मया साक्षात् एवानुभूतम् । उक्तञ्च-

सो हे राजन्! मैंने यह असिधाराव्रतका आचरण किया, जो शत्रुके सगमें रहा। जो तुमने कहा वह मैंने साक्षात् अनुभव किया। कहा है कि-

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।
स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता॥ २४५॥

अपमानको आगे मानको पीछे कर बुद्धिमान् आपना कार्य साधे स्वार्थका भ्रष्ट होजानाही मूर्खता है॥२४५॥

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान्।
महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः॥२४६॥

समय प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शत्रुको कंधेपर चढावे एक बडे काले सांपसे बहुत मेंडक मारे गये॥२४६॥

मेघवर्ण आह-"कथमेतत्?" स्थिरजीवी कथयति-

मेघवर्ण बोला-"यह कैसे?" स्थिरजीवी कहने लगा-

कथा १५.

अस्ति वरुणाद्रिसमीपे एकस्मिन् प्रदेशे परिणतवया मन्दविषो नाम कृष्णसर्पः, स एवं चित्ते सञ्चिन्तितवान् "कथं नाम मया सुखोपायवृत्त्या वर्त्तितव्यम्" इति। ततो बहुमंडूकं ह्रदमुपगम्य धृतिपरीतमिव आत्मानं दर्शितवान्। अथ तथा स्थिते तस्मिन् उदकप्रान्तगतेन एकेन मण्डूकेन पृष्टः,-"माम! किमद्य यथापूर्वमाहारार्थं न विहरसि?" सोऽब्रवीत्,-"भद्र! कुतो मे मन्दभाग्यस्य आहाराभिलाषः। यत्कारणमद्य रात्रौ प्रदोष एव मया आहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूकः। तद्ग्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः सोऽपि मां दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्तानां ब्राह्मणानामन्तरमपक्रान्तो न विभावितो मया क्वापि गतः। तत्सदृशमोहितचित्तेन मया कस्यचिद् ब्राह्मणस्य सूनोः ह्रदतटजलान्तःस्थोऽङ्गुष्ठो दष्टः। ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः। अथ तस्य पित्रा दुःखितेन अहं शप्तः, यथा "दुरात्मन्! त्वया निरपराधो मत्सुतो

दृष्टः । तत् अनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसादलब्धजीविकया वर्त्तिष्यसे" इति । ततोऽहं युष्माकं वाहनार्थमागतोऽस्मि" । तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितं ततः तैः प्रहृष्टमनोभिः सर्वैरेव गत्वा जलपादनाम्नोदर्दुरराजस्य विज्ञप्तम् । अथ असौ अपि मन्त्रिपरिवृतोऽत्यद्भुतमिदमिति मन्यमानः ससम्भ्रमं ह्रदात् उत्तीर्य्य मन्दविषस्य फणिनः फणप्रदेशमधिरूढः। शेषा अपि यथाज्येष्ठं तत्पृष्ठोपरि समारुरुहुः । किं बहुना तदुपरि स्थानं प्राप्तवन्तः तस्य अनुपदं धावन्ति । मन्दविषोऽपि तेषां तुष्ट्यर्थमनेकप्रकारान् गतिविशेषान् अदर्शयत् । अथ जलपादो लब्धतदङ्गसंस्पर्शसुखः तमाह,-

वरुण पर्वतकके समीप एक स्थानमें बूढा मन्दविष नाम कृष्णसर्प था । वह इस प्रकार चित्तमें विचारने लगा कि "किस प्रकार मैं सुखके उपायसे जीवन निर्वाह करूं" । तब बहुतसे मेंडकवाले ह्रदके समीप प्राप्त होकर धैर्यशालीकी समान अपनेको दिखाता हुआ । तब उसके ऐसा स्थित होनेपर जलके समीप आये एक मेंडकने पूछा "मामा ! क्यों आज यथायोग्य पूर्वकी समान भोजनके निमित्त नहीं विचरते हो?" वह बोला-"भद्र ! मुझ मन्दभाग्यको भोजनकी अभिलाषा कहां । कारण कि आज रात्रिमें प्रदोषके समय आहारके निमित्त विचरते हुए मैंने एक मण्डूक देखा । उसके पकडनेको मैंने उद्योग किया । वहभी मुझे देख मृत्युके भयसे वेदपाठमें रत ब्राह्मणोंके बीचमें गया हुआ मुझे विदित न हुआ, कि कहां गया । उस मण्डूककी सदृशतासे मोहित चित्तवाले मैंने किसी ब्राह्मणके पुत्रका ह्रदके किनोर जलान्तमें स्थित अंगूठा काट लिया तब वह शीघ्रही मर गया । तब उसके पिताने दुःखी होकर मुझे शाप दिया। "दुरात्मन् ! तैने निरपराध मेरे पुत्रको काटा इस दोषसे तू मेंडकोंका वाहन होगा । उनके प्रसादसे प्राप्त हुई जीविकासे निर्वाह करेगा" (इस प्रकार) सो मैं तुम्हारे वाहनके निमित्त आयाहूं" । उसने यह बात सब मण्डूकोंसे कही । तब उन प्रसन्नमनवाले सबने जाकर जलपादनामवाले मेंडकराजसे कहा तब यह भी मंत्रियोंसे युक्त यह अतिचमत्कार हुआ ऐसा मानता हुआ । सम्भ्रम ह्रदसे निकलकर मन्दविष

सर्पके फणापर चढगया शेषभी ज्येष्ठक्रमानुसार उसकी पीठपर चढगये। बहुत क्या उसपर स्थानको न प्राप्त करते धावमान होते उसके पीछे चले। मन्दविष भी उनके सन्तोषके निमित्त अनेकप्रकारकी गतिविशेष दिखाता हुआ। तब जलपाद उसके अगके स्पर्शसुखको प्राप्त हो बोला—

न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा।
नरयानेन वा यानं यथा मन्दविषेण मे ॥ २४७ ॥

न ऐसा हाथीसे, न घोडेसे, न रथसे, न मनुष्य यानके गमनमे सुख है जैसा मुझे मदविपसे है ॥ २४७ ॥

अथ अन्येद्युः मन्दविषः छद्मना मन्दं मन्दं विसर्पति। तच्च दृष्ट्वा जलपादोऽब्रवीत्,—"भद्र मन्दविष। यथापूर्वं किमद्य साधु नोह्यते ?" मन्दविषोऽब्रवीत्,—"देव! अद्य आहारवैकल्यात् न मे वोढुं शक्तिरस्ति"। अथ असौ अब्रवीत्,—"भद्र! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान्"। तच्छ्रुत्वा प्रहर्षितसर्वगात्रो मन्दविषः ससम्भ्रममब्रवीत्,—"मम अयमेव विप्रशापोऽस्ति। तत् तव अनेन अनुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि"। ततोऽसौ नैरन्तर्य्येण मण्डूकान् भक्षयन् कतिपयैः एवाहोभिः बलवान् संवृत्तः। प्रहृष्टश्च अन्तर्लीनमवहस्य इदमब्रवीत्,—

तब दूसरे दिन मन्दविष शनैः २ छलसे चला। यह देख जलपाद बोला, "भद्र मन्दाविप! पहलेकी समान भली प्रकार अब क्यों नहीं वहन करता है"। मन्दाविष बोला,—"देव! आज भोजन प्राप्त न होनेके कारण मुझे वहन करनेकी शक्ति नहीं है"। तब यह बोला,—"भद्र! क्षुद्र मण्डूकोको भक्षण करो" यह सुन सम्पूर्ण शरीरसे प्रसन्न हो मन्द विष सम्भ्रमसहित बोला,—"मुझको यही ब्राह्मणका शाप है। सो इस अनुज्ञा वचनसे प्रसन्न हू" तब यह निरन्तर मण्डूकोंको भक्षण करता हुआ कितने एक दिनोंमें बलवान् होगया। और प्रसन्नहो मनमें हँसकर यह बोला—

"मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः।
कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादिता मम ॥२४८॥"

यह अनेक मेंडक मैंने छलसे साधे हैं, मुझसे भक्षण कियेभी कितने काल-तक अक्षीण होंगे (दीर्घकालमें खा चुकूंगा) ॥ २४८ ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः किमपि नावबुध्यते । अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पः तमुद्देशं समायातः । तञ्च मण्डूकैः वाह्यमानं दृष्ट्वा विस्मय-मगमत् । आह च,-"वयस्य ! अस्माकमशनं तैः कथं वाह्यसे विरुद्धमेतत्" । मन्दविषोऽब्रवीत्-

और जलपादभी मन्दविष सर्पके बनावटी वचनोंसे मोहित चित्त होकर कुछभी न जानता हुआ , इसी समय और महा शरीरवाला कृष्ण सर्प वहां आया । उस पहले सर्पको मण्डूकोंसे वाह्यमान देखकर विस्मयको प्राप्त हुआ । बोलाभी "भो मित्र ! जो हमारा भोजन है उसे कैसे शिरपर वहन करतेहो ? । यह तो विरुद्ध है" । मन्दविष बोला-

"सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरैः ।
किञ्चित्कालं प्रतीक्ष्योऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा २४९॥"

"यह सब मैं जानता हूं जिस कारण मेडकोंको वहन करता हूं मैं घृतभुने द्रव्यसे अन्धे ब्राह्मणकी समान कुछ कालकी प्रतीक्षा करता हूं ॥ २४९ ॥"

सोऽब्रवीत्,-"कथमेतत् ? " मन्दविषः कथयति-

वह बोला,-"यह कैसे ?" मन्दविष कहने लगा-

कथा १६.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः, तस्य भार्य्या पुंश्चली अन्यासक्तमना अजस्रं विटाय सखण्डघृतान् घृतपूरान् कृत्वा भर्तुश्चौरिकया प्रयच्छति ।

किसी स्थानमें यज्ञदत्तनामवाला ब्राह्मण रहता था उसकी भार्या व्यभिचा-रिणी औरमें मन लगाये हुए निरन्तर मित्र (जार) के लिये खांडघृतके सहित घृतपूर बनाकर स्वामीसे चुराकर उसे देती ।

अथ कदाचित् भर्त्ता दृष्ट्वा अब्रवीत्,-" भद्रे ! किमेतत् परिदृश्यते ? कुत्र वा अजस्रं नयसि इदम् ? कथय सत्यम्" सा च उत्पन्नप्रतिभा कृतकवचनैः भर्त्तारमब्रवीत्-"अस्ति

अत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनम्, तत्र अहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषांश्च अपूर्वान नयामि"। अथ तस्य पश्यतो गृहीत्वा तत् सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे। यत्कारणं "देव्या निवेदितेन अनेन मदीयो भर्त्तैव मंस्यते यन्मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान् नित्यमेव नयति" इति। अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्य्य यावत् स्नानक्रियां करोति, तावत् भर्त्ता अन्यमार्गान्तरेण आगत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे। अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्–"भगवति ! केन प्रकारेण मम भर्त्ता अन्धो भविष्यति?" तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद,–"यदि त्वमजस्र घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति"। सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ। अथ अन्येद्युः ब्राह्मणेन अभिहितं,–"भद्रे ! नाहं सुतरां पश्यामि"। तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया, "देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः" इति। अथ तस्या हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशमन्धीभूतोऽयं ब्राह्मणः किं मम करिष्यतीति निःशङ्कः प्रतिदिनमभ्येति। अथ अन्येद्युस्तं प्रविशन्तमभ्याशगतं दृष्ट्वा केशैः गृहीत्वा लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैः तावद् ताडयत्। यावदसौ पञ्चत्वमाप तामपि दुष्टपत्नीं छिन्ननासिकां कृत्वा विससर्ज। अतोऽहं ब्रवीमि–

तब एक समय उसके स्वामीने देखकर कहा–"भद्रे ! यह क्या दीखता है, रोज इन्हे कहा लेजाती है ? सत्य कह"। वह तत्काल बात बनानेमें चतुर थी, बनावटी वचनोंसे स्वामीसे बोली–"यहासे थोडीही दूर भगवती देवीका स्थान है। वहा मैं व्रती होकर बलि भक्ष्य पदार्थ अपूर्व लेजाती हू"। तब उसके देखतेही ग्रहण कर वह सब देवीके स्थानकी ओर चली। कारण यह कि "मेरे निवेदन किये इस पदार्थसे मेरा स्वामी यह बात मान जाय कि यह मेरी ब्राह्मणी

भवानीके निमित्तही नित्य भक्ष्य विशेषोंको लेजाती है" । तब देवीके स्थानमें जाय स्नानके निमित्त नदीमें उतर कर जबतक स्नानक्रिया करती है तबतक उसका स्वामी और मार्गसे आकर देवीके पीछे अदृश्य होकर बैठगया । तब वह ब्राह्मणी स्नानकर देवीके मन्दिरमें आय स्नान अनुलेपन माला धूप बलि क्रियादिक कर देवीको प्रणाम कर कहती हुई-"भगवति ! किस प्रकारसे मेरा स्वामी अन्धा हो जायगा ?" यह सुनकर स्वर बदलकर देवीके पीछे बैठे हुए ब्राह्मणने कहा जो तू निरन्तर घृतसे पूर्ण पदार्थ अपने स्वामीको देगी, तो शीघ्र अंधा हो जायगा" । वह व्यभिचारिणी बनावटी वचनोंसे वंचितमनवाली उस ब्राह्मणको वही पदार्थ नित्य देती हुई । तब एक दिन ब्राह्मणने कहा-"भद्रे ! मुझे अच्छी तरह नहीं दीखता" । यह सुन इसने विचार किया कि "देवीकी प्रसन्नता हुई" । तब उसका हृदयवल्लभ जार उसके निकट यह ब्राह्मण तो अंध है मेरा क्या करेगा ऐसा जान निश्शंकहो प्रतिदिन आता तब एक दिन प्रवेश करते उस समीप आयेको देख उसके बाल पकड डंडेसे पार्ष्णि (पसली) आदिमें प्रहारकर उसको ताडन करता हुआ । जब यह मरगया तब उस दुष्ट स्त्रीकी नाक काटकर त्यागन करता हुआ । इससे मैं कहता हूं-

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरैः ।
किञ्चित्कालं प्रतीक्ष्योऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा॥२५०॥"

कि मै यह सब जानता हूं जिस कारण मुझपै मेडक चढे हैं कुछ समयकी प्रतीक्षा करता हूं जैसे घृत पदार्थसे (कुमित्र) अंधे ब्राह्मणने प्रतीक्षा की॥२५०॥"

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि "मण्डूका विविधास्वादाः" इति तमेवमब्रवीत् । अथ जलपादः तच्छ्रुत्वा सुतरां व्यग्रहृदयः "किमनेन अभिहितम्" इति तमपृच्छत,-"भद्र ! किं त्वया अभिहितमिदं विरुद्धं वचः" । अथासौ आकारप्रच्छादनार्थं "न किञ्चित्" इति अब्रवीत् । तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धिं न अवबुध्यते । किं बहुना, तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता यथा बीजमात्रमपि न अवशिष्टम् । अतोऽहं ब्रवीमि-

तब मन्दविष सर्पने मनमें हँसकर "मेडकोंमें अनेक प्रकारका स्वाद है" ऐसा उससे कहा। तब जलपाद अत्यन्त दु:खी हृदय होकर "इसने क्या कहा" ऐसा उससे पूछता हुआ—"भद्र ! क्या तुमने यह विरुद्ध वचन कहा" तब यह आकारछिपानेके निमित्त "कुछ भी नहीं" ऐसे बोला । इसीप्रकार बनावटी वचनोंसे मोहितचित्त जलपाद उसके दुष्टअभिप्रायको न जानता हुआ। बहुत कहनेसे क्या उसने इसप्रकार वे सब भक्षण किये जो बीजमात्रभी न बचा इससे मैं कहता हूं—

"स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।
महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥ २५१ ॥"

"समयको प्राप्त हो बुद्धिमान् शत्रुओंको कन्धेपर चढावे जैसे बडे काले सापने (शिरपर चढाय) बहुतसे मेडक मारे ॥ २५१ ॥"

अथ राजन् ! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहताः तथा मयापि सर्वेऽपि वैरिण इति । साधु चेदमुच्यते—

भो राजन् जैसे मन्दविषने बुद्धिके बलसे मेडक मारे इसीप्रकार मैंने भी सब बैरी (मारे) । यह अच्छा कहा है कि—

"वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति ।
समूलोन्मूलनं कुर्य्याद्वायुर्यो मृदुशीतलः ॥ २५२ ॥"

"वनमें प्रज्वलित अग्नि जलाती हुईभी मूलोंकी रक्षा करतीहै परन्तु जो मृदु और शीतल वायुहै वह जडसेही (वृक्षादि) का उन्मूलन करदेतीहै ॥२५२॥"

मेघवर्ण आह—"तात ! सत्यमेवैतत् । ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न त्यजन्ति । उक्तञ्च यतः—

मेघवर्ण बोला,—"तात ! यह सत्यहै जो महात्मा होतेहैं वे महाबली आपत्तिको प्राप्त होकरभी प्रारब्धको नहीं छोडतेहैं । कहा है कि—

महत्त्वमेतन्महतां नयालङ्कारधारिणाम् ।
न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये ॥ २५३ ॥

नीतिका भूषण धारणकरनेवाले महात्माओंका यही महत्वहै जो अति कष्टकी विपतमें भी आरम्भको नहीं त्यागते हैं ॥ २५३ ॥

तथाच-

और देखो-

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ २५४ ॥

नीचपुरुष व्यसनोंके भयसे कार्यको प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम पुरुष कार्यको प्रारम्भकर विघ्नके आनेपर भयभीत होके बीचमें कार्यको त्याग देतेहैं, सहस्रविघ्नोंसे हन्यमान होकर भी उत्तमगुणवाले प्रारम्भ किये कार्यको नहीं त्यागते हैं२५४

तत् कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून् निःशेषतां नयता त्वया, अथवा युक्तमेतत् नयवेदिनाम् । उक्तञ्च यतः-

सो मेरा राज्य तुमने शत्रुको निश्शेषकर निष्कंटक कर दिया अथवा नीतिवालोंको यह युक्त हीहै । कारण कहाहै कि-

ऋणशेषं चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
व्याधिशेषं च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥२५५॥"

ऋणका शेष, अग्निका शेष, शत्रुका शेष तथा रोगका शेष निश्शेषकरके बुद्धिमान् फिर कष्टको प्राप्त नहीं होता ॥ २५५ ॥

सोऽब्रवीत्,-"देव ! भाग्यवान् त्वमेवासि यस्य आरब्धं सर्वमेव संसिध्यति, तत्र केवलं शौर्यं कृत्यं न साधयति, किन्तु प्रज्ञया यत् क्रियते तदेव विजयाय भवति । उक्तञ्च-

वह (मंत्री) बोला,-"देव ! आपही भाग्यवान्हो जिनके सब आरम्भ सिद्ध होतेहैं सो केवल शूरताही कृत्यसाधन करतीहै सो नहीं, किन्तु बुद्धिसे जो किया जाता है वह विजयके निमित्त होताहै । कहा है कि-

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवंति
प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति ।
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं
प्रज्ञा कुलञ्च विभवञ्च यशश्च हन्ति ॥ २५६ ॥

शस्त्रसे मारेहुए भी शत्रु नहीं मरते बुद्धिसे मारे हुए शत्रु अच्छीतरह मरते है, शस्त्र पुरुषके एकही शरीरको मारताहै, बुद्धि कुल, ऐश्वर्य और यशका नाश करती है ॥ २९६ ॥

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्य अयत्नेन कार्य्यसिद्धयः सम्भवन्ति।

सो बुद्धि और पराक्रमसे युक्त पुरुषकी विनाही यत्नके कार्यसिद्धि होतीहै—

प्रसरति मतिः कार्य्यारम्भे दृढीभवति स्मृतिः
स्वयमुपनयन्नर्थान्मन्त्रो न गच्छति विप्लवम्।
स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्तं समुन्नतिमश्नुते
भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥२९७॥

शुभ होनेवाले मनुष्यके कार्य प्रारम्भ करनेको बुद्धि दृढ होती है और स्वयं कृत्य वस्तुओंको प्रगट करता हुआ मत्र विपरीतताको प्राप्त नहीं होता, विचार सफल होता स्फुरायमान होता है, चित्त उत्साहको प्राप्त होता है और प्रशसनीय-कार्यमें अनुराग होता है ॥ २९७ ॥

तथाच–

और देखो–

नयत्यागशौर्य्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति। उक्तञ्च–

नय, त्याग और शूरता सम्पन्न पुरुषमेंही राज्य होता है। कहा है–

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति।
गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम्॥२९८"

त्याग युक्त शूर और पडितजनकी सगतिमें रुचि करनेवाला पुरुष गुणी होता है। गुणवालेमें धन, धनसे लक्ष्मी, लक्ष्मीवालेमें आज्ञा, आज्ञावाले जनमे राज्य स्थित रहता है (आर्या वृत्त) ॥ २९८ ॥"

मेघवर्ण आह,–"नूनं सद्यःफलानि नीतिशास्त्राणि यत् त्वया अनुकृत्येन अनुप्रविश्य अरिमर्दनः सपरिजनो निःशेषितः"। स्थिरजीवी आह,–

मेघवर्ण बोला,–"शत्रुको अवश्यही नीतिशास्त्र शीघ्रफलवाले है, जिनके मतवर्ती तुमने उनके अन्तरमे प्रवेश कर परिवारसहित अरिमर्दनको निश्शेष करदिया" स्थिरजीवी बोला–

"तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थ-
स्तस्याप्यादौ संश्रयः साधुयुक्तः ।
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानां
मान्याभ्यर्च्यश्छिद्यते पादपेन्द्रः ॥ २५९ ॥

"जो वस्तु तीक्ष्ण उपायसे प्राप्ति होनेके योग्य है उसके पहलेभी श्रेष्ठता युक्त संश्रय करना चाहिये, अति उन्नत अग्रभागवाला वनोंमें श्रेष्ठ वृक्ष सत्कारसे पूजित हुआ छेदित होताहै (वनस्पति छेदनमें पहले उसका सम्मान होताहै इसी प्रकार पहले शत्रुसे सान्त्वना पीछे उसमें प्रवेश करे यह भावहै) ॥ २५९ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेन अभिहितेन यत् अनन्तरकाले क्रियारहितमसुखसाध्यं वा भवति । साधु चेदमुच्यते ।

अथवा स्वामिन् उस कथनसे क्या है जो समयके अनन्तर क्रियारहित वा असुख साध्य होजावे । यह अच्छा कहाहै—

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः
पदे पदे दोषशतानुदर्शिभिः ।
फलैर्विसंवादमुपागता गिरः
प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥ २६० ॥

अनिश्चित उद्योगसे डरे हुए तथा पदपदमें सैकडो दोषके दिखानेवाले फलोंसे विपरीतताको प्राप्त हुई वाणी लोकमें परिहासके स्थानको प्राप्त होतीहै (विफल वागाडम्बरसे केवल अपनी लघुता प्रकाश होती है वंशस्थ वृत्त) ॥ २६० ॥

न च लघुषु अपि कर्त्तव्येषु धीमद्भिः अनादरः कार्य्यः। यतः—

लघुकर्तव्यमें भी बुद्धिमान्को अनादर करना न चाहिये । जिससे—

शक्ष्यामि कर्तुमिदमल्पमयत्नसाध्य-
मत्रादरः क इति कृत्यमुपेक्षमाणाः ।
केचित्प्रमत्तमनसः परितापदुःख-
मापत्प्रसंगसुलभं पुरुषाः प्रयान्ति ॥ २६१ ॥

मैं इसके करनेको समर्थ हूं, यह अल्प और बिना यत्नके ही साध्य है, इस कार्यमें यत्न करना क्या इस प्रकार कार्यकी उपेक्षा करनेवाले प्रमत्तचित्त पुरुष आपत्तिके आगममें सुलभ परितापरूपी दुःखको प्राप्त होते है ॥ २६१ ॥

तदद्य जितारेः मद्विभोः यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति। उच्यते चैतत्-

सो आज शत्रुके जीतनेवाले मेरे प्रभुको पूर्वकी समान निद्राकी प्राप्ति होगी। कहा है कि-

निःसर्पे बद्धसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम्।
सदा दृष्टभुजंगे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २६२ ॥

सर्पहीन वा सर्पके पकडे जानेपर घरमें निश्शङ्क सोया जाता है जहां सदा सर्प दीखे वहां दुःखसे निद्रा प्राप्त होती है ॥ २६२ ॥

तथाच-

और देखो-

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहतां स्निग्धोपभुक्ताशिषां
कार्य्याणां नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम्।
मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः पारं न यावद्गताः
सामर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत्कथं निर्वृतिः ॥ २६३ ॥

बडे मानसे उन्नत पराक्रममें आसक्त मनुष्य जबतक बडे उद्योगसे साध्य महान् स्निग्धोंके आशीर्वाद युक्त बधुओंसे चिन्तित नीति साहस उन्नतिवाले अभीष्ट पदपर आरोहण करनेवाले कार्योंको करनेवाले जबतक अभिलषित कार्यके पार नहीं गये हैं तबतक क्रोधवाले हृदयमें सुख किस प्रकार ठहर सक्ताहै २६३

तदवासितकार्य्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम्। तदिदमधुना निहतकण्टकं राज्यं प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रपौत्रादिक्रमेण अचलच्छत्रासनश्रीः चिरं भुङ्क्ष्व, अपि च,-

सो आरंभ किये कार्यको पूराकिया जिसने ऐसे मेरा हृदय विश्रामको प्राप्त होताहै सो यह अब निष्कंटक प्रजापालनमें तत्पर होकर पुत्र पौत्रादिके क्रमसे अचल छत्र आसन लक्ष्मी चिरकाल तक भोगो। औरभी-

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः।
अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ॥ २६४ ॥

जो राजा रक्षा आदि गुणोंसे प्रजाको प्रसन्न नहीं करता है बकरीके गलेके स्तनकी समान उसका राज्य निरर्थक है ॥ २६४ ॥

गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो
रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।
चिरं स भुङ्क्ते चलचामरांशुकां
सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ॥ २६९ ॥

गुणोंमें प्रीति व्यसनोंमें अनादर सुभृत्योंमें प्रीति जिस राजाकी होती है वह चलायमान चंवरही अंशुक (वस्त्र) जिसके श्वेत छत्रही जिसका आभरण ऐसी राज्यलक्ष्मीको चिरकालतक भोगता है ॥ २६९ ॥

न च त्वया प्राप्तराज्योऽहमिति मत्वा श्रीमदेन आत्मा व्यंसयितव्यः, यत् कारणं चला हि राज्ञो विभूतयः । वंशारोहणवत् राज्यलक्ष्मीः दुरारोहा, क्षणविनिपातरता, प्रयत्नशतैरपि धार्य्यमाणा दुर्धरा, प्रशस्ताराधितापि अन्ते विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता, पद्मपत्रोदकमिवाघटितसंश्लेषा, पवनगतिरिव अतिचपला, अनार्य्यसङ्गतमिव अस्थिरा, आशीविष इव दुरुपचारा, सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्त्तरागा, जलबुद्बुदावलीव स्वभावभंगुरा, शरीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना, स्वप्नलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टनष्टा । अपिच–

और तुम कहो कि मुझे राज्य मिलगया है ऐसा मानकर लक्ष्मीके मदसे आत्माको प्रतारण नहीं करना चाहिये । जिस कारणसे कि राजोंके ऐश्वर्य चलायमान होते हैं । बांसके चढनेकी समान राज्य लक्ष्मीकी प्राप्ति कठिन है । क्षणमात्रमें विनाश होनेवाली, सैकडों प्रयत्नोंसे धारण करनेपरभी दुर्धर, भली प्रकार आराधित होनेपरभी अन्तमें वंचना करनेवाली, बानर जातिकी समान चपल अनेक चित्तवाली, कमलपत्रमें जलकी समान अत्यन्त सम्बन्धसे रहित, पवन गतिकी समान अति चपल, असाधु संगतिकी समान अस्थिर, सर्प विषकी समान दुश्चिकित्स्य, संध्याके मेघकी समान मुहूर्तमात्रको अनुरागवाली, जलके बुलबुलोंके समूहकी समान स्वभावसे भंग होनेवाली, हलके अभ्रकी समान कृतघ्न, स्वप्नमें प्राप्त हुए द्रव्यसमूहकी समान देखनेपर क्षणमात्रमें नष्ट होनेवाली ऐसी राजलक्ष्मी है । औरभी–

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति२६६

जिस समय राज्यमें अभिषेक किया उसी समयसे राजाने विपत्तिके विषयमें बुद्धीको लगा देना चाहिये, राजोंके अभिषेकसमयमें घट जलोंके साथही आपत्तिको निकालते हैं ॥ २६६ ॥

न च कश्चित् अनधिगमनीयो नाम अस्ति आपदामुक्तञ्च–

आपत्तियोंको कोईभी अगम्य नहीं है, कहा है कि–

रामस्य व्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।
नाट्याचार्य्यकमर्जुनस्य पतनं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरे
सर्वं कालवशाज्जनोऽत्र सहते कः कं परित्रायते॥२६७॥

रामचन्द्रको वनगमन, बलिको बधन, पाण्डुपुत्रोंको वनवास, यदुवंशियोंका निधन, राजा नलका राज्यसे भ्रष्ट होना, अर्जुनका (विराट भवनमें) नाट्याचार्य होना, (त्रिभुवन विजयी) रावणका नाश विचार कर यह जन कालवशसे सब कुछ सहते हैं, कौन किसकी रक्षा करता है (अर्थात् कोई नहीं शार्दूल विक्रीडितवृत्त) ॥ २६७ ॥

क्व स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद्गतः
क्व स जलनिधेर्वेलां बद्ध्वा नृपः सगरस्तथा ।
क्व स करतलाज्जातो वैन्यः क्व सूर्य्यतनुर्मनु-
र्ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः ॥ २६८ ॥

जो इन्द्रके सुहृद् होकर स्वर्गमे गये वह दशरथ कहा हैं, समुद्रकी वेलाके नियन्ता राजा सगर कहा हैं, वेनराजाके हाथके मथनसे उत्पन्न हुआ (देखो श्रीमद्भागवत पर हमारा तिलक) पृथुराजा कहा है, सूर्यका पुत्र मनु कहा है, भो ! कालने यह सब बली प्रगट कर नष्ट करादिये ॥ २६८ ॥

मान्धाता क्व गतस्त्रिलोकविजयी राजा क्व सत्यव्रतो
देवानां नृपतिर्गतः क्व नहुषः सच्छास्त्रवान् केशवः ।
मन्यन्ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः
कालेनैव महात्मना त्वनुकृताः कालेन निर्वासिताः २६९

त्रिलोकका जीतनेवाला मान्धाता कहां गया ?, सत्यव्रत राजा कहां है ?, देवताओंका राजा नहुष कहां गया ?, सत् शास्त्रवान् भगवान् केशव कहां है ?, यह महात्मा जो इन्द्रके सहित एक आसनमें बैठनेवाले माने जाते थे, कालने इनको उत्पन्न किया और विध्वंस भी कर दिया ॥ २६९ ॥

अपि च-

औरभी-

स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तानि काननवनानि ।
स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥२७०॥

वह राजा, वह मंत्री, वे स्त्री, वे उपवन, वे (राजा) वह (मंत्री) वे सब कालने देखकर खाय नष्ट कर दिये ॥ २७० ॥

एवं मत्तकरिकर्णचञ्चलां राज्यलक्ष्मीमवाप्य न्यायैकनिष्ठो भूत्वा उपभुङ्क्ष्व-

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके काकोलूकीयं नाम
तृतीयं तन्त्रं समाप्तम् ।

इस प्रकार मतवाले हाथीके कानकी समान चचल राज्य लक्ष्मीको प्राप्त हो न्यायकी निष्ठामान होकर भोगकरो ।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतंत्रके पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां
काकोलूकीयं नामतृतीयं तन्त्रं सम्पूर्णम् ।

अथ लब्धप्रणाशंनाम चतुर्थं तन्त्रम् ।

अथ इदमारभ्यते लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रं यस्य अयमादिमः श्लोकः-

अब यह लब्धप्रणाशनाम (प्राप्त होकर नष्ट होजाना) चौथे तन्त्रको आरभ किया जाता है जिसके आदिके यह श्लोकहै-

समुत्पन्नेषु कार्य्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते ।
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा ॥ १ ॥

कार्यके उत्पन्न होनेमे जिसकी बुद्धि क्षय नहीं होती है वह कठिन कार्यको इस प्रकार तरजाताहै जैसे जलमें स्थित वानर ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते-

सो यह सुना गयाहै कि-

कथा १.

अस्ति कस्मिंश्चित् समुद्रोपकण्ठे महान् जम्बूपादपः सदाफलः, तत्र च रक्तमुखो नाम वानरः प्रतिवसति स्म । तत्र च तस्य तरोरधः कदाचित् करालमुखो नाम मकरः समुद्रसलिलात् निष्क्रम्य सुकोमलवालुकासनाथे तीरोपान्ते न्यविशत् । ततश्च रक्तमुखेन स प्रोक्तः-"भो ! भवान् समभ्यागतोऽतिथिः । तद्भक्षयतु मया दत्तानि अमृततुल्यानि जम्बूफलानि । उक्तञ्च-

किसी सागरके किनारे जामुनका वृक्ष सदा फलवालाहै, वहा रक्तमुखनामवाला वानर रहताथा । सो उस वृक्षके नीचे एक समय करालमुखनामवाला नाका समुद्रके जलसे निकलकर सुकोमल रेतसे युक्त उसके तटमें प्राप्त हुआ । तब रक्तमुखने कहा-"भो ! आप आये हुए हमारे अतिथिहो । सो खाओ हमारे दिये हुए अमृतकी समान जम्बूफल । कहा है-

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
वैश्वदेवान्तमापन्नः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ २ ॥

प्रिय वा द्वेषी मूर्ख वा पंडित जो वैश्वदेव बलिके समय प्राप्त हो वह स्वर्ग-गमनमें सेतुभूत अतिथि होताहै ॥ २ ॥

न पृच्छेच्छरणं गोत्रं न च विद्यां कुलं न च ।
अतिथिं वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैश्वदेवके अन्तमें श्राद्धमें उपस्थित अतिथिका घर गोत्र विद्या कुल न पूछे, यह मनुने कहाहै ॥ ३ ॥

दूरमार्गश्रमश्रान्तं वैश्वदेवान्तमागतम् ।
अतिथिं पूजयेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ ४ ॥

दूर मार्गके श्रमसे प्राप्तहुए वैश्वदेवके अन्तमें आयेहुए अतिथिका जो पूजन करताहै, वह परम गतिको प्राप्त होताहै ४ ॥

अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहाद्याति विनिश्वसन् ।
गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभिः सह देवताः ॥ ५ ॥

जिसके घरसे अपूजित अतिथि श्वांस लेता हुआ जाताहै, उसके यहांसे देवता पितरों सहित विमुख होकर चल जाते है ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा तस्मै जम्बूफलानि ददौ । सोऽपि तानि भक्षयित्वा तेन सह चिरं गोष्ठीसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वभवनमगात् । एवं नित्यमेव तौ वानरमकरौ जम्बूच्छायास्थितौ विविधशास्त्रगोष्ठ्या कालं नयन्तौ सुखेन तिष्ठतः । सोऽपि मकरो भक्षितशेषाणि जम्बूफलानि गृहं गत्वा स्वपत्न्याः प्रयच्छति । अथ अन्यतमे दिवसे तया स पृष्टः—"नाथ ! क्व एवं विधानि अमृतफलानि प्राप्नोषि?"। स आह—"भद्रे ! मम अस्ति परमसुहृद् रक्तमुखो नाम वानरः स प्रीतिपूर्वमिमानि फलानि प्रयच्छति" । अथ तया अभिहितम्—"यः सदा एव अमृतप्रायाणि ईदृशानि फलानि भक्षयति तस्य हृदयममृतमयं भविष्यति । तत् यदि मया भार्यया ते प्रयोजनं, ततः तस्य हृदयं मह्यं प्रयच्छ, येन तद्भक्षयित्वा जरामरणरहिता त्वया सह भोगान् भुनज्मि" । स आह—"भद्रे ! मा मा एवं वद । यतः स प्रतिपन्नोऽस्माकं भ्राता, अपरं फल-

दाता, ततो व्यापादयितुं न शक्यते । तत् त्यज एनं मिथ्याग्रहम् । उक्तञ्च--

ऐसा कह उसके निमित्त जम्बूफल दिये । वह भी उनको भक्षणकर उसके साथ चिरकाल गोष्ठीसुखका अनुभवकर फिर अपने घरको गया । इस प्रकार नित्यही वह वानर और नाका जामनकी छायामें स्थित हुए विविध शास्त्रकी गोष्ठीसे समय बिताते सुखसे स्थित रहे । वह मकरभी खानेसे बचे हुए जामनके फलोंको घर जाकर अपनी स्त्रीको देता । तब एक दिन उसने उससे पूछा— "नाथ ! कहासे यह अमृतमय फल लातेहो ?" वह बोला—" भद्रे ! मेरा एक परम मित्र रक्तमुख वानर प्रीतिसे इन फलोंको देताहै । तब उसने कहा जो सदा ऐसे अमृतमय फल खाताहै उसका हृदयभी अमृतकी समान होगा । सो यदि मुझ भार्यासे तेरा कुछ प्रयोजन हो तो उसका हृदय लाकर मुझेदे । जिससे उसे भक्षणकर जरा मरणसे रहित हो तेरे साथ भोग भोगूं" । वह बोला— "भद्रे ! ऐसा मत कहो कारण कि वह बुद्धिमान् हमारा भ्राता तथा फल देनेवाला है वह मारा नहीं जासक्ता सो इस मिथ्या आग्रहको त्यागदो कहा है कि—

एकं प्रसूयते माता द्वितीयं वाक् प्रसूयते ।
वाग्जातमधिकं प्रोचुः सोदर्य्यादपि बन्धुवत् ॥ ६ ॥ "

माता एक सोदर उत्पन्न करती है, वाणी दूसरा उत्पन्न करती है, वाणीसे उत्पन्न हुआ सोदरसे भी अधिक मित्रकी समान श्रेष्ठ होता है ऐसा पंडितोंने कहा है ॥ ६ ॥"

अथ मकरी आह -" त्वया कदाचित् अपि मम वचनं अन्यथा कृतम् । तत् नूनं सा वानरी भविष्यति यतः तस्या अनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि । तत् त्वं ज्ञातो मया सम्यक् । यतः--

तब मकरी बोली—"तैंने कभी मेरा वचन अन्यथा न किया, सो अवश्यही वह वानरी होगी । इससे उसके अनुरागसे सम्पूर्ण दिन वहा बिताते हो सो यह मैंने अच्छी प्रकार जान लिया जिससे—

साह्लादं वचनं प्रयच्छसि न मे नो वाञ्छितं किञ्चन
प्रायः प्रोच्छ्वसिषि द्रुतं हुतवहज्वालासमं रात्रिषु ।

कण्ठाश्लेषपरिग्रहे शिथिलता यन्नादराच्चुम्बसे
तत्ते धूर्त! हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममैवापरा ॥७॥"

न अच्छी प्रकार मुझसे बोलते हो, न वांछित देते हो, जलती अग्निकी समान रात्रिमें प्रायः श्वास लेते हो, कंठके आलिंगन करनेमें शिथिलता करते हो, न आदरसे चुम्बन करते हो, इससे हे धूर्त ! मैने जाना कि तुम्हारे हृदयमें मेरेसमान कोई अन्यस्त्री है ॥ ७ ॥"

सोऽपि पत्न्याः पादोपसंग्रहं कृत्वा अङ्कोपरि निधाय तस्याः कोपकोटिमापन्नायाः सुदीनमुवाच-

वह भी स्त्रीके चरण पकड़ कर गोदीमें रख अत्यन्त क्रोधको प्राप्त हुई स्त्रीसे दीन हो बोला-

"मयि ते पादपतिते किङ्करत्वमुपागते ।
त्वं प्राणवल्लभे कस्मात्कोपने कोपमेष्यसि ॥ ८ ॥"

"मुझे तेरे चरणोंपर गिरने तथा दीनताको प्राप्त होनेमें भी हे प्राणप्यारी! हे कोपने ! किस कारण तू क्रोध करती है ॥ ८ ॥"

सा अपि तद्वचमनमाकर्ण्य अश्रुप्लुतमुखी तमुवाच-

यह इस वचनको सुनकर आंसुवोंसे मुखको भिजोती उससे बोली-

"सार्द्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त्त कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या ।
अस्माकमस्ति न कथञ्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥ ९ ॥

हे धूर्त ! सैंकडो मनोरथोंकेसाथ कपटसे मन हरने वाली वह कान्ता तेरे मनमें स्थित है । इस हृदयमें हमारे निमित्त स्थान नहीं है सो अब चरणपातकी विडम्बनासे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ९ ॥

अपरं सा यदि तव वल्लभा न भवति तत् किं मया भणितेऽपि तां न व्यापादयसि ?। अथ यदि स वानरस्तत् कः तेन सह तव स्नेहः ? तत् किंबहुना यदि तस्य हृदयं न भक्षयामि, तत् मया प्रायोपवेशनं कृतं विद्धि" । एवं तस्याः तं निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलितहृदयः स प्रोवाच-अथवा साधु इदमुच्यते-

सो यदि वह तुम्हारी प्यारी न होती तो क्यों मेरे निमित्त तुम उसको न मारते?। और जो वह वानर है तो उसके सहित तेरा स्नेह कैसा ? सो बहुत कहनेसे क्याहै यदि उसका हृदय भक्षण न करूगी तो मेरा मरणक निमित्त कृत सकल्प जानो" । इस प्रकार वह उसके निश्चयको जान चिन्तासे व्याकुल हृदय हो बोला । अथवा अच्छा कहा है-

"वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा ॥ १०॥

"वज्रलेप (महा) मूर्ख, नारी, केंकडा, मत्स्य, नीली और मद्यप इनका एकवारही दृढग्रह होता है ॥ १० ॥

तत् किं करोमि ? कथं स मे वध्यो भवति" इति विचिन्त्य वानरपार्श्वमगमत् । वानरोऽपि चिरायान्तं तं सोद्वेगमवलोक्य प्रोवाच "भो मित्र ! किमद्य चिरवेलायां समायातोऽसि ? कस्मात् साह्लादं न आलपसि ? न सुभाषितानि पठसि ?"स आह-"मित्र ! अहं तव भ्रातृजायया निष्ठुरतरैर्वाक्यैरभिहितः-" भोः कृतघ्न ! मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय यतः त्वं प्रतिदिनं मित्रं उपजीवसि न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शनमात्रेण अपि करोषि । तत् ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति । उक्तञ्च-

सो क्या करू किस प्रकार उसको मारू" । ऐसा विचार कर वानरके समीप आया, वानर भी उसे आता देख उद्वेगपूर्वक बोला,-" भो मित्र ! क्या आज देरसे आये ? क्यों आनन्दपूर्वक नहीं बोलते हो ? क्यो नहीं अच्छ वचन पढते हो ?" वह बोला-"मित्र ! मैं तेरी भाभीसे आज निष्ठुर वचनसे ताडित हुआ हू । उसने कहा है-"भो कृतघ्न ! तू मुझे अपना मुख मत दिखला जो कि तू प्रतिदिन मित्रोंसे उपजीवित होताहै परन्तु घर दिखाने मात्रसे भी उसका प्रत्युपकार नहीं करता है, सो तेरा प्रायश्चित्त भी नहीं है। कहा है-

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते शठे ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ ११ ॥

ब्रह्महत्यारा, सुरापी, चोर, व्रतभंगकरनेवाला सत्पुरुषोंने इनकी निष्कृति कही है परन्तु कृतघ्नकी निष्कृति नहीं है ॥ ११ ॥

तत् त्वं मम देवरं गृहीत्वा अद्य प्रत्युपकारार्थं गृहमानय। नो चेत् त्वया सह मे परलोके दर्शनम्" । तत् अहं तया एवं प्रोक्तः तव सकाशमागतः । तत् अद्य तया सह त्वदर्थे कलहायतो मम इयती वेला विलग्ना। तत् आगच्छ मे गृहम्। तव भ्रातृपत्नी रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणिमाणिक्याद्युचिताभरणा द्वारदेशबद्धवन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति"। मर्कट आह—"भो मित्र ! युक्तमभिहितं मद्भ्रातृपत्न्या । उक्तञ्च—

सो तू मेरे देवरको ग्रहण कर उसका प्रत्युपकार करनेको घर लेआना । नहीं तो तेरे साथ मेरा परलोक दर्शन होगा"। सो मैं इस प्रकारसे कहा हुआ तुम्हारे पास आया हूं । सो आज तुम्हारे अर्थ स्त्रीके साथ क्लेश करते हुए मुझे इतनी देर लग गई । सो मेरे घरको आओ । तुम्हारी भाभी आंगन सजाये वडे मोलके वस्त्र मणि माणिक्यसे रचित गहनेवाले द्वारदेश बंधी वंदन माला किये उत्कंठित स्थित है" वानर बोला—"भो मित्र ! तुम्हारी जायाने सत्य कहा है । कहा है कि—

वर्जयेत्कौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः ।
आत्मनः सम्मुखं नित्यं य आकर्षति लोलुपः ॥ १२ ॥

अति बुद्धिमान् मनुष्य कपट आकारवाले मित्रको त्याग दे जो कपटी मित्र लोभके कारण नित्य अपने सन्मुख मित्रको खैंचता है ॥ १२ ॥

तथाच—

और देखो—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ १३ ॥

जो देता, ग्रहण करता, गुप्त वात कहता और पूछता, भोजन करता, भोजन कराता है ये छःप्रकारका प्रीतिका लक्षण है ॥ १३ ॥

परं वयं वनचराः, युष्मदीयञ्च जलान्ते गृहं, तत् कथं

शक्यते तत्र गन्तुम्, तस्मात् तामपि मे भ्रातृपत्नीमत्र आनय येन प्रणम्य तस्या आशीर्वादं गृह्णामि" । स आह,–"भो मित्र ! अस्ति समुद्रान्तरे सुरम्ये पुलिनप्रदेशेऽस्मद्गृहम् । तत् मम पृष्ठमारूढः सुखेन अकृतभयो गच्छ" । सोऽपि तच्छ्रुत्वा सानन्दमाह,–"भद्र ! यदि एवं तत किं विलम्ब्यते त्वर्य्यताम् । एषोऽहं तव पृष्ठमारूढः । तथानुष्ठिते अगाधे जलधौ गच्छन्तं मकरमालोक्य भयत्रस्तमना वानरः प्रोवाच–"भ्रातः ! शनैः शनैः गम्यताम् । जलकल्लोलैः प्लाव्यते मे शरीरम्"। तत आकर्ण्य मकरः चिन्तयामास। "असौ अगाधं जलं प्राप्तो मे वशः सञ्जातः, मत्पृष्ठगतः तिलमात्रमपि चलितुं न शक्नोति । तस्मात् कथयामि अस्य निजाभिप्रायं, येन अभीष्टदेवतास्मरणं करोति" । आह च,–"मित्र ! त्वं मया वधाय समानीतो भार्य्यावाक्येन विश्वास्य । तत् स्मर्य्यतामभीष्टदेवता" । स आह,–"भ्रातः ! किं मया तस्याः तवापि च अपकृतं ? येन मे वधोपायः चिन्तितः" । मकर आह,–"भोः ! तस्याः तावत् तव हृदयस्य अमृतमय-फलरसास्वादनमृष्टस्य भक्षणे दोहदः सञ्जातः तेन एतदनुष्ठितम्" । प्रत्युत्पन्नमतिः वानर आह,–"भद्र ! यदि एवं तत किं त्वया मम तत्र एव न व्याहृतम् । येन स्वहृदयं जम्बूकोटरे सदा एव मया सुगुप्तं कृतम् । तद् भ्रातृपत्न्या अर्पयामि । त्वया अहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मात् आनीतः ?" तदाकर्ण्य मकरः सानन्दमाह,–"भद्र ! यदि एवं तदर्पय मे हृदयं येन सा दुष्टपत्नी तद्भक्षयित्वा अनशनादुत्तिष्ठति । अहं त्वां तमेव जम्बूपादपं प्रापयामि" । एवमुक्त्वा निवर्त्त्य जम्बूतलमगात् । वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतोपचारपूजः तीरमासादितवान् । ततश्च दीर्घतरचंक्रमणेन तमेव जम्बूपादपमारूढः चिन्तयामास । "अहो ! लब्धाः तावत् प्राणाः । अथवा साधु इदमुच्यते–

परन्तु हम वनचर है और तुम्हारा जलके अन्तमें घर है सो मैं किस प्रकार वहां जासक्ता हूं । इस कारण उस हमारी भाभीको यहीं लाओ जिससे प्रणाम कर उसका आशीर्वाद ग्रहण करूं"। वह बोला,–"भो मित्र ! समुद्रके भीतर तटमें मनोहर बालुकामय स्थानमें हमारा घर है। सो मेरी पीठपर चढ सुखसे निर्भय हो चलो"। वहभी यह सुन आनन्दसे बोला,–"भद्र ! यदि ऐसा है तो देर करनेका क्या काम शीघ्रता करो यह मैं तुम्हारी पीठपर चढा"। ऐसा कहकर जलमें जाते हुए मकरको देख कर भयसे व्याकुल मन हो वानर बोला–"भाई शनैः २ चलो। जलकी लहरोंसे मेरा शरीर ढका जाता है"। यह सुनकर मकर विचारने लगा। "यह अगाध जलमें प्राप्तहो मेरे वशीभूत हुआ है, मेरी पीठको प्राप्त हुआ तिलमात्रभी नहीं चल सकता है । सो इससे अपना अभिप्राय कहूं जिससे यह अपने इष्ट देवताका स्मरण करे"। और बोला भी–"मित्र ! तुमको मैं भार्याके वाक्यसे विश्वास दिलाकर मारनेक निमित्त लाया हूं ! सो अपने इष्ट देवताका स्मरण करो"। वह बोला,–"भ्राता ! क्या मैंने उसका और तुम्हारा अपकार किया है? जो मेरे वधका उपाय विचार किया है"। मकर बोला,–"भो ! उसको अमृतमय फलके रसास्वादसे मीठे तुम्हारे हृदय खानेका गर्भावस्थाका मनोरथ है तिससे यह अनुष्ठान किया है"। तत्कालबुद्धि प्रगटवाला वानर बोला,–"भद्र ! जो ऐसा है तो वहीं तुमने क्यों न मुझसे कहा। जो कि मैंने अपना हृदय जम्बूकी कोटरमें सदाहीसे गुप्त कर रक्खा है। सो तुम्हारी पत्नीकोही अर्पण करूं। सो तुम मुझ शून्यहृदयको यहां क्यों लाये"। यह सुनकर मकर आनन्दसे बोला,–"भद्र ! जो ऐसा है तो मुझको अपना हृदय दे जिससे वह दुष्टपत्नी भक्षण करके अनशन (अभोजन) से उठे। मैं तुझे उस जम्बूवृक्षको प्राप्त करता हूं"। ऐसा कह लौटकर जामनवृक्षके नीचे गया। वानरभी किसी प्रकार विविध देवतोंकी सत्कार पूजाकी जल्पना कर तटपर आया। फिर बडी कुलांच मारकर उस जामनके पेडपर चढकर विचारने लगा। "अहो ! अब प्राण बचे। अथवा अच्छा कहा है–

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ १४ ॥

अविश्वासीका विश्वास न करे और विश्वासीकाभी विश्वास न करे विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय जडसे नष्ट कर देता है ॥ १४ ॥

तन्मम एतदद्य पुनर्जन्मदिनमिव सञ्जातम्"। इति चिन्तमानं मकर आह,–"भो मित्र ! अर्पय तत् हृदयं यथा ते भ्रातृपत्नी भक्षयित्वा अनशनादुत्तिष्ठति"। अथ विहस्य निर्भर्त्सयन् वानरः तमाह,–"धिक् धिक् मूर्ख ! विश्वासघातक ! किं कस्यचित् हृदयद्वयं भवति ?। तदाशु गम्यतां जम्बूवृक्षस्य अधस्तात्, न भूयोऽपि त्वया अत्र आगन्तव्यम्। उक्तञ्च यतः–

सो आज यह मेरे नये जन्मका दिन है"। ऐसा विचार करते मकर उससे बोला,–"भो ! मित्र उस हृदयको अर्पण करो जिसे तुम्हारी भाभी भक्षण कर अनशन व्रतसे उठे"। फिर हँसकर घुडकता हुआ वानर उससे बोला–"धिक् धिक् मूर्ख ! विश्वासघातक ! क्या किसीके दो हृदय होते हैं। सो शीघ्र जाओ जम्बूवृक्षके नीचे फिर कभी मत आना। कहा है–

सकृद्दुष्टञ्च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १९॥"

एक वार दुष्ट हुए मित्रसे जो फिर मिलनेकी इच्छा करता है वह मृत्युकोही ग्रहण करता है जैसे खिचडी गर्भको ग्रहण कर मृत्युको प्राप्त होती है ॥ १९॥"

तत् श्रुत्वा मकरः सविलक्षं चिन्तितवान्,–"अहो ! मया अतिमूढेन किमस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदितः तद्यदि असौ पुनरपि कथञ्चिद्विश्वासं गच्छति तद्भूयोऽपि विश्वासयामि"। आह च–"मित्र ! हास्येन मया तेऽभिप्रायो लब्धः। तस्या न किञ्चित् तव हृदयेन प्रयोजनम्। तत् आगच्छ प्राघुणिकन्यायेन अस्मद्गृहम्। तव भ्रातृपत्नी सोत्कण्ठा वर्त्तते"। वानर आह–"भो दुष्ट ! गम्यताम् अधुना नाहमागमिष्यामि। उक्तञ्च–

यह सुनकर नाका लज्जित हो विचारने लगा–"अहो ! मुझ अति मूर्खने क्यों इसके प्रति अपने चित्तका अभिप्राय कथन कर दिया। सो यदि यह फिर किसी प्रकार विश्वासको प्राप्त हो तो इसको फिर विश्वास प्राप्त करूं"।

और बोला—"मित्र ! हास्यसे मैंने आपका अभिप्राय जाना । उसको कुछभी तुम्हारे हृदयसे प्रयोजन नहीं है । सो आओ अतिथिरूपसे हमारे घर चलो । तेरी भार्या उत्कंठित है" । वानर बोला—"भो दुष्ट ! अब जाओ । मैं नहीं आऊंगा । कहा है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य
न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥ १६ ॥"

भूखा क्या पाप नहीं करता ? क्षीण मनुष्य करुणाहीन हो जाते है, हे भद्रे ! प्रियदर्शनसे कहना गंगदत्त फिर कूपमें नहीं आवेगा ॥ १६ ॥"

मकर आह—"कथमेतत् ?" स आह—

मकर बोला—"यह कैसी कथा है ?" वह बोला—

कथा २.

कस्मिंश्चित् कूपे गङ्गदत्तो नाम मण्डूकराजः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् दायादैः उद्वेजितोऽरघट्टघटीमारुह्य निष्क्रान्तः। अथ तेन चिन्तितम् । "यत् कथं तेषां दायादानां मया प्रत्यपकारः कर्त्तव्यः । उक्तञ्च—

किसी कूपमें गंगदत्त नामक मेडकराजा रहता था, वह कभी हिस्सेदारोंसे उद्वेजित हुआ कुएकी ढेकलीको आलम्बन कर बाहर निकला । और उसने विचारा "इन गोतियोंका अपकार किस प्रकार करूं । कहा है—

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ १७ ॥"

जिसने आपत्तिमें अपकार क्रिया और विषम दशामें हँसा उन दोनोंके प्रति फिर अपकार करकेही मनुष्यको उत्पन्न हुआ ऐसा मैं मानता हूं ॥ १७ ॥"

एवं चिन्तयन् बिले प्रविशन्तं कृष्णसर्पमपश्यत् । तं दृष्ट्वा भूयोऽपि अचिन्तयत् । "यत् एनं तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानां उच्छेदं करोमि । उक्तञ्च—

ऐसा विचार कर बिलमें प्रवेश करते काले सांपको देखा । उसको देखकर

फिरभी विचारने लगा कि "इसको उस कूपमें लेजाकर सम्पूर्ण दायादोका नाश करूं । कहा है--

शत्रुभिर्योजयेच्छत्रुं बलिना बलवत्तरम् ।
स्वकार्य्याय यतो न स्यात्काचित्पीडात्र तत्क्षये ॥ १८ ॥

शत्रुओंके साथ शत्रुओको भिडावै, बलवान्के साथ बलवान्को अपने कार्यके निमित्त लगावे कारण कि, उसके क्षयमें फिर कुछ पीडा नहीं होती १८

तथाच–

और देखो–

शत्रुमुन्मूलयेत्प्राज्ञस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा ।
व्यथाकरं सुखार्थाय कण्टकेनेव कण्टकम् ॥ १९ ॥"

बुद्धिमान् तीक्ष्ण शत्रुको तीक्ष्ण शत्रुसे नष्ट करावे व्यथा करनेवाला काटा सुखके निमित्त काटेसेही निकाला जाता है ॥ १९ ॥"

एवं स विभाव्य बिलद्वारं गत्वा तमाहूतवान्–"एहि ! एहि !! प्रियदर्शन ! एहि ।" तत् श्रुत्वा सर्पश्चिन्तयामास । "य एष मां आह्वयति, स स्वजातीयो न भवति यतो नैषा सर्पवाणी । अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सन्धानं नास्ति । तदत्र एव दुर्गे स्थितः तावत् वेद्मि कोऽयं भविष्यति । उक्तञ्च--

ऐसा विचार बिलके द्वारे जाकर उसे बुलाता हुआ--"आओ ! आओ !! प्रियदर्शन ! आओ ।" तब सुनकर साप विचारने लगा । "यह मुझे बुलाता है सो अवश्यही मेरी जातीका न होगा । कारण कि यह सर्पकी वाणी नहीं है । और किसीके साथ मर्त्यलोकमें मेरी मित्रता नहीं है । सो इसी दुर्गमें स्थित हुआ पहले जानू कि यह कौन होगा । कहा है कि--

यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः ।
न तेन सङ्गतिं कुर्य्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २० ॥

जिसका कुल शील और आश्रय न जाना हो उसकी सगति न करे ऐसा बृहस्पतिजीने कहा है ॥ २० ॥

कदाचित् कोऽपि मन्त्रवादी औषधचतुरो वा मामाहूय

बन्धने क्षिपति । अथवा कश्चित् पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्यचिद्भक्षणार्थे मामाह्वयति"। आह च–"भोः ! को भवान् ?" स आह–"अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिः त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमभ्यागतः"। तच्छ्रुत्वा सर्प आह,–"भो ! अश्रद्धेयमेतत् यत् तृणानां वह्निना सह सङ्गमः । उक्तञ्च–

कभी कोई सर्पमंत्रमें कुशल औषधीमें चतुर मुझे बुलाकर बंधनमें डालना चाहता है । अथवा कोई पुरुष वैरको आश्रित कर किसीके भक्षणके निमित्त मुझे बुलाता है" । बोला भी–"भो ! आप कौन हैं ? " । वह बोला–"मैं गंगदत्तनामक मण्डूकराजा तुम्हारे पास मित्रता करनेको आयाहूं" । यह सुनकर सर्प बोला–"भो ! यह श्रद्धाके अयोग्य वचन हैं जो तृण और अग्निका समागम होना, कहा है–

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथञ्चन ।
न तत्समीपमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥ २१ ॥"

जो जिसका वध्य हो वह स्वप्नमेंभी कभी उसके समीप न जाय, सो तू ऐसी जल्पना क्यों करता है ॥ २१ ॥"

गङ्गदत्त आह–"भोः सत्यमेतत् । स्वभाववैरी त्वम् अस्माकम् । परं परपरिभवात् प्राप्तोऽहं ते सकाशम् । उक्तञ्च–

गंगदत्त बोला–"भो ! यह सत्य है तुम हमारे स्वभाविक वैरी हो परन्तु शत्रुओंसे तिरस्कृत होकर मैं तुम्हारे पास आया हूं । कहा है–

सर्वनाशे च सञ्जाते प्राणानामपि संशये ।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत्प्राणधनानि च ॥ २२ ॥"

सर्वनाश और प्राणसंशयके उत्पन्न होनेमें शत्रुकोभी प्रणाम कर अपने प्राण और धनकी रक्षा करे ॥ २२ ॥"

सर्प आह–"कथय कस्मात् ते परिभवः ।" स आह–"दायादेभ्यः" । सोऽपि आह–"क्व ते आश्रयो वाप्यां कूपे तडागे ह्रदे वा ? तत्कथय स्वाश्रयम् ।" तेनोक्तम्–"पाषाणचयनिबद्धे कूपे" । सर्प आह–"अहो ! अपदा वयं तत्रास्ति तत्र मे प्रवेशः । प्रविष्टस्य च स्थानं नास्ति । यत्र स्थितः तव दायादान् व्यापादयामि । तद्गम्यताम् । उक्तञ्च–

सर्प बोला—"कहो किससे तुम्हारा परिभव हुआ है?" वह बोला—"गोत्रियों-से"। वह बोला—"कहा तेरा आश्रय है। बावडी, कुए, तडाग वा हृदमे? सो अपना आश्रय कहो" वह बोला—"पत्थरसमूहसे बनेहुए कूपमें"। सर्प बोला—"भो! हमारे चरण नहीं हैं सो हमारा वहा प्रवेश नहीं हो सकता न रहनेका स्थान है जहा स्थित होकर तुम्हारे दायादोंको भक्षण करू सो जाओ। कहा है—

यच्छक्यं ग्रसितुं शस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितश्च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता॥ २३॥"

जो वस्तु भक्षण करनेको सामर्थ्य हो वह प्रशस्त है और जो खाकर पाक होजाय और पाकमे हितकारक हो कल्याणकी इच्छावालेको वह वस्तु खानी चाहिये॥ २२॥

गंगदत्त आह—"भोः! समागच्छ त्वं अहं सुखोपायेन तत्र तव प्रवेशं कारयिष्यामि। तथा तस्य मध्ये जलोपान्ते रम्यतरं कोटरं अस्ति। तत्र स्थितः त्वं लीलया दायादान् व्यापादयिष्यसि"। तच्छ्रुत्वा सर्पो ऽचिन्तयत्। "अहं तावत परिणतवयाः, कदाचित् कथञ्चित् मूषकमेकं प्राप्नोमि। तत्सुखावहो जीवनोपायोऽयमनेन कुलांगारेण मे दर्शितः। तद्गत्वा तान् मण्डूकान् भक्षयामि" इति। अथवा साधु इदमुच्यते—

गगदत्त बोला—"भो! आप आइये मैं सुख उपायसे वहा तुम्हारा प्रवेश कराऊगा। उसके मध्य जलके समीप मनोहर खखोडल है। वहा स्थित होकर तू लीलासे ही दायादोंको भक्षण करना"। यह सुन सर्प विचारने लगा। "मेरी अवस्था वृद्ध होगई है कभी एक चूहा प्राप्त होता है। सो सुखदायक जीवनोपाय इस कुलाङ्गारने वर्णन किया है। सो जाकर उन मण्डूकों-को भक्षण करूगा। अथवा अच्छा कहा है—

यो हि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः।
स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेद्बुधः॥ २४॥"

जो प्राणोंसे परिक्षीण सहायसे रहित हो वह पडित सर्व सुखके उपायवाली वृत्तिको आचरण करे॥ २४॥"

एवं विचिन्त्य तमाह–"भो गंगदत्त ! यदि एवं तदग्रे भव येन तत्र गच्छावः" । गंगदत्त आह–"भोः प्रियदर्शन ! अहं त्वां सुखोपायेन तत्र नेष्यामि स्थानञ्च दर्शयिष्यामि । परं त्वया अस्मत्परिजनो रक्षणीयः । केवलं यानहं तव दर्शयिष्यामि ते एव भक्षणीयाः" इति । सर्प आह–" साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जातं तन्न भेतव्यम्, तव वचनेन भक्षणीयाः ते दायादाः" एवमुक्त्वा बिलात् निष्क्रम्य तमालिङ्ग्य च तेनैव सह प्रस्थितः । अथ कूपमासाद्य अरघट्टघाटिकामार्गेण सर्पः तेन आत्मना स्वालयं नीतः । ततश्च गङ्गदत्तेन कृष्णसर्पं कोटरे धृत्वा दर्शिताः ते दायादाः । ते च तेन शनैः शनैः भक्षिताः। अथ मण्डूकाभावे सर्पेण अभिहितम्–"भद्र ! निःशेषिताः ते रिपवः तत् प्रयच्छ अन्यत् मे किञ्चित् भोजनं, यतोऽहं त्वया अत्र आनीतः" । गङ्गदत्त आह–"भद्र ! कृतं त्वया मित्रकृत्यम्, तत् साम्प्रतम् अनेन एव घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्"इति । सर्प आह–"भो गङ्गदत्त ! न सम्यगभिहितं त्वया । कथमहं तत्र गच्छामि । मदीयबिलदुर्गमन्येन रुद्धं भविष्यति । तस्मात् अत्रस्थस्य मे मण्डूकमेकैकं स्ववर्गीयं प्रयच्छ नो चेत् सर्वानपि भक्षयिष्यामि" इति । तच्छ्रुत्वा गङ्गदत्तो व्याकुलमना व्यचिन्तयत् । "अहो ! किमेतन्मया कृतं सर्पमानयता तद्यदि निषेधयिष्यामि तत्सर्वानपि भक्षयिष्यति । अथवा युक्तमुच्यते–

ऐसा विचार कर उससे बोला–"भो ! गंगदत्त यदि ऐसा हो तो आगे हो जिससे वहां चले" । गंगदत्त बोला–"भो ! प्रियदर्शन ! मैं तुमको सुखके उपायसे वहां ले जाऊंगा और स्थान भी दिखाऊंगा । परन्तु हमारे परिजनोंकी तुमने रक्षा करना । केवल जिनको मै दिखाऊं उन्हींको खाना" । सर्प बोला–"अब तू हमारा मित्र होगया । सो मतडरो तुम्हारे वचनसे मै तुम्हारे गोतियोंको भक्षण करूंगा" । ऐसा कह बिलसे निकल उसको आलिंगन कर उसके संग चला । तब कूपको प्राप्त हो ढेंकलीके मार्गसे सर्पको वह स्वयं अपने स्थानमें लाया । तब

गंगदत्तने काले सर्पको खखोडलमे धरकर उन दायादोको दिखाया वे उसने शनैः २ खालिये । तव मण्डूकोंका अभाव देखकर सर्पने कहा-"भद्र ! तुम्हारे शत्रु तो निश्शेष होगये सो मुझे कुछ और भोजन दो, जो कि तुम मुझे यहा लाये हो" । गगदत्त बोला-"मित्र ! तुमने मित्रका कार्य किया है । सो अव इसी ढेकलीके मार्गसे जाओ" । सर्प बोला-"भो गगदत्त ! तुमने अच्छा नहीं कहा कैसे मैं वहां जाऊ । मेरा बिलदुर्ग औरने घेर लिया होगा इस कारण यहीं स्थित हुए मुझे एक एक मेडक अपने कुटुम्बका दो । नहीं तो सवको खाजाऊगा" यह सुन गगदत्त व्याकुल मनसे विचारने लगा ।"अहो ! सर्पको लाकर यह मैंने क्या किया । सो यदि निषेध करू तो यह सबहीको खाजायगा । अथवा युक्त कहा है-

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्य्याभ्यधिकमात्मनः ।
स करोति न सन्देहः स्वयं हि विषभक्षणम् ॥ २५ ॥

जो अपने पराक्रमसे अधिक अमित्रको मित्र करता है इसमें सन्देह नहीं वह स्वयही विष भक्षण करता है ॥ २५ ॥

तत् प्रयच्छामि अस्य एकं दिनं प्रतिसुहृदम् । उक्तञ्च-

सो प्रतिदिन इसको मै एक एक सुहृद दू । कहा है-

सर्वस्वहरणे युक्तं शत्रुं बुद्धियुता नराः ।
तोषयन्त्यल्पदानेन वाडवं सागरो यथा ॥ २६ ॥

वुद्धिमान् मनुष्य सर्वस्व हरण करनेमें युक्त हुए शत्रुको अल्प दानसे सन्तुष्ट करे जैसे सागर वडवा अग्निको प्रतिदिन अल्प जल देताहै ॥ २६ ॥

तथाच-

और देखो-

यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानो
बलीयसा यच्छति नैव साम्ना ।
प्रयच्छते नैव च दर्श्यमानं
खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ २७ ॥

जो दुर्बल प्रवलको सान्त्वनापूर्वक याचना करनेपर अल्पभी प्रदान नहीं करता है तथा दर्श्यमानभी नहीं देता है वह डाटनेसे चूर्णके स्थानमें खारी

परिमाण द्रव्यको फिर देता है (अर्थात् बलवानके थोडा मांगने पर न देनेसे फिर अधिक देना पडता है) उपजाति वृत्त ॥ २७ ॥

तथाच-

और देखो-

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः ॥ २८ ॥

सर्व नाश उत्पन्न होनेमें पंडित जन आधा त्याग देते हैं और आधेसे कार्य करते हैं, सर्व नाश बडा दुस्तर है ॥ २८ ॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेव हि पाण्डित्यं यत्स्वल्पात्भूरिरक्षणम् ॥ २९ ॥"

बुद्धिमान् मनुष्य थोडेके निमित्त बहुतका नाश न करे यही चतुराई है कि थोडे देकर बहुतकी रक्षा करनी ॥ २९ ॥"

एवं निश्चित्य नित्यमेकैकं आदिशति । सोऽपि तं भक्षयित्वा तस्य परोक्षेऽन्यानपि भक्षयति । अथवा साधु इदमुच्यते-

ऐसा विचार कर नित्यही एक एक देने लगा । वहभी उसे भक्षण कर उसके पीछेमें औरोंकोभी भक्षण कर जाता । अथवा यह अच्छा कहा है-

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ।
एवं चलितवित्तस्तु वित्तशेषं न रक्षति ॥ ३० ॥

जैसे मलीन वस्त्र पहरे हुए मनुष्य जहां तहां बैठ जाता है इस प्रकार निर्धन होनेपर यह प्राणी शेष धनकी भी रक्षा नहीं करता है ॥ ३० ॥

अथ अन्यदिने तेन अपरान् मण्डूकान् भक्षयित्वा गङ्गदत्तसुतो यमुनादत्तो भक्षितः । तं भक्षितं ज्ञात्वा गङ्गदत्तः तारस्वरेण धिक् धिक् प्रलापपरः कथञ्चिदपि न विरराम । ततः स्वपत्न्या अभिहितः-

तब दूसरे दिन वह और मेडकोंको भक्षण करके गंगदत्तके पुत्र यमुनादत्तको भी भक्षण कर गया उसको खाया हुआ जानकर गंगदत्त तारस्वरसे अपनेको धिक् धिक् करता हुआ किंचित् काल भी विरामको प्राप्त न हुआ । तब उसकी स्त्रीने कहा-

"किं क्रन्दसि दुराक्रन्द स्वपक्षक्षयकारक ।
स्वपक्षस्य क्षये जाते को नस्त्राता भविष्यति ॥ ३१ ॥

"हे दुष्ट रोदन करनेवाले ! क्यो रोदन करता है, हे अपने पक्षके क्षय करने वाले ! अपना पक्ष क्षय होनेपर अब कौन हमारी रक्षा करेगा ॥ ३१ ॥

तत् अद्यापि विचिन्त्यतां आत्मनो निष्क्रमणमस्य वधोपायश्च" । अथ गच्छता कालेन सकलमपि कवलितं मण्डूककुलम् । केवलमेको गङ्गदत्तः तिष्ठति । ततः प्रियदर्शनेन भणितं ,-"भो गङ्गदत्त ! बुभुक्षितोऽहं निःशेषिताः सर्वे मण्डूकाः । तद्दीयतां मे किञ्चित् भोजनं यतोऽहं त्वया अत्र आनीतः"। स आह,-"भो मित्र ! न त्वया अत्र विषये मया अवस्थितेन कापि चिन्ता कार्य्या तत् यदि मां प्रेषयसि ततोऽन्यकूपस्थान् अपि मण्डूकान् विश्वास्य अत्र आनयामि"। स आह-"मम तावत् त्वं अभक्ष्यो भ्रातृस्थाने, तत् यदि एवं करोषि तत् साम्प्रतं पितृस्थाने भवसि,तदेवं क्रियताम्"इति। सोऽपि तत् आकर्ण्य अरघट्टघाटिकां आश्रित्य विविधदेवतोपकल्पितपूजोपयाचितः तस्मात् कूपात् विनिष्क्रान्तः । प्रियदर्शनोऽपि तदाकांक्षया तत्रस्थः प्रतीक्षमाणः तिष्ठति । अथ चिरात् अनागते गंगदत्ते प्रियदर्शनोऽन्यकोटरनिवासिनीं गोधामुवाच--"भद्रे ! क्रियतां स्तोकं साहाय्यम् । यतः चिरपरिचितः ते गङ्गदत्तः तद्गत्वा तत्सकाशं कुत्रचिज्जलाशये अन्विष्य मम सन्देशं कथय । येन आगम्यतां एकाकिना अपि भवता द्रुततरं यदि अन्ये मण्डूका न आगच्छन्ति । अहं त्वया विना नात्र वस्तुं शक्नोमि । तथा यदि अहं तव विरुद्धं आचरामि तत् सुकृतमन्तरं मया विधृतम्" गोधा अपि तद्वचनात् गङ्गदत्तं द्रुततरमन्विष्य आह-"भद्र गङ्गदत्त ! स तव सुहृत प्रियदर्शनः तव मार्गं समीक्षमाणः तिष्ठति । तत् शीघ्रं आगम्यतामिति । अपरञ्च तेन तव विरूपकरणे सुकृतमन्तरे

धृतम् । तत् निःशङ्केन मनसा समागम्यताम्" । तत् आकर्ण्य गङ्गदत्त आह-

सो अब भी अपने निकलनेका उपाय विचार करो इसके वधका उपाय भी विचारो" इस प्रकार समयके बीतते २ वह सम्पूर्ण मण्डूककुलको भक्षण करगया । केवल एक गंगदत्त रहगया । तब प्रियदर्शनने कहा-"भो गंगदत्त ! मैं भूखा हूं सम्पूर्ण निश्शेष होगये । सो मुझे कुछ भोजन दे क्यों कि तू मुझे यहां लाया है" । वह बोला-"भो मित्र ! इस विषयमें तुझे मेरे रहते कुछ चिन्ता न करनी चाहिये । सो यदि तुम मुझे भेजो तो और कूपमें स्थित मेंडकोंको विश्वास देकर यहां लाऊं" । वह बोला-"भो ! तू तो भाईके स्थानमें होनेसे मेरा अभक्ष्य है । सो यदि ऐसा करेगा तो तू मेरे पिताके स्थानमें होगा । सो ऐसाही करो" वह भी यह सुनकर उस ढेंकलीका आश्रय कर अनेक देवताओंकी पूजाका संकल्प करके उस कूपसे निकला । प्रियदर्शन भी उसकी आकांक्षासे वहीं स्थित हो बाट देखता स्थित था । तब बहुत दिनोंतक गंगदत्तके न आनेमें प्रियदर्शन दूसरी खखोडलमें रहनेवाली गोधासे बोला-"भद्रे ! थोडी हमारी सहाय करो । कारण कि तुम गंगदत्तको बहुत समयसे जानती हो । सो जा उसके पास उसे किसी सरोवरमे ढूंढकर मेरा संदेशा कह तुम इकले ही शीघ्र चले आओ यदि दूसरे मेंडक नहीं आते हैं तो मै तुम्हारे बिना यहां रहनेको समर्थ नहीं हूं । और यदि म तेरे साथ विरुद्ध आचरण करूं तो मैंने इस अन्तरमें अपने पुण्यका फल लगा दिया है" । गोधा भी उसके वचनसे शीघ्र गंगदत्तको ढूंढ कर बोली-"भद्र गंगदत्त ! वह तुम्हारा मित्र प्रियदर्शन तुम्हारी बाट देखता स्थित है सो शीघ्र आओ । कदाचित् शंका हो तो तुमसे विरुद्ध आचरण करनेपर उसने अपना पुण्य बीचमें धर दिया है । सो निश्शंक मनसे आओ" । यह सुन गंगदत्त बोला-

"बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य

"भूखा क्या पाप नहीं करता है, क्षीण मनुष्य दयारहित होजाते हैं भद्रे प्रियदर्शनसे कहना मैं फिर कूपमें नहीं आऊगा ॥३२॥"

एवमुक्त्वा स तां विसर्जयामास।

यह कह उसने उसको बिदा करदिया।

ततः भो दुष्ट जलचर! अहमपि गंगदत्त इव त्वद्गृहे न कथञ्चित् अपि यास्यामि"। तत श्रुत्वा मकर आह"-भो मित्र! न एतद् युज्यते। सर्वथा एव मे कृतघ्नतादोषं अपनय मद्गृहागमनेन। अथवा अत्र अहं अनशनात् प्राणत्यागं तव उपरि करिष्यामि"। वानर आह-"मूढ! किं अहं लम्बकर्णो मूर्खो दृष्टापायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वा आत्मानं व्यापादयामि।

सो हे दुष्ट जलचर! मैंभी तेरे घर गगदत्तकी समान किसी प्रकार नहीं जाऊगा"। यह सुनकर मकर बोला-"भो मित्र! सर्वथा तुमको यह युक्त नहीं है मेरे कृतघ्नता दोषको मेरे घर चल कर दूरकरो। अथवा मैं यहा लघनकर तुम्हारे ऊपर प्राण त्यागन करूगा" वानर बोला-"मूर्ख! क्या मैं लम्बकर्ण मूर्ख हू जो अपाय (आपत्ति) देखकर भी स्वय वहा जाकर अपनेको नष्ट करू'

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम्।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः॥ ३३॥"

जो आकर सिंहके पराक्रमको देखकर भाग गया और कर्णहृदयरहित होनेके कारण वह मूर्ख फिरभी आगया॥ ३३॥"

मकर आह,-"भद्र! स को लम्बकर्णः? कथं दृष्टापायोऽपि मृतः? तत मे निवेद्यताम्"! वानर आह-

मकर बोला,-"भद्र वह लम्बकर्ण कौनहै? किस प्रकार आपत्ति देखकर भी वहा जाकर मृत हुआ? । सो मुझसे कहो"। वानर बोला-

कथा ३.

कस्मिंश्चित् वनोद्देशे करालकेशरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। तस्य च धूसरको नाम शृगालः सदा एव अनु-

यायी परिचारकोऽस्ति । अथ कदाचित् तस्य हस्तिना सह युद्ध्यमानस्य शरीरे गुरुतराः प्रहाराः सञ्जाता यैः पदमेकमपि चलितुं न शक्नोति तस्य अचलनात् च धूसरकः क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्यं गतः । अन्यस्मिन् अहनि तं अवोचत्-"स्वामिन् ! बुभुक्षया पीडितोऽहं पदात् पदमपि चलितुं न शक्नोमि तत्कथं ते शुश्रूषां करोमि" । सिंह आह-"भो ! गच्छ अन्वेषय किञ्चित् सत्त्वं येन इमां अवस्थां गतोऽपि व्यापादयामि"। तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन् कञ्चित्समीपवर्त्तिनं ग्रामं आसादितवान्। तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभः तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वांकुरान् कृच्छ्रादास्वादयन् दृष्टः । ततश्च समीपवर्त्तिना भूत्वा तेन अभिहितः-"माम!नमस्कारोऽयं मदीयः सम्भाव्यतां चिरात् दृष्टोऽसि।तत कथय तत् किमेवं दुर्बलतां गतः?" स आह,-"भो भगिनीपुत्र ! किं कथयामि,रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति,घासमुष्टिमपि न प्रयच्छति। केवलं दूर्वांकुरान् धूलिमिश्रितान् भक्षयामि।तत्कुतो मे शरीरे पुष्टिः?" शृगाल आह-"माम ! यदि एवं तदस्ति मरकतसदृशशष्पप्रायो नदीसनाथो रमणीयतरः प्रदेशः।तत्र आगत्य मया सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन् तिष्ठ । लम्बकर्ण आह-"भो भगिनीसुत ! युक्तमुक्तं भवता परं वयं ग्राम्याः पशवोऽरण्यचारिणां वध्यास्तत् किं तेन भव्यप्रदेशेन" शृगाल आह-"माम ! मैवं वद, मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितः स देशः ! तत्रास्ति कस्यचित् अपरस्य तत्र प्रवेशः । परमनेन एव दोषेण रजककदर्थिताः तत्र तिस्रो रासभ्योऽनाथाः सन्ति । ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोत्कटा इदं मां ऊचुः-'यदि त्वं अस्माकं सत्यो मातुलः तदा किञ्चित् ग्रामान्तरं गत्वा अस्मद्योग्यं कञ्चित् पतिमानय' । तदर्थे त्वामहं तत्र नयामि" । अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडिताङ्गः तमवोचत् । "भद्र ! यदि एवं तदग्रे भव, येन आगच्छामि । अथवा साधु इदमुच्यते-

किसी स्थानमें करालकेशर (कठिन गर्दनके बालवाला) नामक सिंह रहता था, उसका धूसरक नाम शृगाल सदा अनुगामी परिचारक था । एक समय हाथीके साथ युद्ध करते उसके शरीरमे कठिन प्रहार पडगयेथे जिनसे एक पगभी चलनेको समर्थ नहीं था । उसके असमर्थ होनेसे वह धूसरक भी भूखसे व्याकुलकण्ठ दुर्बलताको प्राप्त होगया और किसी दिन उससे बोला—"स्वामिन्! मैं भूखसे व्याकुल हो एक पगभी नहीं चल सकता । सो किस प्रकार तुम्हारी शुश्रूषा करू" सिंह बोला—"भो ! जाकर कोई जीव ढूढ जिससे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ भी उसे मारू" । यह सुन शृगाल खोज कर्ता किसी समीपवर्ती ग्राममे प्राप्त हुआ । वह लम्बकर्ण नामवाला गधा सरोवरके समपि लम्बायमान दूर्वादलके अकुरोंकू कृच्छ्र (कष्ट) से खाता हुआ देखा । तब समीपवर्ती होकर उसने कहा—"मामा ! हमारा नमस्कार ग्रहण करो, बहुत दिनोंसे देखा है कहो क्यो ऐसे दुर्वल हो रहे हो ?" वह बोला "सो भान्जे ! क्या कहू यह निर्दयी धोवी अति बोझसे मुझको पीडा देताहै मुट्ठीभर घासभी नही देता । केवल धूरिमिले दूर्वाङ्कुर भक्षण करता हू तो कहासे मेरे शरीरमे पुष्टि होगी" । शृगाल बोला—"जो ऐसा है तो मरकतमणिकी समान शष्प (घास) वाला नदीके किनारे मनोहर स्थान है। वहा आकर मेरे साथ सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभवकर स्थित हो" । लम्बकर्ण बोला,—"भो भानजे ! ठीक कहा तुमने । परन्तु हम ग्राम्य पशु वनचारियोंके वध्य हैं सो उस मनोहर स्थानसे क्या है" शृगाल बोला—"मामा ! ऐसा मत कहो वह देश मेरे भुजपजरसे रक्षित है । सो वहा किसी औरका प्रवेश नहीं है किन्तु इसी दोषसे रजकसे क्लेशित हुई तीन गधी अनाथा वहा और भी हैं । वे पुष्टिको प्राप्त हुई जवानीसे उत्कट मुझसे यों बोलीं —"जो तू हमारा सत्य मामा है तो किसी ग्रामान्तरमें जाकर हमारे योग्य किसी स्वामीको लाओ" । उस कारण मैं तुमको वहा लिये जाता हू" । तब शृगालके वचन सुन कामसे पीडित अग हो उससे बोला—"भद्र ! जो ऐसा है तो आगे हो जिससे मैं वहा पहुचू । अथवा अच्छा कहा है—

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
यस्याः सङ्गेन जीव्येत म्रियेत च वियोगतः ॥ ३४ ॥

एक स्त्रीको छोडकर कोई वस्तु अमृत और विष नहीं है जिसके संगसे प्राणी जीता और वियोगसे मरता है ॥ ३४ ॥

तथाच-

और देखो-

यासां नाम्नापि कामः स्यात्सङ्गमं दर्शनं विना ।
तासां दृक्सङ्गमं प्राप्य यन्न द्रवति कौतुकम् ॥ ३५ ॥"

जिसका संगम व दर्शन तो दूर रहो नाम मात्रसेही कामके उद्रेक होता है उस स्त्रीजनके दृष्टिको प्राप्त हो जो न द्रवै वह आश्चर्य है ॥ ३५ ॥"

तथानुष्ठिते शृगालेन सह सिंहान्तिकमागतः । सिंहोऽपि व्यथाकुलितस्तं दृष्ट्वा यावत् समुत्तिष्ठति तावत् रासभः पलायितुं आरब्धवान् । अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तलप्रहारो दत्तः । स च मन्दभाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थतां गतः ! अत्रान्तरे शृगालः कोपाविष्टस्तमुवाच-"भोः ! किं एवंविधः प्रहारस्ते यद्गर्दभोऽपि तव पुरतो बलाद्गच्छति । तत्कथं गजेन सह युद्धं करिष्यसि ? तद् दृष्टं ते बलम्"। अथ विलक्षस्मितं सिंह आह-"भोः ! किमहं करोमि । मया न क्रमः सज्जीकृत आसीत् । अन्यथा गजोऽपि मत्क्रमाक्रान्तो न गच्छति" शृगाल आह-"अद्यापि एकवारं तवान्तिके तमानेष्यामि । परं त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम्" । सिंह आह-"भद्र ! यो मां प्रत्यक्षं दृष्ट्वा गतः स पुनः कथमत्र आगमिष्यति । तदन्यत् किमपि सत्त्वमन्विष्यताम्" । शृगाल आह-"किं तव अनेन व्यापारेण त्वं केवलं सज्जितक्रमः तिष्ठ" । तथा अनुष्ठिते शृगालोऽपि यावत् रासभमार्गेण गच्छति तावत् तत्रैव स्थाने चरन् दृष्टः । अथ शृगालं दृष्ट्वा रासभः प्राह-"भो भगिनीसुत ! शोभनस्थाने त्वया अहं नीतः, द्राक् मृत्युवशं गतः तत्कथय किं तत्सत्वम् ? यस्य अतिरौद्रवज्रसदृशकरप्रहारात् अहं मुक्तः" । तत् श्रुत्वा प्रहसन् शृगाल आह-"भद्र ! रासभी त्वां आयान्तं

दृष्ट्वा सानुरागं आलिंगयितुं समुत्थिता। त्वं च कातरत्वात् नष्टः सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुमातया तु नश्यतः तेऽवलम्बनार्थं हस्तः क्षिप्तो न अन्यकारणेन, तत् आगच्छ, सा त्वत्कृते प्रायोपवेशना उपविष्टा तिष्ठति। एतत् वदति-"यत् लम्बकर्णो यदि मे भर्त्ता न भवति, तत् अहमग्नौ जले वा प्रविशामि, पुनस्तस्य वियोगं सोढुं न शक्नोमि"। तत्प्रसादं कृत्वा तत्र आगम्यतामिति। नो चेत् तव स्त्रीहत्या भविष्यति। अपरं भगवान् कामः कोपं तव उपरि करिष्यति। उक्तञ्च-

ऐसा करनेपर शृगालके साथ सिंहके समीप आया। सिंह भी व्याकुल हो उसे देख जबतक उठता है कि तबतक गधा भागने लगा। तब उस भागते हुएके सिंहने पंजेका प्रहार किया वह मन्दभागीके उद्यमकी समान व्यर्थ होगया। इसी समय शृगाल क्रोधित हो उससे बोला-"भो! क्या आपका ऐसा प्रहार है, जो गधा भी तुम्हारे आगेसे बलपूर्वक जाता है। सो हाथीके साथ कैसे युद्ध करोगे? सो देखलिया तुम्हारा बल"। तब लज्जित हो सिंह बोला,-"मैं क्या करूं पहलेसे तयार नथा। नहीं तो हाथीभी मेरे पराक्रमसे न जाने पाता"। शृगाल बोला-"अब भी एक वार उसे तुम्हारे पास लाऊंगा परन्तु तुम तयार रहना"। सिंह बोला-"भद्र जो मुझे प्रत्यक्ष देखकर गया है वह फिर किस प्रकार यहा आवेगा। सो और किसी जीवकी खोज करो"। शृगाल बोला-"तुम्हे इस बातसे क्या, तुम केवल तयार रहो" ऐसा कहकर शृगालभी जबतक गधेके मार्गसे जाने लगा। तब उसी स्थानमे उसे चरते देखा। तब शृगालको देखकर गधा बोला-"भो भगिनीपुत्र! अच्छे स्थानमे मुझे लेगये एक साथही मृत्युको प्राप्त किया था। सो कह वह कौनसा जीव है? जिसके अति कठिन वज्रकी समान प्रहारसे मैं छुटा हू"। यह सुन हँसता हुआ शृगाल बोला-"भद्र! वह गधी तुझे आया हुआ देख अनुरागसे आलिंगन करनेको उठी थी। तू कातरतासे भाग गया अब वह तेरे विना स्थित होनेको समर्थ न हुई। उसने भागते हुए तुझे पकडनेको हाथ फैलाया था और कारणसे नहीं सो आओ। वह तेरे विना मरणके निमित्त बैठी है। और यों कहती है "जो लम्बकर्ण मेरा

स्वामी न होगा तो मैं अग्नि वा जलमें प्रवेश करजाऊंगी । कारण कि उसका वियोग सहनेको मैं समर्थ नहीं हूं" । सो कृपाकर वहांको आओ। नहीं तो तुम्हें स्त्रीहत्या होगी और भगवान् कामदेव तुमपर क्रोध करेंगे । कहा है-

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥३६॥"

जो दुर्बुद्धि पुरुष कामके जीतनेवाली ध्वजा सब अर्थ और सम्पत्ति करनेवालीको छोडकर मिथ्या फल तपश्चर्या आदि करते हैं । वे उस कामनेही निष्ठुरतासे उन्हें मारकर कोई नंगे, कोई मुंडित, कोई लालवस्त्रवाले, कोई जटाधारी, कोई कपाली करदिये हैं ॥ ३६ ॥"

अथ असौ तद्वचनं श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थितः । अथवा साधु इदमुच्यते-

तब यह उसके वचनको श्रद्धासे सुनकर फिर भी उसके संग गया, अथवा अच्छा कहा है-

जानन्नपि नरो दैवात्प्रकरोति विगर्हितम् ।
कर्म किं कस्यचिल्लोके गर्हितं रोचते कथम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य जानकरभी प्रारब्धसे निन्दित कर्म करता है नहीं तो संसारमें निन्दित कर्म किसको अच्छा लगता है ॥ ३७ ॥

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन स लम्बकर्णो व्यापादितः । ततस्तं हत्वा शृगालं रक्षकं निरूप्य स्वयं स्नानार्थं नद्यां गतः । शृगालेनापि लौल्यौत्सुक्यात् तस्य कर्णहृदयं भक्षितम् । अत्रान्तरे सिंहो यावत् स्नात्वा कृतदेवार्चनः प्रतर्पितपितृगणः समायाति तावत् कर्णहृदयरहितो रासभः तिष्ठति । तं दृष्ट्वा कोपपरीतात्मा सिंहः शृगालं आह- "पाप ! किमिदमनुचितं कर्म समाचरितम् । यत् कर्णहृदयभक्षणेन अयमुच्छिष्टतां नीतः" । शृगालः सविनयमाह- "स्वामिन् ! मा मा एवं वद । यत्कर्णहृदयरहितोऽयं रासभः

आसीत् येन इह आगत्य त्वामवलोक्य भूयोऽपि आगतः"। अथ तद्वचनं श्रद्धेयं मत्वा सिंहः तेनैव सह संविभज्य निःशङ्कितमनाः तं भक्षितवान्। अतोऽहं ब्रवीमि-

इसी समय तयार बैठे सिंहने लम्बकर्णको मारडाला तब उसे मार उसकी रक्षामें शृगालको निरूपण करके स्वय स्नान करनेके निमित्त नदीको गया। शृगालनेभी चचलता की और उत्कठासे उसका कान और हृदय भक्षण किया, इसी समय सिंहभी जबतक स्नान कर देवतार्चन करके पितृगणोंको तृप्त करके आया तवतक कर्णहृदयसे रहित गर्दभको देखा। उसे देख क्रोधसे सिंह शृगालसे बोला-"पापिष्ठ! क्या यह तैंने अनुचित कर्म किया जो कर्ण हृदयको भक्षणकर यह जूठा कर दिया"। शृगाल विनयपूर्वक बोला-"स्वामिन् ऐसा मत कहो! यह गधा कर्ण और हृदयसे रहितही था, जिससे यहा आकरभी तुम्हें देखकर फिरभी आया"। तब उसके वचनको सिंहने श्रद्धासे मानकर उसको विभाग कर उसके साथ निःशक होकर भक्षण किया। इससे मैं कहता हू--

"आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम्।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः॥ ३८॥"

"जो आकर और सिंहके पराक्रमको देखकर चला गया। परन्तु कर्ण और हृदय रहित होनेके कारण वह मूर्ख फिर आया॥ ३८॥"

तन्मूर्ख! कपटं कृतं त्वया। परं युधिष्ठिरेणेव सत्यवचनेन विनाशितम्। अथवा साधु इदमुच्यते-

सो मूर्ख! तैंने कपट किया परन्तु युधिष्ठिरकी समान सत्य वचनसे नष्ट कर दिया। अथवा यह अच्छा कहा है-

"स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः।
स स्वार्थाद् भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवापरः॥ ३९॥"

"जो मूढमति पाखण्डी मनुष्य स्वार्थको छोडकर सत्य कहता है वह युधिष्ठिरकी समान अवश्य स्वार्थसे भ्रष्ट होता है॥ ३९॥"

मकर आह-"कथमेतत्?" स आह-

मकर बोला-"यह कैसी कथा है?" वह बोला--

कथा ४.

कस्मिंश्चित अधिष्ठाने कुम्भकारः प्रतिवसति स्म । स कदाचित प्रमादादर्द्धभग्नघटकर्परतीक्ष्णाग्रस्योपरि महता वेगेन धावन् पतितः । ततः कर्परकोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लाविततनुः कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रयं गतः । ततश्च अपथ्यसेवनात् स प्रहारस्तस्य करालतां गतः कृच्छ्रेण नीरोग्यतां नीतः । अथ कदाचित् दुर्भिक्षपीडिते देशे स कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चित राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको बभूव । सोऽपि राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास । "यद्वीरः पुरुषः कश्चित् अयम् । नूनं तेन ललाटपट्टे सम्मुखप्रहारः" । अतस्तं सम्मानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यतिस्म । तेऽपि राजपुत्राः तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमेर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयात् न किञ्चित् ऊचुः । अथ अन्यस्मिन्नहनि तस्य भूपतेः वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां विग्रहे समुपस्थिते प्रकल्पमानेषु गजेषु सन्नह्यमानेषु वाजिषु योधेषु प्रगुणीक्रियमाणेषु तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्टो निर्जने ।"भो राजपुत्र ! किं ते नाम ? का च जातिः ? कस्मिन् संग्रामे प्रहारोऽयं ते ललाटे लग्नः" । स आह-"देव ! नायं शस्त्रप्रहारः । युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं प्रकृत्या मद्गृहेऽनेककर्पराणि आसन् । अथ कदाचित मद्यपानं कृत्वा निर्गतः प्रधावन् कर्परोपरि पतितः । तस्य प्रहारविकारोऽयं मे ललाटे एवं विकरालतां गतः" । तदाकर्ण्य राजा सव्रीडमाह-"अहो ! वञ्चितोऽहं राजपुत्रानुकारिणा अनेन कुलालेन । तत दीयतां द्राक् एतस्य चन्द्रार्द्धः" तथानुष्ठिते कुम्भकार आह--"मा मा एवं कुरु । पश्य मे रणे हस्तलाघवम्" राजा प्राह--"भोः सर्वगुणसम्पन्नो भवान् । तथापि गम्यताम् । उक्तञ्च-

किसी एक स्थानमें कुभार रहता था वह कभी प्रमादसे आधे टूटे घडेके तीक्ष्ण कोरके ऊपर वेगसे धावमान होकर पतित हुआ । तब उस ठीकडेकी कोरसे माथा फट जानेके कारण रुधिरसे लिप्त शरीर होकर कठिनतासे उठ अपने घरको गया । तब अपथ्यसेवनसे वह प्रहार उसका अधिक होगया और कठिनतासे निरोगताको प्राप्त हुआ । तब एक समय दुर्भिक्षसे पीडित देशके होनेमें वह कुंभार भूखसे व्याकुल कठ किन्ही राजसेवकोंके साथ देशान्तरमें जाकर किसी राजाका सेवक हुआ । वह राजाभी उसके माथेमें तीक्ष्ण प्रहारका घाव देखकर विचारने लगा ' यह कोई वीरपुरुष है । इससे माथेके सामने सन्मुख प्रहार सहन किया है"। इस कारण उसको सम्मानादिसे सम्पूर्ण राजपुत्रोंके मध्य विशेषप्रसन्नतासे देखता । वेभी राजपुत्र उसकी अधिक प्रसन्नताको देखते हुए परम ईर्षाधर्मको वहन करते राजभयसे कुछभी न बोले । तब और दिन उस वीरसभावना (परीक्षा) करनेमें विग्रह होनेपर हाथियोंके कल्पित होनेमें और घोडोंके सज्जित होनेपर तथा योद्धाओंके प्रकृष्ट सज्जित होनेपर उस राजाने प्रसगसे प्राप्त हुए एकान्तमें उससे पूछा ।--"भो राजपुत्र ! तुम्हारा क्या नाम ? क्या जाती है ? किस सग्राममें यह प्रहार तुम्हारे मस्तकमें लगा है ?"। वह बोला--"देव ! यह शस्त्रप्रहार नहीं है मैं युधिष्ठिर नामवाला कुभार हू । मेरे घरमे अनेक फूटे बर्तन थे, सो एक समयमे मद्यपान करके निकला दौडता हुआ बर्तनोंपर गिरा उसके प्रहारका विकार यह मेरे माथेमें विकरालताको प्राप्त हो गया है" । यह सुन राजा लज्जित हो बोला--"अहो राजपुत्रका अनुकरण करनेवाले इस कुभारने मुझे ठगलिया, सो अभी गलहस्त देकर इसे निकालदो" । ऐसा कहनेपर कुभकार बोला--"ऐसा मत करो, रणमें मेरा हस्तलाघव देखो" । राजा बोला--"भो ! आप सर्वगुणसपन्न हो तो भी जाओ । कहा है--

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक ।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ४० ॥"

हे पुत्र ! तू शूर विद्यावान् और दर्शनीय है परन्तु जिस कुलमे उत्पन्न हुए हो उसमें हस्ती नहीं मारे जाते ॥ ४० ॥

कुलाल आह--"कथमेतत ?" राजा कथयति -

कुलाल बोला--"यह कैसी कथा है ?" राजा कहने लगा--

कथा ९.

कस्मिंश्चिदुद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसतः स्म, अथ सिंही पुत्रद्वयमजीजनत् । सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान् व्यापाद्य सिंह्यै ददाति, अथ अन्यस्मिन्नहनि तेन किमपि न आसादितम् । वने भ्रमतोऽपि तस्य रविरस्तं गतः । अथ तेन स्वगृहं आगच्छता शृगालशिशुः प्राप्तः । तं च बालकोऽयमिति अवधार्य्य यत्नेन दंष्ट्रामध्यगतं कृत्वा सिंह्या जीवन्तमेव समर्पितवान् । ततः सिंह्या अभिहितं--"भोः कान्त ! त्वयानीतं किञ्चित् अस्माकं भोजनम्?" । सिंह आह--"प्रिये ! मया अद्य एनं शृगालशिशुं परित्यज्य न किञ्चित् सत्वमासादितम् । स च बालोऽयमिति मत्वा न व्यापादितो विशेषात् स्वजातीयश्च । उक्तञ्च--

किसी स्थानमें एक शेर शेरनी रहतीथी । उस समय सिंहीके दो पुत्र उत्पन्न हुए, सिंहभी नित्यही मृगोंको मारकर सिंहीको देता । तब एक दिन उसने कुछ नहीं पाया । तब उसको अपने घर आते गीदडका बच्चा मिला । वह बालक है यह निश्चय करके यत्नसे डाढोंके भीतर धारण करके सिंहीको जीताही देता हुआ । तब सिंही बोली--"भो स्वामिन् ! तुम कुछ हमारा भोजन लाये?" । सिंह बोला--"प्रिये ! आज इस शृगाल शिशुके सिवाय मुझे और कुछ नहीं मिला है । इसे भी बालक समझकर न मारा कारण कि सजातीय है । कहा है--

स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहर्त्तव्यं न कर्हिचित् ।
प्राणत्यागेऽपि सञ्जाते विश्वस्तेषु विशेषतः ॥ ४१ ॥

स्त्री, ब्राह्मण और बालक इनपर कभी प्रहार नहीं करना चाहिये प्राणत्यागभी हो तो भी विशेष कर विश्वासीपर तो प्रहार करैही नहीं ॥ ४१ ॥

इदानीं त्वं एनं भक्षयित्वा पथ्यं कुरु । प्रभातेऽन्यत किञ्चित् उपार्जयिष्यामि" । सा प्राह--"भो कान्त ! त्वया बालकोऽयं विचिन्त्य न हतः । तत कथमेनमहं स्वोदरार्थे विनाशयामि । उक्तञ्च--

सो इस समय तू इसको भक्षण करके पथ्य कर प्रातःसमय और कुछ उपार्जन करूगा'' । वह बोली- ''भो स्वामिन् ! जब आपने इसे बालक जानकर न मारा तो कैसे इसको मैं अपने उदरके निमित्त विनाश करूं कहाहै कि-

अकृत्यं नैव कर्त्तव्यं प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।
न च कृत्यं परित्याज्यं धर्म एष सनातनः ॥ ४२ ॥

प्राणत्याग होनेपरभी अकृत्य नहीं करना चाहिये और कृत्यको छोडना नहीं चाहिये यह सनातन धर्म है ॥ ४२ ॥

तस्मात् मम अयं तृतीयः पुत्रो भविष्यति'' । इत्येवमुक्त्वा तमपि स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत । एवं ते त्रयोऽपि शिशवः परस्परमज्ञातजातिविशेषा एकाचारविहारा बाल्यसमयं निर्वाहयन्ति । अथ कदाचित् तत्र वने भ्रमन् अरण्यगजः समायातः । तं दृष्ट्वा तौ सिंहसुतौ द्वौ अपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत तावत् तेन शृगालसुतेन अभिहितम्,-''अहो ! गजोऽयं युष्मत कुलशत्रुः, तन्न गन्तव्यमेतस्य अभिमुखम्'' । एवमुक्त्वा गृहं प्रधावितः । तौ अपि ज्येष्ठबान्धवभंगान्निरुत्साहतां गतौ अथवा साधु इदमुच्यते-

इससे मेरा यह तीसरा पुत्र होगा'' । ऐसा कह उसको भी स्तनके दूधसे पुष्ट करनेलगी । इस प्रकार वे तीनो बालक परस्पर अपनी जातिको न जाननेवाले एक आचरण और विहारसे बाल समयको विताते हुए । एक समय उस वनमें घूमता हुआ वनचारी हाथी आया । उसे देख वे दोनोही सिंहपुत्र क्रोधितमुख हो उसकी ओर ज्योंही चले तबतक उस शृगालपुत्रने कहा-''अहो ! यह हाथी तुम्हारे कुलके शत्रु हैं । सो इसके सन्मुख मत जाओ'' ऐसा कह घरको भागा व दोनों भी वडे भाईके पलायन करनेसे निरुत्साह होकर गये । अथवा यह अच्छा कहाहै-

एकेनापि सुधीरेण सोत्साहेन रणं प्रति ।
सोत्साहं जायते सैन्यं भग्ने भंगमवाप्नुयात ॥ ४३ ॥

एकभी धैर्यवान् उत्साहवालेके रणमें स्थित होनेसे सेना उत्साहवाली होती है और भग्न होनेसे भङ्ग होजाती है ॥ ४३ ॥

तथाच–

और देखो–

अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान्महाबलान् ।
शूरान्वीरान्कृतोत्साहान्वर्जयन्ति च कातरान् ॥ ४४ ॥"

इसी कारण राजा महाबली योधाओंकी इच्छा करते हैं शूर, वीर, उत्साहसंपन्नका संग्रह करना । कायरोका नहीं ॥ ४४ ॥"

अथ तौ द्वौ अपि गृहं प्राप्य पित्रोरग्रतो विहसन्तौ ज्येष्ठभ्रातृचेष्टितमूचतुः।"यथा गजं दृष्ट्वा दूरतोऽपि नष्टः" । सोऽपि तदाकर्ण्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवः ताम्रलोचनः त्रिशिखां भृकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्सयन् परुषतरवचनानि उवाच । ततः सिंह्या एकान्ते नीत्वा प्रबोधितोऽसौ–"वत्स! मैवं कदाचित् जल्प । भवदीयलघुभ्रातरौ एतौ" । अथ असौ प्रभूतकोपाविष्टः तामुवाच–"किमहं एताभ्यां शौर्येण रूपेण विद्याभ्यासेन कौशलेन वा हीनः । येन मां उपहसतः । तन्मया अवश्यं एतौ व्यापादनीयौ" । तदाकर्ण्य सिंही तस्य जीवितमिच्छन्ती अन्तर्विहस्य प्राह–

तब वे दोनोंही घरको प्राप्त होकर माता पिताके आगे हँसकर बडे भाईकी चेष्टाको कहते हुए ।"जैसे वह हाथीको देख दूरसेही भाग गया"। वहभी यह सुन क्रोधाविष्ट मनसे होठरूपी पल्लव फडकाता लाल नेत्र तीन शिखावाली भृकुटीको कर उन दोनोको घुडकता हुआ अधिक कठोर वचन बोला । तब सिंहीने एकान्तमें लेजाकर उसे समझाया ।"पुत्र ! ऐसा कभी न कहना। यह दोनो तेरे छोटे भ्राता हैं"। तब यह अत्यन्त क्रोधितहो उस (सिंही) से बोला, "क्या मैं इनसे शूरता, रूप, विद्या अभ्यास, चतुराईमें कम हूं? जिससे मेरा हास्य करते है इससे अवश्यही मैं इन दोनोंको मार डालूंगा" । यह सुन सिंही उसके जीनेकी इच्छा करती मनमें हँसकर बोली–

"शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक ।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ४५ ॥

हे पुत्र ! तू शूर विद्यावान् और रूपवान्भी है परन्तु जिस कुलमें तू उत्पन्न हुआ है उस कुलमें हाथिको कोई मार नहीं सक्ता ॥ ४५ ॥

तत् सम्यक् शृणु वत्स । त्वं शृगालीसुतः कृपया मया स्वस्तनक्षीरेण पुष्टिं नीतः । तद् यावत् एतौ मत्पुत्रौ शिशुत्वात् त्वां शृगालं न जानीतः, तावत् द्रुततरं गत्वा स्वजातीयानां मध्ये भव, नो चेत् आभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यसि" । सोऽपि तद्वचनं श्रुत्वा भयव्याकुलमनाः शनैः शनैः अपसृत्य स्वजात्या मिलितः । तस्मात् त्वमपि यावत् एते राजपुत्राः त्वां कुलालं न जानन्ति तावत् द्रुततरमपसर । नो चेत् एतेषां सकाशात् विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि"। कुलालोऽपि तदाकर्ण्य सत्वरं प्रनष्टः । अतोऽहं ब्रवीमि–

सो पुत्र ! भली प्रकारसे सुन तू गीदडीकापुत्र है मैने कृपा कर अपने स्तनके दुग्धसे पुष्ट किया है । सो जबतक यह दोनों पुत्र बालक होनेके कारण तुझे शृगाल न जाने तबतक शीघ्र जाकर स्वजातियोंके मध्यमे हो । नहीं तो इन दोनोंसे हत होकर मृत्युमार्गको प्राप्त होगा" । वहभी उसके वचन सुन भयव्याकुल मनसे शनैः २ चल कर अपनी जातीमें मिलगया । इससे तू भी जबतक यह राजपुत्र तुझको कुमार न जाने तबतक शीघ्र जा । नहीं तो इनसे तिरस्कारको प्राप्त होकर मरेगा" । कुमारभी यह सुनकर शीघ्र चलागया। इससे मै कहता हू कि–

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः ।
स स्वार्थाद् भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवापरः ॥ ४६ ॥

जो दम्भी अपना स्वार्थ त्यागन कर सत्य बोलता है वह दूसरे युधिष्ठिरकी समान अवश्यही अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होता है ॥ ४६ ॥

धिक् मूर्ख यत् त्वया स्त्रियोऽर्थे एतत् कार्य्यमनुष्ठातुं आरब्धं न हि स्त्रीणां कथञ्चिद्विश्वासमुपगच्छेत् । उक्तञ्च–

सो धिक् मूर्ख ! जो तैने स्त्रीके निमित्त इस कार्यके अनुष्ठानका आरम्भ किया । किसी प्रकार स्त्रियोंका विश्वास न करे । कहा है–

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्द्धञ्च हारितम् ।
सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः ॥ ४७॥

जिसके निमित्त कुल त्यागन किया आधा जीवन नष्ट किया वह स्नेह-रहित होकर मुझको त्यागन करती है कौन मनुष्य स्त्रीका विश्वास करे ॥४७॥"

मकर आह–"कथमेतत् ?" वानर आह–

मकर बोला–"यह कैसी कथा ?" वानर बोला–

कथा ६.

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः । तस्य च भार्य्या प्राणेभ्योऽपि अतिप्रिया आसीत् । सापि प्रतिदिनं कुटुम्बेन सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति । सोऽपि ब्राह्मणः कलहमसहमानो भार्य्यावात्सल्यात् स्वकुटुम्बं परित्यज्य ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः । अथ महाटवीमध्ये ब्राह्मण्या अभिहितः,–"आर्य्यपुत्र ! तृष्णा मां बाधते । तदुदकं क्वापि अन्वेषय" । अथ असौ तद्वचनानन्तरं यावत् उदकं गृहीत्वा समागच्छति तावत् तां मृतामपश्यत् । अतिवल्लभतया विषादं कुर्वन् यावत् विलपति तावत् आकाशे वाचं शृणोति । तथा हि "यदि ब्राह्मण त्वं स्वकीयजीवितस्यार्द्धं ददासि, ततः ते जीवति ब्राह्मणी" । तत् श्रुत्वा ब्राह्मणेन शुचीभूय तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्द्धं दत्तम् । वाक्-सममेव च ब्राह्मणी जीविता सा । अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि भक्षयित्वा गन्तुमारब्धौ । ततः क्रमेण कस्यचित नगरस्य प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्य्याम् अभिहितवान्–"भद्रे ! यावत् अहं भोजनं गृहीत्वा समागच्छामि तावत् अत्र त्वया स्थातव्यम्" इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम । अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पंगुः अर-

घट्टं खेलयन् दिव्यगिरा गीतमुद्गिरति। तच्च श्रुत्वा कुसुमेषुणा अर्दितया ब्राह्मण्या तत्सकाशं गत्वा अभिहितम्–"भद्र! यदि मां न कामयसे, तत् मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति" पंगुरब्रवीत,–"किं व्याधिग्रस्तेन मया करिष्यसि ?" सा अब्रवीत,–"किमनेन उक्तेन अवश्यं त्वया सह मया संगमः कर्त्तव्यः"। तत् श्रुत्वा तथा कृतवान्। सुरतानन्तरं सा अब्रवीत–"इतः प्रभृति यावज्जीवं मया आत्मा भवते दत्तः। इति ज्ञात्वा भवानपि अस्माभिः सह आगच्छतु"। सोऽब्रवीत्–"एवमस्तु," अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य तया सह भोक्तुम् आरब्धः। सा अब्रवीत्–"एष पंगुः बुभुक्षितः तदेतस्यापि कियन्तमपि ग्रासं देहि" इति। तथा अनुष्ठिते ब्राह्मण्या अभिहितम्–"ब्राह्मण! सहायहीनः त्वं यदा ग्रामान्तरं गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नास्ति तत् एनं पंगुं गृहीत्वा गच्छावः ?"। सोऽब्रवीत्–"न शक्नोमि आत्मानमपि आत्मना वोढुं किं पुनः एनं पंगुम् ?" सा अब्रवीत्–"पेटाभ्यन्तरस्थं एनमहं नेष्यामि"। अथ तत्कृतकवचनव्यामोहितचित्तेन तेन प्रतिपन्ने, तथा अनुष्ठिते अन्यस्मिन् दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मणः तया च पंगुपुरुषासक्तया सम्प्रेर्य्य कूपान्तः पातितः। सापि पंगुं गृहीत्वा कस्मिंश्चित् नगरे प्रविष्टा। तत्र शुल्कचौर्य्यरक्षानिमित्तं राजपुरुषैरितस्ततो भ्रमद्भिः तन्मस्तकस्था पेटा दृष्ट्वा, बलात् आच्छिद्य राजाग्रे नीता। राजा च यावत् तां उद्घाटयति, तावत् तं पंगुं ददर्श। ततः सा ब्राह्मणी विलापं कुर्वती राजपुरुषानुपदं एव तत्र आगता। राज्ञा पृष्टा "को वृत्तान्तः" इति। सा अब्रवीत,–"मम एष भर्त्ता व्याधिबाधितो दायादसमूहैः उद्वेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भवदीयनगरे आनीतः" तत् श्रुत्वा राजा अब्रवीत्–"ब्राह्मणि! त्वं मे भगिनी, ग्रामद्वयं गृहीत्वा भर्त्रा सह भोगान् भुञ्जाना

सुखेन तिष्ठ" । अथ स ब्राह्मणो दैववशात् केनापि साधुना कूपादुत्तारितः परिभ्रमन् तदेव नगरं आयातः । तया दुष्ट-भार्य्यया दृष्टो राज्ञे निवेदितः । "राजन् ! अयं मम भर्त्तुः वैरी समायातः" । राज्ञा अपि वधः आदिष्टः । सोऽब्रवीत्-"देव ! अनया मम सत्कं किञ्चिद् गृहीतमस्ति यदि त्वं धर्म-वत्सलः तद्दापय" । राजा अब्रवीत्-"भद्रे ! यत् त्वया अस्य सत्कं किञ्चिद्गृहीतमस्ति तत् समर्पय" । सा प्राह-"देव ! मया न किञ्चित् गृहीतम्" । ब्राह्मण आह-"यन्मया त्रिवाचिकं स्वजीवितार्द्धं दत्तं तद्देहि" । अथ सा राजभयात् तत्र एव त्रिवाचिकं एव जीवितमनेन दत्तमिति जल्पन्ती प्राणैः विमुक्ता । ततः सविस्मयं राजा अब्रवीत्-"किमेतत्" इति । ब्राह्मणेनापि पूर्ववृत्तान्तः सकलोऽपि तस्मै निवेदितः। अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी स्थानमें कोई ब्राह्मण था । उसको अपनी स्त्री प्राणोंसेभी अधिक प्यारी थी । वह प्रतिदिन कुटुम्बके साथ क्लेश करती नहीं उपरामको प्राप्त होती थी । वह ब्राह्मणभी क्लेशको न सहकर भार्याके प्रेमसे अपने कुटुम्बको छोड ब्राह्मणीके संग बहुत दूर देशको चला गया । तब महाजंगलके मध्यमें ब्राह्मणीने कहा-"आर्य्यपुत्र ! मुझे बडी प्यास लगी है । सो कहीं जलकी खोज करो" । तब यह उसके वचन कहनेपर जबतक जल लेकर आता है तबतक उसे मरा देखता हुआ । अति प्यारके कारण दुःखसे जब विलाप करने लगा । तब आकाशवाणी सुनाई दी ।"हे ब्राह्मण ! यदि तू इसे अपने जीवनके आधे दिन देगा तो यह ब्राह्मणी जिये" । यह सुन ब्राह्मणने पवित्र होकर तीन वार उच्चारण कर अपने जीवनका अर्ध दिया । बोलनेके साथही वह ब्राह्मणी जी उठी । तब वे दोनों जल पान कर वनके फल भक्षण करते चलने लगे । तब क्रमसे किसी नगरके देशमें पुष्पवाटिकामें प्रवेश कर ब्राह्मणने अपनी भार्यासे कहा-"भद्रे ! जबतक मैं भोजन ग्रहण कर आऊं । तबतक तुम यहीं रहो"। ऐसा कह ब्राह्मण नगरके बीचमें गया । तब उस पुष्पवाटिकामें एक लंगडा कुएकी सीडी पर खेलता हुआ मनोहर वाणीसे गीत गा रहा था । उसको सुन कामबाणसे

अर्दित हो ब्राह्मणी उसके पास जाकर बोली,-"भद्र ! यदि मेरी इच्छा नहीं करो तो मुझ आसक्तकी स्त्रीहत्या तुमको लगेगी" । लगडा बोला-" व्याधीसे ग्रस्त मुझसे तू क्या करेगी ?" वह बोली इस कहनेसे क्या है। अवश्य तेरे सगमे सगम करूगी" । यह सुनकर उसने वैसाही किया, सुरतके अंतमें वह बोली-"अबसे लेकर जीवन पर्यन्त अपना आत्मा मैंने तुम्हें दिया। ऐसा जानकर तुमभी हमारे साथ आओ"। वह बोला-" ऐसाही हो" तब ब्राह्मण भोजन लिये आकर उसके साथ खाने लगा। वह बोली-"यह लगडा भूखा है सो इसकोभी कुछ ग्रास प्रदान करो" वैसा करनेपर फिर ब्राह्मणीने कहा-"हे ब्राह्मण! तुम सहायहीन होकर ग्रामान्तरको जाते हो।सो मेरा कोई वचनसहायकभी नहीं सो इस पगुको लेचलें?" वह बोला-"मैं स्वय अपनेसे अपने लेजानेको तौ समर्थ हूही नहीं । फिर इस पगुको कैसे लेचलूगा ?" वह बोली-"गठरीके भीतर कर इसको मैं ले जाऊगी" । तब उसके बनावटी वचनोंसे मोहित चित्त होकर उसने वह सब अंगीकार किया । वैसा करनेपर एक दिन कूपके समीप विश्राम करते हुए ब्राह्मणको उस पगुमें आसक्त चित्तवाली स्त्रीने कूपमें गिरा दिया । वहभी पगुको ग्रहण कर किसी नगरमें प्रविष्ट हुई । वहा करके चुराजानेकी खोज रक्षाके निमित्त इधर उधर घूमते हुए राजपुरुषोंने उसके मस्तकपर वह गठरी देखी । और बलसे छीनकर राजाके आगे लेगये । राजानेभी जब उसे खोला तौ उसमें लगडेको देखा । तब वह ब्राह्मणी विलाप करती हुई राजपुरुषोंके पीछे २ वहा आई राजाने पूछा-"तेरा क्या वृत्तान्त है" वह बोली-"मेरा यह स्वामी रोगग्रस्त गोतियोंसे उद्वेजित हुआ है मैंने स्नेहसे व्याकुल मनसे शिरपर धारण कर आपके नगरमें प्राप्त किया है" । यह सुनकर राजा बोला-"ब्राह्मणि ! तू मेरी बहन दो ग्राम ग्रहण कर भर्ताके सग भोगोंको भोगती सुखसे रह" । उधर वह ब्राह्मण दैववशसे किसी साधुद्वारा कुएसे निकाला हुआ, घूमता हुआ उसी नगरमें आया । और दुष्ट उस भार्याने देखकर राजासे कहा-"राजन् ! यह मेरे स्वामीका वैरी आया है" । राजाने उसके वधकी आज्ञा दी । वह बोला-"देव! इसने मेरा सक्त (सक्रान्त वस्तु) कुछ ग्रहण कर लिया है । जो तुम धर्मवत्सल हो तो दिलादो" । राजा बोला-"भद्रे ! जो तुमने इसका सक्त (सक्रान्त) कुछ लिया हो तो देना"।वह बोली-"देव!मैंने कुछ ग्रहण नहीं किया"। ब्राह्मण

बोला—"जो मैंने तीन वाचा देकर अपने जीवनका आधा दिया है वह दे" । तब वह राजाके भयसे "त्रिवाचित जीवित जो इसने दिया सो मैंने दिया" ऐसा कहती हुई प्राणरहित हुई । तब विस्मयसे राजा बोला—"यह क्याहै" । ब्राह्मणने सम्पूर्ण पहला वृत्तान्त उससे निवेदन किया । इससे मैं कहता हूं—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्द्धञ्च हारितम् ।
सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः ॥४७॥"

जिसके निमित्त कुल त्यागा, आधा जीवन दिया, उसने स्नेहरहित हो मुझे त्यागन करदिया, कौन मनुष्य स्त्रियोंका विश्वास करे ॥ ४७ ॥"

वानरः पुनराह—"साधु च इदमुपाख्यानकं श्रूयते ।

फिर वानरने कहा—"यह अच्छा उपाख्यान सुना जाता है ।

न किं दद्यान्न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥ ४८ ॥ "

स्त्रीसे प्रार्थित हुआ मनुष्य क्या न दे और क्या नहीं करता है, अर्थात् सबही कुछ देता और करता है, जिस अवस्थामें घोडे न होकरभी हींसते है और और पूर्व दिन चोदश अष्टमी आदि निषेधके दिनोंमेंभी शिरका मुण्डन होता है । स्त्रीके वशीभूत होकर कार्य अकार्यको नहीं जानता है ॥ ४८ ॥"

मकर आह—"कथमेतत् ?" वानरः कथयति—

मकर बोला—"यह कैसे ?" वानर कहने लगा—

कथा ७.

अस्ति प्रख्यातबलपौरुषोऽनेकनरेन्द्रमुकुटमरीचिजालजटिलीकृतपादपीठः शरच्छशांककिरणनिर्मलयशाः समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या भर्त्ता नन्दो नाम राजा, तस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्वः सचिवो वररुचिर्नाम तस्य च प्रणयकलहेन जाया कुपिता । सा च अतीववल्लभा अनेकप्रकारं परितोष्यमाणापि न प्रसीदति ब्रवीति च भर्त्ता,—"भद्रे ! येन प्रकारेण तुष्यसि तं वद । निश्चितं करोमि" । ततः कथञ्चित् तया उक्तं,—"यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोः निपतसि, तदा प्रसादाभिमुखी भवामि" । तथा अनुष्ठिते

प्रसन्ना आसीत् । अथ नन्दस्य भार्यापि तथा एव रुष्टा प्रसाद्यमानापि न तुष्यति। तेन उक्तं,–"भद्रे! त्वया विना मुहूर्त्तमपि न जीवामि, पादयोः पतित्वा त्वां प्रसादयामि"। सा अब्रवीत्–"यदि खलीनं मुखे प्रक्षिप्य अहं तव पृष्ठे समारुह्य त्वां धावयामि । धावितस्तु यदि अश्ववत् ह्रेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि" । राज्ञापि तथा एव अनुष्ठितम् । अथ प्रभातसमये सभायां उपविष्टस्य राज्ञः समीपे वररुचिः आयातः । तञ्च दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ,–"भो वररुचे ! किं पर्वणि मुण्डितं शिरस्त्वया ?" सोऽब्रवीत्–

विख्यात बल पुरुषार्थवाला अनेक राजोंके मुकुटोंके किरणजालसे सेवित चरणपीठवाला, शरद्कालके चन्द्रमाकी समान निर्मल यशवाला, सागर पर्य्यन्त पृथ्वीका स्वामी, नन्द नाम राजा था । उसके सम्पूर्ण शास्त्रके तत्व जाननेवाला वररुचि नाम मन्त्री था । उसकी स्त्री प्रेमके कलहमें क्रोधित हुई । वह बहुत प्यारी थी इस कारण अनेक प्रकार सन्तुष्ट करने परभी प्रसन्न न हुई । उसका भर्ता बोला–"भद्रे ! तुम किस कारणसे प्रसन्न होती हो ? सो कहो । अवश्य उसको मैं करू" तब किसी प्रकार उसने कहा–"यदि शिर मुँडाकर मेरे चरणोमें गिरो तो मैं प्रसन्न होजाऊगी" । वैसा करनेपर वह प्रसन्न हुई । तब नन्दकी भार्याभी उसी प्रकार रूठकर किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं होती । उसने कहा–"भद्रे ! तेरे विना मैं मुहूर्त मात्रभी नहीं जी सकता । चरणमें पडकर तुझे प्रसन्न करता हू" । वह बोली–"यदि मुखमें लगाम डालो और मैं तुम्हारे ऊपर चढ कर शीघ्रतासे तुम्हे चलाऊ । और दौडते हुए तुम घोड़ेकी समान शब्द करो तो मैं प्रसन्नहूँ" । राजानेभी वैसा किया । तब प्रातःकाल सभामें बैठे राजाके समीप वररुचि आया उसे देखकर राजाने पूछा–"अहो वररुचि ! किस पर्वमें तुमने शिर मुँडाया ?" वह बोला–

न किं दद्यान्न किं कुर्य्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते शिरः पर्वाणि मुण्डितम् ॥ ४९ ॥

स्त्रीसे प्रार्थित हुआ मनुष्य क्या नहीं देता और क्या नहीं करता जहा घोडे न होकरभी मनुष्य हींसते हैं उसी पर्वमेंभी शिर मुंडित हुआ है ॥ ४९ ॥

तत् भो दुष्टमकर ! त्वमपि नन्दवररुचिवत् स्त्रीवश्यः ततो भद्र ! आगतेन त्वया मां प्रति वधोपायप्रयासः प्रारब्धः परं स्ववाग्दोषेण एव प्रकटीभूतः । अथवा साधु इदमुच्यते-

सो हे दुष्टजलचर ! तूभी नन्द और वररुचिकी समान स्त्रीके वशीभूत है । सो भद्र ! आतेहीं तुमने मेरे निमित्त वधके उपायका श्रम प्रारम्भ किया परन्तु तुम्हारी वाणीके दोषसेही वह प्रगट होगया है । अथवा यह अच्छा कहा है-

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ ५० ॥

तोते और मैना अपने मुख (वाणी) के दोषसे ही बन्धनमें पडते हैं और बगले नहीं बंधते मौनही सब अर्थका साधक है ॥ ५० ॥

तथाच-

और देखो-

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः ।
व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ५१ ॥"

गुप्त रक्षित हुआभी अपना दारुण शरीर दिखाता हुआ व्याघ्रके चर्मसे ढका गधा अपनी वाणीके दोषसे मारा गया ॥ ५१ ॥"

मकर आह-"कथमेतत् ?" वानरः कथयति-

मकर बोला-"यह कैसे ?" वानर कहने लगा-

कथा ८.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजकः प्रतिवसति स्म । तस्य च गर्दभः एकोऽस्ति, सोऽपि घासाभावात् अति दुर्बलतां गतः । अथ तेन रजकेन अटव्यां परिभ्रमता मृत-व्याघ्रो दृष्टः । चिन्तितश्च, "अहो ! शोभनमापतितम् । अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ यवक्षेत्रेषु उत्स्रक्ष्यामि, येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्तिनः क्षेत्रपाला एनं न निष्कासयिष्यन्ति" । तथा अनुष्ठिते रासभो यथेच्छया यव-भक्षणं करोति प्रत्यूषे भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति । एवं गच्छता कालेन स रासभः पीवरतनुर्जातः । कृच्छ्राद् बन्ध-

नस्थानमपि नीयते । अथ अन्यस्मिन् अहनि स मदोद्धतो दूरात् रासभीशब्दमशृणोत् । तत्श्रवणमात्रेण एव स्वयं शब्दयितुमारब्धः । अथ ते क्षेत्रपाला रासभोऽयं व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्न इति ज्ञात्वा लगुडशरपाषाणप्रहारैः तं व्यापादितवन्तः । अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी एक स्थानमें शुद्धपट नाम धोबी रहता था । उसका एक गधा था वह घासके विना अतिदुर्बलताको प्राप्त हुआ । तब उस धोबीने वनमें घूमते हुए एक मरा व्याघ्र देखा विचाराभी, " अहो ! बहुत अच्छा हुआ । इस व्याघ्र (चीते) के चमड़ेसे ढककर रात्रिमें गधेको जौके छेत्रमें छोड दूगा । जिससे इसको व्याघ्र मानकर समीपवर्ती क्षेत्रपाल इसको न निकालेंगे" । ऐसा करनेपर गधा यथेच्छ धान्य खेत भक्षण करने लगा सवेरे धोबी उसे अपने स्थानमें लाता। इस प्रकार समय वीतनेपर गधा पुष्ट शरीर होगया । कठिनतासे बंधन स्थानमें ले जाया जाता । तब और दिन उस मदोद्धतने दूरसे गधेयाका शब्द सुना उसके सुनतेही वह स्वय शब्द करने लगा । तब वे क्षेत्रपाल यह तो गधा है व्याघ्रचर्मसे ढका है ऐसा जानकर लठिया बाण तथा पत्थरके प्रहारोंसे उसे मारते हुए । इससे मैं कहता हूं-

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः ।
व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ९२ ॥ "

अच्छी प्रकार रक्षा होकर भी अपना दारुण शरीर दिखाता हुआ व्याघ्रचर्मसे प्रच्छन्न हुआ गधा वाणीके दोषसे मारा गया ॥ ९२ ॥"

अथ एवं तेन सह वदतो मकरस्य जलचरेण एकेन आगत्य अभिहितं-"भो मकर ! त्वदीया भार्य्या अनशनोपविष्टा त्वयि चिरयाति प्रणयाभिभवाद्विपन्ना" । एवं तद्वज्रपातसदृशवचनमाकर्ण्य अतीव व्याकुलितहृदयः प्रलपितमेवं चकार । "अहो ! किमिदं सञ्जातं मे मन्दभाग्यस्य । उक्तञ्च-

तब ऐसे उसके साथ कहते मकरके एक जलचरने आकर उससे कहा-"भो मकर ! तुम्हारी स्त्री अनशन व्रतमें बैठी हुई तुम्हारे चिरकालतक न आनेसे प्रेमकी अवमाननाके कारण मर गई" । इस प्रकार उसके वज्रपातकी समान

वचन सुनकर हृदयसे अति व्याकुल होकर वह इस प्रकार विलाप करने लगा। "यह मुझ मन्द भाग्यका क्या हुआ । कहा है–

माता यस्य गृहे नास्ति भार्य्या च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथा रण्यं तथा गृहम् ॥ ५३ ॥

जिसके घरमें माता नहीं तथा प्रियवादिनी स्त्री नहीं उसको वनमें जाना उचित है कारण कि घर वनकीही समान है ॥ ५३ ॥

तत् मित्र ! क्षम्यतां, मया तेऽपराधः कृतः सम्प्रति अहं तु स्त्रीवियोगात् वैश्वानरप्रवेशं करिष्यामि" । तत् श्रुत्वा वानरः प्रहसन् प्रोवाच,–"भो ज्ञातः मया प्रथममेव यत् त्वं स्त्रीवश्यः स्त्रीजितश्च । साम्प्रतञ्च प्रत्ययः सञ्जातः । तत् मूढ ! आनन्देऽपि जाते त्वं विषादं गतः तादृग् भार्य्यायां मृतायां उत्सवः कर्त्तुं युज्यते, उक्तञ्च यतः–

सो मित्र ! क्षमा करना जो मैंने आपका अपराध किया है मैं अब स्त्रीवियोगसे अग्निमें प्रवेश करूंगा" । यह सुन वानर हँसता हुआ बोला–"भो ! यह मैंने पहलेही जाना था कि तू स्त्रीके वशीभूत और स्त्रीसे जीता गया है । अब विश्वास होगया । सो मूर्ख ! आनन्दके समयभी तू विषादको प्राप्त हुआ ऐसी स्त्रीके मरनेमें तो उत्सव करना चाहिये । कहा है कि–

या भार्य्या दुष्टचारित्रा सततं कलहप्रिया ।
भार्य्यारूपेण सा ज्ञेया विदग्धैर्दारुणा जरा ॥ ५४ ॥

जो भार्या दुष्ट चारित्र सदा क्लेश करनेवाली हो पंडितोंको वह स्त्रीरूप दारुण बुढापा जानना ॥ ५४ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नामापि परिवर्जयेत् ।
स्त्रीणामिह हि सर्वासां य इच्छेत्सुखमात्मनः ॥ ५५ ॥

इस कारण जो अपने सुखकी इच्छा करे वह स्त्रियोंके नामको भी त्याग न करे ॥ ५५ ॥

यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद्बहिः ।
यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः ॥ ५६ ॥

जो मनमें है वह जिह्वा (वचन) मे नहीं, जो जिह्वामें वह बाहर नहीं, जो हित है उसके करनेकी इच्छा नहीं करतीं, स्त्रियें अद्भुत चरित्रवाली है ॥ ५६ ॥

के नाम न विनश्यन्ति मिथ्याज्ञानान्नितम्बिनीम् ।
रम्यां य उपसर्पन्ति दीपाभां शलभा यथा ॥ ५७ ॥

अज्ञानसे मनोहर नितम्बवाली स्त्रीके निकट जाकर कौन नष्ट नहीं होते हैं दीपकी ज्योतिको प्राप्त होकर पतग जैसे नहीं बचते ॥ ५७ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः ॥ ५८ ॥

यह स्त्री भीतर विषरूप बाहरसे मनोहर हैं स्वभावसेही स्त्री चौंटलीके फलके आकारवाली हैं ॥ ५८ ॥

ताडिता अपि दण्डेन शस्त्रैरपि विखण्डिताः ।
न वशं योषितो यान्ति न दानैर्न च संस्तवैः ॥ ५९ ॥

दण्डसे ताडित और शस्त्रसे विखण्डित होकर तथा दान और स्तुतिसेभी स्त्री वशीभूत नहीं होती हैं ॥ ५९ ॥

आस्तां तावत्किमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।
विधृतं स्वोदरेणापि घ्नन्ति पुत्रं स्वकं रुषा ॥ ६० ॥

स्त्रियोंकी और दुरात्मता इस ससारमे रहो अर्थात् अधिक क्या कहें यह क्रोधसे अपने उदरमें स्थित पुत्रकोभी मार देती हैं ॥ ६० ॥

रूक्षायां स्नेहसद्भावं कठोरायां सुमार्दवम् ।
नीरसायां रसं बालो बालिकायां विकल्पयेत् ॥ ६१ ॥"

मूर्ख (पुरुष) रूखीमें प्रेम सद्भाव, कठोरमें मृदुता, नीरसमे रस इन बालाओंमें कल्पना करता है ॥ ६१ ॥

मकर आह,-"भो मित्र ! अस्तु एतत्, परं किं करोमि, मम अनर्थद्वयमेतत् सञ्जातम् । एकस्तावत् गृहभंगः, अपरस्त्वद्विधेन मित्रेण सह चित्तविश्लेषः, अथवा भवति एवं दैवयोगात्, उक्तञ्च यतः-

मकरने कहा,-"भो मित्र ! है तो ऐसाही परन्तु मैं क्या करू मुझको यह दो अनर्थ हुए । एक तो घरका नाश दूसरे तुम्हारी समान मित्रका वियोग । अथवा दैव योगसे ऐसा होता ही है । कहा है-

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव ।
नाभूज्जारो न भर्त्ता च किं निरीक्षसि नग्निके ॥९२॥"

जैसे मेरी पंडिताई है उससे दूनी तुम्हारी है केवल जार (उपपति) ही नहीं परंतु भर्ता भी नहीं हे वसनरहिते क्या देखती है ॥ ९२ ॥"

वानर आह,-"कथमेतत ?" मकरोऽब्रवीत्-

वानर बोला,-"यह कैसी कथा ?" मकर बोला-

कथा ९.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हालिकदम्पती प्रतिवसतः स्म । सा च हालिकभार्य्या पत्युर्वृद्धभावात् सदैव अन्यचित्ता न कथञ्चिद् गृहे स्थैर्य्यमालम्बते, केवलं परपुरुषान् अन्वेषमाणा परिभ्रमति । अथ केनाचित् परवित्तापहारकेण धूर्त्तेन सा लक्षिता विजने प्रोक्ता च,-"सुभगे ! मृतभार्य्योऽहम् । त्वद्दर्शनेन स्मरपीडितश्च । तद्दीयतां मे रतिदक्षिणा," ततः तयाभिहितं,-"भो सुभग ! यदि एवं तदस्ति मे पत्युः प्रभूतं धनं स च वृद्धत्वात् प्रचलितुमपि असमर्थः तत् । तद्धनमादाय अहमागच्छामि । येन त्वया सह अन्यत्र गत्वा यथेच्छया रतिसुखमनुभविष्यामि" । सोऽब्रवीत्,-"रोचते मह्यमपि एतत् । प्रत्यूषेऽत्र स्थाने शीघ्रमेव समागन्तव्यं येन शुभतरं किञ्चित् नगरं गत्वा त्वया सह जीवलोकः सफलीक्रियते" । सापि तथेति प्रतिज्ञाय प्रहसितवदना स्वगृहं गत्वा रात्रौ प्रसुप्ते भर्त्तरि सर्वं वित्तमादाय प्रत्यूषसमये तत्कथितस्थानमुपाद्रवत् । धूर्त्तोऽपि तामग्रे विधाय दक्षिणां दिशमाश्रित्य सत्वरगतिः प्रस्थितः । एवं तयोः व्रजतोः योजनद्वयमात्रेण अग्रतः काचित् नदी समुपस्थिता । तां दृष्ट्वा धूर्त्तः चिन्तयामास, "किं अहमनया यौवनप्रान्ते वर्त्तमानया करिष्यामि । किंच कदापि अस्याः पृष्ठतः कोऽपि समेष्यति, तन्मे महान् अनर्थः स्यात् । तत् केवलमस्या वित्तं आदाय गच्छामि" इति निश्चित्य तामुवाच,-"प्रिये !

सुदुस्तरा इयं महानदी । तदहं द्रव्यमात्रं पारे धृत्वा समागच्छामि । ततः त्वां एकाकिनीं स्वपृष्ठमारोप्य सुखेन उत्तारयिष्यामि" । सा प्राह-"सुभग ! एवं क्रियताम्" इत्युक्त्वा अशेषं वित्तं तस्मै समर्पयामास।अथ तेन अभिहितं,-"भद्रे ! परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय, येन जलमध्ये निःशंका व्रजसि" । तथा अनुष्ठिते धूर्त्तो वित्तं वस्त्रयुगलञ्च आदाय यथाचिन्तितविषयं गतः । सापि कण्ठनिवेशितहस्तयुगला सोद्वेगा नदीपुलिनदेशे उपविष्टा यावत तिष्ठति, तावत् एतस्मिन्नन्तरे काचित् शृगालिका मांसपिण्डगृहीतवदना तत्र आजगाम । आगत्य च यावत् पश्यति, तावत नदीतीरे महान् मत्स्यः सलिलात् निष्क्रम्य बहिःस्थित आस्ते।एतञ्च दृष्ट्वा सा मांसपिण्डं समुत्सृज्य तं मत्स्यं प्रति उपाद्रवत् । अत्रान्तरे आकाशात् अवतीर्य्य कोऽपि गृध्रस्तं मांसपिण्डमादाय पुनः खमुत्पपात ।मत्स्योऽपि शृगालिकां दृष्ट्वा नद्यां प्रविवेश। सा शृगालिका व्यर्थश्रमा गृध्रं अवलोकयन्ती तया नग्निकया सस्मितं अभिहिता-

किसी स्थानमें हालिक स्त्री पुरुष रहते थे । वह हालिककी स्त्री पतिके वृद्ध होनेसे सदा औरकी चिन्ता करती किसी प्रकारभी घरमें स्थिरताको प्राप्त न होती । केवल परपुरुषको खोज कर स्थित थी । तब किसी पराया धन हरनेवाले धूर्तने उसे देख कर एकान्तमें कहा-"सुभगे ! मेरी स्त्री मरगई है । तेरे दर्शनसे मै कामसे पीडित हुआ हू । सो मुझे रति दक्षिणा दो" । तब उसने कहा-"भो सुभग ! जो ऐसा है तो मेरे पतिके बहुत धन है वृद्ध होनेसे वह चलनेको समर्थ नहीं है । सो उसका धन लेकर मै आती हू । जो तुम्हारे साथ और स्थानमें जाकर रतिका सुख अनुभव करू" । उसने कहा-"यह बात मुझेभी भली लगती है । प्रातःकाल इस स्थानमें तुम शीघ्र आना जिससे अच्छे किसी नगरमें जाकर तुम्हारे संग जीवन सफल करू" । वहभी बहुत अच्छा ऐसी प्रतिज्ञा कर हँसकर अपने घर जाय रात्रिमें पतिके सोजानेपर सब धनको लेकर कथित स्थानमें आई । धूर्तभी उसे आगे लेकर दक्षिण दिशाको आश्रय

कर शीघ्रगतिसे चला । इस प्रकार उन दोनोंके जानेपर दो योजन चलकर कोई नदी आई । उसे देखकर धूर्त विचारने लगा "यौवनके नष्ट होनेसे इसे लेकर मैं क्या करूंगा । और कदाचित् इसके पीछे कोई आवेगा । तो मेरा महान् अनर्थ होगा । सो केवल इसका धनही लेकर जाऊं" ऐसा विचार निश्चय कर उससे बोला,—"प्रिये ! यह महानदी दुस्तर है । सो पहले पार धन रखकर पीछे लौटूं । फिर मैं तुझे इकलीको पीठपर चढाकर सुखसे पार उतार दूंगा" । वह बोली—"सुभग ! ऐसाही करो" । ऐसा कह सम्पूर्ण धन उसको अर्पण करती हुई । तब उसने कहा—"भद्रे ! पहरनेके वस्त्रभी अर्पण करो जिससे जलके बीचमें निश्शंक चलेगी" । ऐसा कह वह धूर्त धन और दोनों वस्त्र (लहंगा दुपट्टा) लेकर यथाभिलषित स्थानको गया । वहभी अपने कंठमें दोनों हाथ डाले उद्वेगसे नदीके किनारे जबतक बैठी रही । तबतक उसी समय कोई गीदडी मुखमें मांसपिण्ड ग्रहण किये वहां आई । आकर जबतक देखने लगी तबतक नदीके किनारे महामच्छ जलसे निकलकर बाहर स्थित था । यह देख कह मांसपिंडको छोड़ उस मत्स्यके प्रति धावमान हुई इसी समय आकाशसे उतर कर कोई गिद्ध उस मांसपिंडको लेकर फिर आकाशको धावमान हुआ । मत्स्य भी शृगालिकाको देखकर जलमें प्रवेशकर गया तब वह शृगाली व्यर्थश्रम होकर गृध्रको देखने लगी इस समय नग्निकाने हँसकर कहा—

गृध्रेणापहृतं मांसं मत्स्योऽपि सलिलं गतः ।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जम्बुके ॥ ६३ ॥

गृध्रने मांस हरण किया मत्स्य भी जलमें गया हे जम्बुके ! मत्स्य और मांससे भ्रष्ट होकर अब क्या देखती है ॥ ६३ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगालिका तामपि पतिधनजारपरिभ्रष्टां दृष्ट्वा सोपहासमाह—

यह सुनकर शृगालिकाने उस पति, धन और जारसे भ्रष्ट हुईको देखकर उपहाससे कहा—

"यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव ।
नाभूज्जारो न भर्त्ता च किं निरीक्षसि नग्निके ॥ ६४ ॥"

जितना मेरा पांडित्य है तेरा उससे दूना है, हा जारभी गया और भर्तामी नहीं है नाग्निके ! क्या देखती है ? ॥ ६४ ॥"

एवं तस्य कथयतः पुनरन्येन जलचरेण आगत्य निवेदितम्-"यदहो ! त्वदीयं गृहमपि अपरेण महामकरेण गृहीतम्"। तत् श्रुत्वा असौ अतिदुःखितमनाः तं गृहात् निःसारयितुं उपायं चिन्तयन् उवाच,-"अहो ! पश्यतां मे दैवोपहतत्वम्।

इस प्रकार उसके कहनेपर फिर दूसरे जलचरने आकर कहा-"अहो! तुम्हारा घरभी दूसरे महामकरने ग्रहण कर लिया"। उसे सुन यह दु:खीमनसे उसे घरसे निकालनेको उपाय विचारता हुआ बोला। मेरे प्रारब्धका घात तो देखो-

मित्रं ह्यमित्रतां यातमपरं मे प्रिया मृता।
गृहमन्येन च व्याप्तं किमद्यापि भविष्यति ॥ ६५ ॥

मित्र अमित्र हुआ और प्रिया मेरी मरगई घर दूसरेको प्राप्त हुआ अब क्या होगा। ॥ ६५ ॥

अथवा युक्तमिदमुच्यते-

अथवा यह युक्तही कहा है-

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्ण-
मन्नक्षये वर्द्धति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति
वामे विधौ सर्वमिदं नराणाम् ॥ ६६ ॥

घावके ऊपर वारवार प्रहार पडते हैं, अन्नके क्षयमें भूख बढती है आपदामें वैरी बढते हैं, विधाताके वाम होनेमें मनुष्योंको यह सब कुछ होता है ॥ ६६ ॥

तत् किं करोमि ! किमनेन सह युद्धं करोमि ? किंवा साम्ना एव सम्बोध्य गृहात् निःसारयामि। किंवा भेदं दानं वा करोमि ? अथवा अमुमेव वानरमित्रं पृच्छामि ? उक्तञ्च-

सो क्या करू ! क्या उसके साथ युद्ध करू ? या साम उपायसे समझाकर घरसे निकालू ?। अथवा भेद वा धनसे सन्तुष्ट करू ?। अथवा इस वानर मित्रसे ही पूछू ? कहा है-

यः पृष्ट्वा कुरुते कार्य्यं प्रष्टव्यान्स्वहितान्गुरून्।
न तस्य जायते विघ्नः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि ॥ ६७ ॥

जो अपने पूछनेमें योग्य हितकारी गुरुओंसे पूछकर कार्य करता है उसको किसी काममें विघ्न नहीं होता है ॥ ६७ ॥"

एवं सम्प्रधार्य्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षमारूढं कपिमपृच्छत्,—"भो मित्र! पश्य मे मन्दभाग्यताम्। यत् सम्प्रति गृहमपि मे बलवत्तरेण मकरेण रुद्धम्। तदहं त्वां प्रष्टुमभ्यागतः। कथय किं करोमि?। सामादीनाम् उपायानां मध्ये कस्य अत्र विषयः"। स आह—"भोः कृतघ्न! पापचारिन्! मया निषिद्धोऽपि किं भूयो मामनुसरासि, नाहं तव मूर्खस्य उपदेशमपि दास्यामि"। तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—"भो मित्र! सापराधस्य मे पूर्वस्नेहमनुस्मृत्य हितोपदेशं देहि," वानर आह—"न अहं ते कथयिष्यामि। यत् भार्य्यावाक्येन भवता अहं समुद्रे प्रक्षेप्तुं नीतः, तदेवं न युक्तं यद्यपि भार्य्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति तथापि न मित्राणि बान्धवाश्च भार्य्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते। तन्मूर्ख! मूढत्वेन नाशः तव मया प्रागेव निवेदित आसीत्। यतः—

ऐसा विचार फिर भी उस जामुनके वृक्षपर चढे वानरसे पूछने लगा—"भो मित्र! मेरी मन्दभाग्यता तो देखो कि, इस समय घर भी मेरा बलवान् मकरने ग्रहण करलिया। सो मैं तुझसे पूछनेको आया हूं कह क्या करूं? सामादि उपायोंमें इस समय कौन उचित है"। वह बोला,—"भो कृतघ्न पापिष्ठ! मुझसे निषेधको प्राप्त हुआ भी फिर मुझसे क्यों पूछता है। मैं तुझ मूर्खको उपदेशभी नहीं दूंगा"। यह सुनकर मकर बोला,—"भो मित्र! मैं अपराधीहूं पर मेरा पूर्वस्नेह स्मरण कर हितोपदेश दे"। वानरने कहा,—"मैं तुझसे नहीं कहूंगा। जो भार्य्यावाक्यसे तुम मुझे समुद्रमें डालनेको लेगये थे सो युक्त नहीं किया। यद्यपि भार्य्या सर्व लोकसे भी प्यारी होती है तथापि मित्र और बन्धु भार्याके वाक्यसे सागरमें नहीं डाले जाते हैं सो मूर्ख! मूढ होनेसे तेरा नाश मैंने प्रथमही कह दियाथा। क्यों कि—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम् ॥ ९८ ॥"

जो मदसे सत्पुरुषोंके कहे वचन नहीं करता है वह घण्टा बन्धे ऊँटकी समान शीघ्र नाशको प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥"

मकर आह,-"कथमेतत ?" सोऽब्रवीत-

मकर बोला,-"यह कैसे ?" वह बोला-

कथा १०.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकारः प्रतिवसति स्म। स च अतीव दारिद्र्योपहतः चिन्तितवान्-"अहो ! धिक् इयं दरिद्रता अस्मद्गृहे। यतः सर्वोऽपि जनः स्वकर्मणि एव रतः तिष्ठति। अस्मदीयः पुनर्व्यापारो न अत्र अधिष्ठाने अर्हति। यतः सर्वलोकानां चिरन्तनाः चतुर्भूमिका गृहाः सन्ति। मम च नात्र, तत किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम्" इति चिन्तयित्वा देशात् निष्क्रान्तः। यावत् किञ्चित् वनं गच्छति तावत् गह्वराकारवनगहनमध्ये सूर्य्यास्तमनवेलायां स्वयूथाद् भ्रष्टां प्रसववेदनया पीड्यमानां उष्ट्रीमपश्यत, स च दासेरकयुक्तामुष्ट्रीं गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखः प्रस्थितः। गृहमासाद्य रज्जुं गृहीत्वा तामुष्ट्रिकां बबन्ध। ततश्च तीक्ष्णं परशुमादाय तस्याः कृते पल्लवानयनार्थं पर्वतैकदेशे गतः। तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्वा शिरसि समारोप्य तस्या अग्रे निचिक्षेप। तया च तानि शनैः शनैः भक्षितानि। पश्चात् पल्लवभक्षणप्रभावादहर्निशं पीवरतनुः उष्ट्री सञ्जाता। सोऽपि दासेरको महान् उष्ट्रः सञ्जातः। ततः स नित्यमेव दुग्धं गृहीत्वा स्वकुटुम्बं परिपालयाति। अथ रथकारेण वल्लभत्वात दासेरकग्रीवायां महती घण्टा प्रतिबद्धा। पश्चात् रथकारो व्यचिन्तयत,-"अहो ! किमन्यैः दुष्कृतकर्मभिः यावत् मम

एतस्मादेव उष्ट्रीपरिपालनात् अस्य कुटुम्बस्य भव्यं सञ्जातम् । तत् किं अन्येन व्यापारेण" । एवं विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह ,–"भद्रे ! समीचीनोऽयं व्यापारः तव सम्मतिः चेत् कुतोऽपि धनिकात् किंचित् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं करभग्रहणाय । तावत् त्वया एतौ यत्नेन रक्षणीयौ । यावत् अहमपरामुष्ट्रीं गृहीत्वा समागच्छामि" । ततश्च गुर्जरदेशं गत्वा उष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहं आगतः । किं बहुना, तेन तथा कृतं यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्राः करभाश्च सम्मिलिताः । ततस्तेन महदुष्ट्रयूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृतः । तस्य वर्षं प्रति वृत्त्या करभं एकं प्रयच्छति । अन्यच्च अहर्निशं दुग्धपानं तस्य निरूपितम् । एवं रथकारोऽपि नित्यमेव उष्ट्रीकरभव्यापारं कुर्वन् सुखेन तिष्ठति । अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवने आहारार्थं गच्छन्ति । कोमलवल्लीः यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीयं पीत्वा सायन्तनसमये मन्दं मन्दं लीलया गृहं आगच्छन्ति । स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात् पृष्ठे आगत्य मिलति । ततस्तैः कलभैः अभिहितः–"अहो ! मन्दमतिः अयं दासेरको यथा यूथादभ्रष्टः पृष्ठे स्थित्वा घण्टां वादयन् आगच्छति । यदि कस्यापि दुष्टसत्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यति" । अथ तस्य तद्वनं गाहमानस्य कश्चित् सिंहो घण्टारवं आकर्ण्य समायातः । यावत् अवलोकयति, तावत् उष्ट्रीदासेरकाणां यूथं गच्छति । एकस्तु पुनः पृष्ठे क्रीडां कुर्वन् वल्लरीश्चरन् यावत् तिष्ठति, तावत् अन्ये दासेरकाः पानीयं पीत्वा स्वगृहे गताः । सोऽपि वनात् निष्क्रम्य यावद्दिशोऽवलोकयति, तावत् न कश्चित् मार्गं पश्यति वेत्ति च । यूथाद्भ्रष्टो मन्दं मन्दं बृहच्छब्दं कुर्वन् यावत् कियद्दूरं गच्छति, तावत् तच्छब्दानुसारी सिंहोऽपि क्रमं कृत्वा निभृतोऽग्रे व्यवस्थितः । ततः यावत् उष्ट्रः समीपं आगतः तावत् सिंहेन लम्फयित्वा ग्रीवायां गृहीत्वा मारितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि–

किसी स्थानमें उज्ज्वलक नाम रथकार रहता था। वह अति दरिद्र होकर विचारने लगा। "अहो हमारे घरकी दरिद्रताको धिकार है। जो कि सम्पूर्ण मनुष्य अपने कर्ममे रत हुए स्थित हैं। हमारा कार्य्य तो इस स्थानमें नहीं चलता। जो कि सम्पूर्ण लोकोके पुराने चार कोष्ठके घर हैं। मेरा नहीं है सो क्या मेरे रथकार होनेसे प्रयोजन है"। ऐसा विचार कर देशसे चलागया। जभी कुछ दूर वनमें पहुचा कि, सूर्यके अस्त समय अपने यूथसे भ्रष्ट हुई प्रसवपीडासे युक्त एक ऊटनीको देखा। वह उस बच्चेसे युक्त ऊटनीको लेकर अपने घरको चला, घरमें प्राप्त हो रस्सी ले उससे उस ऊटनीको बाधता हुआ। तीव्र (तीक्ष्ण) कुल्हाडीको लेकर उसके निमित्त पत्ते लेनेको पर्वतके एक स्थानमें गया। वहा नूतन कोमल बहुतसे पत्ते छेदनकर शिरपर धारणकर उसके आगे डाल देता हुआ। वहभी उनको शनैः २ भक्षण करने लगी तब रातदिन पल्लव भक्षणके प्रभावसे पुष्ट शरीर ऊटनी होगई। और दासेरकभी महान् ऊट होगया। तबतक नित्यही दूधको ग्रहणकर अपने कुटुम्बकी पालना करता। तब रथकारने प्यारके कारण ऊटके बच्चेकी गर्दनमें बडा घटा बाध दिया। पीछे रथकार विचारने लगा। "अहो! और दुष्कृत कर्मोंसे क्या है जबसे मैं इस ऊटके पालन करने लगा उससे इस कुटुम्बकी कुशल हुई सो अब और व्यापारसे क्या है" ऐसा विचार घर आनकर अपनी प्रियासे बोला—"भद्रे! यह व्यापार अच्छा है। जो तेरी सम्मति हो तो किसी धनीसे कुछ द्रव्य लाकर मैं ऊटके बच्चे ग्रहण करनेको गुर्जर देशमें जाऊगा। तबतक तू इन दोनोंकी यत्नसे रक्षा कर। जबतक मैं और ऊटनीको लाऊ"। तब वह गुर्जर देशमें जाय ऊटनीको ग्रहणकर अपने घर आया। बहुत कहनेसे क्या है उसने वह किया जो उसके बहुतसे ऊटके बच्चे होगये। तब उसने बडा ऊटोंका यूथ कर एक रक्षा पुरुष रक्खा। उस रक्षकको नौकरीमें प्रतिवर्ष एक ऊटका बच्चा देता। और प्रतिदिन दूधपानभी उसको निरूपण करदिया। इस प्रकार रथकार नित्यही ऊटनी ऊटके बच्चोंका व्यापार करता सुखसे स्थित था। और वे ऊटके बच्चे घरके उपवनमे भोजनको जाते। कोमल वेलैं यथेच्छ भोजनकर बडे सरोवरमे पानी पीकर संध्यासमय मन्द २ लीलासे घरको आते। और वह पहला बच्चा मदके अधिक होनेसे पीछे आकर मिलता। तब उन बच्चोंने कहा—"अहो! यह बच्चा बडा

मन्दमति है जो यूथसे भ्रष्ट हो पीछे स्थित होकर घण्टेको बजाता हुआ आता है और जो कहीं किसी दुष्ट जीवके मुखमें गिरा तो अवश्य मरेगा" । तब उसके उस वनमें फिरते हुए कोई सिंह घण्टेका शब्द सुनकर आया । जब आकर देखा कि ऊंटके बच्चोंका समूह जाता है । और एक पीछे क्रीडा करताहुआ बेल खाताहुआ जबतक स्थित है तबतक और ऊंटके बच्चे पानी पीकर अपने घर गये । वह भी वनसे निकलकर जबतक दिशाओंको देखता है तबतक न कोई मार्गको देखता वा जानता है (सन्ध्याके कारण अन्धकार हुआ) यूथसे भ्रष्ट हुआ बड़ा शब्द करता जबतक मन्द २ कुछ दूर चला तबतक उस शब्दका अनुसारी सिंहभी तैयार हो एकान्तमें आगे स्थित हुआ । सो जबतक ऊंट निकट आया । तब सिंहने कूदकर उसकी गर्दन पकड़कर मारडाला । इससे मैं कहता हूं—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः ।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम् ॥ ६९ ॥"

सत्पुरुषोंके कहे वचनको जो मदसे नहीं करता है वह घण्टा बंधे ऊंटकी समान विनाशको प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥"

अथ तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह,—"भद्र—

यह सुनकर मकर बोला—"भद्र—

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं जनाः शास्त्रविचक्षणाः ।
मित्रताञ्च पुरस्कृत्य किञ्चिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ ७० ॥

शास्त्रमें चतुर मनुष्य साप्तपदिककोही मित्रता कहते हैं सो मित्रताको आगे कर जो कुछ मैं कहताहूं सो सुन ॥ ७० ॥

उपदेशप्रदातॄणां नराणां हितमिच्छताम् ।
परस्मिन्निह लोके च व्यसनं नोपपद्यते ॥ ७१ ॥

हितकी इच्छासे उपदेश करनेवाले मनुष्योंको परलोक और इस लोकमें दुःख नहीं होता है ॥ ७१ ॥

तत सर्वथा कृतघ्नस्यापि मे कुरु प्रसादं उपदेशप्रदानेन । उक्तञ्च—

सो सर्वथा मुझ कृतघ्नपरभी उपदेश दानकरके प्रसन्नता करो । कहा है कि—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ ७२ ॥"

जो उपकारियोंमें साधु है उसके साधुतामें क्या गुण है? जो अपकारियोंपर कृपा करै महात्माओंने उसेही साधु कहा है ॥ ७२ ॥"

तदाकर्ण्य वानरः प्राह,–"भद्र! यदि एवं तर्हि तत्र गत्वा तेन सह युद्धं कुरु। उक्तञ्च–

यह सुनकर वानर बोला–"भद्र! जो ऐसा है तो जाकर उसके संग युद्ध कर–

हतस्त्वं प्राप्स्यसि स्वर्गं जीवन् गृहमथो यशः।
युद्ध्यमानस्य ते भावि गुणद्वयमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥

मरनेसे स्वर्गको प्राप्त होगा, जीनेसे गृह और यशको प्राप्त होगा, युद्ध करनेसे तुझको दोनो प्रकार श्रेष्ठ गुण प्राप्त होंगे ॥ ७३ ॥

उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः ॥७४॥

उत्तमको प्रणाम करके, शूरको भेद करके, नीचको कुछ देकर युक्त करै और समान बलवालेसे युद्ध करै ॥ ७४ ॥"

मकरः प्राह,–"कथमेतत ?" सोऽब्रवीत्,–

मकर बोला,–"यह कैसे ?" वह बोला–

कथा ११.

आसीत् कस्मिंश्चित वनोद्देशे महाचतुरको नाम शृगालः। तेन कदाचित् अरण्ये स्वयं मृतो गजः समासादितः। तस्य समन्तात् परिभ्रमति परं कठिनां त्वचं भेत्तुं न शक्नोति। अथ अत्र अवसरे इतश्चेतश्च विचरन् कश्चित सिंहस्तत्रैव प्रदेशे समाययौ। अथ सिंहं समागतं दृष्ट्वा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः संयोजितकरयुगलः सविनयमुवाच,–"स्वामिन्! त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितः त्वदर्थे गजामिमं रक्षयामि। तत् एनं भक्षयतु स्वामी"। तं प्रणतं दृष्ट्वा सिंहः

प्राह,–"भोः ! न अहमन्येन हतं सत्वं कदाचिदपि भक्षयामि । उक्तञ्च–

किसी वनमें महा चतुरक नाम शृगाल रहताथा । उसको एक समय वनमें स्वयं मृतक हुआ हाथी मिला । उसके चारों ओर घूमा परन्तु उसकी कठिन त्वचा भंग करनेको समर्थ न हुआ । इसी समय इधर उधर विचारण करता कोई सिंह वहां आया, तब सिंहको आया हुआ देखकर यह पृथ्वीमें अपना शिर धरकर दोनों हाथ जोडकर विनयपूर्वक बोला,–"स्वामिन् ! मैं आपकी लकडी धारणकरनेवाला स्थित हूं आपहीके निमित्त इस हाथीकी रक्षा करता हूं । सो स्वामी इसको भक्षण करे" । उस प्रणाम करते हुएको देखकर सिंह बोला,–"भो ! मैं दूसरेके मारे हुए जीवको कभी भक्षण नहीं करता हूं । कहा है कि–

वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्ष्या
बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता
न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति ॥ ७५ ॥

वनमें भी सिंह मृगके मांसका भक्षण करते हैं भूखे होकरभी तृण नहीं खाते हैं, इसी प्रकार कुलके मनुष्य व्यसनसे तिरस्कृत होकर भी नीतिमार्गको उल्लंघन नहीं करते हैं ॥ ७५ ॥

तत् तव एव गजोऽयं मया प्रसादीकृतः" तत् श्रुत्वा शृगालः सानन्दमाह,–"युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु । उक्तञ्च यतः–

सो यह हाथी तुमको मैंने प्रसन्नतारूपसे दिया है" । यह सुनकर शृगाल आनंदित होकर बोला,–"स्वामीको अपने भृत्योंमें यह बात उचितही है । जिससे कि कहा है–

अन्त्यावस्थोऽपि महान्स्वामिगुणान्न जहाति शुद्धतया ।
न श्वेतभावमुज्झति शंखः शिखिभुक्तिमुक्तोऽपि ॥ ७६ ॥

अन्त्य अवस्थाको प्राप्त हुआ भी महान् पुरुष शुद्धतासे स्वामीके गुणोंको नहीं त्यागता है जैसे शुद्ध करनेको अग्निमें भस्मकर निकाला हुआ शंख अपनी श्वेतताको नहीं त्यागता है ॥ ७६ ॥

अथ सिंहे गते कश्चिद् व्याघ्रः समाययौ, तमपि दृष्ट्वा असौ व्यचिन्तयत् । "अहो ! एकस्तावत् दुरात्मा प्रणिपातेन

अपवाहितः। तत् कथमिदानीम् एनमपवाहयिष्यामि। नूनं शूरोऽयम्, न खलु भेदं विना साध्यो भविष्यति। उक्तश्च यतः–

तब सिंहके जानेपर कोई चीता वहा आया। उसको भी देखकर यह विचारने लगा। "एक दुरात्माको तो प्रणामकर भगाया। सो अब किस प्रकार इसको यहासे दूर करू। निश्चयही यह शूर है भेदके विना साध्य नहीं होगा। जिस कारण कहा है कि–

न यत्र शक्यते कर्तुं साम दानमथापि वा।
भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारकः॥ ७६॥

जहा साम, दान करनेको यह प्राणी समर्थ न हो वहा भेदका प्रयोग करे कारण कि यही वशमें करनेवाला है॥ ७६॥

किञ्च, सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन बध्यते। उक्तञ्च यतः–

क्यों कि सर्व गुणसम्पन्न भी भेदसे बधता है। कहा है कि–

अन्तःस्थेन विरुद्धेन सुवृत्तेनातिचारुणा।
अन्तर्भिन्नेन सम्प्राप्तं मौक्तिकेनापि बन्धनम्॥ ७७॥

अन्तरमें स्थित विरुद्ध सुडोल होनेसे मनोहर भीतरसे भिन्न होनेके कारण मोती भी बन्धनको प्राप्त होता है। अथवा अन्तर्गत (दुर्गमें स्थित) सुचरित्र, लोक रजन करनेवाले आवरणसे युक्त अभ्यन्तरसे भिन्न प्रजासे उपजापको प्राप्त हुए औरों करके आत्मा बधनको प्राप्त किया जाता है॥ ७७॥

एवं सम्प्रधार्य्य तस्याभिमुखो भूत्वा गर्वात् उन्नतकन्धरः ससम्भ्रमम् उवाच,–"माम! कथं अत्र भवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः येन एष गजः सिंहेन व्यापादितः। स च माम् एतद्र-क्षणे नियुज्य नद्यां स्नानार्थं गतः। तेन च गच्छता मम समादिष्टं,–"यदि कश्चिदिह व्याघ्रः समायाति, तत् त्वया सुगुप्तं मम आवेदनीयम्। येन वनमिदं मया निर्व्याघ्रं कर्त्तव्यम्। यतः पूर्वं व्याघ्रेण एकेन मया व्यापादितो गजः शून्ये भक्षयित्वा उच्छिष्टतां नीतः। तद्दिनात् आरभ्य

व्याघ्रान् प्रति प्रकुपितोऽस्मि" । तत् श्रुत्वा व्याघ्रः सन्त्रस्तः तमाह,–"भो भागिनेय ! देहि मे प्राणदक्षिणाम् । त्वया तस्य अत्र चिराय आयातस्यापि मदीया कापि वार्त्ता न आख्येया" । एवमभिधाय सत्वरं पलायाञ्चक्रे । अथ गते व्याघ्रे तत्र कश्चित् द्वीपी समायातः । तमपि दृष्ट्वा असौ व्यचिन्तयत्,–" दृढदंष्ट्रोऽयं चित्रकः, तदस्य पार्श्वादस्य गजस्य यथा चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि" । एवं निश्चित्य तमपि उवाच,–"भो भगिनीसुत ! किमिति चिरात् दृष्टोऽसि ? कथञ्च बुभुक्षित इव लक्ष्यसे ? तत् अतिथिरसि मे । एष गजः सिंहेन हतः तिष्ठति । अहं च अस्य तदादिष्टो रक्षपालः । परं तथापि यावत् सिंहो न समायाति, तावत् अस्य गजस्य मांसं भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं व्रज" । स आह,–"माम ! यदि एवं तन्न कार्य्यं मे मांसाशनेन, यतो जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति । उक्तञ्च–

ऐसा विचार कर उसके सामने होकर गर्वसे ऊंचे कन्धे कर संभ्रमसे बोला,–"मामा ! आप कैसे यहां मृत्युमुखमें प्रविष्ट हुए हो ? जिस सिंहने इस हाथीको मारा है वह मुझे इसकी रक्षामें नियुक्त कर स्नान करनेको नदीके किनारे गया है । उसने जाते हुए मुझसे कहा–"जो कोई मेरे पीछे व्याघ्र आवे तो तू मुझे गुप्ततासे कह देना । क्यों कि यह वन में व्याघ्ररहित करदूंगा । कारण पहले एक व्याघ्रने मेरा मारा हुआ हाथी एकान्तमें भक्षण कर उच्छिष्ट करदिया । उसदिनसे मैं व्याघ्रोंपर क्रोधित हुआ हूं" । यह सुन व्याघ्र उससे घबडाकर बोला,–"भो भानजे ! मुझे प्राणदक्षिणा दे तुझे यहां उसके देरमें आनेपर भी मेरी कोई बात न कहनी" । ऐसा कह शीघ्र पलायन करगया । तब व्याघ्रके जानेमें कोई शार्दूल वहां आया । उसे देखकर यह विचारने लगा,–"यह शार्दूल दृढ दाढोंवाला है । सो इसके निकटसे जैसे हाथीका चर्मछेद हो वैसा करूं । ऐसा विचार कर उससे बोला,–"भो भानजे! क्या कारण है बहुत दिनोंमें तुझको देखा । क्या भूंखेकी समान दीखता है ? । सो मेरा अतिथि है । यह हाथी सिंहसे मरा पडा है । मैं उसकी आज्ञासे इसकी

रक्षा करता हू। पर तो भी जबतक कि सिंह नहीं आता है, तबतक इस हाथीका मास भक्षण कर तृप्तिको प्राप्त होकर शीघ्र जा"। वह बोला–"मामा! जो ऐसा है तो मुझे मासभक्षणसे प्रयोजन नहीं, कारण कि जीता रहे तो मनुष्य सैकडों मंगलोंको देखता है। कहा है कि–

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रासं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितञ्च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ ७८ ॥

मनुष्य जो ग्रास ग्रसनेको समर्थ हो और जो खानेसे पच जाय परिणाममें हितकारी हो ऐश्वर्यकी इच्छा करने वालेको वह भोजन करना चाहिये ॥ ७८ ॥

तत सर्वथा तदेव भुज्यते यदेव परिणमति। तत् अहमितोऽपयास्यामि"। शृगाल आह,–"भो अधीर ! विश्रब्धो भूत्वा भक्षय त्वं, तस्य आगमनं दूरतोऽपि तव अहं निवेदयिष्यामि"। तथा अनुष्ठिते द्वीपिना भिन्नां त्वचं विज्ञाय जम्बूकेन अभिहितम्–"भो भगिनीसुत! गम्यताम्, एष सिंहः समायाति"। तत् श्रुत्वा चित्रको दूरं प्रविष्टः। अथ यावदसौ तद्भेदकृतद्वारेण किंचिन्मांसं भक्षयति, तावत् अतिसंक्रुद्धोऽपरः शृगालः समाययौ। अथ तम् आत्मतुल्यपराक्रमं दृष्ट्वा एनं श्लोकमपठत–

सो जो पचजाय सर्वथा उसीको खाना अच्छा है। सो मैं यहासे जाता हू"। श्रृगाल बोला–"भो अधीर! निडर होकर तू भक्षण कर। उसका आगमन दूसरेसेभी मैं तुझसे कहदूगा"। ऐसा करने पर शार्दूलसे खाल फाडी हुई जानकर श्रृगालने कहा–"भो भानजे! जाओ यह सिंह आरहाहै"। यह सुन चित्रक दूर भाग गया। सो जबतक यह उस भेदन किये द्वारसे मास खाने लगा तबतक अतिक्रोध किये दूसरा श्रृगाल आया तब उसने अपनी तुल्य पराक्रममें उसे जानकर यह श्लोक पढा–

उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः ॥ ७९ ॥

उत्तमको प्रणाम कर, शूरको भेद करके, नीचको कुछ देकर और समान शक्तिको पराक्रमसे युक्त करे ॥ ७९ ॥

तदाभिमुखकृतप्रयाणः स्वदंष्ट्राभिः तं विदार्य्य दिशोभागं कृत्वा स्वयं सुखेन चिरकालं हस्तिमांसं बुभुजे । एवं त्वमपि तं रिपुं स्वजातीयं युद्धेन परिभूय दिशो भागं कुरु । नो चेत् पश्चाद् बद्धमूलात् अस्मात् त्वमपि विनाशम् अवाप्स्यसि । उक्तञ्च यतः-

सो उसके सामने गमन कर अपनी डाढोंसे उसे विदीर्ण (मार) कर दिशाओंका बलिरूप कर स्वयं सुखसे बहुत कालतक हाथीका मांस खाता रहा। इसी प्रकार तू भी उस अपनी जातिके शत्रुको युद्धसे जीत दिशाओंकी भेट कर, नहीं तो पीछे जड पकड जानेसे इस जलचरसे तू ही विनाशको प्राप्त होगा । कहा है कि-

सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
सम्भाव्यं स्त्रीषु चापल्यं सम्भाव्यं जातितो भयम् ॥ ८० ॥

गौओंमें सम्पत्ति रहती है, ब्राह्मणमें तपहोही सकता है, स्त्रियोंमें चपलता होतीही है, जातिसे भय होताही है ॥ ८० ॥

अन्यच्च-

औरभी-

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः ।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ८१ ॥"

खाने योग्य विचित्र अन्नोंके देनेमें पुरस्त्री मुक्तहस्त होती हैं परन्तु विदेशका एक दोष है, अपनी जाती उसको सहन नहीं करती है विरोध करती है॥८१॥"

मकर आह,-"कथमेतत् ?" वानरोऽब्रवीत,-

मकर बोला,-"यह कैसे ?" वानर कहने लगा-

कथा १२.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्रांगो नाम सारमेयः । तत्र च चिरकालं दुर्भिक्षं पतितम् । अन्नाभावात् सारमेयादयो निष्कुलतां गन्तुम् आरब्धाः । अथ चित्रांगः क्षुत्क्षामकण्ठः तद्भयात् देशान्तरं गतः । तत्र च कस्मिंश्चित् पुरे कस्यचित् गृहमेधिनो गृहिण्याः प्रमादेन प्रतिदिनं गृहं

प्रविश्य विविधान्नानि भक्षयन् परां तृप्तिं गच्छति । परं तद्गृहात् बहिर्निष्क्रान्तोऽन्यैः मदोद्धतसारमेयैः सर्वदिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गेषु दंष्ट्राभिः विदार्य्यते । ततः तेन विचिन्तितम्,–"अहो ! वरं स्वदेशो यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते, न च कोऽपि युद्धं करोति, तदेव स्वनगरं व्रजामि" इति अवधार्य्य स्वस्थानं प्रति जगाम । अथ असौ देशान्तरात् समायातः सर्वैरपि स्वजनैः पृष्टः,–"भोः चित्राङ्ग ! कथय अस्माकं देशान्तरवार्त्ताम्, कीदृग्देशः? किं चेष्टितं लोकस्य ? क आहारः, कश्च व्यवहारः तत्र ?" इति । स आह,–"किं कथ्यते विदेशस्य स्वरूपविषयः ।

किसी स्थानमें चित्रांगनामक कुत्ता रहता था । वहा वहुत कालतक दुर्भिक्ष पड गया। अन्नके अभावसे कुत्तों आदिके यूथ भ्रष्ट होगये । तव चित्राग भयसे देशान्तरको गया । वहा किसी एक नगरमें किसी गृहस्थकी स्त्रीके प्रमादसे प्रतिदिन घरमे प्रवेशकर अनेक अन्नको खाकर परम तृप्तिको प्राप्त होता । परन्तु उसके घरसे निकलते और मदसे उद्धत कुत्तोंसे सब ओरसे घिरकर सर्वाङ्गमें डाढोंसे विदीर्ण होता । तव उसने विचार किया,–"अहो अपना देश अच्छा है जहा दुर्भिक्षमेंभी सुखसे रहा जाता है। न कोई युद्ध करता है, इससे अपने नगरको जाता हू" । ऐसा विचारकर अपने स्थानको गया । तव इस देशान्तरसे आये हुएसे सब कुत्तोने पूछा,–"भो चित्राग ! हमसे देशान्तरकी वार्ता कहो । वह कैसा देश है ? लोकोंकी कैसी चेष्टा है ? । कैसा आहार और कैसा वहाका व्यवहार है ?" । वह बोला,–"विदेशका स्वरूप और वार्ता क्या कहूँ–

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः ।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ८२ ॥"

खाने योग्य विचित्र अन्नोंमें पुरस्त्रियें सदा हाथ ढीला किये रहती हैं। विदेशमें एकही दोष है कि जो अपनी जाति विरुद्ध रहती है ॥ ८२ ॥"

सोऽपि मकरः तदुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरम् अनुज्ञाप्य स्वाश्रयं गतः । तत्र च तेन स्वगृहप्रविष्टेन आतता-

यिना सह विग्रहं कृत्वा दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च तं व्यापाद्य स्वाश्रयञ्च लब्ध्वा सुखेन चिरकालम् अतिष्ठत् । साधु इदमुच्यते,-

वहभी मकर उसके उपदेशको ग्रहणकर मरणमें निश्चयकर वानरकी आज्ञा ले अपने स्थानको गया । तब उसने अपने घरमें प्रवेशकर उस शत्रुके साथ युद्धकर दृढ बलकी प्राप्ति होनेसे उसे मारकर अपने स्थानको ले सुखसे चिरकालतक स्थिति की । यह अच्छा कहा है-

अकृत्य पौरुषं या श्रीः किं तयापि सुभोग्यया ।
रद्गवः समश्नाति दैवादुपगतं तृणम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रं समाप्तम् ।

जो लक्ष्मी विना पराक्रमके प्राप्त होती है भोगने योग्य अनायास प्राप्त हुई उस लक्ष्मीसे क्या है जैसे बूढा गो (वृषभ) दैवसे प्राप्त हुए तृणोंको खाता है ॥ ८३ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पंचतंत्रके पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तंत्रं समाप्तम् ॥

अथ अपरीक्षितकारकं पंचमं तन्त्रम्।

अथ इदमारभ्यतेऽपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रं यस्य अयम् आदिमः श्लोकः-

अब यह (१) अपरीक्षितकारकनाम पांचवा तत्र आरम्भ किया जाता है जिसके आदिमें यह श्लोक है-

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम्॥ १॥

जो कुदृष्ट हो, कुत्सित जाना गयाहो, बुरी प्रकार सुनाहो, जो बुरी प्रकार परीक्षा किया हो वह मनुष्यको नहीं करना चाहिये जैसा कि इस संसारमें नाईने किया॥ १॥

तद्यथा अनुश्रूयते-

सो ऐसा सुना है-

कथा 1.

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे पाटलिपुत्रं नाम नगरम्। तत्र मणिभद्रो नाम श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म। तस्य च धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशात् धनक्षयः सञ्जातः। ततो विभवक्षयात् अपमानपरम्परया परं विषादं गतः। रात्रौ सुप्तः चिन्तितवान,-"अहो! धिक् इमां दरिद्रताम्। उक्तञ्च-

दक्षिणके देशमें पाटलिपुत्रनाम एक नगर है। वहां मणिभद्रनाम एक सेठ रहताथा, उसके धर्म, अर्थ, काम, मोक्षको सेवन करते प्रारब्ध वशसे धन क्षय होगया। तब धनके क्षय होनेके कारण अपमानकी परम्परासे परम विषादको प्राप्त हुआ, रातमें सोता हुआ विचारने लगा,-"अहो! इस दरिद्रताको धिक्कार है। कहा है कि--

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य॥ २॥

---

१ बे समझे करना।

शील, पवित्रता, सहनशीलता, चतुराई, मधुरता, कुलमें जन्म, वित्तहीन पुरुषके कुछ भी भले नहीं लगते ॥ २ ॥

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥

जब पुरुष धनहीन होता है तब मान, दर्प, विज्ञान, विलास, बुद्धि, एक साथही सब नष्ट होजाते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिदिवसं याति लयं वसन्तवाताहतेव शिशिरश्रीः ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥

वसन्तकी वातसे हत हुई शिशिर ऋतुकी शोभाकी समान बुद्धिमानोंकी बुद्धि निरन्तर कुटुम्बके भरण पोषणकी चिन्तामेंही लय होजाती है ॥ ४ ॥

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥

मन्द ऐश्वर्य होजानेपर महाबुद्धिमान्की बुद्धि भी नष्ट होजाती है, निरन्तर घृत, लवण, तेल, तण्डुल, वस्त्र, ईंधनकी चिन्ताही लगी रहती है ॥ ५ ॥

गगनमिव नष्टतारं शुष्कं सरः श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं भवति गृहं धनविहीनस्य ॥ ६ ॥

नष्ट तारेवाले आकाशकी समान, सूखे सरोवरकी समान भयंकर श्मशानकी समान धनहीनका घर प्रियदर्शन भी उपरोक्त प्रकारका लगता है ॥ ६ ॥

न विभाव्यन्ते लघवो वित्तविहीनाः पुरोऽपि निवसन्तः ।
सततं जातविनष्टाः पयसामिव बुद्बुदाः पयसि ॥ ७ ॥

धनसे हीन लघुपुरुष आगे निवास करते हुए भी विदित नहीं होते जैसे जलसे उत्पन्न होकर जलमें ही नष्ट होकर (बुलबुले) नहीं विदित होते हैं॥७॥

सुकुलं कुशलं सुजनं विहाय कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।
आढ्ये कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहाः ॥ ८ ॥

जन समूह अच्छे कुलीन चतुर सुजन (निर्धनी पुरुषको छोडकर) कुल चतुरता और शीलसे हीन भी धनी पुरुषमें कल्पवृक्षकी समान नित्य अनुराग करते हैं ॥ ८ ॥

विफलमिह पूर्वसुकृतं विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्भूताः।
यस्य यदा विभवः स्यात्तस्य तदा दासतां यान्ति ॥ ९ ॥

इस संसारमें पूर्व उपकार कोई नहीं गिनता विद्यावान् और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए भी जिसके सम्पत्ति हो उसकी दासताको प्राप्त होते हैं (पूर्वमें उपकार किये निर्धनको कोई नहीं सेवता) ॥ ९ ॥

लघुरयमाह न लोकः कामं गर्जन्तमपि पतिं पयसाम्।
सर्वमलज्जाकरमिह यत्कुर्वन्तीह परिपूर्णाः ॥ १० ॥"

मनुष्य कठोर गर्जना करते हुए भी जलके पति सागर (धनी) को यह अल्पवेग है ऐसा नहीं कहते धनी इस संसारमें जो कुछ करते हैं वह उनको लज्जाकर नहीं होता (प्रत्युत सब श्लाघा करते हैं) ॥ १० ॥"

एवं सम्प्रधार्य्य भूयोऽपि अचिन्तयत,-"यदहम् अनशनं कृत्वा प्राणान् उत्सृजामि, किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन" एवं निश्चयं कृत्वा सुप्तः। अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षपणकरूपी दर्शनं गत्वा प्रोवाच,-"भोः श्रेष्ठिन्! मा त्वं वैराग्यं गच्छ। अहं पद्मनिधिः तव पूर्वपुरुषोपार्जितः, तदनेन एव रूपेण प्रातः त्वद्गृहम् आगमिष्यामि। तत त्वया अहं लगुडप्रहारेण शिरसि ताडनीयो, येन कनकमयो भूत्वा अक्षयो भवामि"। अथ प्रातः प्रबुद्धः सन् स्वप्नं स्मरन् चिन्ताचक्रं आरूढः तिष्ठति। "अहो सत्योऽयं स्वप्नः किंवा असत्यो भविष्यति न ज्ञायते। अथवा नूनं मिथ्या भाव्यं यतोऽहं केवलं वित्तमेव चिन्तयामि। उक्तश्च,-

ऐसा विचार कर फिर भी सोचने लगा,-"सो मैं लंघन करके प्राणोंको त्यागदूं। इस व्यर्थ जीवनसे क्या लाभ है"। ऐसा निश्चय कर सोगया। उसको स्वप्नमें पद्मनिधि बौद्ध सन्यासीके वेषमें दर्शन देकर बोला,-"भो! सेठ तुम वैराग्यको मत प्राप्त हो। मैं पद्मनिधि तुम्हारे पूर्वपुरुषोंका उपार्जन किया हुआ हूं। सो इसी रूपसे प्रातःकाल तुम्हारे घरको आऊंगा। सो तुम लगुडका प्रहार मेरे शिरपर करना। जिससे मैं सुवर्णका होकर अक्षय हो जाऊंगा"। तब प्रभा-

तमें जागकर (सेठ) स्वप्नको स्मरण करता चिन्ता युक्त बैठा,—"अहो यह स्वप्न सत्य है, वा असत्य होगा सो नहीं जानाजाता । अथवा अवश्यही मिथ्या होगा, कारण कि प्रतिदिन मैं धनकीही चिन्ता करता हूं । कहा है—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्तेनाथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः ॥ ११ ॥

व्याधियुक्त शोकवान् चिन्तासे ग्रस्त कामार्त और मत्त प्राणीका देखा हुआ स्वप्न निरर्थक होता है ॥ ११ ॥

एतस्मिन् अन्तरे तस्य भार्य्यया कश्चित् नापितः पाद-प्रक्षालनाय आहूतः । अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूव । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना यथा आसन्नकाष्ठदण्डे न तं शिरसि अताडयत् । सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणात् भूमौ निपतितः । अथ स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्यं कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच,—"तदेतत् धनं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण । भद्र ! पुनः कस्यचित् न आख्येयो वृत्तान्तः," नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयत्,—"नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हन्मि, येन प्रभूतं-हाटकं मे भवति" । एवं चिन्तयतो महता कष्टेन निशा अतिचक्राम । अथ प्रभाते अभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेकं प्रगुणीकृत्य क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय जानुभ्याम् अवनिं गत्वा वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चलः तारस्वरेण इमं श्लोकम् अपठत—

इसी समय उसकी भार्याने किसी नाईको पांव धोनेके निमित्त बुलाया । इसी समय कहेहुएके अनुसार वह संन्यासी प्रगट हुआ । वह उसे देखकर प्रसन्न मनसे धोरे धरी हुई काष्ठकी लकडीसे उसके शिरमें ताडन करता भया । वह भी सुवर्णमय होकर उसी समय पृथ्वीपर गिरा तब वह सेठ एकान्तमें उसे अपने घरमें लेजाकर नाईको सन्तोषित कर बोला,—"यह धन और वस्त्र मेरे दिये हुए ग्रहण कर । भद्र ! यह वृत्तान्त किसीसे न कहना" । नाई भी अपने

घरमे जाकर विचारने लगा,—"अवश्यही यह सब बौद्ध सन्यासी शिरमे डण्डेसे प्रहार करनेसे सोनेके होजाते हैं सो मैंभी बहुतोंको बुलाकर डण्डोंसे शिरमें प्रहार करके मारूं। जिससे मेरे यहा बहुत धन होजाय"। ऐसा विचार कर बडे कष्टसे उसने रात बिताई प्रातःकालही उठकर एक बडे डण्डेको तयारकर संन्यासियोंके विहारस्थलमें जाकर जिनेन्द्रकी तीन प्रदक्षिणा करके जघाके बलसे पृथ्वीमें बैठकर वक्त्रद्वार (मुख) में दुपट्टा लपेटे हुए ऊचे स्वरसे इस श्लोकको पढने लगा—

जयन्ति ते जिना येषां केवलज्ञानशालिनाम् ।
आजन्मनः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम् ॥ १२ ॥

केवल निरवच्छिन्न ज्ञानवाले जिनके चित्तमें जन्मसेही कामोत्पत्ति ऊषरवत् रही है (नहीं हुई) वे क्षपणक सबसे उत्कृष्ट वर्तते हैं ॥ १२ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

सा जिह्वा या जिनं स्तौति तच्चित्तं यज्जिने रतम् ।
तावेव च करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ १३ ॥

वही जिह्वा है जो जिनकी स्तुति करती है, वही चित्त है जो जिनमें रत है, वही श्लाघनीय हाथ हैं जो बौद्धकी पूजा करनेवाले हैं ॥ १३ ॥

तथा च—

और देखो—

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानंगशरातुरञ्जनमिमं त्रातापि नो रक्षसि ।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बौद्धो जिनः पातु वः॥१४॥

हे माननीय ! ध्यानके बहानेसे किस कान्ताका स्मरण करता है, आख खोलकर कामबाणसे विद्ध इस जनको अवलोकन कर। त्राणमें समर्थ होकरभी हमारी रक्षा क्यो नहीं करता ? । इस कारण तुम अलीक दयावाले हो, तुमसे अधिक और निर्दयी पुरुष कौन होगा, ईर्षापूर्वक कामदेवकी वधूसे इस प्रकार कहेहुए बौद्ध जिन तुम्हारी रक्षा करै ॥ १४ ॥

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकम् आसाद्य क्षितिनिहितजानुचरणो "नमोऽस्तु वन्दे" इति उच्चार्य्य लब्धधर्मवृद्ध्यशीर्वादः सुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयम् इदमाह,-"भगवन् ! अद्य अभ्यवरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेन अस्मद्गृहे कर्त्तव्या" स आह,-"भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि किं वयं ब्राह्मणसमानाः । यत आमन्त्रणं करोषि । वयं सदैव तत्कालपरिचर्य्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकम् अवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः तेन कृच्छ्रादभ्यर्थिताः तद्गृहे प्राणधारणमात्राम् अशनक्रियां कुर्मः । तत् गम्यतां नैवं भूयोऽपि वाच्यम्" । तच्छ्रुत्वा नापित आह,-"भगवन् ! वेद्मि अहं युष्मद्धर्मम्, परं भवतो बहुश्रावका आह्वयन्ति, साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि तथा पुस्तकानां लेखनाय लेखकानाञ्च वित्तं सञ्चितम् आस्ते, तत्सर्वथा कालोचितं कार्य्यम्" । ततो नापितोऽपि स्वगृहं गतः तत्र च गत्वा खादिरमयं लगुडं सज्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारे समाधाय सार्द्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारम् आश्रित्य सर्वान् क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहम् आनयत, तेऽपि सर्वे कर्पटवित्तलोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान् परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययुः । अथवा साधु इदमुच्यते-

इस प्रकार स्तुतिकर प्रधान क्षपणकके पास जाकर पृथ्वीमें जंघाचरणको छुवाय; "आपको नमस्कार है" ऐसा उच्चारण कर धर्मवृद्धिका आशीर्वाद ग्रहण कर, प्रधान क्षपणकके अनुग्रहसे व्रतदीक्षाको प्राप्त हो गलवस्त्रके निमित्त उत्तरीयकी गांठ बांधे नम्रतापूर्वक इस प्रकार बोला—"आज भोजनकी क्रिया सब मुनियोंके साथ मेरे घर करनी चाहिये" । वह बोला—"भो श्रावक ! (धर्म सुने हुए) धर्मका जाननेवाला होकरभी क्यों ऐसा कहता है । क्या हम ब्राह्मणकी समान है, जो निमंत्रण करता है । हम तो सदाही तत्कालकी परिचर्यासे भ्रमते

हुए किसी भक्त श्रावकको देखकर उसके घर चले जाते है, और उसकी अत्यन्त प्रार्थनासे उसके घरमें प्राणधारण मात्र भोजन क्रियाको करते हैं, सो जाओ फिर ऐसा न कहना" । यह सुन नापित बोला–"भगवन्! मै आपका धर्म जानता हू, परन्तु आपको बहुत श्रावक (सरावगी) बुलाते हैं, मैंने तो इस समय बहुतसे पुस्तकके बाधने योग्य वस्त्र बहु मूल्यके सग्रह किये हैं । तथा पुस्तकोंके निमित्त लेखकोंको धन एकत्र किया स्थित है । सो सर्वथा समयके उचित कार्य करो" । तब नाईभी अपने घर गया । और वहा जाकर खैरकी लकडीको तयार कर दोनों किवाड़ घरकी बदकर डेढ पहरतक फिरभी विहारद्वार परस्थित होकर सबके क्रमसे आश्रमसे निकलनेपर बडी प्रार्थनासे उन्हें अपने घरमें लाया। वेभी सब कपट और धनके लोभसे, भक्तियुक्त जाने पूछे हुए सरावगियोंको छोडकर प्रसन्न मनसे उसके पीछे २ गये । यह अच्छा ही कहा है कि–

एकाकी गृहसंत्यक्तः पाणिपात्री दिगम्बरः ।
सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥ १५ ॥

जो इकला गृहशून्य हाथरूपी पात्रवाला दिगम्बर (नग्न है) वहभी ससारमें तृष्णासे हरण होता है इस कौतुकको देखो ॥ १५ ॥

जीर्य्यन्ते जीर्य्यतः केशा दन्ता जीर्य्यन्ति जीर्य्यतः ।
चक्षुः श्रोत्रे च जीर्य्येते तृष्णैका तरुणायते ॥ १६ ॥

बूढे होनेसे बाल जीर्ण होजाते हैं, जीर्ण होनेसे दातभी जीर्ण होजाते हैं नेत्र और कानभी जीर्ण होजाते हैं एक तृष्णाही तरुण होती जाती है ॥ १६ ॥

अपरं गृहमध्ये तान् प्रवेश्य द्वारं निभृतं विधाय लगुडप्रहारैः शिरसि अताडयत, तेऽपि ताड्यमाना एके मृताः अन्ये भिन्नमस्तकाः फूत्कर्त्तुम् उपचक्रमिरे । अत्रान्तरे तमाक्रन्दम् आकर्ण्य कोटरक्षपालैः अभिहितं,–"भो भोः ! किम् अयं महान् कोलाहलो नगरमध्ये ? तद्गम्यतां गम्यताम्" । ते च सर्वे तदादेशकारिणः तत्सहिता वेगात् तद्गृहं गताः तावत् रुधिरप्लावितदेहाः पलायमाना नग्नका दृष्टाः । तैः स नापितो बद्धः । हतशेषैः सह धर्माधिष्ठानं नीतः । तैः नापितः

पृष्टः-"भोः ! किमेतत् भवता कुकृत्यमनुष्ठितम ?" स आह,-"किं करोमि ? मया श्रेष्ठिमाणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविधो व्यतिकरः" । सोऽपि सर्वमाणिभद्रवृत्तान्तं यथादृष्टम् अकथयत । ततः श्रेष्ठिनम् आहूय भणितवन्तः,-"भोः श्रेष्ठिन् ! किं त्वया कश्चित क्षपणको व्यापादितः ?" ततः तेनापि सर्वः क्षपणकवृत्तान्तः तेषां निवेदितः । अथ तैः अभिहितम्-

तब घरमें उनको प्रवेश कराकर द्वार बंद कर उनके शिरमें डंडेसे प्रहार करने लगा । वे भी ताडित हुए कोई मरगये कोई शिरफूटनेसे चिल्लाते हुए भागे, इसी समय उनके चिल्लानेके शब्दको सुनकर नगरके रक्षकोंने कहा-"भो भो यह नगरके मध्यमें क्या बडा कोलाहल है सो जाओ जाओ" । वे सब उन की आज्ञा करते उधके सहित वेगसे उस घरमें गये । उन्होंने रुधिरसे भीजे शरीर भागते हुए क्षपणकोंको देखा । तब उन्होंने उस नाईको बांध लिया । और मरनेसे बचे हुओंके साथ न्यायालयमें प्राप्त किया । तब उन्होने नाईसे पूछा-"भो ! यह क्या है ? तैंने बडा कुकृत्य किया है !" वह बोला-"मैं क्या करूं ? मैंने सेठ मणिभद्रके घरमे इस प्रकारका व्यापार देखा था" । और वह सब मणिभद्रके दृष्टान्तको जैसा देखा था तैसा कहता भया । तब वे श्रेष्ठीको बुलाकर कहते भये-"भो सेठ ! क्या तैंने किसीक्षपणकको मारा ?।" तब उसने सब क्षपणकका वृत्तान्त उनसे कहा । तब उन्होंने कहा,-

"अहो ! शूलम् आरोप्यताम असौ दुष्टात्मा कुपरीक्षितकारी नापितः" । तथा अनुष्ठिते तैः अभिहितम्-

"अहो इस दुरात्माको शूलपर आरोपण करदो यह दुष्टात्मा नाई कुपरीक्षित करनेवाला है" । ऐसा करनेपर उन्होंने कहा,-

"कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम् ॥ १७ ॥

"जो बुरा देखा, कुत्सित जाना, कुत्सित सुना, कुत्सित परीक्षा कियाहुआ है मनुष्यको वह बात नहीं करनी चाहिये जो नाईने किया ॥ १७ ॥

अथवा साधु इदमुच्यते-

अथवा यह अच्छा कहा है-

अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्यां नकुलार्थतः ॥ १८ ॥"

कोई काम बिना परीक्षासे न करना चाहिये, परीक्षासेही करना चाहिये, बिना-विचारे सन्ताप होता है, जैसे ब्राह्मणीको नकुलके निमित्त हुआ था ॥ १८ ॥"

मणिभद्र आह,-"कथमेतत् ?" ते धर्माधिकारिणः प्रोचुः-

मणिभद्र बोला,-"यह कैसी कथा ?" वे धर्माधिकारी बोले-

कथा २.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। तस्य भार्य्या प्रसूता सुतम् अजनयत, तस्मिन् एव दिने नकुली नकुलं प्रसूता। अथ सा सुतवत्सला दारकवत्तमपि नकुलं स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादिभिः पुपोष। परं तस्य न विश्वसिति "यत् कदाचित् एष स्वजातिदोषवशात् अस्य दारकस्य विरुद्धम् आचरिष्यति" इति, एवं जानाति स्वचित्ते। उक्तञ्च-

किसी स्थानमें देवशर्मा नाम ब्राह्मण रहता था उसकी भार्याने पुत्र उत्पन्न किया। उसी दिन नोलीने एक नकुलको उत्पन्न किया। वह पुत्रवत्सला बालककी समान उस न्योलेकोभी दूध दान शरीरके मलनेआदिसे पुष्ट करती भई। परन्तु उसका विश्वास न करती कि "यह कदाचित् अपनी जातिके दोषसे इस बालकके विरुद्ध आचरण करेगा" ऐसा अपने चित्तमें जानती। कहा है-

"कुपुत्रोऽपि भवेत्पुंसां हृदयानन्दकारकः।
दुर्विनीतः कुरूपोऽपि मूर्खोऽपि व्यसनी खलः ॥ १९ ॥

"कुपुत्रभी पुरुषोंके हृदयके आनन्दका करनेवाला होता है, चाहे दुर्विनीत कुरूप व्यसनी खल हो ॥ १९ ॥

एवं च भाषते लोकश्चन्दनं किल शीतलम्।
पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ॥ २० ॥

लोक यह कहते हैं कि, चन्दन शीतल है परन्तु पुत्रका शरीर चन्दनसे अधिक शीतल है परन्तु पुत्रके शरीरस्पर्शसे चदन अधिक शीतल नहीं है ॥२७॥

सौहृदस्य न वाञ्छन्ति जनकस्य हितस्य च ।
लोकाः प्रपालकस्यापि यथा पुत्रस्य बन्धनम् ॥ २१ ॥"

लोक मित्र पिता हितकारी पालकके बंधनकी इच्छा नहीं करतेहैं जैसे पुत्रके प्रणयबन्धनकी इच्छा करते हैं ॥ २१ ॥"

अथ सा कदाचित् शय्यायां पुत्रं शाययित्वा जलकुम्भम् आदाय पतिमुवाच,–"ब्राह्मण ! जलार्थम् अहं तडागे यास्यामि, त्वया पुत्रोऽयं नकुलात् रक्षणीयः" । अथ तस्यां गतायां पृष्ठे ब्राह्मणोऽपि शून्यं गृहं मुक्त्वा भिक्षार्थं क्वचित निर्गतः । अत्रांतरे दैववशात कृष्णसर्पो बिलात् निष्क्रान्तः नकुलोऽपि तं स्वभाववैरिणं मत्वा भ्रातुः रक्षणार्थं सर्पेण सह युद्धा सर्पं खण्डशः कृतवान् । ततो रुधिराप्लावितवदनः सानन्दः स्वव्यापारप्रकाशनार्थं मातुः सन्मुखो गतः । मातापि तं रुधिरक्लिन्नमुखम् अवलोक्य शंकितचित्ता "यदनेन दुरात्मना दारको भक्षितः" इति विचिन्त्य कोपात तस्योपरि तं जलकुम्भं चिक्षेप । एवं सा नकुलं व्यापाद्य यावत प्रलपंती गृहे आगच्छति, तावत सुतः तथैव सुप्तः तिष्ठति । समीपे कृष्णसर्पं खण्डशः कृतम् अवलोक्य पुत्रवधशोकेन आत्मशिरोवक्षस्थलं च ताडयितुम् आरब्धा । अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वापः समायातो यावत पश्यति, तावत् पुत्रशोकाभितप्ता ब्राह्मणी प्रलपति,–"भो भो लोभात्मन ! लोभाभिभूतेन त्वया न कृतं मद्वचः, तदनुभव साम्प्रतं पुत्रमृत्युदुःखवृक्षफलम । अथवा साधु इदमुच्यते,–

तब वह कभी सेजमें पुत्रको सुला कर जलका घडा ले पतिसे बोली–"ब्राह्मण ! मैं जलके निमित्त सरोवरको जाती हूं तुम इस पुत्रकी नकुलसे रक्षा करना" । तब उसके जानेपर ब्राह्मणभी शून्य घरको छोडकर भिक्षाके निमित्त कहीं गया । इसी समय दैवयोगसे एक काला सांप बिलसे निकला । नौलाभी उसे स्वभाववैरी मानकर भ्राताकी रक्षाके निमित्त सर्पके संग युद्ध कर उस (सर्प) को खण्ड २ करता भया । तब रुधिरसे मुखरंगे आनन्दसे अपने व्यापारको

प्रकाश करनेके निमित्त माताके सन्मुख गया । माताभी रुधिरसे गीला उसका मुख देखकर शंकितचित्तसे "कि, इस दुरात्माने मेरा बालक खाया है" ऐसा विचार कर क्रोधसे उसके ऊपर वह जलका घडा फेंका । इस प्रकार वह नौलेको मारकर जबतक विलाप करती घरमें आई तबतक बालक सो रहा था । निकटही काले सर्पको टुकडे हुआ देखकर पुत्रवधके शोकसे अपना शिर वृक्षकी जडमें मारने लगी । इसी समय ब्राह्मण भिक्षा लेकर आय देखने लगा कि, पुत्रशोकसे ब्राह्मणी विलाप कर रही है । "भो ! भो ! लोभी ! लोभके कारण तैंने मेरा वचन न किया । सो अब पुत्रकी मृत्युके दुःखरूपी वृक्षका फल भोग। अथवा अच्छा कहा है-

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥ २२ ॥"

अति लोभ नहीं करना चाहिये और सर्वथा लोभ त्यागन भी न करे, अति लोभी मनुष्यके मस्तकपर चक्र घूमता है ॥ २२ ॥"

ब्राह्मण आह,-"कथमेतत् ?" सा प्राह,-

ब्राह्मण बोला-"यह कैसे ?" वह बोली--

कथा ३.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रतां गता वसन्ति स्म, ते चापि दारिद्र्योपहताः परस्परं मन्त्रं चक्रुः "अहो ! धिक् इयं दारिद्रता । उक्तञ्च-

किसी स्थानमें चार ब्राह्मणके पुत्र परस्पर मित्र रहते थे वे दारिद्रताको प्राप्त हो परस्पर विचार करने लगे । "अहो ! इस दारिद्रताको धिक्कार है । कहा है-

वरं वनं व्याघ्रगजादिसेवितं
जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ॥ २३ ॥

सिंह हाथियोंसे सेवित मनुष्योंसे हीन बहुत काटोंसे युक्त वन बहुत अच्छा है, तृणकी शय्या और वल्कल वस्त्र उत्तम है, परन्तु बंधुओंके बीचमें धनहीन होकर जीना भला नहीं ॥ २३ ॥

तथाच-
ओर देखो-

स्वामी द्वेष्टि सुसेवितोऽपि सहसा प्रोज्झन्ति सद्बान्धवा
राजन्ते न गुणास्त्यजन्ति तनुजाः स्फारीभवन्त्यापदः ।
भार्य्या साधु सुवंशजापि भजते नो यान्ति मित्राणि च
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां न हि स्याद्धनम् २४॥

जिन मनुष्योंके पास धन नहीं है अच्छी प्रकार सेवन करनेसे प्रभु उनका आदर नहीं करता है, सद्बान्धव उसको त्याग देते हैं, गुण उसके शोभित नहीं होते हैं, पुत्रत्याग देते हैं, आपत्ति विस्तारको प्राप्त होती हैं, सत्कुलमे उत्पन्न हुई भार्या भी उनको नहीं भजती है, नीतिमार्गसे पुरुषकारसे प्राप्त हुए मित्र भी उनके पास नहीं आते हैं ॥ २४ ॥

शूरः सुरूपः सुभगश्च वाग्मी
शस्त्राणि शास्त्राणि विदांकरोति ।
अर्थं विना नैव यशश्च मानं
प्राप्नोति मर्त्योऽत्र मनुष्यलोके ॥ २५ ॥

शूर, स्वरूपवान्, सुन्दर, वाचाल, शस्त्र तथा शास्त्रका जाननेवाला मनुष्य अर्थके बिना इस लोकमें यश तथा मानको प्राप्त नहीं होता है ॥ २५ ॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ २६ ॥

वही अविकल इन्द्री, वही नाम है, वही अप्रतिहत बुद्धि और वही वचन है, किन्तु वही पुरुष धनकी गरमीसे रहित हुआ क्षणमात्रमें सबसे पृथक् होता है यह विचित्र है.॥ २६ ॥

तद्गच्छामः कुत्रचित् अर्थाय," इति संमन्त्र्य स्वदेशपुरं च स्वसुहृत्सहितं बान्धवयुतं गृहं च परित्यज्य प्रस्थिताः, अथवा साधु इदमुच्यते-

सो कहीं धनप्राप्तिके निमित्त जांयगे" । ऐसा विचारकर अपने देश पुरको तथा सुहृद बांधवोंके सहित घरको छोड़कर चले । अथवा यह अच्छा कहाहै-

सत्यं परित्यजति मुञ्चति बन्धुवर्गं
शीघ्रं विहाय जननीमपि जन्मभूमिम्।
सन्त्यज्य गच्छति विदेशमभीष्टलोकं
चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषोऽत्र लोके ॥ २७ ॥

सत्यको छोड बन्धुवर्गको त्यागकर तथा जननी और जन्मभूमिकोभी शीघ्र त्यागकर चिन्तासे व्याकुल हुआ पुरुष अभीष्ट लोक वा देशको जाता है ॥२७॥

एवं क्रमेण गच्छन्तोऽवन्तीं प्राप्ताः, तत्र सिप्राजले कृतस्नाना महाकालं प्रणम्य यावत् निर्गच्छन्ति, तावत् भैरवानन्दो नाम योगी सम्मुखो बभूव। ततस्तं ब्राह्मणोचितविधिना सम्भाव्य तेनैव सह तस्य मठं जग्मुः। अथ तेन ते पृष्टाः,–"कुतो भवन्तः समायाताः? क यास्यथ? किं प्रयोजनम्?"। ततः तैः अभिहितम्,–"वयं सिद्धियात्रिकाः तत्र यास्यामो यत्र धनाप्तिः मृत्युर्वा भविष्यतीति एष निश्चयः। उक्तञ्च–

इस प्रकार वे क्रमसे जाते अवंतिका पुरीमें प्राप्तहुए वहा सिप्रानदीके जलमें स्नानकर महाकालको प्रणामकर जब चलने लगे तबतक भैरवानन्द नाम योगी सामने आया। तब उस ब्राह्मणका उचित विधिसे सत्कारकर उसीके संग उसके मठको गये। तब उसने पूछा–"तुम काहसे आये हो?। कहा जाओगे?। क्या प्रयोजन है,?" तब इन्होंने कहा–" हमने कार्यसिद्धिके निमित्त यात्रा की है। जहा धन मिलैगा वहा जायगे चाहैं मृत्यु होजाय यह निश्चय है। कहा है–

दुष्प्राप्याणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि।
अवसरतुलिताभिरलं तनुभिः साहसिकपुरुषाणाम् ॥ २८ ॥

साहसी पुरुषोंको यथा समयमें चेष्टा किये शरीरसे दुर्लभ और वाछित यथेष्ट बहुतसे धन प्राप्त होते हैं (आर्य्यावृत्त) ॥ २८ ॥

तथाच–
और देखो–

पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति।
दैवमचिन्त्यं बलवद्बलवान्नतु पुरुषकारोऽपि ॥ २९ ॥

कभी जल आकाशसे पुष्करिणी आदिमें पतित होता है, कभी पातालसे निकलता है, दैव अचिन्त्य और बलवान् है पुरुषकारमें यह बात नहीं (विफल) है ॥२९॥

अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण ।
दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः॥३०॥

पुरुषकारसे पुरुषको सम्पूर्ण मनोरथ सिद्धि मिलती है और जो दैवको कहता है वहभी पुरुषका अदृष्ट नामक गुण है ॥ ३० ॥

भयमतुलं गुरुलोकात्तृणमिव तुलयन्ति साधु साहसिकाः।
प्राणानद्भुतमेतच्चरितं चरितं ह्युदाराणाम् ॥ ३१ ॥

साहसी पुरुष गुरुजनोंसे अतुल भय तथा प्राणोंको तृणकी समान मानते हैं महान् पुरुषोंका यह अद्भुत चरित्र है ॥ ३१ ॥

क्लेशस्याङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते ।
मधुभिन्मथनायस्तैराश्लिष्यति बाहुभिर्लक्ष्मीम् ॥ ३२ ॥

इस संसारमें शरीरको विना क्लेश दिये सुखकी प्राप्ति नहीं होती है मधुसूदनने समुद्रमथनसे श्रान्तहुए भुजाओं द्वाराही लक्ष्मीकी प्राप्ति की थी ॥ ३२ ॥

तस्य कथं न चला स्यात्पत्नी विष्णोर्नृसिंहकस्यापि ।
मासांश्चतुरो निद्रां यः सेवति जलगतः सततम् ॥ ३३ ॥

नृसिंहरूपधारी उन विष्णुकी लक्ष्मी क्यों चलायमान नहो जो जलमें स्थित हो चार महीने निरन्तर निद्रा सेवन करते हैं ॥ ३३ ॥

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण साहसं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानिह जलदपटलानि ॥३४॥

जबतक पुरुष साहस नहीं करता तबतक पराया भाग दुर्लभ है तुला (राशि) को प्राप्त होकरही सूर्य मेघसमूहोंको जीतता है ॥ ३४ ॥

तत्कथ्यताम् अस्माकं कश्चित् धनोपायो विवरप्रवेशशाकिनीसाधनश्मशानसेवनमहामांसविक्रयसाधकवर्त्तिप्रभृतीनामेकतम इति । अद्भुतशक्तिर्भवान् श्रूयते । वयमपि अतिसाहसिकाः । उक्तञ्च–

सो कोई हमको धनप्राप्तिका उपाय कहो. पातालगमन, शाकिनीसाधन, श्मशानसेवन, महामांसविक्रय, साधकवर्ति आदिमें कोई एक (विधि बताओ) आप अद्भुत शक्तिवाले सुने जाते हो । हमभी बडे साहसी हैं । कहा है–

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः ।
ऋते समुद्रादन्यः को बिभर्ति वडवानलम् ॥ ३५ ॥"

महान् पुरुषही महान् अर्थोंको साधनेमें समर्थ होते हैं समुद्रके विना वडवानल धारण करनेको कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ३९ ॥"

भैरवानन्दोऽपि तेषां सिद्ध्यर्थं बहूपायं सिद्धवर्त्तिचतुष्टयं कृत्वा अर्पयत् । आह, च-"गम्यतां हिमालयदिशि, तत्र सम्प्राप्तानां यत्र वर्त्तिः पतिष्यति, तत्र निधानम् असन्दिग्धं प्राप्स्यथ, तत्र स्थानं खनित्वा निधिं गृहीत्वा व्याघुष्यताम्" । तथा अनुष्ठिते तेषां गच्छताम् एकतमस्य हस्ताद्वर्त्तिर्निपपात । अथ असौ यावत् तं प्रदेशं खनति तावत् ताम्रमयी भूमिः । ततः तेन अभिहितम्-"अहो ! गृह्यतां स्वेच्छया ताम्रम्" । अन्ये प्रोचुः,-"भो मूढ ! किमनेन क्रियते ? तत् प्रभूतमपि दारिद्र्यं न नाशयति । तदुत्तिष्ठ अग्रतो गच्छामः" । सोऽब्रवीत,-"यान्तु भवन्तो न अहमग्रे यास्यामि" । एवम् अभिधाय ताम्रं यथेच्छया गृहीत्वा प्रथमो निवृत्तः । ते त्रयोऽपि अग्रे प्रस्थिताः । अथ किञ्चिन्मात्रं गतस्य अग्रेसरस्य वर्त्तिः निपपात । सोऽपि यावत खनितुम् आरब्धः तावत् रूप्यमयी क्षितिः । ततः प्रहर्षितः प्राह,-"यत् भो ! गृह्यतां यथेच्छया रूप्यम् । न अग्रे गन्तव्यम्" । तौ ऊचतुः-"भोः ! पृष्ठतः ताम्रमयी भूमिरग्रतो रूप्यमयी । तत् नूनम् अग्रे सुवर्णमयी भविष्यति । तदनेन प्रभूतेनापि दारिद्र्यनाशो न भवति । तत् आवाम् अग्रे यास्यावः"। एवमुक्त्वा द्वौ अपि अग्रे प्रस्थितौ । सोऽपि स्वशक्त्या रूप्यम् आदाय निवृत्तः । तयोरपि गच्छतोः एकस्य अग्रे वर्त्तिः पपात । सोऽपि प्रहृष्टो यावत खनति तावत् सुवर्णभूमिं दृष्ट्वा द्वितीयं प्राह,-"भो ! गृह्यतां स्वेच्छया सुवर्णम् सुवर्णादन्यत् न किञ्चित् उत्तमं भविष्यति" । स प्राह,-"मूढ ! न किञ्चित् वेत्सि । प्राक् ताम्रं, ततो रूप्यं, ततः

सुवर्णं, तन्नूनमतः परं रत्नानि भविष्यन्ति येषाम् एकतमेनापि दारिद्र्यनाशो भवति । तदुत्तिष्ठ अग्रे गच्छावः । किमनेन भारभूतेनापि प्रभूतेन" । स आह,–"गच्छतु भवान् । अहमत्र स्थितस्त्वां प्रतिपालयिष्यामि" । तथानुष्ठिते सोऽपि गच्छन् एकाकी ग्रीष्मार्कप्रतापसन्ततनुः पिपासाकुलितः सिद्धिमार्गच्युत इतश्चेतश्च बभ्राम । अथ भ्राम्यन् स्थलोपरि पुरुषमेकं रुधिरप्लावितगात्रं भ्रमच्चक्रमस्तकमपश्यत् । ततो द्रुततरं गत्वा तम् अवोचत,–"भोः ! को भवान् ? किमेवं चक्रेण भ्रमता शिरसि तिष्ठसि ? । तत्कथय मे यदि कुत्रचित् जलमस्ति ?" । एवं तस्य प्रवदतः तच्चक्रं तत्क्षणात तस्य शिरसो ब्राह्मणमस्तके चटितम् । स आह–"भद्र ! किमेतत् ?" स आह,–"ममापि एवमेव एतत् शिरसि चटितम्" । स आह–"तत्कथय, कदा एतत् उत्तरिष्यति ? । महती मे वेदना वर्त्तते" । स आह,–"यदा त्वमिव कश्चिद् धृतसिद्धिवर्त्तिः एवमागत्य त्वाम् आलापयिष्यति तदा तस्य मस्तके चटिष्यति" । आह,–"कियान् कालस्तव एवं स्थितस्य?" । स आह,–"साम्प्रतं को राजा धरणीतले ?" स आह,–"वीणावत्सराजः"। स आह,–"अहं तावत् कालसंख्यां न जानामि । परं यदा रामो राजा आसीत तदाहं दारिद्र्योपहतः सिद्धिवर्त्तिमादाय अनेन पथा समायातः । ततो मया अन्यो नरो मस्तकधृतचक्रो दृष्टः पृष्टश्च । ततश्च एतत् जातम्" । स आह,–"भद्र ! कथं तव एवं स्थितस्य भोजनजलप्राप्तिः आसीत् ?" । स आह,–"भद्र ! धनदेन निधानहरणभयात सिद्धानामेतत भयं दर्शितं तेन कश्चिदपि न आगच्छति । यदि कश्चित आयाति स क्षुत्पिपासानिद्रारहितो जरामरणवर्जितः केवलमेवं वेदनाम् अनुभवतीति । तदाज्ञापय मां स्वगृहाय," इत्युक्त्वा गतः । अथ तस्मिन् चिरयति स सुवर्णसिद्धिः तस्य अन्वेषणपरः तत्पदपंक्त्या यावत्

किञ्चित् वनान्तरम् आगच्छति तावत् स रुधिरप्लावितशरीरः तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदनः क्कणन् उपविष्टः तिष्ठति। तत्समीपवर्तिना भूत्वा सबाष्पं पृष्टः-"भद्र! किमेतत ?" स आह,-विधिनियोगः"। स आह,-"कथं तत् कथय कारणमेतस्य"। सोऽपि तेन पृष्टः सर्वं चक्रवृत्तान्तम् अकथयत्। श्रुत्वा असौ तं विगर्हयन् इदमाह। "भो! निषिद्धः त्वं मया अनेकशो न शृणोषि मे वाक्यम्। तत् किं क्रियते! विद्यावानपि कुलीनोऽपि बुद्धिरहितः। अथवा साधु इदमुच्यते-

भैरवानन्दभी उनकी सिद्धिके निमित्त बहुतसे उपाय सोच चार सिद्ध वर्ती बनाकर अर्पण करता हुआ। और बोला-"हिमालयकी ओर जावो। वहां जानेमें जहा बत्ती गिरजाय, वहा अवश्य धनको प्राप्त होगे वह स्थान खोदकर धन ग्रहण कर प्रकाश करो" ऐसा करनेपर जाते हुए उनमेसे एकके हाथसे बत्ती गिर पडी, तब वह उस स्थानको खोदने लगा तो ताम्रमयी भूमि दृष्टिगोचर हुई। तब उसने कहा-"अहो! अपनी इच्छासे ताम्रग्रहण करो"। और वोले"रे मूढ! इसे लेकर क्या करेंगे। बडा दरिद्र तो नाश न होगा। सो उठो आगे चलो"। वह बोला,-"तुम जाओ मै तो आगे न जाऊगा"। ऐसा कह यथेच्छ ताम्र ग्रहण कर पहला निवृत्त हुआ वे तीन आगे चले। तब कुछ दूर आगे चलकर और बत्ती गिरी। वहभी जब खोदने लगा तब चादीकी भूमि मिली। तब प्रसन्न होकर बोला-"भो! यथेच्छ चादी ग्रहण करो आगे मत चलो" वह बोले-"भो! पीछे ताम्रमयी भूमी यहा चादीकी। सो अवश्य आगे सुवर्णकी भूमी होगी। सो इस बहुतसेभी दरिद्र नाश न होगा सो हम दोनो आगे जाते हैं" ऐसा कहकर दोनों आगे चले। वहभी अपनी शक्तिसे चादीको लेकर निवृत्त हुआ। उन दोनोंके चलनेपर आगे फिर बत्ती गिरी। वह प्रसन्न होकर जब खोदने लगे तब सुवर्णभूमिको देख दूसरेसे बोला-"भो! अपनी इच्छासे सुवर्ण ग्रहण करो। सुवर्णसे और कुछ उत्तम न होगा"। वह बोला-"मूर्ख! तू कुछ नहीं जानता पहले तावा फिर चादी फिर सोना, अब इसके आगे अवश्य रत्न होंगे। जिनके पानेमें एकसेही दारिद्रका नाश होजायगा।

सो उठ आगे चलें, इस महाबोझके धारणसे क्या" । वह बोला—"जाओ मैं यहीं बैठा तुम्हारी बाट देखता हूं" । ऐसा कहनेपर वहभी इकला जाता हुआ गरमीके सूर्यतापसे तप्त शरीर हुआ प्याससे व्याकुल हो सिद्धपथसे भ्रष्ट हो इधर उधर घूमने लगा । तब घूमता हुआ स्थलके ऊपर एक पुरुषको रुधिरसे प्लावित शरीर मस्तकपर चक्र घूमता हुआ देखा सो बहुत शीघ्र जाकर उससे बोला—"भो ! आप कौनहो ? किस प्रकार शिरपर चक्र घूमते हुए तुम स्थित हो ? सो बताओ मुझे यदि कहीं जल हो तो" ऐसा उसके कहतेही उसी क्षण उसके शिरसे (वहचक्र) ब्राह्मणके शिरमें पतित हुआ, वह बोला—"भद्र ! यह क्या है ? जो मेरेभी यह शिरपर पडने लगा । सो कहो यह कब उतरेगा ? । मुझे बडा दुःख है"। वह बोला—"जब तेरीसमान कोई सिद्धवत्ती हाथमें लिये आकर तुझसे बात करेगा, तब यह उसके मस्तकपर पतित होगा"।वह बोला-"यहां रहते तुझको कितना समय हुआ ?" वह बोला-"इस समय पृथ्वीतलमें कौन राजा है?" वह बोला—"वीणावत्स राजा है" । वह बोला—"मैं कालसंख्याको तो नहीं जानता । परन्तु जब राम राजाथे तब मैं दरिद्रताके कारण सिद्धवत्ती लेकर इस मार्गसे आया था । तब मैंने और एक मनुष्य जिसके मस्तकपर चक्र घूमता था देखकर उससे पूछा । तब मेरे ऐसा होगया" । वह बोला—"भद्र ! किस प्रकार तुम्हें यहां जल और भोजनकी प्राप्ति होती है" वह बोला—"भद्र ! कुबेरने धन हरणके भयसे सिद्धोंको यह भय दिखाया है । जिससे कोई भी यहां नहीं आता है और यदि कोई आता है तो क्षुधा पिपासा निद्रासे रहित जरामरणसे रहित हो केवल वेदनाको अनुभव करता है । सो मुझे घर जानेको आज्ञादो" ऐसा कहकर गया । तब उसको देर होनेपर वह सुवर्णसिद्धि उसको ढूंढता हुआ उसकी पद पंक्तिसे जबतक कुछ वनान्तरमें जाता है, तबतक उसको रुधिरसे प्लावितशरीर तीक्ष्ण चक्र मस्तकपर घूमता वेदनासे व्याकुल विलाप करते हुए बैठा पाया । उसके समीपवर्ती हो आंखोंमें आंसू भरकर उसने पूछा—"भद्र ! यह क्या है" ? उसने कहा—"प्रारब्धका नियोग है" वह बोला—"कैसे" ? वह उससे पूछा हुआ सम्पूर्ण चक्रके वृत्तान्तको कहता हुआ । यह सुन वह इसकी निन्दा करता हुआ इस प्रकार बोला,—"भो ! मैंने अनेकवार निषेध किया परन्तु तैंने मेरा वचन न सुना । सो क्या किया जाय । विद्यावान् कुलीन भी बुद्धिरहित होता है । अथवा अच्छा कहा है—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥ ३६ ॥

बुद्धि अच्छी है वैसी विद्या अच्छी नहीं बुद्धिहीन मनुष्य सिंहकारकोंकी समान नष्ट होते हैं ॥ ३६ ॥

चक्रधर आह-"कथमेतत् ?" सुवर्णसिद्धिः आह-

चक्रधर बोला,-"यह कैसी कथा ?" सुवर्णसिद्धि बोला-

कथा ४.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रभावम् उपगता वसन्ति स्म । तेषां त्रयः शास्त्रपारंगताः परन्तु बुद्धिरहिताः । एकस्तु बुद्धिमान्, केवलं शास्त्रपराङ्मुखः। अथ तैः कदाचित् मित्रैः मन्त्रितम्। "को गुणो विद्याया येन देशान्तरं गत्वा भूपतीन् परितोष्य अर्थोपार्जना न क्रियते ? ततपूर्वदेशं गच्छामः" । तथानुष्ठिते किञ्चिन्मार्गं गत्वा तेषां ज्येष्ठतरः प्राह,-"अहो ! अस्माकमेकः चतुर्थो मूढः केवलं बुद्धिमान्। न च राजप्रतिग्रहो बुद्ध्या लभ्यते विद्यां विना । तन्न अस्मै स्वोपार्जितं दास्यामि । तद्गच्छतु गृहम्" । ततो द्वितीयेन अभिहितम्-"भो सुबुद्धे ! गच्छ त्वं स्वगृहं यतः ते विद्या नास्ति" । ततः तृतीयेन अभिहितम्,-"अहो ! न युज्यते एवं कर्तुं यतो वयं बाल्यात् प्रभृति एकत्र क्रीडिताः तत् आगच्छतु महानुभावोऽस्मदुपार्जितवित्तस्य समभागी भविष्यतीति । उक्तञ्च-

किसी स्थानमें चार ब्राह्मणके पुत्र परस्पर मित्रभावको प्राप्त हुए रहते थे । उनमें तीन तो शास्त्रके पारगामी थे परन्तु बुद्धिहीन थे । एक उनमे बुद्धिमान् कवल शास्त्रसे पराङ्मुख था । तब उन मित्रोंने एक समय सम्मति करी। "विद्यासे क्या गुण है जिससे देशान्तरमें जाकर राजोंको सन्तुष्ट करके धन उपार्जन न किया जाय । सो पूर्व देशको चलें । ऐसा कहकर कुछ मार्गमें जाकर उनमें ज्येष्ठतर बोला,-"अहो हममें एक ही चौथा मूढ केवल बुद्धिमान् परन्तु राजासे भेट केवल बुद्धिसे विद्याके बिना प्राप्त नहीं होती । सो हम इसको अपना

उपार्जन किया न देंगे। सो घर जाओ"। तब दूसरेने कहा—"भो सुबुद्धे ! तुम अपने घरको जाओ कारण कि तुमको विद्या नहीं है"। तब तीसरेने कहा—"ऐसा करनेको तुम योग्य नहीं हो हम बालकपनेसे एक स्थानमें खेले हैं । सो आप महानुभाव आइये हमारे उपार्जन किये धनके समान भागी होंगे—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला ।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ ३७ ॥

कहा है उस लक्ष्मीसे क्या करें जो केवल वधूकी समान है और जो साधारण वेश्याकी समान पथिकोंसे नहीं भोगी जाती है ॥ ३७ ॥

तथाच—
और देखो—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ३८ ॥

यह हमारा है यह पराया यह लघुचित्तवालोंकी गणना है । और उदार चरित्रवालोंको वसुधाभर कुटुम्ब है ॥ ३८ ॥

तदागच्छतु एषोऽपि" इति । तथा अनुष्ठिते तैः मार्गाश्रितैः अटव्यां मृतसिंहस्य अस्थीनि दृष्टानि । ततश्च एकेन अभिहितम्,—"अहो ! अद्य विद्याप्रत्ययः क्रियते । किञ्चिदेतत् सत्वं मृतं तिष्ठति, तद्विद्याप्रभावेण जीवनसहितं कुर्मः, अहम् अस्थिसञ्चयं करोमि" ततश्च एकेन औत्सुक्यात् अस्थिसञ्चयः कृतः । द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम् । तृतीयोऽपि यावज्जीवनं सञ्चारयति तावत् सुबुद्धिना निषिद्धः । "भोः ! तिष्ठतु भवान्, एष सिंहो निष्पाद्यते यदि एनं सजीवं करिष्यसि ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति" । इति तेन अभिहितः स "धिक् मूर्ख ! नाहं विद्याया विफलतां करोमि" । ततः तेनाभिहितम्—"तर्हि प्रतीक्षस्व क्षणं यावदहं वृक्षमारोहामि" तथानुष्ठिते यावत् सजीवः कृतः तावत् ते त्रयोऽपि सिंहेन उत्थाय व्यापादिताः स च पुनः वृक्षात् अवतीर्य गृहं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

सो यहभी चले" । ऐसा करनेपर उन बटोहियोंने जगलमें मरे सिंहकी हड्डी देखी । तब एकने कहा—"अहो ! आज विद्याकी परीक्षा करें । कोई यह जीव मृतक हुआ स्थित है । सो विद्याके प्रभावसे इसको जीवित करें । मैं अस्थिसंचय करूं" । तब एकने उत्कंठासे अस्थिसंचय की । दूसरेनें (मन्त्रसे) चर्म मांस रुधिरसे युक्त किया । तीसराभी जबतक उसको जीवित करने लगा । तबतक सुबुद्धिने निषेध किया—' भो ! आप ठहरो । यह सिंह निर्मित किया जाता है । जो इसे जीवित करोगे तो यह सबको नष्टकर देगा" । इस प्रकार उसके कहनेपर वह बोला,—' धिक् मूर्ख ! मैं विद्याको विफल नहीं करूंगा" । तब उसने कहा—"तो क्षणमात्र प्रतीक्षा करो जबतक मैं वृक्षपर चढ जाऊं" । ऐसा करनेपर जभी उन्होंने उसे जिवाया तबतक उन तीनोंको उठकर सिंहने मारडाला । और वह फिर वृक्षसे उतरकर घर गया । इससे मैं कहता हूं—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥ ३९ ॥

बुद्धि अच्छी है विद्या नहीं विद्यासे बुद्धि श्रेष्ठ है बुद्धिहीन पुरुष सिंह बनानेवालोंकी समान नष्ट होते हैं ॥ ३९ ॥

अतः परमुक्तञ्च—

औरभी कहा है—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः ।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥ ४० ॥"

शास्त्रमें भी कुशल लोकाचारसे हीन सब वे मूर्खपंडितोंकी समान हास्यताको प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥"

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

चक्रधर बोला—"यह कैसे ?" वह बोला—

कथा ९.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणाः परस्परं मित्रत्वम् आपन्ना वसन्ति स्म । बालभावे तेषां मतिः अजायत । "भो ! देशान्तरं गत्वा विद्याया उपार्जनं क्रियते" । अथ अन्यस्मिन् दिवसे ब्राह्मणाः परस्परं निश्चयं कृत्वा विद्योपा

जनार्थं कान्यकुब्जे गताः, तत्र च विद्यामठे गत्वा पठन्ति । एवं द्वादशाब्दानि यावत् एकचित्ततया विद्याकुशलास्ते सर्वे सञ्जाताः । ततः तैः चतुर्भिर्मिलित्वा उक्तम्—"वयं सर्वविद्यापारे गताः । तदुपाध्यायम् उत्कलापयित्वा स्वदेशे गच्छामः"। "तथैव क्रियताम्" इत्युक्त्वा ब्राह्मणा उपाध्यायमुत्कलापयित्वा अनुज्ञां लब्ध्वा पुस्तकानि नीत्वा प्रचलिताः। यावत् किञ्चित् मार्गं यान्ति तावत् द्वौ पन्थानौ समायातौ । उपविष्टाः सर्वे । तत्रैकः प्रोवाच,—"केन मार्गेण गच्छामः ?" एतस्मिन् समये तस्मिन् पत्तने कश्चित् वणिक्पुत्रो मृतः तस्य दाहार्थे महाजनो गतोऽभूत । ततः चतुर्णां मध्यात् एकेन पुस्तकम् अवलोकितम्–"महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति "तत् महाजनमार्गेण गच्छामः" । अथ ते पण्डिता यावत् महाजनमेलापथिकेन सह यान्ति तावत् रासभः कश्चित् तत्र श्मशाने दृष्टः । अथ द्वितीयेन पुस्तकम् उद्घाट्य अवलोकितम्—

किसी स्थानमें चार ब्राह्मण परस्पर मित्र रहतेथे । बालकभावमेंही उनको यह बुद्धि हुई कि,—"भो ! देशान्तरमें जाकर विद्या उपार्जन करना चाहिये"। तब और दिन वे ब्राह्मण परस्पर निश्चय करके विद्या उपार्जनके निमित्त कन्नोजको गये । वहां विद्यालयमें जाकर पढने लगे । इस प्रकार बारह वर्षमें एक चित्तसे विद्या पढतेमें वे सब विद्यामें कुशल हुए । तब उन चारोंने मिलकर कहा—"हम सब विद्याके पार हुए सो उपाध्यायको संतुष्ट कर अपने देशको जांय" । "ऐसाही करो" यह कहकर वे ब्राह्मण उपाध्यायको सन्तुष्ट कर उनकी आज्ञा लेकर पुस्तकें लेकर चले । जबतक कुछ मार्गमें जाते हैं कि तबतक दो मार्ग आये । सब बैठ गये । उनमें एक बोला,—"किस मार्गसे जांय ?" । इसी समय उस नगरमें कोई वणिक्पुत्र मरगया । उसके दाहके निमित्त महाजन जाते थे । तब चारोंके बीचमें एकने पुस्तक खोल कर कहा--"जिसमें बहुतसे लोग गमन करते हैं वही मार्ग है इससे महाजनोंके मार्गसे गमन करें" । तब वे महाजन जब महाजनके संग मार्गमें जाने लगे । तबतक श्मशानमें कोई गधा देखा । तब दूसरेने पुस्तक खोलकर देखा कि—

"उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ४१ ॥

"उत्सव, व्यसनप्राप्ति, दुर्भिक्ष, शत्रुसकट, राजद्वार और श्मशानमें जो स्थित हो वह बधु है ॥ ४१ ॥

तत् अहो ! अयम् अस्मदीयो बान्धवः" । ततः कश्चित् तस्य ग्रीवायां लगति । कोऽपि पादौ प्रक्षालयति । अथ यावत् ते पण्डिताः दिशाम् अवलोकनं कुर्वन्ति तावत् कश्चित् उष्ट्रो दृष्टः । तैश्च उक्तम्,-"एतत् किम् ?" तावत् तृतीयेन पुस्तकम् उद्घाट्य उक्तम्,-"धर्मस्य त्वरिता गतिः" "एष धर्मस्तावत्" । चतुर्थेन उक्तम्,-"इष्टं धर्मेण योजयेत् ।" अथ तैश्च रासभ उष्ट्रग्रीवायां बद्धः केनचित् रजकस्य अग्रे कथितम् । यावत् रजकः तेषां मूर्खपण्डितानां प्रहारकरणाय समायातः तावत् ते प्रनष्टाः यावदग्रे किञ्चित् स्तोकं मार्गं यान्ति तावत् काचित् नदी समासादिता । तत् तस्या जलमध्ये पलाशपत्रम् आयातं दृष्ट्वा पण्डितेन एकेन उक्तम्--

सो अहो यह हमारा बधु है" । सो कोई उसकी ग्रीवामें लगता है कोई चरण धोता है । तब ज्योंही वे पडित दिशाओंकी ओर देखते हैं तबतक कोई ऊट देखा । उन्होंने कहा-"यह क्या है ?" तब तीसरेने पुस्तक खोलकर कहा-"धर्मकी शीघ्र गति है" । "यह धर्म है" चौथेने कहा-"इष्टको धर्मके साथ सयुक्त करना चाहिये" । तब उन्होंने गधेको ऊटकी गरदनमें बाधा । तब यह किसीने धोबीके आगे कहा सो जबतक वह धोबी उन मूर्ख पडितोंको प्रहार करनेको आया । तबतक वे पलायन करगये । जबतक आगे किसी लघु मार्गको प्राप्त हुए कि तबतक कोई नदी मिली तब उसके जलमें ढाकका पत्र आया देखकर एक पडितने कहा-

"आगमिष्यति यत्पत्रं तदस्मांस्तारयिष्यति ।"

"जो यह पत्र आ रहा है सो हमको तार देगा ।"

एतत् कथयित्वा तत्पत्रस्य उपरि पतितो यावत् नद्या नीयते तावत् तं नीयमानम् अवलोक्य अन्येन पण्डितेन केशान्तं गृहीत्वा उक्तम्-

ऐसे कह उस पत्रके ऊपर गिरे जबतक नदी उसे (पंडितको) वहा लेचली तबतक उसे वहता हुआ देख दूसरे पंडितने बाल पकडकर कहा--

"सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
अर्द्धेन कुरुते कार्य्यं सर्वनाशो हि दुःसहः ॥ ४२ ॥"

सर्वनाश उपस्थित होनेमे पडित जन आधा त्यागदेते है आधेसेही कार्य करते है कारण कि सर्वनाश नहीं सहा जाता है ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहितः । अथ तैश्च पश्चात् गत्वा कश्चिद्ग्राम आसादितः । तेऽपि ग्रामीणैः निमन्त्रिताः पृथक् पृथक् गृहेषु नीताः । ततः एकस्य सूत्रिका घृतखण्डसंयुक्ता भोजने दत्ता । ततो विचिन्त्य पण्डितेन उक्तम्-"यद्दीर्घसूत्री विनश्यति"-एवमुक्त्वा भोजनं परित्यज्य गतः। तथा द्वितीयस्य मण्डका दत्ताः । तेनापि उक्तञ्च-"अतिविस्तारविस्तीर्णं तद्भवेन्न चिरायुषम्" । स च भोजनं त्यक्त्वा गतः । अथ तृतीयस्य वटिकाभोजनं दत्तम् । तत्रापि पण्डितेन उक्तम्-"छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति"। एवं तेऽपि त्रयः पण्डिताः क्षुत्क्षामकण्ठा लोकैः हास्यमानाः ततः स्थानात् स्वदेशं गताः। अथ सुवर्णसिद्धिः आह-"यत्त्वं लोकव्यवहारम् अजानन् मया वार्य्यमाणोऽपि न स्थितः ततः ईदृशीमवस्थाम् उपगतः । अतोऽहं ब्रवीमि-

ऐसा कह उसका शिर काट लिया । तब वह पीछे फिर कर किसी ग्राममें पहुंचे । उन्हे ग्रामीण निमंत्रित कर पृथक् पृथक् अपने घर लेगये तब एकने सूत्रघृत खांडसे युक्त भोजनको दिया । तब विचार कर पंडितने कहा-"जो कि दीर्घसूत्री (आलसी) नष्ट होता है" । ऐसा कह भोजन त्याग कर गया । दूसरेने मण्ड (मिष्टान्न) दिया तब उसने कहा " अतिविस्तारसे विस्तीर्ण चिरायुके निमित्त नहीं होता है" । और वह भी भोजन त्याग कर चलागया । तीसरेने वटिका (पिट्टी) का भोजन दिया । वहां भी उस पंडितने कहा-"छिद्र युक्त (पिष्टक) में बहुत अनर्थ होते हैं" । इस प्रकार वे तीनों पंडित भूंखसे व्याकुल लोकोंसे हंसीको प्राप्त हुए अपने देशोंको प्राप्त हुए । तब सुवर्णसिद्धि बोला-"जो कि तू लोकव्यवहारको न जानकर मुझसे निवारण किया हुआ भी न स्थित हुआ इस कारण ऐसी दशाको प्राप्त हुआ । इससे मैं कहता हूं-

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥ ४३ ॥"

कि, शास्त्रमे कुशल भी लोकाचार न जाननेके कारण उन मूर्ख पंडितोकी समान वे सभी हास्यताको प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥"

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह-"अहो! अकारणमेतत।

यह सुनकर चक्रधर बोला-"अहो! यह तो अकारण है।

बहुबुद्धयो विनश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिताः।
स्वल्पबुद्धयोऽप्येकस्मिन् कुले नन्दन्ति सन्ततम् ॥ ४४ ॥

दुष्ट दैवसे नाशित होकर महाबुद्धिमान् भी नष्ट होते हैं और स्वल्पबुद्धिवाले भी एक कुलमे निरन्तर आनन्दको प्राप्त होते है ॥ ४४ ॥

उक्तञ्च-

कहा है कि-

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ ४५ ॥

नहीं रक्षित किया दैवसे रक्षित होकर स्थित रहता है, भली प्रकार रक्षा किया हुआभी दैवसे हत होनेके कारण नष्ट हो जाता है, वनमे विसर्जन किया अनाथ भी जीता है, और यत्न करनेपर घरमें भी नही जीता ॥ ४५ ॥

तथाच-

और देखो-

शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः।
एकबुद्धिरहं भद्रे क्रीडामि विमले जले ॥ ४६ ॥"

यह शतबुद्धि शिरपर है और यह सहस्रबुद्धि लटकता है हे भद्रे! मै एकबुद्धि हू जो उज्ज्वल जलमें क्रीडा करता हू ॥ ४६ ॥

सुवर्णद्धिः आह,-कथमेतत" स आह,-

सुवर्णसिद्धि बोला-"यह कैसे?" चक्रधर बोला-

कथा ६.

कस्मिंश्चित् जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिश्च द्वौ मत्स्यौ निवसतः स्म। अथ तयोः एकबुद्धिर्नाम मण्डूको मित्रतां गतः। एवं ते त्रयोऽपि जलतीरे कञ्चित् कालं वेलायां सुभाषितसुखम् अनुभूय भूयोपि सलिलं प्रविशन्ति। अथ कदाचित् तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्तधीवराः प्रभूतैः मत्स्यैः व्यापादितैः मस्तके विधृतैः अस्तमनवेलायां तस्मिन् जलाशये समायाताः। ततः सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः–"अहो! बहुमत्स्योऽयं ह्रदो दृश्यते स्वल्पसलिलश्च। तत्प्रभाते अत्र आगमिष्यामः"। एवमुक्त्वा स्वगृहं गताः। मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो। मन्त्रं चक्रुः ततो मण्डूक आह–"भोः! शतबुद्धे! श्रुतं धीवरोक्तं भवता? तत किमत्र युज्यते कर्त्तुम्? पलायनम् अवष्टम्भो वा? यत्कर्त्तुं युक्तं भवति तत् आदिश्यताम् अद्य?" तत् श्रुत्वा सहस्रबुद्धिः प्रहस्य आह,–"भो मित्र! मा भैषीर्यतो वचनस्मरणमात्रादेव भयं न कार्य्यम्। न भेतव्यम्। उक्तञ्च–

किसी सरोवरमें शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि नामके दो मच्छ रहते थे। उनका एकबुद्धिनाम मेडक मित्र होगया। इस प्रकार वे तीनों ही जलके किनारे किसी कालतक सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव कर फिरभी जलमें प्रवेश कर जाते। कभी गोष्ठीमें प्राप्त होनेपर जाल हाथमें लिये धीमर बहुतसी मच्छियोंको मारकर मस्तकपर धरे अस्तके समय उस सरोवरके निकट प्राप्त हुए। तब सरोवरको देख परस्पर कहने लगे–"अहो! यह ह्रद बहुत मछलियोंसे युक्त थोडे जलवाला है। सो प्रातःकाल यहां आवेंगे"। ऐसा कह अपने घर गये। तब मत्स्य व्याकुल हो परस्पर मंत्रणा करने लगे। तब मेडक बोला–"भो शतबुद्धि! सुना तुमने धीमरोंका वचन? सो अब क्या करना उचित है? पलायन करना वा गुप्त होकर यहां रहना?। जो करना उचित समझो वह अभी कहो!" यह सुन सहस्रबुद्धि हँसकर बोला,–"मित्र! डरो मत, वचनके स्मरण मात्रसेही भय न करना चाहिये, मत डरो। कहा है कि–

सर्पाणाञ्च खलानाञ्च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत् ॥ ४७ ॥

सर्प, खल, और सब प्रकारके दुष्टचित्तवाले पुरुषोंके अभिप्राय सिद्ध नहीं होते हैं इसीसे यह जगत् वर्तता है ॥ ४७ ॥

तत् तावत् तेषाम् आगमनमपि न सम्पत्स्यते, भविष्यति वा, तर्हि त्वां बुद्धिप्रभावेण आत्मसहितं रक्षयिष्यामि यतोऽनेकां सलिलगतिचर्य्याम् अहं जानामि"। तत् आकर्ण्य शतबुद्धिः आह,–"भो! युक्तमुक्तं भवता, सहस्रबुद्धिरेव भवान्। अथवा साधु इदमुच्यते–

सो पहले तो उनके आगमनकीभी सम्भावना नहीं। और होगा तो तुझे बुद्धिके प्रभावसे अपने सहित रक्षा करूगा। कारण अनेक जलकी गतियोंमें चलना मैं जानता हू" यह सुनकर शतबुद्धि बोला,–"भो! तुमने सत्य कहा। आप सहस्र बुद्धिही हो। अथवा यह अच्छा कहा है–

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं हि किंचन।
बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः ॥ ४८ ॥

बुद्धिमानोंकी बुद्धिके सन्मुख ससारमें कोई वस्तु अगम्य नहीं होती बुद्धिसेही चाणक्यने खड्गपाणि नन्दोंका वध किया ॥ ४८ ॥

तथाच–

और देखो–

न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनाञ्च विवस्वतः।
तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा ॥ ४९ ॥

जहा वायु और सूर्यकी किरणोंकी गति नहीं है वहाभी बुद्धिमानोकी बुद्धि सदा प्रवेश कर जाती है ॥ ४९ ॥

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्य्यायागतं जन्मस्थानं त्यक्तुं न शक्यते। उक्तंच–

सो वचनश्रवणमात्रसेही पिता आदिके क्रमसे प्राप्त हुई जन्मभूमि त्यागनेको समर्थ नहीं होना। कहा है कि–

न तत्स्वर्गेऽपि सौख्यं स्याद्दिव्यस्पर्शनशोभने ।
कुस्थानेऽपि भवेत्पुंसां जन्मनो यत्र सम्भवः ॥ ५० ॥

वह दिव्य स्पर्शसे शुभग स्वर्गमेभी सुख नहीं है जो सुख पुरुषोंको कुत्सित जन्मस्थानमें भी होता है ॥ ५० ॥

तन्न कदाचिदपि गन्तव्यम् । अहं त्वां सुबुद्धिप्रभावेण रक्षयिष्यामि" । मण्डूक आह,—"भद्रौ ! मम तावत् एका एव बुद्धिः पलायनपरा, तत् अहम् अन्यं जलाशयमद्यैव सभार्यो यास्यामि"। एवमुक्त्वा स मण्डूको रात्रौ एव अन्य-जलाशयं गतः। धीवरैः अपि प्रभाते आगत्य जघन्यमध्यमो-त्तमजलचरा मत्स्यकूर्ममण्डूककर्कटादयो गृहीताः तौ अपि शतबुद्धिसहस्रबुद्धी सभार्यौ पलायमानौ चिरम् आत्मानं गतिविशेषविज्ञानैः कुटिलचारेण रक्षन्तौ जाले पतितौ व्या-पादितौ च। अथ अपराह्णसमये प्रहृष्टास्ते धीवराः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः । गुरुत्वात् च एकेन शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः । सह-स्रबुद्धिः प्रलम्बमानो नीयते । ततश्च वापीकण्ठोपगतेन मंडू-केन तौ तथा नीयमानौ दृष्ट्वा अभिहिता स्वपत्नी—"प्रिये ! पश्य पश्य ।

सो किसी प्रकार डरना न चाहिये । मैं तुम्हारी अपनी बुद्धिके प्रभावसे रक्षा करूंगा"। मण्डूक बोला—"भद्रो! मेरी तो एकही बुद्धि पलायनमें है, सो मैं तो दूसरे जलाशयको अभी भार्याके सहित जाता हू, ऐसा कहकर वह मण्डूक रात्रिमेंही दूसरे जलाशयको चलागया । धीमरोंनेभी प्रातःकाल आकर निकृष्ट, मध्यम,उत्तम जलचर मत्स्य,कछुए,मेंडक, केंकडे आदि पकडे यह दोनोंभी शत-बुद्धि सहस्रबुद्धि भार्यासहित भागतेहुए वहुत समयतक अपनेको गतिविशेषके विज्ञान और कुटिलाचरणसे रक्षा करतेहुए अन्तमें जालमें पडकर मारेगये । तब तीसरे प्रहरके समय प्रसन्न हुए वे धीमर अपने घरकी ओर चले । भारी होनेसे एकने शतबुद्धिको कंधेपर धरा, सहस्रबुद्धिकोभी लटकाकर लेचले । तब वाव-डीके समीप प्राप्तहुए मण्डूकने उनको इस प्रकार लेजाते देख अपनी स्त्रीसे कहा—"प्रिये ! देखो देखो !

शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः।
एकबुद्धिरहं भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥ ५१ ॥"

यह शतबुद्धि शिरपर है और यह सहस्रबुद्धि लटकता है हे भद्रे ! मैं एकबुद्धि निर्मल जलमें क्रीडा करता हूं ॥ ५१ ॥"

अतोऽहं ब्रवीमि-"न एकान्ते बुद्धिरपि प्रमाणम्"। सुवर्णसिद्धिः आह-"यद्यपि एतदस्ति तथापि मित्रवचनम् अनुल्लंघनीयम्। परं किं क्रियते। निवारितोऽपि मया न स्थितोऽतिलौल्यात् विद्याहंकाराच्च। अथवा साधु इदमुच्यते,-

इससे मैं कहता हूं-"निरी बुद्धिकाही प्रमाण नहीं है" सुवर्णसिद्धि बोला-"यद्यपि ऐसा है तथापि मित्रके वचन उल्लंघन करने नहीं चाहिये परन्तु क्या कियाजाय, मेरे निवारण करनेपरभी तो चञ्चलतासे न ठहरे तथा विद्याका अहंकार किया। अथवा यह अच्छा कहा है-

साधु मातुल गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम् ॥ ५२ ॥"

धन्य मामा ! धन्य ! मेरे कहनेपरभी गीतप्रिय होनेके कारण आप स्थित न हुए तिससे यह अपूर्व मणि बांधकर गीतका पुरस्कार प्राप्त किया ॥ ५२ ॥"

चक्रधरः प्राह,-"कथमेतत ?" सोऽब्रवीत-

चक्रधर बोला-"यह कैसे ?" सुवर्णसिद्धि बोला-

कथा ७.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने उद्धतो नाम गर्दभः प्रतिवसतिस्म। स सदैव रजकगृहे भारोद्वहनं कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया पर्य्यटति। ततः प्रत्यूषे बन्धनभयात् स्वयमेव रजकगृहम् आयाति। रजकोऽपि ततस्तं बन्धने न नियुनक्ति। अथ तस्य रात्रौ पर्य्यटतः क्षेत्राणि कदाचित् शृगालेन सह मैत्री सञ्जाता। स च पीवरत्वात् वृतिभंगं कृत्वा कर्कटिकाक्षेत्रे शृगालसहितः प्रविशति। एवं तौ यदृच्छया चिर्भटिकाभक्षणं कृत्वा प्रत्यहं प्रत्यूषे स्वस्थानं व्रजतः। अथ कदाचित तेन मदोद्धतेन रासभेन क्षेत्रमध्यस्थितेन शृगालोऽभिहितः-

"भो भगिनीसुत ! पश्य पश्य, अतीव निर्मला रजनी । तदहं गीतं करिष्यामि । तत कथय कतमेन रागेण करोमि ?" स आह,—"माम! किमनेन वृथा अनर्थप्रचालनेन यतः चौरकर्म-प्रवृत्तौ आवां निभृतैश्च चौरजारैः अत्र स्थातव्यम् । उक्तञ्च–

किसी स्थानमें उद्धत नाम गधा रहता था । वह सदा धोबीके घरमें बोझ उठाकर रात्रीको स्वेच्छासे पर्यटन करता । और प्रातःकालही बन्धनके भयसे स्वयं ही धोबीके घर आजाता । रजक भी उसको बन्धनमें न नियुक्त करता । तब उसके रात्रिमें घूमतेहुए क्षेत्रोंमें शृगालके साथ एक समय उसकी मित्रता होगई । वह पुष्ट होनेसे बाड़ तोड़कर ककडीके खेतमें शृगालसहित घुस जाता । इस प्रकार वे यथेच्छ ककडी भक्षण करते प्रतिदिन प्रातःकाल अपने स्थानको जाते । तब कभी उस मदोद्धत गधेने क्षेत्रके मध्यस्थित हो शृगालसे कहा—"भो भानूजे ! देख २ बडी निर्मल रात्रि है । सो मैं गीत करता हूं । सो कह कौनसे राग (स्वर) से गाऊं ?" । वह बोला,—"मामा ! इन अनर्थके व्यापारसे क्या है ? क्यों कि चोरकर्ममें प्रवृत्त हुए हम दोनो हैं । इस संसारमें चोर जारोंको मौन रहना चाहिये । कहा है–

कासयुक्तस्त्यजेच्चौर्यं निद्रालुश्चेत्स चौरिकाम् ।
जिह्वालौल्यं रुजाक्रान्तो जीवितं योऽत्र वाञ्छति ॥५३॥

खांसीवाला चोरी न करे, बहुत सोनेवाला चोरीकी वृत्तिको त्यागन करे, रोगी जिह्वाका स्वाद त्यागदे, जो जीवनकी इच्छा करे तो ॥ ५३ ॥

अपरं त्वदीयं गीतं न मधुरस्वरं शंखशब्दानुकारं दूरादपि श्रूयते । तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सन्ति । ते उत्थाय वधं बन्धं वा करिष्यन्ति । तद्भक्षय तावत् अमृतमयाः चिर्भटीः । मा त्वम् अत्र गीतव्यापारपरो भव" । तत् श्रुत्वा रासभ आह,—"भो ! वनाश्रयत्वात् त्वं गीतरसं न वेत्सि । तेन एतद्ब्रवीषि । उक्तञ्च–

फिर तेरा गीतभी मधुर स्वरका नहीं है शंखके शब्दकी समान दूरसे भी सुना जाता है । और इस खेतमें रक्षा पुरुष हैं । वे उठकर वध वा बंधन करेंगे सो अमृतमय ककडी खाओ । इस समय तुम गीतका व्यापार मतकरो" । यह सुनकर गधा बोला,—"भो ! वनवासी होनेसे तू गीतरसको नहीं जानता है इससे ऐसा कहता है । कहा है–

शरज्ज्योत्स्नाहते दूरं तमसि प्रियसन्निधौ।
धन्यानां विशति श्रोत्रे गीतझंकारजा सुधा॥ ९४॥"

शरदमें चन्द्रकिरणद्वारा अंधकार दूर (नाश) करनेपर प्रिय जनोंके निकट बडभागी पुरुषोंके कानमें गीतके झंकारसे उत्पन्न हुई सुधा प्राप्त होती है॥ ९४॥"

शृगाल आह-"माम! अस्ति एतत्, परं न वेत्सि त्वं गीतं केवलम् उन्नदसि। तत् किं तेन स्वार्थभ्रंशकेन?" रासभ आह,-"धिक् धिक् मूर्ख! किमहं न जानामि गीतम्? तद्यथा तस्य भेदान् शृणु-

शृगाल बोला,-"मामा! है तो ऐसाही परन्तु तुम गीत नहीं जानते केवल कुत्सित शब्द करते हो, सो उस स्वार्थनाशक (गीत) से क्या है"। रासभ बोला-"धिक्! धिक् मूर्ख! क्या मैं गीत नहीं जानता सो उसके भेद सुन-

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशतिः।
तालास्त्वेकोनपञ्चाशत्तिस्रो मात्रा लयास्त्रयः॥ ९५॥

सात स्वर (निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, पंचम), तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, आरोह अवरोहक स्वर, उनचाश ताल, तीन मात्रा, तीन लय॥ ९५॥

स्थानत्रयं यतीनाञ्च षडास्यानि रसा नव।
रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत्ततः स्मृताः॥ ५६॥

यतियोंके तीन विराम स्थान, छः मुख, नौ (शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक) रस, छत्तीस राग, ४० चालीस भाव॥ ९६॥

पञ्चाशीत्यधिकं ह्येतद्गीताङ्गानां शतं स्मृतम्।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं भरतेन श्रुतेः परम्॥ ९७॥

यह एकसो पचासी गीतोंके अंग श्रुति पर भरत मुनिने स्वयं कहे हैं॥९७॥

नान्यद्गीतात्प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते।
शुष्कस्नायुस्वराह्लादात्त्र्यक्षं जग्राह रावणः॥ ९८॥

गीतसे अधिक लोकमें प्रिय और कुछ नहीं है तप करनेसे शुष्क इन्द्रिय शिरा युक्त होकरभी स्वरसे ही रावणने शिवजीको वशीभूत कियाथा॥ ९८॥

तत् कथं भगिनीसुत ! माम् अनभिज्ञं वदन् निवारयसि ?" । शृगाल आह,-"माम ! यदि एवं तदहं तावद् वृतेः द्वारस्थितः क्षेत्रपालम् अवलोकयामि । त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु" । तथा अनुष्ठिते रासभरटनम् आकर्ण्य क्षेत्रपः क्रोधात् दन्तान् घर्षयन् प्रधावितः । यावत् रासभो दृष्टः तावत् लगुडप्रहारैः तथा हतो, यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतितः । ततश्च सच्छिद्रम् उलूखलं गले बद्ध्वा क्षेत्रपालः प्रसुप्तः । रासभोऽपि स्वजातिस्वभावात् गतवेदनः क्षणेन अभ्युत्थितः ।

हे भान्जे ! सो तू मुझे अनभिज्ञ किस प्रकार कहकर निवारण करता है" । शृगाल बोला,-"जो ऐसा है तो मैं वृतिके द्वारपर स्थित हुआ क्षेत्रपालको अवलोकन करूं । तू अपनी इच्छासे गीतका गान कर" । ऐसा करनेपर गधेका शब्द सुनकर क्षेत्रपाल क्रोधसे दांत पीसता धावमान हुआ और गधेको देखते ही इस प्रकार लगुड प्रहारसे ताडन किया कि वह ताडित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा । तब सछिद्र उलूखलको उसके गलेमें बांधकर क्षेत्रपाल सो गया । और गधाभी जातिस्वभावसे वेदना रहित हो क्षणमात्रमें उठ बैठा ।

उक्तञ्च-
कहा है-

"सारमेयस्य चाश्वस्य रासभस्य विशेषतः ।
मुहूर्तात्परतो न स्यात्प्रहारजनिता व्यथा ॥ ५९ ॥"

"कि कुत्ता घोडा और विशेष कर गधा एक मुहूर्तसे पीछे इनको प्रहारकी व्यथा नहीं होती है ॥ ५९ ॥"

ततः तदेव उलूखलम् आदाय वृतिं चूर्णयित्वा पलायितुम् आरब्धः । अत्रान्तरे शृगालोऽपि दूरादेव तं दृष्ट्वा सस्मितम् आह-

इस कारण उसी उलूखलको लेकर उस वाडको तोड भागने लगा । इसी समय शृगालभी दूरसे उसे देख हँसता हुआ बोला,-

"साधु मातुल गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।
अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम् ॥ ६० ॥"

"धन्य मामा ! मेरे कहे हुए गीतसेभी आप यथेष्ट स्थित न हुए यह अपूर्व मणि बांध ली भला गीतका लक्षण प्राप्त हुआ ॥ ६० ॥"

तद्भवानपि मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः "। तत श्रुत्वा चक्रधर आह,–"भो मित्र ! सत्यमेतत् । अथवा साधु इदमुच्यते–

इसी कारण तुमभी मेरे निवारण करनेसे स्थित न हुए"। यह सुन चक्रधर बोला,–"भो मित्र ! यह सत्य है । अथवा यह अच्छा कहा है–

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः ।
स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ६१ ॥"

जिसको स्वय बुद्धि नहीं और मित्रका कहा नहीं करता है वह मन्थर कौलिकको समान निधनको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥"

सुवर्णसिद्धिः आह–"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्–

सुवर्णसिद्धि बोला–"यह कैसे ?" वह बोला–

कथा ८.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसति स्म, तस्य कदाचित् पट्टकर्माणि कुर्वतः सर्वपट्टकर्मकाष्ठानि भग्नानि । ततः स कुठारम् आदाय वने काष्ठार्थं गतः । स च समुद्रतटं यावत् भ्रमन् प्रयातः, ततश्च तत्र शिंशपापादपस्तेन दृष्टः। ततः चिन्तितवान् "महान् अयं वृक्षो दृश्यते । तदनेन कर्त्तितेन प्रभूतानि पट्टकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति"। इति अवधार्य्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान् । अथ तत्र वृक्षे कश्चित् व्यन्तरः समाश्रित आसीत् । अथ तेन अभिहितं–"भो ! मदाश्रयोऽयं पादपः, सर्वथा रक्षणीयो, यतोऽहम् अत्र महासौख्येन तिष्ठामि समुद्रकल्लोलस्पर्शनात शीतवायुना आप्यायितः"। कौलिक आह–"भोः ! किमहं करोमि, दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बं बुभुक्षया पीड्यते । तस्मात् अन्यत्र शीघ्रं गम्यताम् । अहम् एनं कर्त्तयिष्यामि"। व्यन्तर आह–"भोः ! तुष्टः तव अहम् । तत् प्रार्थ्यताम् अ-

भीष्टं किञ्चित् । रक्षैनं पादपम्" इति । कौलिक आह-"यदि एवं तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं स्वभार्यांश्च पृष्ट्वा आगमिष्यामि । ततः त्वया देयम्" । अथ "तथा" इति प्रतिज्ञाते व्यन्तरेण स कौलिकः प्रहृष्टः स्वगृहं प्रति निवृत्तः । यावत अग्रे गच्छति तावत् ग्रामप्रवेशे निजसुहृदं नापितम अपश्यत्। ततस्तस्य व्यन्तरवाक्य निवेदयामास । "यदहो मित्र ! मम कश्चित व्यन्तरः सिद्धः तत्कथय किं प्रार्थये ? । अहं त्वां प्रष्टुम आगतः" । नापित आह-"भद्र ! यदि एवं तत् राज्यं प्रार्थय येन त्वं राजा भवसि अहं त्वन्मन्त्री च । द्वौ अपि इह सुखमनुभूय परलोकसुखम् अनुभवावः । उक्तञ्च-

किसी स्थानमें मन्थरक नाम कौलिक रहता था । किसी समय वस्त्र कार्य करते हुए उसके संपूर्ण कपडे बुनके कर्मकाष्ट (तुरीवेमादि) भग्न होगये । तब वह कुल्हाडी लेकर वनमे काठके निमित्त गया । वह जवतक घूमता समुद्रके किनारे गया, तब वहां उसने सीसोंका एक वृक्ष देखा । तब विचारने लगा । "यह वडा वृक्ष दीखता है । सो इसके काटनेसे अनेक पट्ट निर्माणकी वस्तु हो जायगी ऐसा विचार उसपर कुठाराघात किया । उस वृक्षमें कोई व्यन्तर (पक्षी विशेष) रहता था । उसने कहा-"भो ! यह वृक्ष मेरे रहनेका स्थान है । सब प्रकार रक्षा करना चाहिये । क्योंकि मै यहां महासुखसे रहता हूं, समुद्रकी लहरोंके स्पर्शसे शीत वायुसे प्रसन्न हुआ रहता हूं" । कौलिकने कहा-"भो ! मैं क्या करूं ? काठके विना मेरा कुटुम्ब भूखसे पीडित है । इस कारण शीघ्र और स्थानमें जाओ । मैं इसे काटूंगा" । व्यतर बोला,-"भो ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हू, सो कुछ अभीष्ट वर मांगो । इस वृक्षको रहने दो" । कौलिक बोला "जो ऐसा है तो मैं अपने घर जाकर अपनी मित्र भार्यासे पूछ आऊं तब तुम देना" । तब "वहुत अच्छा" यह व्यन्तरसे प्रतिज्ञा करके वह कौलिक प्रसन्न हो अपने घरकी ओर चला । जबतक आगे जाता है तवतक ग्राममें प्रवेशकर निजमित्र नाईको देखा । तब उसने उससे व्यन्तरका वाक्य निवेदन किया । कि,-"अहो मित्र ! मुझे व्यन्तर सिद्ध है कहो क्या मांगू ? । मै तुझसे पूछनेको आया हूं" । नाई बोला,-"भद्र ! जो ऐसा है तो राज्यकी प्रार्थना कर। जिससे तू राजा हो और मैं तेरा मन्त्री, दोनोंही यहां सुख अनुभवकर परलोकका सुख प्राप्त करें कहा है-

राजा दानपरो नित्यमिह कीर्तिमवाप्य च।
तत्प्रभ वात्पुनः स्वर्गे स्पर्द्धते त्रिदशैः सह ॥ ६२ ॥

नित्य दान करनेवाला राजा इस लोकमे कीर्तिको प्राप्त होकर उसके प्रभावसे फिर स्वर्गमे देवताओंसे स्पृहा किया जाता है ॥ ६२ ॥

कौलिक आह–'अस्ति एतत्परं तथापि गृहिणीं पृच्छामि"। स आह–"भद्र! शास्त्रविरुद्धमेतत् यत् स्त्रिया सह मन्त्रः, यतस्ताः स्वल्पमतयो भवन्ति, उक्तञ्च–

कौलिक बोला–"है तो योही परन्तु अपनी स्त्रीसे पूछू" । वह बोला,–'भद्र! यह शास्त्रके विरुद्ध है जो कि स्त्रीसे सम्मति करनी कारण कि, वह स्वल्प बुद्धिवाली होती हैं। कहा है–

भोजनाच्छादने दद्यादृतुकाले च सङ्गमम्।
भूषणाद्यञ्च नारीणां न ताभिर्मन्त्रयेत्सुधीः ॥ ६३ ॥

उनको भोजन आच्छादन दे ऋतुकालमे सगम करे तथा उनको भूषण देदे परन्तु उनके साथ सम्मति न करे ॥ ६३ ॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्राप्रशासिताः।
तद्गृहं क्षयमायाति भार्गवो ह्रीदमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

जहा स्त्री अप्रशासित (अशिक्षित) है जहा दुर्जन और बालकको शासना नहीं वह घर क्षय होजाता है, ऐसा भार्गव ऋषिनें कहा है ॥ ६४ ॥

तावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावद्गुरुजने रतिः।
पुरुषो योषितां यावन्न शृणोति वचो रहः ॥ ६५ ॥

जबतक यह एकान्तमे स्त्रीजनोंके वचन नही सुनता है तभीतक इसकी गुरुजनोंमें रति है तभीतक प्रसन्न मुख है ॥ ६५ ॥

एताः स्वार्थपरा नार्य्यः केवलं स्वसुखे रताः।
न तासां वल्लभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६६ ॥"

यह स्वार्थमें तत्पर स्त्री केवल अपने सुखमेंही रत रहती हैं अपने सुखके विना उनको कोई प्यारा नहीं बहुत क्या पुत्रभी नही ॥ ६६ ॥"

कौलिक आह,–"तथापि प्रष्टव्या सा मया, यतः पतिव्रता सा। अपरं ताम् अपृष्ट्वा अहं न किञ्चित्करोमि। एवं तमभिधाय सत्वरं गत्वा तां उवाच,–"प्रिये! अद्य अस्माकं

कश्चित् व्यन्तरः सिद्धः, स वाञ्छितं प्रयच्छति, तदहं त्वां प्रष्टुम् आगतः । तत्कथय किं प्रार्थये ? एष तावत् मम मित्रं नापितो वदति एवं यत् राज्यं प्रार्थयस्व" । सा आह,–"आर्य्य पुत्र ! का मतिर्नापितानाम् । तत न कार्य्यं तद्वचः । उक्तञ्च–

कौलिक बोला,–"तौभी उससे पूंछना चाहिये । कारण कि वह पतिव्रता है । और उसके विना पूछे मैं कुछभी नहीं करता । ऐसा उससे कह शीघ्र जाकर उससे बोला,–"प्रिये ! हमको आज कोई व्यन्तर सिद्ध हुआ है वह मनोवांछित देता है सो मैं तुमको पूछनेको आया हूं । सो कह क्या मांगूं ? । और यह मेरा मित्र नाई तो कहता है कि राज्यकी प्रार्थना करो" । वह बोली–"स्वामिन् नाईयोंको क्या बुद्धि होती है । सो उसके वचन न करना । कहा है कि–

चारणैर्बन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि ।
न मन्त्रं मतिमान्कुर्य्यात्सार्द्धं भिक्षुभिरेव च ॥ ६७ ॥

चारण, बन्दीजन, नीच, नापित और बालकों भिक्षुकोंके साथ बुद्धिमान् सम्मति न करे ॥ ६७ ॥

अपरं महती क्लेशपरम्परा एषा राज्यस्थितिः सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावादिभिः कदाचित् पुरुषस्य सुखं न प्रयच्छतीति । यतः–

और यह राज्यकी स्थिति तो वडे क्लेशकी करनेवाली है । संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधभावादिसे कभी पुरुषको सुख नहीं मिलता । कारण कि–

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः ।
घटा नृपाणामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ६८॥

जभी राज्य अभिषेक किया जाता है उसी समय व्यवसनोंमें बुद्धि लग जाती है राजोंके अभिषेक समयमें घडे जलोंके साथ आपत्तिको उद्गीर्ण करते हैं ॥ ६८ ॥

तथाच–
और देखो–

रामस्य व्रजनं वने निवसनं पण्डोः सुतानां वने
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।

सौदासं तदवस्थमर्जुनवधं सञ्चिन्त्य लंकेश्वरं
दृष्ट्वा राज्यकृते विडम्बनगतं तस्मान्न तद्वाञ्छयेत् ॥ ६९ ॥

रामचन्द्रको वनमें जाना, पण्डुपुत्रोंका वनगमन, वृष्णिवंशियोका निधन, नलराजाका राज्यसे भ्रष्ट होना, सौदास राजाका गुरु शापसे राक्षस होना, कार्तवीर्य अर्जुन और रावणका वध विचार राज्यके निमित्त अनेक विडम्बना देखकर राज्यकी वाञ्छा न करे ॥ ६९ ॥

यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजाः।
वधं राज्यकृतां राज्ञां तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ॥ ७० ॥"

जो अपने भाई पुत्र हैं वेभी जिस राज्यके निमित्त राजाके वधकी इच्छा करते हैं इस कारण दूरसेही राज्यको त्यागे ॥ ७० ॥"

कौलिक आह,–"सत्यमुक्तं भवत्या। तत् कथय किं प्रार्थये?" सा आह,–"त्वं तावदेकं पटं नित्यमेव निष्पादयसि, तेन सर्वा व्ययसिद्धिः सम्पद्यते। इदानीं त्वं आत्मनोऽन्यत् बाहुयुगलं द्वितीयं शिरश्च याचस्व, येन पटद्वयं सम्पादयसि पुरतः पृष्ठतश्च, एकस्य मूल्येन गृहे यथापूर्वं व्ययं सम्पादयिष्यसि। द्वितीयस्य मूल्येन विशेषकृत्यानि करिष्यसि। एवं सौख्येन स्वजातिमध्ये श्लाघमानस्य कालो यास्यति। लोकद्वयस्य उपार्जना च भविष्यति" सोऽपि तदाकर्ण्य प्रहृष्टः प्राह,–"साधु पतिव्रते! साधु, युक्तमुक्तं भवत्या; तदेवं करिष्यामि, एष मे निश्चयः"। ततोऽसौ गत्वा व्यन्तरं प्रार्थयाञ्चक्रे,–"भो! यदि मम ईप्सितं प्रयच्छसि तत् देहि मे द्वितीयं बाहुयुगलं शिरश्च"। एवम् अभिहिते तत्क्षणादेव द्विशिराः चतुर्बाहुश्च सञ्जातः। ततो हृष्टमना यावत् गृहम् आगच्छति, तावत् लोकैः राक्षसोऽयमिति मन्यमानैः लगुडपाषाणप्रहारैः ताडितो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि–

कौलिक बोला–"तैने सत्य कहा, सो बता कि क्या मांगू?" वह बोली–"तुम एक पट प्रतिदिन बुन लेतेहो उससे सब खर्च भली प्रकार चलता है; इस

समय तुम अपनी दो भुजा और एक शिर मांग लो जिससे आगे पीछे दो कपडे बुन सकोगे एकके मूल्यसे तो यथापूर्व घरका खर्च चलैगा । और दूसरेके मूल्यसे विशेष कार्य होंगे, इस प्रकार सुखपूर्वक अपनी जातिके मध्यमें श्लाघित हो समय बीतैगा, और दोनो लोककी प्राप्ति होगी" । वहभी यह सुन प्रसन्न हो बोला—"धन्य पतिव्रता धन्य ! तैने अच्छा कहा । वही करूंगा जो तेरा निश्चय है" । वहभी यह सुनकर व्यन्तरसे मांगता हुआ,—"भो यदि मुझको यथेच्छ वर देता है तो दो भुजा और एक शिर पीछे करदो" । ऐसा कहतेही वह उसी समय दो शिर और चार भुजावाला होगया, सो प्रसन्न होकर जब घर आने लगा तबतक मनुष्योंने राक्षस है यह ऐसा मानकर लकडी पाषाणोके प्रहारसे ताडित किया जिससे वह मरगया । इससे मैं कहता हूं—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः ।
स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ७१ ॥"

जिसको स्वयं प्रज्ञा नहीं और मित्रका कहना भी नहीं मानता वह मन्थर कौलिककी समान नष्ट होता है ॥ ७१ ॥"

चक्रधरः आह,—"भोः ! सत्यमेतत् । सर्वोऽपि जनोश्रद्धेयामाशापिशाचिकां प्राप्य हास्यपदवीं याति । अथवा साधु इदमुच्यते, केनापि—

चक्रधर बोला—"भो ! यह सत्य है सबही मनुष्य श्रद्धाके अयोग्य आशारूपी पिशाचिनीको प्राप्त होकर हास्य पदवीको प्राप्त होते हैं, यह किसीने अच्छा कहा है—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः ।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ७२ ॥"

जो होनेके अयोग्य नहीं आई हुईभी चिन्ताको करता है वह सोमशर्माके पिताके समान पाण्डुर होकर शयन करता है ॥ ७२ ॥"

सुवर्णसिद्धिः आह,—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि बोला,—"यह कैसे ?" वह बोला—

कथा ९.

कस्मिंश्चित् नगरे कश्चित् स्वभावकृपणो नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म, तेन भिक्षार्जितैः सक्तुभिः भुक्तशेषैः कलशः

सम्पूरितः। तञ्च घटं नागदन्ते अवलम्ब्य तस्य अधस्तात् खट्वां निधाय सततम् एकदृष्ट्या तम् अवलोकयति। अथ कदाचित् रात्रौ सुप्तः चिन्तयामास, "यत् परिपूर्णोऽयं घटस्तावत् सक्तुभिः वर्त्तते। तद् यदि दुर्भिक्षं भवति तत् अनेन रूपकाणां शतमुत्पद्यते। ततस्तेन मया अजाद्वयं ग्रहीतव्यम्। ततः षाण्मासिकप्रसववशात् ताभ्यां यूथं भविष्यति। ततोऽजाभिः प्रभूता गा ग्रहीष्यामि, गोभिः महिषीर्महिषीभिः वडवा वडवाप्रसवतः प्रभूता अश्वा भविष्यन्ति, तेषां विक्रयात् प्रभूतं सुवर्णं भविष्यति, सुवर्णेन चतुःशालं गृहं सम्पद्यते। ततः कश्चिद् ब्राह्मणो मम गृहम् आगत्य प्राप्तवयस्कां रूपाढ्यां कन्यां दास्यति, तत्सकाशात् पुत्रो मे भविष्यति, तस्य अहं सोमशर्मेति नाम करिष्यामि। ततः तस्मिन् जानुचलनयोग्ये सञ्जातेऽहं पुस्तकं गृहीत्वा अश्वशालायाः पृष्ठदेशे उपविष्टः तदवधारयिष्यामि। अत्रान्तरे सोमशर्मा मां दृष्ट्वा जनन्युत्सङ्गात् जानुप्रचलनपरोऽश्वखुरासन्नवर्त्ती मत्समीपम् आगमिष्यति। ततोऽहं ब्राह्मणीं कोपाविष्टोऽभिधास्यामि, गृहाण तावत् बालकम्। सापि गृहकर्मव्यग्रतया अस्मत् वचनं न श्रोष्यति, ततोऽहं समुत्थाय तां पादप्रहारेण ताडयिष्यामि"। एवं तेन ध्यानस्थितेन तथा एव पादप्रहारो दत्तो, यथा स घटो भग्नः। सक्तुभिः पाण्डुरतां गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—

किसीएक नगरमें स्वभावसे कृपण नाम ब्राह्मण रहता था उसने भिक्षासे पाये खानेसे बचे सत्तुओंसे एक बड़ा पूर्ण किया। उस घड़ेको खूंटीपर लटकाकर उसके नीचे खाट बिछाये निरन्तर एक दृष्टीसे उसे देखता रहता तब किसी समय शयन करते रात्रिमें विचारने लगा। कि, यह घड़ा भरा दीखता है। सो यदि दुर्भिक्ष पड़जाय तौ यह सौ रुपयेको बिकै। तो उनकी मैं दो बकरी मोल लूं। फिर छः महीनेके प्रसव वशसे उनका यूथ होजायगा तो बकरीयोंसे फिर बहुतसी गौ ग्रहण करूंगा। गौओंसे भैंस, भैंससे घोडी घोडीसे बहुतसे घोडे

उत्पन्न होंगे उनके बेचनेसे बहुतसा सोना प्राप्त होगा, उससे चतुःशाला घर बनाऊंगा तब कोई ब्राह्मण मेरे घरमें आकर वयस युक्त मनोहर कन्या देगा । उसके द्वारा मेरे पुत्र होगा । उसका मैं सोमशर्मा नामकरण करूंगा । फिर उसके जांघोंसे चलने योग्य होनेमें पुस्तक ग्रहणकर अश्वशालाके पीछे बैठा हुआ उसका ध्यान करूंगा । इसी समय सोमशर्मा मुझे देखकर, माताकी गोदसे घुटनोंसे चलता हुआ घोडेके खुरके समीपवर्ती होकर मेरे निकट आवेगा । तब मैं ब्राह्मणीसे क्रोध कर कहूंगा । बालकको ग्रहणकर । वहभी घरके कार्यमे व्यग्र हुई मेरा वचन न सुनेगीतो मैं उठकर उसे पाद प्रहारसे ताडन करूंगा"। इस प्रकारसे ध्यानमे स्थित हुए उसने ज्योंही लात मारी त्योंही वह घडा टूटा और सत्तुओंके बिखरने से श्वेतताको प्राप्त हुआ । इससे मैं कहता हूं—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः ।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ७३ ॥"

जो नहीं आई हुई और असम्भाव्य चिन्ताको करता है वह सोमशर्मा ब्राह्मणके पिताकी समान श्वेत हो सोता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णसिद्धिः आह—"एवमेतत् । कस्ते दोषो ? यतः सर्वोऽपि लोभेन विडंबितो बाध्यते । उक्तञ्च—

सुवर्णसिद्धिने कहा—"ऐसेही है तेरा दोष क्या है ? सब लोभसे वंचितहो पीडित होतेहैं । कहा है—

यो लौल्यात्कुरुते कर्म नैवोदर्कमवेक्षते ।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः ॥ ७४ ॥"

जो चपलतासे कर्म करता है और उसका परिणाम नहीं सोचता है वह चन्द्रराजाकी समान विडम्बनाको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥"

चक्रधर आह,—"कथमेतत ?" आह ।

चक्रधर बोला—"यह कैसे ?" वह बोला—

कथा १०.

कस्मिंश्चित् नगरे चन्द्रो नाम भूपतिः प्रतिवसति स्म, तस्य पुत्रा वानरक्रीडारता वानरयूथं नित्यमेव अनेकभोजन-

भक्ष्यादिभिः पुष्टिं नयन्ति स्म । अथ वानरयूथाधिपो यः स औशनसबार्हस्पत्यचाणक्यमतवित्तदनुष्ठाता च तान् सर्वानपि अध्यापयति स्म । अथ तस्मिन् राजगृहे लघुकुमारवाहनयोग्यं मेषयूथमस्ति, तन्मध्यात् एको जिह्वालौल्यात् अहर्निशं निःशंकं महानसे प्रविश्य यत् पश्यति तत्सर्वं भक्षयति ते च सूपकारा यत्किञ्चित् काष्ठं मृण्मयं भाजनं कांस्यपात्रं ताम्रपात्रं वा पश्यंति तेनाशु ताडयंति सोऽपि वानरयूथपः तद्दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्,–"अहो मेषसूपकारकलहोऽयं वानराणां क्षयाय भविष्यति यतोऽन्नास्वादलम्पटायं मेषो महाकोपाश्च सूपकारा यथासन्नवस्तुना प्रहरन्ति । तद् यदि वस्तुनोऽभावात् कदाचित् उल्मुकेन ताडयिष्यन्ति तदा ऊर्णाप्रचुरोऽयं मेषः स्वल्पेनापि वह्निना प्रज्वलिष्यति । तत् दह्यमानः पुनः अश्वकुट्यां समीपवर्त्तिन्यां प्रवेक्ष्यति, सापि तृणप्राचुर्यात् ज्वलिष्यति । ततोऽश्वा वह्निदाहम् अवाप्स्यन्ति । शालिहोत्रेण पुनः एतदुक्तम्, यत् वानरवसया अश्वानां वह्निदाहदोषः प्रशाम्यति तत् नूनम् एतेन भाव्यम् अत्र निश्चयः । एवं निश्चित्य सर्वान् वानरान् आहूय रहसि प्रोवाच–"यत् ।

किसी नगरमें चन्द्रनाम राजा रहता था । उसके पुत्र सदा वानरोंसे खेल करते । वानरयूथ नित्यही अनेक भोजन भक्ष्यादिसे पुष्ट किये जाते । तब वानरयूथका अधिपति जो था वह भार्गव बृहस्पति चाणक्यका मत जाननेवाला तथा अनुष्ठान करनेवाला उन सबको अध्ययन कराता, उस राजघरमे लघु कुमारके वाहन योग्य मेषोंका यूथ था, उनके बीचमे एक मेष जिव्हाकी चञ्चलतासे रातदिन निर्भय रसोईमे प्रवेशकर जो देखता वह सब खाजाता । वे रसोई करनेवाले जो कुछ काष्ठ सुवर्णमय कासी वा तांबेका पात्र जो पाते उससे शीघ्र उसको ताडन करते । वहभी वानर यूथ यह देखकर विचारने लगा । "अहो यह मेष और सूपकारोंका क्लेश वानरोंके क्षयके निमित्त होगा । जो कि अन्नके स्वादमें लम्पट यह मेष है और महाक्रोधी यह रसोइये निकट रक्खीहुई वस्तुसे प्रहार करते हैं । सो यदि वस्तुके

अभावसे कभी जलती लकडीसे ताडन किया तो तौ बहुत ऊनवाला यह मेष स्वल्प अग्निसेभी जल जायगा । सो यह जलता हुआ समीपवर्ती अश्वशालामें प्रवेश करेगा । वहभी तृणके अधिक होनेसे प्रज्वलित हो जायगी । तब घोडे अग्निसे जल जांयगे । अश्वशास्त्रके ज्ञाताने कहाहै वानरोंकी चरबीसे घोडोंका अग्निदोष शान्त होताहै । सो अवश्यही यह होगा निश्चयहै । ऐसा निश्चयकर सब वानरोंको बुलाकर एकान्तमें बोला । कि-

मेषेण सूपकाराणां कलहो यत्र जायते ।
स भविष्यत्यसन्दिग्धं वानराणां क्षयावहः ॥ ७५ ॥

जहां मेषके साथ सूपकारोंका क्लेश होताहै वह अवश्य वानरोंके क्षयके निमित्त होताहै ॥ ७५ ॥

तस्मात्स्यात्कलहो यत्र गृहे नित्यमकारणः ।
तद्गृहं जीवितं वाञ्छन्दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७६ ॥

इस कारण जहां घरमें नित्य अकारण क्लेश होतारहे, जीनेकी इच्छा करनेवाला दूरसेही उस घरको त्यागन करदे ॥ ७६ ॥

तथाच-

और देखो-

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तश्च सौहृदम् ।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्तं यशो नृणाम् ॥ ७७ ॥

कलहसे स्थान नष्ट होजातेहैं, कुवाक्यसे मित्रता नष्ट होजातीहै, कुराजासे देश नष्ट होजाते हैं, कुकर्मोंसे मनुष्योंके यश नष्ट होजातेहैं ॥ ७७ ॥

तन्न यावत् सर्वेषां संक्षयो भवति तावदेतत् राजगृहं सन्त्यज्य वनं गच्छामः" । अथ तत् तस्य वचनम् अश्रद्धेयं श्रुत्वा मदोद्धता वानराः प्रहस्य प्रोचुः-"भो ! भवतो वृद्धभावात् बुद्धिवैकल्यं सञ्जातं येन एतद्ब्रवीषि । उक्तञ्च-

सो जबतक सबका सक्षय न हो तबतक यह राजगृह छोडकर वनको चलें" । तब उसके वचनको श्रद्धाके अयोग्य सुनकर मदसे उद्धत हुए वानर हँसकर बोले-"भो ! आपको वृद्धतासे बुद्धिकी विकलता प्राप्त हुईहै जिससे ऐसा कहतेहो । कहा है-

वदनं दशनैर्हीनं लाला स्रवति नित्यशः ।
न मतिः स्फुरति क्वापि बाले वृद्धे विशेषतः ॥ ७८ ॥

वदन दांतोंसे हीन नित्य लार टपकानेवाला होनेसे बालक और वृद्धकी मति स्फुरित नहीं होतीहै ॥ ७८ ॥

न वयं स्वर्गसमानोपभोगान् नानाविधान् भक्ष्यविशेषान् राजपुत्रैः स्वहस्तदत्तान् अमृतकल्पान् परित्यज्य तत्र अटव्यां कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षफलानि भक्षयिष्यामः" । तच्छ्रुत्वा अश्रुकलुषां दृष्टिं कृत्वा स प्रोवाच,–"रे रे मूर्खा ! यूयम् एतस्य सुखस्य परिणामं न जानीथ । किं न पापरसास्वादनप्रायम् एतत् सुखम्, परिणामे विषवत् भविष्यति ? तदहं कुलक्षयं स्वयं न अवलोकयिष्यामि, साम्प्रतं वनं यास्यामि । उक्तञ्च–

न हम स्वर्गकी समान उपभोग अनेक प्रकारके भक्ष्य विशेषोंको राजपुत्रोंके हाथसे दियेहुए अमृतकी समान छोडकर वनमें कसेल, कडवे, तीखे, रूखे फलोंको खांयगे" । यह सुन आखोंमें आसू भरकर वह बोला–"रे रे मूर्खो ! तुम इस सुखका परिणाम नहीं जानतेहो । क्या यह सुख पाप रसके आस्वादनकी समान नहीं है ? । परिणाममें विषवत् होगा । सो मैं कुलका क्षय स्वय नहीं देखूगा अब वनको जाऊगा । कहाहै कि–

मित्रं व्यसनसम्प्राप्तं स्वस्थानं परपीडितम् ।
धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभंगं कुलक्षयम् ॥ ७९ ॥"

व्यसनमें प्राप्त हुए मित्र और परपीडित अपने स्थानको तथा देशभग और कुलक्षयको जो नहीं देखतेहैं वे धन्यहैं । ७९ ॥"

एवम् अभिधाय सर्वान् तान् परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्यां गतः ।

ऐसा कह उन सबको छोड वह यूथपति वनको चलागया ।

अथ तस्मिन् गतेऽन्यस्मिन् अहनि स मेषो महानसे प्रविष्टो यावत् सूपकारेण न अन्यत किञ्चित् समासादितं, तावत् अर्द्धज्वलितकाष्ठेन ताड्यमानो जाज्वल्यमानशरीरः

शब्दायमानोऽश्वकुट्यां प्रत्यासन्नवर्त्तिन्यां प्रविष्टः । तत्र तृण-प्राचुर्य्ययुक्तायां क्षितौ तस्य प्रलुठतः सर्वत्रापि वह्निज्वालाः तथा समुत्थिता यथा केचिदश्वाः स्फुटितलोचनाः पञ्चत्वं गताःकेचित् बन्धनानि त्रोटयित्वा अर्द्धदग्धशरीरा इतश्चेतश्च ह्रेषायमाणा धावमानाः सर्वमपि जनसमूहम् आकुलीचक्रुः । अत्रान्तरे राजा सविषादः शालिहोत्रज्ञान् वैद्यान् आहूय प्रोवाच,—"भोः ! प्रोच्यताम् एषाम् अश्वानां कश्चित् दाहोपशमनोपायः" । तेऽपि शास्त्राणि विलोक्य प्रोचुः,—"देव ! प्रोक्तमत्र विषये भगवता शालिहोत्रेण । यत्—

तब उसके जानेमें एक दिन वह मेष रसोईमें आया तबही सूपकारोंने और कुछ न पाकर आधे जलते काष्ठसे ताडित किया, प्रज्वलित शरीर शब्द करता हुआ समीपवर्ती अश्वशालामें प्रविष्ट हुआ । वह बहुत तृण रक्खी हुई भूमिमें सब स्थानमें उसके लोटनेसे इसप्रकार अग्नि ज्वाला लग उठी कि किसी घोडेकी आंख फूट गई, कोई मरगये, कोई बन्धनको तोडकर अधजले शरीर इधर उधर हींसते दौडते सबही जनसमूहोंको व्याकुल करते हुए । इसी समय राजा विषाद पूर्वक शालिहोत्रके ज्ञानवाले वैद्योंको बुलाकर बोला,—"भो ! इन घोडों की दाहशान्तिका कोई उपाय कहो" । वेभी शास्त्र देखकर बोले—"देव ! इस विषयमें भगवान् शालिहोत्रने कहा है—

कपीनां मेदसा दोषो वह्निदाहसमुद्भवः ।
अश्वानां नाशमभ्येति तमः सूर्य्योदये यथा ॥ ८० ॥

घोडोंके अग्निदाहसे उत्पन्न हुआ दोष वानरोंकी चरबीसे इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे सूर्यके उदयमें अन्धकार ॥ ८० ॥

तत् क्रियताम् एतत् चिकित्सितं द्राक् यावत् एते न दाह-दोषेण विनश्यन्ति" । सोऽपि तदाकर्ण्य समस्तवानरवधम् आदिष्टवान् । किं बहुना सर्वेऽपि ते वानरा विविधायुधलगुडपाषाणादिभिः व्यापादिता इति । अथ सोऽपि वानरयूथपः तं पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसंक्षयं ज्ञात्वा परं विषादम् उपागतः । स त्यक्ताहारक्रियो वनात् वनं पर्य्यटति, अचिन्तयच्च, "कथमहं तस्य नृपापसदस्य अनृणताकृत्येन अपकृत्यं करिष्यामि । उक्तञ्च—

सो शीघ्र इनकी चिकित्सा करो कि, यह जबतक दाहके दोषसे नाशको प्राप्त न हों" । वहभी सुनकर सम्पूर्ण वानरोंके वधकी आज्ञा देता हुआ । बहुत कहनेसे क्या है वे सबही वानर अनेक आयुध लगुड पत्थरादिसे मारे गये । तब वह भी वानरयूथप उस पुत्र, पौत्र, भ्रातापुत्र, भानजे, आदिका क्षय जानकर परम विषादको प्राप्त हुआ । और भोजनको त्याग विचार करते २ इधरसे उधर वनमें घूमने लगा । किस प्रकार मैं इस नृपनीचका अनृणता सम्पादन (वैरका लेना) कर अपकार करूं । कहा है कि–

मर्षयेद्धर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम् ।
भयाद्वा यदि वा कामात्स ज्ञेयः पुरुषाधमः ॥ ८१ ॥"

जो इस संसारमें दूसरेके किये कुलके तिरस्कारको भय वा कामसे सहन करता है उसे पुरुषोंमें अधम जानना उचित है ॥ ८१ ॥"

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित्पिपासाकुलेन भ्रमता पद्मिनीखण्डमण्डितं सरः समासादितम् । तत् यावत् सूक्ष्मेक्षिकया अवलोकयति तावत् वनचरमनुष्याणां पदपंक्तिप्रवेशोऽस्ति न निष्क्रमणम् । ततः चिन्तितम् "नूनं अत्र जलान्ते दुष्टग्राहेण भाव्यम्, तत् पद्मिनीनालम् आदाय दूरस्थोऽपि जलं पिबामि" । तथानुष्ठिते तन्मध्यात् राक्षसो निष्क्रम्य रत्नमालाविभूषितकण्ठः तमुवाच,–"भो अत्र यः सलिले प्रवेशं करोति स मे भक्ष्य इति । तत् नास्ति धूर्त्ततरस्त्वत्समोऽन्यो यत् पानीयम् अनेन विधिना पिबसि । ततः तुष्टोऽहम्, प्रार्थयस्व हृदयवाञ्छितम्" कपिराह,–"भोः! कियती ते भक्षणशक्तिः," स आह–"शतसहस्रायुतलक्षाणि अपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि । बाह्यतः शृगालोऽपि मां दूषयति"। वानर आह–"अस्ति मे केनचित् भूपतिना सह अत्यन्तं वैरम्, यदि एनां रत्नमालां मे प्रयच्छसि तत् सपरिवारमपि तं भूपतिं वाक्प्रपञ्चेन लोभयित्वा अत्र सरसि प्रवेशयामि" । सोऽपि श्रद्धेयं वचस्तस्य श्रुत्वा रत्नमालां दत्त्वा प्राह,–"भो मित्र ! यत् समुचितं भवति तत् कर्त्तव्यम्" इति। वानरोऽपि रत्नमालाविभूषितकण्ठो वृक्षप्रासादेषु परिभ्रमन् जनैः दृष्टः पृष्टश्च–

"भो यूथप ! भवान् इयन्तं कालं कुत्र स्थितः ? भवता ईदृक् रत्नमाला कुत्र लब्धा ? या दीप्त्या सूर्य्यमपि तिरस्करोति" । वानरः प्राह,-"अस्ति कुत्रचित् अरण्ये गुप्ततरं महत्सरो धनदनिर्मितम्, तत्र सूर्य्येऽर्द्धोदिते रविवारे यः कश्चित् निमज्जति स धनदप्रसादात् ईदृक् रत्नमालाविभूषितकण्ठो निःसरति" । अथ भूभुजा तदाकर्ण्य स वानरः समाहूतः पृष्टश्च-"भो यूथाधिप ! किं सत्यमेतत् ? रत्नमालासनाथं सरोऽस्ति क्वापि ?" कपिराह,-"स्वामिन् ! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया रत्नमालया प्रत्ययस्ते । तद् यदि रत्नमालया प्रयोजनं तन्मया सह कमपि प्रेषय येन दर्शयामि" । तत् श्रुत्वा नृपतिः आह-"यदि एवं तदहं सपरिजनः स्वयम् एष्यामि येन प्रभूता रत्नमालाः सम्पद्यन्ते" । वानर आह-"एवं क्रियताम्" । तथा अनुष्ठिते भूपतिना सह रत्नमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्याः प्रस्थिताः । वानरोऽपि राज्ञा दोलाधिरूढेन स्वोत्संगे आरोपितः सुखेन प्रीतिपूर्वम् आनीयते । अथवा साधु इदमुच्यते-

तब उस वृद्ध वानरने क्षुधा पिपासासे व्याकुल हो वनमें घूमते हुए कमलिनी खण्डसे मंडित एक सरोवर प्राप्त किया । जबतक सूक्ष्म दृष्टिसे उसे देखता है कि तबतक वनचर मनुष्योंकी पदपंक्तिसे प्रवेश तो देखा परन्तु निकलना न पाया । तब उसने विचार किया । "निश्चयही इस जलके भीतर दुष्ट ग्राह होगा । सो कमलके पत्तेसे जल ग्रहणकर दूरसे पिऊं" । ऐसा करते ही उसमेंसे राक्षस निकलकर रत्नमालासे भूषित कण्ठ उससे बोला,-"भो ! जो इस जलमें प्रवेश करता है वह मेरा भक्ष्य होता है सो तुमसे अधिक धूर्त दूसरा नहीं होगा जो पानी इस प्रकारसे पीता है । सो मैं तुझसे सन्तुष्ट हू । अपना मनोवांछित मांग ले" वानर बोला,-"भो ! तुममें भक्षणकी शक्ति कितनी है?" वह बोला,-"सौ दशसहस्र लक्षभी जलमें प्रवेश हुए खासक्ता हू । और बाहरसे तौ शृगालभी मुझको पराभव करसकता है" । वानर बोला,-"मेरा एक राजाके संग बडा वैर है जो इस रत्नमालाको मुझे दे तौ सपरिवार उस राजाकूं वाणीके प्रपञ्चसे लोभितकर इस सरोवरमें प्रविष्ट करू" । राक्षसी श्रद्धा करने योग्य उसके वचनको

सुनकर रत्नमाला देकर बोला,—"भो मित्र ! जो उचित समझो सो करो"। वानरभी रत्नमालासे भूषित कण्ठ होकर वृक्ष और महलोंपर घूमता हुआ जनोंसे देखा और पूछा गया,—"भो यूथप ! आप इतने समयतक कहा थे ? आपने ऐसी रत्नमाला कहा पाई ? जो कान्तिसे सूर्यकोभी तिरस्कार करती है"। वानरने कहा,— एक वनमें गुप्त बडा सरोवर कुबेरका बनाया है वहा सूर्यके आधा निकलनेपर इतवारको जो मनुष्य स्नान करे वह कुबेरके प्रसादसे इस प्रकार भूषितकण्ठ हो निकलता है"। तब राजाने यह सुन उस वानरको बुलाकर पूछा,—"भो ! यूथपति क्या यह सत्य है ?"। वानरने कहा,—"स्वामिन् यह प्रत्यक्ष मेरे कण्ठमें स्थित रत्नमालाही आपको विश्वास कराती है। सो यदि रत्नमालासे प्रयोजन है तो मेरे सग किसीको भेजो जिसे दिखाऊ" यह सुनकर राजा बोला,—"जो ऐसा है तो मै परिजनसहित स्वय जाऊगा। जिससे रत्नमाला प्राप्त हो"। वानर बोला,—"ऐसा ही करो"। ऐसा कहनेपर राजाने रत्नमालाके लोभसे सब स्त्री भृत्य भेजे। और वानरकोभी राजा पालकीमें अपनी गोदमे बैठाय सुखसे प्रीतिपूर्वक ले चला"। अथवा यह अच्छा कहा है—

तृष्णे देवि ! नमस्तुभ्यं यया वित्तान्विता अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥ ८२ ॥

हे तृष्णा देवि ! तुमको नमस्कार है, जिससे धनी पुरुषभी अकार्योंमे नियुक्त कर दुर्गम स्थानोंमें भ्रमाये जाते हैं ॥ ८२ ॥

तथाच—

और देखो—

इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाधिपस्तथा राज्यं राज्यस्थः स्वर्गमीहते ॥ ८३ ॥

सौवाला सहस्रकी, सहस्रवाला लाखकी, लक्षाधिप राज्यकी और राज्याधिप स्वर्गकी इच्छा करता ह ॥ ८३

जीर्य्यन्ते जीर्य्यतः केशा दन्ता जीर्य्यन्ति जीर्य्यतः।
जीर्य्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे तृष्णैका तरुणायते ॥ ८४ ॥"

जीर्ण होनेसे केश जीर्ण होते हैं, जीर्ण होनेसे दात जीर्ण होजाते हैं, नेत्र श्रोत्रभी जीर्ण होते हैं, एक तृष्णाही तरुण होती जाती है ॥ ८४ ॥"

अथ तत्सरः समासाद्य वानरः प्रत्यूषसमये राजानम् उवाच,–"देव ! अर्द्धोदिते सूर्य्येऽत्र प्रविष्टानां सिद्धिर्भवति । तत्सर्वोऽपि जन एकदा एव प्रविशतु, त्वया पुनर्मया सह प्रवेष्टव्यं येन पूर्वदृष्टस्थानम् आसाद्य प्रभूतास्ते रत्नमाला दर्शयामि" । अथ प्रविष्टाः ते लोकाः सर्वे भक्षिता राक्षसेन । अथ तेषु चिरायमाणेषु राजा वानरमाह,–"भो यूथाधिप ! किमिति चिरायते मे जनः ?" । तत् श्रुत्वा वानरः सत्वरं वृक्षम् आरुह्य राजानम् उवाच,–"भो दुष्टनरपते ! राक्षसेन अन्तःसलिलस्थितेन भक्षितस्ते परिजनः साधितं मया कुलक्षयजं वैरम्, तत गम्यताम् । त्वं स्वामीति मत्वा न अत्र प्रवेशितः । उक्तञ्च–

तब उस सरोवरको प्राप्त होकर वानर प्रभातकालमें राजासे बोला,–"देव ! यहां आधे उदय होते सूर्यके प्रवेश करनेवालोंको सिद्धि होगी । सो सबही मनुष्य एक साथ प्रवेश करें, आप पीछे मेरे साथ प्रवेश करना जिससे पूर्वमें देखे स्थानको प्राप्त होकर बहुतसी रत्नमाला तुमको दिखाऊंगा" । तब प्रवेश कियेहुए वे लोक सब उस राक्षसने खालिये तब उनके देर करनेपर राजा वानरसे बोला,–"भो यूथाधिप ! क्या कारण है जो हमारे जन देर करते है ?" । यह सुनकर वानर शीघ्र वृक्षपर चढकर राजासे बोला–"भो दुष्ट राजन् ! भीतर जलके स्थित हुए राक्षसने तुम्हारे परिजन भक्षण किये । मैंने अपने कुलक्षयसे उत्पन्न हुआ वैरसाधन किया । सो जाओ स्वामी जानकर इसमें तुम्हें प्रवेश न कराया । कहा है कि–

कृते प्रतिकृतिं कुर्य्याद्धिंसिते प्रतिहिंसितम् ।
न तत्र दोषं पश्यामि दुष्टे दुष्टं समाचरेत् ॥ ८९ ॥

उपकारवालेके संग उपकार करे, हिंसावालेके संग हिंसा करे, दुष्टके संग दुष्टता करे, इसमें मै दोष नहीं देखता हूं ॥ ८९ ॥

तत्त्वया मम कुलक्षयः कृतो मया पुनस्तव" इति । अथ एतदाकर्ण्य राजा कोपाविष्टः पदातिः एकाकी यथायातमार्गेण निष्क्रान्तः । अथ तस्मिन् भूपतौ गते राक्षसः तृप्तो जलात् निष्क्रम्य सानन्दमिदमाह,–

सो तैने मेरा कुलक्षय किया मैंने तेरा" । तब यह वचन सुन राजा महाक्षोभित हो पैरो इकला जिधरसे आया था उस मार्गसे चला । तब उस राजाके जानेपर तृप्त हुआ राक्षस जलसे निकल आनन्दसे यह बोला—

"हतः शत्रुः कृतं मित्रं रत्नमाला न हारिता ।
नालेनापिबता तोयं भवता साधु वानर ॥ ८६ ॥"

"हे वानर आपने पद्मनालसे जल पीकर शत्रु मारा, मुझसे मित्रता की, मेरी रत्नमाला भी न खोई, धन्य हो ! ॥ ८६ ॥"

अतोऽहं ब्रवीमि—

इससे मैं कहता हूं—

यो लौल्यात्कुरुते कर्म नैवोदर्कमवेक्षते ।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः ॥ ८७ ॥"

जो चंचलतासे कर्म करके उसका परिणाम नहीं सोचता है वह चन्द्र राजाकी समान विडम्बनाको प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥"

एवमुक्त्वा भूयोऽपि स चक्रधरमाह,—"भो मित्र ! प्रेषय मां येन स्वगृहं गच्छामि" । चक्रधर आह,—"भद्र ! आपदर्थे धनमित्रसंग्रहः क्रियते । तत् माम् एवंविधं त्यक्त्वा क्व यास्यसि । उक्तञ्च—

ऐसा कह फिर भी चक्रधरसे बोला—"मुझे जाने दो जो मैं अपने घर जाऊं" । चक्रधर बोला,—"भद्र ! आपत्तिके निमित्त धन और मित्रका संग्रह किया जाता है, सो इस प्रकार मुझे छोडकर कहा जाता है ? कहा है—

यस्त्यक्त्वा सापदं मित्रं याति निष्ठुरतां सुहृत् ।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम् ॥ ८८ ॥"

जो सुहृत् आपत्तिमें मित्रको छोडकर निष्ठुर हो जाता है वह कृतघ्न उस पापसे अवश्य नरकको जाता है ॥ ८८ ॥"

सुवर्णसिद्धिः आह,—"भोः ! सत्यमेतत यदि गम्यस्थाने शक्तिर्भवति । एततपुनः मनुष्याणाम् अगम्यस्थानम् । नास्ति कस्यापि त्वाम् उन्मोचयितुं शक्तिः । अपरं यथा यथा चक्रभ्रमवेदनया तव मुखविकारं पश्यामि तथा तथा अहमेतत जानामि यत् द्राक् गच्छामि मा कश्चित् ममापि अनर्थो भवतु। यतः-

सुवर्णसिद्धि बोला,-"भो ! यह सत्य है यदि सुगम स्थानमें शक्ति होती है तो । और यह तो मनुष्योंको अगम्य स्थान है किसीमें भी तुझे छुडानेकी शक्ति नहीं है । और ज्यो ज्यों चक्रके भ्रमणकी वेदनासे तेरे मुखका विकार देखता हूं त्यों त्यों मैं यह जानता हू कि, शीघ्र जाऊ जिससे कोई मेरे ऊपर अनर्थ नहो । क्योंकि-

यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर
त्रिकालेन गृहीतोऽसि यः परैति स जीवति ॥ ८९ ॥"

हे वानर ! जैसी तेरे मुखकी छाया दीखती है इससे जानता हूं तूभी विपरीत समय (दुर्भाग्य) से आक्रान्त हुआ है जो इस संकटसे भागे वह जिये ८९"

चक्रधर आह-"कथमेतत ?" सोऽब्रवीत्-

चक्रधर बोला,-"यह कैसे ?" वह बोला-

कथा ११.

कस्मिंश्चित् नगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवसति स्म । तस्य सर्वलक्षणसम्पन्ना रत्नवती नाम कन्या अस्ति । तां कश्चित राक्षसो जिहीर्षति रात्रौ आगत्य उपभुङ्क्ते । परं कृतरक्षोपधानां हर्तुं न शक्नोति । सापि तत्समये रक्षः सान्निध्यजामवस्थाम् अनुभवति कम्पादिभिः । एवम् अतिक्रामति काले कदाचित स राक्षसो मध्यनिशायां गृहकोणे स्थितः । सापि राजकन्या स्वसखीम् उवाच,-"सखि ! पश्य एष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति अस्ति तस्य दुरात्मनः प्रतिषेधोपायः कश्चित ?" । तच्छ्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत-"नूनं यथा अहं तथा अन्योपि कश्चित विकालनामा अस्या हरणाय नित्यमेव आगच्छति । परं सोऽपि एनां हर्तुं न शक्नोति । तत् तावत् अश्वरूपं कृत्वा अश्वमध्यगतो निरीक्षयामि किंरूपः स किम्प्रभावश्च" इति । एवं राक्षसोऽश्वरूपं कृत्वा अश्वानां मध्ये तिष्ठति । तथानुष्ठिते निशीथसमये राजगृहे कश्चित अश्वचौरः प्रविष्टः। स च सर्वान् अश्वान् अवलोक्य तं राक्षसम् अश्वतमं विज्ञाय अधिरूढः। अत्रान्तरे राक्षसः चिन्तयामास-"नूनमेष विका-

लनामा मां चौरं मत्वा कोपात् निहन्तुम् आगतः । तत् किं करोमि" । एवं चिन्तयन सोऽपि तेन खलीनं मुखे निधाय कशाघातेन ताडितः । अथ असौ भयत्रस्तमनाः प्रधावितुम् आरब्धः । चौरोऽपि दूरं गत्वा खलीनाकर्षणेन तं स्थिरं कर्तुम् आरब्धवान् । स तु केवलं वेगाद्वेगतरं गच्छति । अथ तं तथाऽगाणलखलीनाकर्षणं मत्वा चौरः चिन्तयामास,– "अहो न एवंविधा वाजिनो भवन्ति अगणितखलीनाः तन्नूनम् अनेन अश्वरूपेण राक्षसेन भवितव्यम् । तद् यदि कथञ्चित् पांशुलं भूमिदेशम् अवलोकयामि तदा आत्मानं तत्र पातयामि । न अन्यथा मे जीवितव्यमस्ति" । एवं चिन्तयत इष्टदेवतां स्मरतस्तस्य सोऽश्वो वटवृक्षस्य तले निष्क्रान्तः । चौरोऽपि वटप्ररोहम् आसाद्य तत्रैव विलग्नः । ततो द्वौ अपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ जीवितविषये लब्धप्रत्याशौ सम्पन्नौ । अथ तत्र वटे कश्चित् राक्षससुहृत वानरः स्थितः आसीत तेन राक्षसं त्रस्तम् आलोक्य व्याहृतम्–"भो मित्र ! किमेवं पलाय्यतेऽलीकभयेन, त्वद्भक्ष्योऽयं मानुषः भक्ष्यताम्" । सोऽपि वानरवचो निशम्य स्वरूपम् आधाय शंकितमनाः स्खलितगतिः निवृत्तः । चौरोऽपि तं वानराहूतं ज्ञात्वा कोपात् तस्य लांगूलं लम्बमानं मुखे निधाय चर्वितवान् । वानरोऽपि तं राक्षसाभ्यधिकं मन्यमानो भय न किञ्चिदुक्तवान् केवलं व्यथार्त्तो निमीलितनयनः तिष्ठति । राक्षसोऽपि तं तथाभूतम् अवलोक्य श्लोकमेनमपठत्–

किसी नगरमे भद्रसेन नाम राजा रहता था । उसकी सब लक्षणसे सपन्न रत्नवती नाम कन्या थी । उसे कोई राक्षस ग्रहण करनेकी इच्छा करता रात्रिमें आकर उसे भोगता । परन्तु रक्षाके उपाय होनेके कारण उसे हरनेको समर्थ न होता । वह भी राक्षससे सभोगमें उसके सगकी अवस्थाको कपादिसे अनुभव करती । इस प्रकार समयके वीतनेपर एक समय वह राक्षस आधीरातमें घरके कोनेमें स्थित हुआ । वह भी राजकन्या अपनी सखीसे बोली,–"सखि ! देख

इसी (१) विकालमें वह नित्यही मुझे क्लेशित करता है । उस दुरात्माके प्रतिषेध (नष्ट) होनेका कोई उपाय है ?" यह सुनकर राक्षस भी विचारने लगा । "अवश्यही जैसा मैं हूं ऐसा कोई दूसरा विकाल नाम इसके हरनेको नित्यही आता है । परन्तु वह भी इसके हरनेको समर्थ नहीं होता । सो घोडेका रूप धरकर घोडोंके बीचमें स्थित होकर देखूं कि, वह किस रूप और किस प्रभावका है" । इस प्रकार राक्षस घोडेका रूप करके घोडोंके मध्यमें स्थित हुआ । ऐसा करनेपर अर्द्धरात्रको राजगृहमें कोई घोडोंका चोर आया । वह सब घोडोंको देख उस राक्षसको श्रेष्ठ घोडा जानकर उसपर चढा । इसी समय राक्षस विचारने लगा । "अवश्यही यह विकाल मुझे चोर जानकर क्रोधसे मारनेको आया है । सो मैं क्या करूं" ! ऐसा विचारते वह भी लगामको मुखमें रख कोडेके आघातसे ताडित करता हुआ । तब यह भयसे व्याकुल मन हो पलायन करने लगा । चोरभी दूर जाकर लगाम खेंचकर उसको स्थित करने लगा । और वह तो केवल महावेगसे भागनेही लगा । तब वह चोर उसको लगाम खैंचनेको न गिननेवाला मानकर विचारने लगा । "अहो इस प्रकारके घोडे नहीं होते हैं जो लगामको न गिनें सो अवश्यही यह घोडेरूपी राक्षस होगा । सो कहीं यदि रेतली पृथ्वी देखूं तो वहां कूद पडूं । अन्यथा मेरा जीवन न होगा" । ऐसा विचार करते इष्टदेवताका स्मरण करते हुए वह घोडा वटके नीचेको होकर निकला । चोर वटकी शाखा अवलम्बन कर वहीं स्थित हुआ, इस प्रकार दोनोंही पृथक् होकर परमानन्दको प्राप्त हो जीवनकी प्राप्त आशावाले हुए । उस वटमें कोई राक्षसका मित्र वानर रहता था । उसने राक्षसको व्याकुल हुआ देखकर यह कहा,–"भो मित्र ! वृथा भयसे क्यों पलायन करते हो, सो यह मनुष्य तो भक्ष्य है इसे खाजाओ" । वहभी वानरके वचन सुन अपना स्वरूप धारण कर शंकित मनसे गति रुकीहुई लौटा । चोरभी उसे वानरका बुलाया हुआ जानकर क्रोधसे उसकी लम्बी पूछको मुखमें डाल चबाने लगा । वानरभी उसको राक्षससे अधिक मान भयसे कुछ न बोला केवल व्यथासे दुःखी हो आंख मींचकर बैठ गया राक्षसभी उसे ऐसा देख यह श्लोक पढने लगा,–

१ कुसमय.

"यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर।
विकालेन गृहीतोऽसि यः परैति स जीवति॥ ९०॥

"हे वानर! जैसी तेरे मुखकी छाया दीखती है विकालसे गृहीत हुआ तूभी विदित होता है, जो भागेगा सो जियेगा॥ ९०॥"

उक्त्वा प्रनष्टश्च।

यह कह भागगया–

तत्प्रेषय मां येन गृहं गच्छामि। त्वं पुनः अनुभुङ्क्ष्व अत्र स्थित एव लोभवृक्षफलम्" । चक्रधरः प्राह,–"भोः! अकारणमेतत्, दैववशात् सम्पद्यते नृणां शुभाशुभम्। उक्तञ्च–

सो मुझे जानेकी आज्ञा दो। और तू यहीं स्थित हुआ लोभवृक्षका फल भोग"। चक्रधर बोला,–"भो! यह अकारण हुआ है। देववशसे मनुष्योंको शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है। कहा है–

दुर्गस्त्रिकूटः परिखा समुद्रो
रक्षांसि योधा धनदाच्च वित्तम्।
शास्त्रञ्च यस्योशनसा प्रणीतं
स रावणो दैववशाद्विपन्नः॥ ९१॥

जिसका दुर्ग त्रिकूट पर्वत, समुद्र खाई, राक्षस योधा, कुबेरसे धनकी प्राप्ति, जिसके यहा शुक्रका निर्मित किया शास्त्र वह रावण भी दैववशसे नष्ट हुआ॥ ९१॥

तथाच–

और देखो–

अन्धकः कुब्जकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सम्मुखे कर्मणि स्थिते॥९२॥"

तथा अंधा कुबडा तीन स्तनवाली राजकन्या यह तीनों कर्मके सन्मुख होनेमें अन्यायसे भी सिद्ध हुए॥ ९२॥"

सुवर्णसिद्धिः आह–"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत्–

सुवर्णसिद्धि बोला,–"यह कैसे?" वह बोला–

कथा १२.

अस्ति उत्तरापथे मधुपुरं नाम नगरम् । तत्र मधुसेनो नाम राजा बभूव । तस्य कदाचित् विषयसुखम् अनुभवतः त्रिस्तनी कन्या बभूव । अथ तां त्रिस्तनीं जातां श्रुत्वा स राजा कञ्चुकिनः प्रोवाच,–"भद्र भोः त्यज्यतामियं त्रिस्तनी गत्वा दूरेऽरण्ये यथा कश्चित् न जानाति" । तच्छ्रुत्वा कञ्चुकिनः प्रोचुः,–"महाराज ! ज्ञायते यत् अनिष्टकारिणी त्रिस्तनी कन्या भवति । तथापि ब्राह्मणा आहूय प्रष्टव्या येन लोकद्वयं न विरुद्ध्यते । यतः–

उत्तर दिशामें एक मधुपुर नाम नगर है । वहां मधुसेन नामवाला राजाथा । उसको कभी विषयसुख अनुभव करते तीन स्तनवाली कन्या हुई। उसको तीन स्तनवाली हुई सुनकर राजा कंचुकीसे बोला,–"भो ! इस तीन स्तनीको दूर वनमें जाकर त्याग दो जो कोई भी इसको न जाने" । यह सुन कुंचकी बोले,–"महाराज ! यह जाना तो है कि, तीन स्तनी कन्या अनिष्टकारिणी होती है । तो भी ब्राह्मणोंको बुलाकर बूझाजाय, जिससे दोनों लोक न विगडें । क्योंकि–

यः सततं परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यनिशम् ।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः ॥ ९३ ॥

जो सदा पूछता, सुनता, रातदिन धारण करता है उसकी बुद्धि सूर्यकी किरणोंसे कमलिनीकी समान बढती है ॥ ९३ ॥

तथाच–

और देखो–

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता ।
राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ९४ ॥"

विज्ञ पुरुषकोभी प्रश्न करना चाहिये, राक्षसेन्द्रसे ग्रहीत हुआ कोई पुरुष पहले प्रश्नसेही मुक्त हुआ था ॥ ९४ ॥"

राजा आह–"कथमेतत् ?" ते प्रोचुः–

राजा बोला,–"यह कैसे ?" वे बोले–

कथा १३.

देव ! कस्मिंश्चित् वनोद्देशे चण्डकर्मा नाम राक्षसः प्रतिवसति स्म, एकदा तेन भ्रमता अटव्यां कश्चिद् ब्राह्मणः समासादितः। ततः तस्य स्कन्धमारुह्य प्रोवाच,-"भो ! अग्रेसरो गम्यताम्। ब्राह्मणोऽपि भयत्रस्तमनाः तमादाय प्रस्थितः। अथ तस्य कमलोदरकोमलौ पादौ दृष्ट्वा ब्राह्मणो राक्षसम् अपृच्छत्-"भोः ! किमेवं विधौ ते पादौ अतिकोमलौ ?"। राक्षस आह-"भो! व्रतमस्ति, नाहम् आर्द्रपादो भूमिं स्पृशामि"। ततः तच्छ्रुत्वा आत्मनो मोक्षोपायं चिन्तयन् सरः प्राप्तः। ततो राक्षसेन अभिहितम्,-"भो! यावदहं स्नानं कृत्वा देवतार्चनविधिं विधाय आगच्छामि तावत् त्वया अतः स्थानात् अन्यत्र न गन्तव्यम्"। तथानुष्ठिते द्विजः चिन्तयामास। "नूनं देवतार्चनविधेरूर्ध्वं मामेव भक्षयिष्यति। तत् द्रुततरं गच्छामि येन एष आर्द्रपादो न मम पृष्ठम् एष्यात"। तथानुष्ठिते राक्षसो व्रतभङ्गभयात् तस्य पृष्ठ न गतः। अतोऽहं ब्रवीमि-

देव ! किसी वनके निकट चण्डकर्मा नाम राक्षस रहता था। एक समय रात्रिको वनमें भ्रमण करते उसे कोई ब्राह्मण मिला। तब उसके कंधेपर चढकर बोला,-"भो ! आगे होकर चलो"। ब्राह्मणभी भय व्याकुल मनसे उसे लेकर चला तब उससे कमलके मध्यभागकी समान चरणोंको कोमल देख कर ब्राह्मण राक्षससे पूछने लगा--"भो ! इस प्रकार आपके चरण कोमल क्यों है ?" राक्षस बोला,-"भो ! यह मेरा व्रत है कि, गीले पांव मैं पृथ्वीको स्पर्श नहीं करता हूं"। यह सुनकर अपने छुटनेके उपायको विचारता हुआ वह सरोवरको प्राप्त हुआ। तब राक्षसने कहा,-"भो ! जबतक मैं स्नानकर देवतार्चन विधि करके आऊं तबतक तुम इस स्थानसे और कहीं न जाना"। ऐसा करने पर ब्राह्मण विचारने लगा-"अवश्यही देवार्चन विधिके उपरान्त यह मुझको खा जायगा। सो शीघ्रतासे जाऊं जिससे यह गीले चरण होनेके कारण मेरे पीछे न आ सकेगा"। ऐसा करनेपर राक्षस व्रतभंगके डरसे उसके पीछे गया। इससे मैं कहता हूं-

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता ।
राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ९५ ॥"

ज्ञानी पुरुषको भी सदा पूछना चाहिये, राक्षसेन्द्रसे पूछा हुआ ब्राह्मण प्रश्नसे-ही छूटा ॥ ९५ ॥"

अथ तेभ्यः तच्छ्रुत्वा राजा द्विजान् आहूय प्रोवाच,-"भो ब्राह्मणाः ! त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना तत् किं तस्याः प्रतिविधानम् अस्ति न वा ?" ते प्रोचुः-"देव ! श्रूयताम्-

तब उनसे सुनकर राजा ब्राह्मणोंको बुलाकर बोला,-"भो ब्राह्मणो ! मेरे तीन स्तनकी कन्या उत्पन्न हुई है सो कोई उसका प्रतिविधान है वा नहीं ?" वे बोले,-"देव सुनिये-

हीनाङ्गी वाधिकाङ्गी वा या भवेत्कन्यका नृणाम् ।
भर्तुः स्यात्सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च ॥ ९६ ॥

जो हीन अङ्गवाली वा अधिक अंगवाली कन्या मनुष्योंके हो वह भर्ताके और अपने शीलके नाशके लिये होती है ॥ ९६ ॥

या पुनस्त्रिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम् ।
पितरं नाशयत्येव सा द्रुतं नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

और जो कहीं तीन स्तनवाली कन्या पिताके नेत्रगोचर हो तो वह शीघ्र अपने पिताको नाश करती है इसमें सन्देह नहीं ॥ ९७ ॥

तस्मात् अस्या दर्शनं परिहरतु देवः । तथा यदि कश्चित् उद्वाहयति तदेनां तस्मै दत्त्वा देशत्यागेन नियोजयितव्या इति । एवं कृते लोकद्वयाविरुद्धता भवति" । अथ तेषां तद् वचनम् आकर्ण्य स राजा पटहशब्देन सर्वत्र घोषणाम् आज्ञापयामास-"अहो ! त्रिस्तनीं राजकन्यां यः कश्चित् उद्वाहयति स सुवर्णलक्षम् आप्नोति देशत्यागञ्च" । एवं तस्याम् आघोषणायां क्रियमाणायां महान् कालो व्यतीतः । न कश्चित् तां प्रतिगृह्णाति । सापि यौवनोन्मुखी सञ्जाता सुगुप्तस्थानस्थिता यत्नेन रक्ष्यमाणा तिष्ठति । अथ तत्रैव नगरे कश्चित् अन्धः तिष्ठति । तस्य च मन्थरकनामा कुब्जोऽग्रेसरो यष्टिग्राही । ताभ्यां तं पटहशब्दमाकर्ण्य मिथो मन्त्रितम्

"स्पृश्यतेऽयं पटहो यदि कथमपि दैवात् कन्या लभ्यते तथा सुवर्णप्राप्तिश्च भवति, सुखेन सुवर्णप्राप्त्या कालो व्रजति। अथ यदि तस्या दोषतो मृत्युर्भवति दारिद्र्योपात्तस्य अस्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति। उक्तञ्च--

इस कारण स्वामी! इसके दर्शनको त्यागिये और जो इसे विवाहनेकी इच्छा करे तो यह उसे देकर देश त्यागकी आज्ञा दो ऐसा करनेपर दोनो लोकोंमें अविरुद्धता होगी"। तब उनके यह वचन सुनकर वह राजा बाजेके शब्दसे सर्वत्र घोषणा करानेकी आज्ञा देता हुआ-"अहो! इस तीन स्तनवाली कन्याको जो विवाह करेगा वह लाख अशरफी पावेगा (परन्तु) देश त्याग करना होगा"। इस प्रकार उसकी घोषणाको बहुत समय बीत गया। किसीने उसको ग्रहण न किया। वहभी युवा अवस्थाको प्राप्त होकर गुप्त स्थानमें स्थित हुई यत्नसे रक्षित थी। उसी नगरमें एक अन्धा था। उसके पास एक मन्थरक नामवाला कुबडा लकडी पकडा कर आगे चलनेवाला था। उन्होंने उस बाद्य-शब्दको सुनकर परस्पर विचारा। "यह शब्द जो घोषित होता है सो यदि हम पटहको स्पर्श करें तो इसके अनुसार प्रारब्धसे कन्या प्राप्त हो जाय तो सुवर्णके लाभसे हमारा समय सुख भोगते बीतेगा और जो यदि उसके दोषसे मृत्यु हो जाय तो दरिद्रतासे प्राप्त हुए इस क्लेशका अन्त होजायगा। कहा है-

लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः
कान्तासंगः स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः।
धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां संभवन्ति॥ ९८॥

लज्जा, स्नेह, स्वरकी मधुरता, बुद्धि, यौवनकी लक्ष्मी, कान्ताका संग, स्वजनकी ममता, दुःखहानि, बिलास, धर्मशास्त्र, देव गुरुमें भक्ति, पवित्रता, सदाचारका अनुष्ठान यह सब प्राणियोंके पेट भरनेमें होते हैं॥ ९८॥

एवमुक्त्वा अन्धेन गत्वा स पटहः स्पृष्टः। "भो! अहं तां कन्याम् उद्वाहयामि यदि राजा मे प्रयच्छति"। ततस्तैः राजपुरुषैः गत्वा राज्ञे निवेदितम्,-"देव! अन्धकेन केनचित् पटहः स्पृष्टः। तदत्र विषये देवः प्रमाणम्"। राजा प्राह-

ऐसा कहकर अन्धेने जाकर उस पटहको स्पर्श किया । "भो ! मैं उस कन्याको विवाहूंगा जो राजा मुझे कन्याको देगा"। तब उन राजपुरुषोंने राजासे जाकर कहा—"देव ! किसी अन्धेने वह घोषणाका बाजा छुआ है। सो इसमें देवही प्रमाण है" । राजा बोला,—

अन्धो वा बधिरो वापि कुष्ठी वाप्यन्त्यजोऽपि वा ।
प्रतिगृह्णातु तां कन्यां सलक्षां स्याद्विदेशजः ॥ ९९ ॥"

अन्धा, बहरा, कुष्ठी, अन्त्यज (नीच) कोईहो लाख अशरफी सहित कन्याको ग्रहण करे और देशसे बाहर हो ॥ ९९ ॥"

अथ राजादेशात् तैः रक्षापुरुषैः तं नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षेण समं विवाहविधिना त्रिस्तनीं तस्मै दत्त्वा जलयाने निधाय कैवर्त्ताः प्रोक्ताः—"भोः ! देशान्तरं नीत्वा कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने अन्धः सपत्नीकः कुब्जकेन सह मोचनीयः" । तथानुष्ठिते विदेशम् आसाद्य कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कैवर्त्तदर्शिते त्रयोऽपि मूल्येन गृहं प्राप्ताः सुखेन कालं नयन्ति स्म, केवलम् अन्धः पर्य्यंके सुप्तः तिष्ठति । गृहव्यापारं मन्थरकः करोति, एवं गच्छता कालेन त्रिस्तन्याः कुब्जकेन सह विकृतिः समपद्यत । अथवा साधु इदमुच्यते,—

तब राजाकी आज्ञासे उन राजपुरुषोंने उसे नदीके किनारे लेजाकर लाख सुवर्णके साथ ही विवाह विधिसे वह तीन स्तनकी कन्या उसे देकर नावमें बैठाय मल्लाहोंसे कहा—"भो ! इन्हें देशान्तरमें लेजाकर किसी स्थानमें स्त्रीसहित अन्धे कुबडेको छोडदो" ऐसा करनेपर विदेशको प्राप्त हो कैवर्तकके दिखाये किसी स्थानमें वे तीनों मूल्यके साथ घरको प्राप्त हुए सुखसे समयको विताने लगे। केवल अन्धा पलंगके ऊपर सोताही रहता । घरका कार्य्य कुबडा करता इस प्रकार समय जाते त्रिस्तनीके साथ लगडेका व्यभिचार प्रगट हुआ । अथवा यह अच्छा कहा है—

यदि स्याच्छीतलो वह्निश्चन्द्रमा दहनात्मकः ।
सुस्वादः सागरः स्त्रीणां तत्सतीत्वं प्रजायते ॥ १०० ॥

जो अग्नि शीतल चद्रमा जलानेवाला और सागर स्वादिष्ट हो तौ कदाचित् स्त्रियोंमें सतीत्व होजाय ॥ १०० ॥

अथ अन्येद्युः त्रिस्तन्या मन्थरकोऽभिहितः। "भोः सुभग! यदि एषः अन्धः कथञ्चिद्व्यापाद्यते तत् आवयोः सुखेन कालो याति, तदन्विष्यतां कुत्रचित् विषं येन अस्मै तत्प्रदाय सुखिनी भवामि"। अन्यदा कुब्जकेन परिभ्रमता मृतः कृष्णसर्पः प्राप्तः। तं गृहीत्वा प्रहृष्टमना गृहमभ्येत्य तामाह,- "सुभगे! लब्धोऽयं कृष्णसर्पः। तदेनं खण्डशः कृत्वा प्रभूतशुण्ठ्यादिभिः संस्कार्य्य अस्मै विकलनेत्राय मत्स्यामिषं भणित्वा प्रयच्छ येन द्राक् विनश्यति यतोऽस्य मत्स्यस्य आमिषं सदा प्रियम्"। एवमुक्त्वा मन्थरको बाह्ये गतः। सापि प्रदीप्ते वह्नौ कृष्णसर्पं खण्डशः कृत्वा तक्रम् आदाय गृहव्यापाराकुला तं विकलाक्षं सप्रश्रयमुवाच,-"आर्य्यपुत्र! तव अभीष्टं मत्स्यमांसं समानीतं यतः त्वं सदा एव तत् पृच्छसि। ते च मत्स्या वह्नौ पाचनाय तिष्ठन्ति। तद्यावत् अहं गृहकृत्यं करोमि तावत् त्वं दर्वीम् आदाय क्षणमेकं तान् प्रचालय"। सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमनाः सृक्कणी परिलिहन् द्रुतम् उत्थाय दर्वीं आदाय प्रमथितुमारब्धः। अथ तस्य मत्स्यान् मथतो विषगर्भबाष्पेण संस्पृष्टं नीलपटलं चक्षुर्भ्याम् अगलत्। असौ अपि अन्धो बहुगुणं मन्यमानो विशेषात् नेत्राभ्यां बाष्पग्रहणम् अकरोत्। ततो लब्धदृष्टिर्जातो यावत् पश्यति तावत् तक्रमध्ये कृष्णसर्पखण्डानि केवलानि एव अवलोकयति। ततो व्यचिन्तयत्,-"अहो! किमेतत्? मम मत्स्यामिषं कथितमासीदनया, एतानि तु कृष्णसर्पखण्डानि। तत् तावत् विजानामि सम्यक् त्रिस्तन्याः चेष्टितं किं मम वधोपायक्रमः कुब्जस्य वा, उताहो अन्यस्य वा कस्यचित्?" एवं विचिन्त्य स्वाकारं गूहन् अन्धवत् कर्म करोति यथा पुरा। अत्रान्तरे कुब्जः समागत्य निःशंकतया आलिंगनचुम्बनादिभिः त्रिस्तनीं सेवितुम् उपचक्रमे। सोऽपि अन्धः तम् अवलोकयन् अपि यावत् न

किञ्चित् शस्त्रं पश्यति तावत् कोपव्याकुलमनाः पूर्ववत् शयनं गत्वा कुब्जं चरणाभ्यां संगृह्य सामर्थ्यात् स्वमस्तकोपरि भ्रामयित्वा त्रिस्तनीं हृदये व्यताडयत् । अथ कुब्जप्रहारेण तस्याः तृतीयः स्तन उरसि प्रविष्टः । तथा बलात् मस्तकोपरिभ्रामणेन कुब्जः प्राञ्जलतां गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-

तब और दिन त्रिस्तनीने मन्थरकसे कहा,-"भो सुभग ! यदि यह अन्ध किसी प्रकारसे मारा जाय तो हम दोनोंका समय सुखसे बीते, सो कहीं विषकी खोज करो जो इसे देकर मैं सुखी हूं"। तब एक दिन कुबडेने घूमते हुए काला मराहुआ साप पाया, उसको ग्रहण कर प्रसन्न हुआ घरमें आकर उससे बोला- "भो सुभगे ! यह काला सांप लम्बा है, सो इसे टुकडे कर अनेक सोंठआदि मसालोंसे संस्कृत कर इस विकलनेत्रके निमित्त मच्छीका मांस बताकर प्रदान करूं । इससे झटही यह नष्ट हो जायगा । कारण कि इसको मत्स्यका मांस सदा प्रिय है" । ऐसा कह मन्थरक बाहर गया । वह भी दीप्त अग्निमें काले सर्पके टुकडे कर मट्ठामें डाल घरके व्यापारमें व्याकुल हुई उस विकलाक्षसे नम्रतापूर्वक बोली,-"आर्य्यपुत्र ! यह तुम्हारा अभीष्ट मत्स्यमांस प्राप्त किया है। जिसको तुम सदाही पूछा करते हो वे मत्स्य अग्निमें पकानेको स्थित हैं सो जबतक मैं घरका कार्य करूं, तबतक तुम करछुली लेकर एक क्षणमात्रको उन्हे चलाओ" । वह भी यह वचन सुन प्रसन्न मनसे जिह्वासे होठ चाटता हुआ शीघ्र उठ करछलीसे चलाने लगा । तब उसको मत्स्य मथतेमें विष गर्भसे उठा हुआ नेत्रोंके नील पटलको लगता हुआ । तब यह अन्धा उसे बहुत उपकारक मान विशेषकर नेत्रोंसे (१) बाष्प ग्रहण करता भया । तब दृष्टिके प्राप्त होनेसे जब देखने लगा, तब मट्ठेके बीचमें केवल काले सांपके टुकडेही देखे । तब विचारने लगा,-"अहो यह क्या है ? इसने तो मुझे मत्स्यका मांस बतलाया था और यह तो काले सांपके खण्ड हैं । सो इस त्रिस्तनीकी चेष्टाको भली प्रकारसे जानूं ? क्या यह मेरे वधका उपाय है या कुब्जकके वा किसी अन्यका?" ऐसा विचार कर अपने आकारको छिपाये हुए अन्धकी समान कर्म करने लगा जैसे कि पहले । इसी समय कुब्जक आकर निश्शंकतासे आलिंगन चुम्बनादिसे त्रिस्तनीको सेवने लगा । वह भी अन्धा उसको देखकर जब कोई शस्त्र

१ भाफ ।

न पाता हुआ तबतक पूर्ववत् शयन स्थानमें जाकर कुबडेकी टागे पकड साम-र्थ्यसे अपने मस्तकपर घुमाकर त्रिस्तनीके हृदयमें प्रहार करता हुआ। तब कुब्जके प्रहारसे उसका तीसरा स्तन हृदयमें प्रवेश कर गया और बलसे मस्तकके ऊपर घुमानेसे कुबडा सीधा होगया। इससे मैं कहता हूं—

अन्धकः कुब्जकश्चैव राजकन्या च त्रिस्तनी।
त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सन्मुखे कर्मणि स्थिते॥१०१॥"

अन्धा, कुबडा और तीन स्तनवाली राजकन्या यह तीनों सन्मुख कर्मकी स्थितिमें अन्यायसे सिद्ध हुए॥ १०० ॥"

सुवर्णसिद्धिः आह,—"भोः सत्यमेतत्, दैवानुकूलतया सर्व कल्याणं सम्पद्यते। तथापि पुरुषेण सतां वचनं कार्य्यम्। न पुनः एवमेव वर्त्तते स त्वमिव विनश्यति।

सुवर्णसिद्धि बोला,—"भो! यह सत्य है, दैवानुकूलतासे सब कार्यमें मगल होगा तो भी पुरुषको सत्पुरुषोके वचन करने चाहिये, न कि ऐसाही है यह कहनेसे वह पुरुष तुम्हारी समान नष्ट होगा।

तथाच—
और देखो—

एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिणः।
असंहता विनश्यन्ति भारण्डा इव पक्षिणः॥ १०१ ॥"

एक उदर, पृथक् ग्रीवावाले परस्पर फलके भक्षण कर्ता मेल न करनेसे भारण्ड पक्षीकी समान नष्ट होते हैं॥ १०१ ॥"

चक्रधर आह,—"कथमेतत्?" सोऽब्रवीत्।

चक्र धर बोला,—"यह कैसे?" वह बोला—

कथा १४.

कस्मिंश्चित् सरोवरे भारण्डनामा पक्षी एकोदरः पृथग्-ग्रीवः प्रतिवसति स्म। तेन च समुद्रतीरे परिभ्रमता किञ्चित् फलम् अमृतकल्पं तरङ्गाक्षिप्तं सम्प्राप्तम्। सोऽपि भक्षयन् इदमाह,—"अहो! बहूनि मया अमृतप्रायाणि समुद्रकल्लोला-हृतानि फलानि भक्षितानि। परमपूर्वोऽस्य आस्वादः, तत्

किं पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवं किं वा किञ्चित् अमृतमयफलम् अव्यक्तेनापि विधिना पतितम्"। एवं तस्य ब्रुवतो द्वितीयमुखेन अभिहितम्,-"भो ! यदि एवं तत् ममापि स्तोकं प्रयच्छ येन जिह्वासौख्यम् अनुभवामि"। ततो विहस्य प्रथमवक्त्रेण अभिहितम्,-"आवयोः तावदेकं उदरं एका तृप्तिश्च भवति। ततः किं पृथग्भक्षितेन, वरमनेन शेषेण प्रिया तोष्यते"। एवं अभिधाय तेन शेषं भारण्ड्याः प्रदत्तं सापि तत् अस्वाद्य प्रहृष्टतमा आलिङ्गनचुम्बनसम्भावनानेकचाटुपरा बभूव। द्वितीयं मुखं तद्दिनादेव प्रभृति सोद्वेगं सविषादश्च तिष्ठति। अथ अन्येद्युः द्वितीयमुखेन विषफलं प्राप्तम्। तद् दृष्ट्वा अपरमाह,-"भो! निस्त्रिंश पुरुषाधम निरपेक्ष! मया विषफलम् आसादितम्। तत् तवापमानात् भक्षयामि"। अपरेण अभिहितम्,-"मूर्ख! मा मा एवं कुरु, एवं कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति"। अथ एवं वदता तेन अपमानेन फलं भक्षितं किं बहुना, द्वौ अपि विनष्टौ। अतोऽहं ब्रवीमि,-

किसी सरोवरमें भारण्ड नामवाला पक्षी एक उदर और दो शिरवाला रहता था। उसने सागरके किनारे घूमते हुए कोई फल अमृतकी समान तरङ्गोंसे फेंका हुआ प्राप्त किया वह भी उसे भक्षण करता यह बोला,-"अहो! बहुतसे मैंने अमृतकी समान सागरकी लहरसे क्षिप्त हुए फल खाये हैं परन्तु इसका स्वाद अपूर्व है। सो क्या पारिजात हरिचन्दनके वृक्षसे उत्पन्न हुआ है? क्या कोई अमृतमय फल? वा मेरी अच्छी विधिसे प्राप्त हुआ है"। इस प्रकार उसके कहनेसे उसके दूसरे मुखने कहा,-"भो! यदि ऐसा है तो मुझे भी थोडासा दो जिससे जिह्वाका सुख अनुभव करूंगा"। तब हँसकर प्रथम मुखने कहा-"हम दोनोंका एकही उदर है एकही तृप्ति होती है। सो पृथक् भक्षण करनेसे क्या है इस शेषसे प्रियाको सन्तुष्ट करेंगे"। ऐसा कहकर उसने शेष भारण्डीको दिया। वहभी उसको खाकर प्रसन्न मनसे आलिंगन चुम्बनकी सम्भावनासे अनेक चाटु वचन कहती हुई। दूसरा मुख उसी दिन लेकर उद्वेग और विषाद युक्त रहने लगा। तब और दिन दूसरे मुखने एक विष फल पाया। उसको देखकर

दूसरेसे बोला,-"हे निठुर पुरुषोंमें नीच! दूसरेके सुखकी अपेक्षासे रहित! मैंने विषफल पाया है। सो तेरे अपमानसे खाता हूं"। दूसरेने कहा-"मूर्ख! ऐसा मत करे। ऐसा करनेसे दोनोंहीका नाश होगा"। तब ऐसा कहनेपरभी उसने अपमानसे फल खा लिया! बहुत कहनेसे क्या दोनोंही नष्ट हुए। इससे मैं कहता हूं-

एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिणः।
असंहता विनश्यन्ति भारण्डा इव पक्षिणः॥ १०२॥"

कि एक उदर पृथक् मुख परस्पर फलभक्षणकी इच्छावाले विना मेलके भारण्ड पक्षीकी समान नष्ट होते हैं॥ १०२॥"

चक्रधर आह,-"सत्यमेतत्। तद्गच्छ गृहम्, परमेकाकिना न गन्तव्यम्। उक्तञ्च,-

चक्रधर बोला,-"यह सत्य है। सो घरको जाओ। परन्तु इकले न जाना। कहा है-

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकश्चार्थान् प्रचिन्तयेत्॥ १०३॥

स्वादु पदार्थ इकला न खाय, सोते हुओंमें इकला न जागे इकला मार्गमें न जाय और इकलाही कार्यको न विचारे॥ १०३॥

अपिच-

औरभी-

अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम्॥ १०४॥

मार्गमें दूसरे कायर पुरुषकोभी साथ ले जानेसे हित होता है, जैसे दूसरे सङ्गी कर्कटने जीवनकी रक्षा की॥ १०४॥".

सुवर्णसिद्धिः आह,-"कथमेतत?" सोऽब्रवीत्,-

स्वर्णसिद्धि बोला,-"यह कैसे?" चक्रधर बोला,-

कथा १५.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म, स च प्रयोजनवशात् ग्रामे प्रस्थितः स्वमात्रा अभिहितः-"यत् वत्स! कथमेकाकी व्रजसि? तदन्विष्यतां कश्चित् द्वितीयः। सहायः स आह,-"अम्ब! मा भैषीः। निरुपद्र-

कोऽयं मार्गः, कार्य्यवशात् एकाकी गमिष्यामि" । अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा समीपस्थवाप्याः सकाशात् कर्कटम् आदाय मात्रा अभिहितः,—" वत्स ! अवश्यं यदि गन्तव्यं तदेष कर्कटोऽपि सहायः भवतु । तत एनं गृहीत्वा गच्छ" । सोऽपि मातुर्वचनात् उभाभ्यां पाणिभ्यां तं संगृह्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय पात्रमध्ये संस्थाप्य शीघ्रं प्रस्थितः । अथ गच्छन् ग्रीष्मोष्मणा सन्तप्तः कञ्चित् मार्गस्थं वृक्षम् आसाद्य तत्रैव प्रसुप्तः । अत्रान्तरे वृक्षकोटरात् निर्गत्य सर्पस्तत्समीपम् आगतः । सोऽपि कर्पूरसुगन्धसहजप्रियत्वात् तं परित्यज्य वस्त्रं विदार्य्य अभ्यन्तरगतां कर्पूरपुटिकामतिलौल्यात् अभक्षयत् । सोऽपि कर्कटः तत्रैव स्थितः सन् सर्पप्राणान् अपाहरत् । ब्राह्मणोऽपि यावत् प्रबुद्धः पश्यति तावत् समीपे कृष्णसर्पो निजपार्श्वे कर्पूरपुटिकोपरि स्थितः तिष्ठति । तं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत् ।" कर्कटेन अयं हत इति प्रसन्नो भूत्वा अब्रवीत्,—"भोः सत्यम् अभिहितं मम मात्रा यत् पुरुषेण कोऽपि सहायः कार्य्यो न एकाकिना गंतव्यम्" । यतो मया श्रद्धापूरितचेतसा तद्वचनम् अनुष्ठितम् । तेनाहं कर्कटेन सर्पव्यापादनात् रक्षितः । अथवा साधु इदमुच्यते—

किसी स्थानमें ब्रह्मदत्तनामक ब्राह्मण रहता था । वह प्रयोजनसे गांवको जाने लगा तब उसकी माताने कहा,—"पुत्र ! क्यों इकला जाता है ? सो कोई दूसरा सहायक खोजो" । वह बोला,—"मा ! मत डरो, यह मार्ग उपद्रवरहित है । कार्यवशसे इकलाही जाऊंगा" । तब उसके इस निश्चयको जानकर समीप स्थित बावडीमेंसे केंकडेको लाकर माताने कहा—"पुत्र ! यदि अवश्य जातेही हो तो तो यह केकडाभी तुम्हारा सहायक होगा । सो इसको लेकर जाओ" । वहभी माताके वचनसे दोनों हाथोंसे उसको ग्रहण कर कर्पूरकी पिटका (थैली) में डाल पात्रमें रखकर शीघ्रतासे चला । तब जाते हुए गरमीकी ज्वालासे घबडाकर किसी मार्गमें स्थित वृक्षको प्राप्त होकर वहां सोगया । इसी समय वृक्षकी खखोडलमेंसे निकल कर सर्प उसके समीप आया, वहभी कपूर सुगन्धिको स्वभावसे प्यार करनेसे, उसे छोड वस्त्रको विदीर्ण कर भीतर धरी हुई कपूरकी पोटली अति चपलतासे भक्षण करनेलगा । वह केंकडा उसमें स्थित

हुआ सर्पके प्राण हरता हुआ। ब्राह्मण भी जबतक जागकर देखता है तो समीपही काला साप अपने निकट कपूरकी पोटलीके ऊपर स्थित है। "कर्कटने इसको मारा" ऐसा विचारकर प्रसन्न होके बोला,-"भो ! मेरी माताने ..य कहाथा कि. जो "पुरुषको कोई सहायकारी रखना चाहिये इकले न जाना चाहिये"। और जो मैंने श्रद्धासे पूर्ण चित्तसे उसके वचन माने। इसीसे मैं कर्कटद्वारा सर्पको मारनेसे बचा। अथवा यह अच्छा कहा है--

क्षीणः स्रवति शशी रविवृद्धौ वर्द्धयति पयसां नाथम्।
अन्ये विपदि सहाया धनिनां श्रियमनुभवन्त्यन्ये ॥१०५॥

आदमीको विपत्ति आनेपर सहायता करनेवाले और होतेहैं तथा संपत्तिका अनुभव तो औरही करतेहैं, जैसे सूर्यकी सहायतासे बढाहुवा चन्द्रमा क्षीण होनेपरभी अमृतको वर्षाताहै और समुद्रको बढाताहै ॥ १०५ ॥

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥ १०६ ॥"

मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधी, गुरु इनमें जैसी जिसकी भावना होती है वैसेही सिद्धि होती है ॥ १०६ ॥"

एवमुक्त्वा असौ ब्राह्मणो यथाभिप्रेतं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि-

ऐसा कह यह ब्राह्मण अभिलषित स्थानको गया। इससे मैं कहता हूं-

"अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः।
कर्कटेन द्वितीयेन सर्पात्पान्थः प्ररक्षितः ॥ १०७ ॥"

"कि कायर पुरुष भी मार्गमें दूसरा हितकारक होता है दूसरे केंकडेने बटोहीकी सर्पसे रक्षा की ॥ १०७ ॥"

एवं श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिः तमनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति निवृत्तः।

यह सुनकर सुवर्णसिद्धि उसकी आज्ञासे अपने घरके प्रति गया

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके अपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रं समाप्तम्।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पंचतंत्रके पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां अपरीक्षितकारक (बिनाविचारेकरना) नाम पञ्चमंतंत्रं समाप्तम्।

॥ शुभं भवतु ॥

दोहा–सीतापति रघुनाथश्री, भरत लषण हनुमान ।
हिये शत्रुसूदन सुमरि, सज्जनको सुखदान ॥ १ ॥
पञ्चतन्त्रभाषा तिलक, कीन्हों मति अनुसार ।
बारबार शिवपद सुमर, बुधजन प्राण अधार ॥ २ ॥
रामनवमि तिथिमेषरवि, कियो संक्रमण आज ।
प्रेम सहित पूजे सबन, अवधराज महाराज ॥ ३ ॥
सम्वत् युगशर अंकविधु, चैत्रशुक्ल रविवार ।
नवमीतिथिको ग्रंथ यह, कीन्हों पूर्ण विचार ॥ ४ ॥
वसत राम गंगा निकट, नगर मुरादाबाद ।
कियो तिलक अतिशोध कर, द्विज ज्वालाप्रसाद॥५॥
वेंकटेश्वर यंत्र पति, खेमराज गुणवान ।
तिनको कीन्हों भेंट यह, सकलसुमंगल खान ॥ ६ ॥
रामराम सियराम कहु, रामराम सियराम ।
राम राम के कहतही, सिद्ध होत सब काम ॥ ७ ॥
बहुरिशारदा शिवाश्री, जगदम्बा गुणगाय ।
करहुं प्रार्थना जोरकर, कीजे सदा सहाय ॥ ८ ॥
सन्तसमागम जगतमें, सकल सुमंगल मूल ।
करहिं जो तिनपर लषन युत, राम रहहिं अनुकूल ॥९॥

॥ शुभमस्तु ॥

पञ्चतन्त्रं भाषाटीकासमेतं समाप्तम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना–
खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस–बंबई.